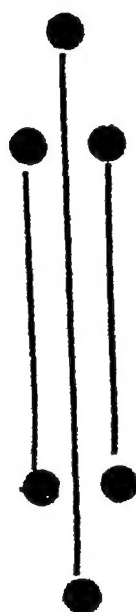
॥ ओ३म् ॥

वेदाञ्जलि

स्वाध्याय के लिए

३६५ मन्त्रों का

अर्थ-प्रार्थना सहित अपूर्व संग्रह



—प्रकाशक—

दयानन्द संस्थान [पंजीकृत न्यास]

नई दिल्ली ११०००५

जन-ज्ञान प्रकाशन का १८८ वां पुष्प

प्रकाशक

पण्डिता राकेश रानी अध्यक्ष
दयानन्द संस्थान वेद मदिर
१५६७ हरध्यान सिंह मार्ग नई दिल्ली—५

●

●

मुद्रक

ARYA OFFSET PRESS
DAYABASTI DELHI-110035
Phone 566488

●

●

मूल्य २५ रुपये :

स्व० पं० अभयदेव विद्यालंकार
द्वारा संपादित वेद मंत्रो का
नया सुसंपादित संस्करण

श्रावणी : २०३३

अपनी ओर से !

वेद ज्ञान-विज्ञान अध्यातम की अजस्र धारा है। जो जितने गहरे पैठ कर इस महोदधि मे खोज करता है उसे उतने ही मूल्यवान मोती प्राप्त हो जाते हैं।

जीवन मे दु.ख भी हैं और सुख भी, कष्ट भी हैं और आनन्द भी। दु:ख और कष्टो की पीड़ा को बांटने का एक मात्र साधन-प्रार्थना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ३६५ दिनों के लिए पृथक्-पृथक् प्रार्थनाएँ हैं। स्वाध्याय के लिए खोजपूर्ण मन्त्र हैं। आत्म चिन्तन की प्रेरक सामग्री है और है जीवन को नयी शक्ति देने के लिए भक्ति का अमृत।

प्यार के गीत और समर्पण के भाव मुग्ध होकर जीवन को जीवन देते हैं। ज्ञान का संगीत जब गूंजता है तब उभरती है प्राणो की असीम शक्ति, सशक्त वन्दना के स्वरों में।

'वेदाञ्जलि' नामक यह ग्रन्थ हमने स्वाध्यायशील पाठकों को अर्पित किया। पहले यह ग्रन्थ 'वैदिक-विनय' के नाम से तीन भागों में मिलता था और अब अप्राप्य था। स्वाध्यायशील जनों की मांग पर हम इसे नए नाम और नए ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्व प्रकाशक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के भी इस सामग्री के लिए हम आभारी हैं।

इच्छा बस इतनी है कि ज्ञान की गंगा अध्यात्म के स्वर गुंजाती रहे। जीवन सर्वत्र विस्तारित हो और प्राणो को मिले ऐसा उद्भव, जिसमें आनन्द हो, शांति हो, प्यार हो और सबके कल्याण की भावना सर्वत्र व्याप्त हो।

आशीर्वाद और मंगल कामनाओं से, प्रभु का यह प्रसाद प्रभु भक्तों की श्री सेवा में अर्पित है।

अध्यक्ष

राकेश रानी

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली—५

श्रावणी : २०३३

अनुक्रमणिका

मंत्र	वेद	तिथि	पृष्ठसंख्या
महिमहे तवसे दीध्ये	ऋ.	१३ मार्गशीर्ष	२९१
महे चन त्वा मद्रिव.	ऋ. सा पू.	२६ फाल्गुन	३९९
महे नो अद्य बोधय	ऋ सा. पू. सा उ.	२३ फाल्गुन	३९६
मा चिदन्यत् विशसत	ऋ. सा.पू सा उ. अथ.	२ फाल्गुन	३७५
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति	ऋ.	१ माघ	३४२
मेघामहं प्रथमा ब्रह्मण्वती	अथ.	२२ फाल्गुन	३९५
य			
यत्किंचेद वरुण दैव्ये	ऋ अ	१३ श्रावण	१५६
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य	ऋ अ.	९ श्रावण	१६०
यथा प्राण बलिहृत तुभ्यं	अ	११ कार्त्तिक	२५७
यदाकूतात् समसुस्रोत हृदो	यजु.	२८ भाद्रपद	१९९
यदाशसा वदतो मे	अ.	२२ श्रावण	१६६
यदि जाग्रद् यदि स्वपन्	अ.	२१ आश्विन	२३४
यद् वर्चो हिरण्यस्य	साम.	२० कार्त्तिक	२६६
यन्मन्यसे वरेण्य इन्द्र	ऋ.	६ आश्विन	२१९
यश्चकार न शशाक कर्त्तुं	अ	१४ आश्विन	२२७
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि	यजु.	३० कार्त्तिक	२६७
यस्यास्त आसनि घोरे	अ. य.	२१ श्रावण	१६८
यानि चकार भुवनस्य यस्पति.	अ.	२७ श्रावण	१७४
युंजते मन उत युजते	ऋ यजु.	१४ श्रावण	१६१
ये ग्रामा यदरण्यं या सभा	अ.	१० कार्त्तिक	२५६
ये देवा देवेष्वधि	यजु.	६ श्रावण	१५३
ये नदीनां संस्रवन्ति उत्सास.	अ.	७ आश्विन	१८०
यो अस्मै घ्रंस उत वा यः	ऋ.	५ श्रावण	१५२
य सपत्नो योऽसपत्नो	अ.	२६ कार्त्तिक	१७२
यच्चिद्धि शश्वतामसि	ऋ.	२१ माघ	३६२
यच्चिद्धि सत्य सोमपा	ऋ. अ.	२६ पौष	३३५
यज्जाग्रतो दूरमुदैति	य.	२७ माघ	३६८
यत्र ज्योतिरजस्रं	ऋ.	२२ पौष	३३१
यतो यतः समीहसे	य.	२४ माघ	३६५
यद् द्याव इन्द्र ते	ऋ सा पू सा उ.अ.	३ माघ	३४४
यमग्ने मन्यसे रयिं	ऋ	१९ पौष	३२८
यन्मे छिद्रं चक्षुषो	य	२७ मार्गशीर्ष	३०५
यस्येमे हिमवन्तो	ऋ य	२५ मार्गशीर्ष	३०३
यस्मै त्वं सुद्रविणो	ऋ.	३ मार्गशीर्ष	२८१
ये त्वा देवोस्रिक	ऋ	२ मार्गशीर्ष	२८०
ये रूपाणि प्रतिमुचमाना	य.	१७ मार्गशीर्ष	२९५
यो अग्निं तन्वेदमे	ऋ	१५ माघ	३५६
यो न' शश्वत्	ऋ	१५ फाल्गुन	३८४

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
यो भूताना अधिपति	य.	२६ पौष	३३८
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा	ऋ.	३ पौष	३१२
य आत्मदा वलदा यस्य	ऋ. य. अथ.	३१ ज्येष्ठ	१११
य आपिर्नित्यो वरुण	ऋ	१६ ज्येष्ठ	६६
य ईं चकार न सो अस्य वेद	ऋ. अथ	२१ ज्येष्ठ	१०१
य एक इत्तमुष्टुहि	ऋ	५ वैशाख	५२
यच्चिद्धि शश्वता तना	ऋ सा उ	२६ चैत्र	४५
यत्रान्य चक्षु प्रभृतिर्मुखं	अथर्व.	२६ ज्येष्ठ	१०६
यदग्ने स्यामह त्व	ऋ	२० वैशाख	६७
यदचरस्तन्वा वावृधानो	ऋ.	१७ आषाढ	१३०
यद् अग दाशुषे त्वमग्ने	ऋ.	४ चैत्र	२०
यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे	ऋ. सा उ अ	१६ वैशाख	६६
यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा	ऋ.	३० चैत्र	४६
यस्तिष्ठति चरति यश्च	अथर्व.	२ आषाढ	११५
यस्मादृते न सिध्यति	ऋ.	३ वैशाख	४८
यस्मान्न ऋते विजयन्ते	ऋ. अथ	२४ ज्येष्ठ	१०५
यस्मिन्नृच. साम यजूंषि	यजु.	२३ आषाढ	१३६
या मा लक्ष्मी पतयालू	अथर्व.	८ आषाढ	१२१
यास्ते शिवास्तन्व काम	अथर्व	१० आषाढ	१२३
ये ते पवित्रमूर्मयो	ऋ सा उ.	१८ वैशाख	६५
ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधु	अथर्व	२८ ज्येष्ठ	२०८
यो जागार तमृच कामयन्ते	ऋ सा उ.	२७ ज्येष्ठ	१०७
य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति	ऋ अथ	२५ ज्येष्ठ	१०५
र			
रथे तिष्ठन्नयति वाजिन	ऋ यजु	४ भाद्रपद	१८४
व			
व्रतेन दीक्षामाप्नोति	य	२६ कार्तिक	२७५
वसन्त इन्नु रन्त्यो	सा पू	११ मार्गशीर्ष	२८६
वय घा ते त्वे	ऋ	२ माघ	३४३
विश्वदानीं सुमनस	ऋ	१५ पौष	३२४
विश्वेषामदितिर्यज्ञियाना	ऋ. सा उ.	१६ मार्गशीर्ष	२६४
विश्वा हि मर्त्यत्वना	ऋ.	१७ फाल्गुन	३६०
विद्मा हि त्वा तुविकूर्मि	ऋ सा. उ.	१५ फाल्गुन	३८८
वेदाहमेत पुरुष महान्तं	य.	२६ फाल्गुन	४०२
वय सोम व्रते तव	ऋ	८ वैशाख	५५
वय सुपर्णा उपसेदुरिन्द्र	ऋ सा पू	१२ ज्येष्ठ	६२
विपृ दधान समने बहूना	ऋ. सा. उ. अ.	३० आषाढ	१४३
वि मे कर्णा पतयतो	ऋ.	१७ ज्येष्ठ	६७

प्रारम्भिक वचन

—०—

१. अनुकूल संयोग

कानपुर का जेल ठीक गंगा के तट पर बना हुआ है। गत वर्ष (संवत् १९८७) के शीतकाल के ६ महीने भर मुझे इसी 'कृष्ण मन्दिर' मे रहने का सौभाग्य रहा है। सौभाग्य इसलिए कहता हूँ क्योकि यहाँ रहते हुए, जेल का स्वाभाविक कठोर जीवन बिताते हुए और जेल के स्वाभाविक एकात का सेवन करते हुए मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं इस गगा-तट की तपोभूमि मे तप करने आया हुआ हूँ, परमात्मा ने मुझे यहाँ इसीलिए भेजा है। और इस अनुकूल स्थिति मे जब एक दिन मेरे पैरो मे महीने भर के लिये बेडियाँ देनेवाले मेरे कानपुर-जेल के खान बहादुर जेलर साहिब ने तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट 'करनल ओनील' साहिब ने मेरे हाथो मे लेखन-सामग्री भी दे दी, तब उन्होने मुझ पर जो कृपा की उसके लिये मैं उन दोनो का सदा कृतज्ञ रहूँगा। क्योकि इसी का परिणाम यह 'वैदिक-विनय' पुस्तक है। ऐसी एक प्रार्थना-पुस्तक, जिसमे वर्ष के प्रत्येक दिन के लिये एक वैदिक प्रार्थना हो, लिखने का संकल्प तो चार-पाँच वर्ष से था। तब से था, जबसे कि पजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा की अन्तरग सभा ने ऐसी एक पुस्तक निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव की थी और उसकी रचना के लिये मुझे कहा गया था। परन्तु अब कानपुर जेल में दो महीने तक यत्न करने के पश्चात् जब मुझे जेल मे कुछ लिख सकने की अनुमति मिली और मुझे लेखन-सामग्री दी गई तो, चूँकि तब तक सहारनपुर-जेल मे लिखनी प्रारम्भ की गई 'अग्निहोत्र रहस्य' नामक पुस्तक के कागज़ात मुझे वापिस नही किये गये थे और न किये जाने की आशा थी, इसलिये तब मैंने अपने ऐसी प्रार्थना-पुस्तक लिखने के ही सकल्प को पूरा कर डालने का निश्चय कर लिया। और इस '१६ नम्बर की बैरक' मे रहते हुए ही अगले चार महीनो मे इस वैदिक-विनय का आधे से अधिक भाग लिख भी डाला अर्थात् वर्ष भर के सम्पूर्ण मन्त्रो का सग्रह कर लिया तथा लगभग ६ महीने तक के मन्त्रो का अर्थ-लेखन भी समाप्त कर लिया।

२. तैयारी

पाठकों को यह विदित होना ही चाहिये कि ये प्रार्थनायें आपके लेखक ने कितने यत्न और कितने प्रेम से तैयार की हैं।

इसके लिये पहले तो अर्थों पर दृष्टि रखते हुए और अर्थ-चिंतन करते हुए चारो वेदों का एक वार पाठ किया गया है और इस तरह ३६५ वेदमन्त्रो का उनके छन्दों

के अनुसार चुनाव तथा सग्रह किया गया है। और अर्थ लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व यास्क के सम्पूर्ण निरुक्त का दो बार अच्छी तरह बड़े ध्यान से अध्ययन किया गया है। लेखक का विश्वास है कि तपस्या तथा अध्ययन की कमी, पूर्व आग्रह व पक्षपात अथवा जल्दबाज़ी आदि किन्हीं भी कारणों से वेद-मन्त्रो का अशुद्ध अर्थ किया जाना पाप करना है, इसलिये मन्त्र का सत्य अर्थ पाने के लिये उसने अपनी शक्ति भर पूरा पूरा प्रयत्न किया है। जिस मन्त्र का अर्थ लिखना हो उसे पहिले कण्ठाग्र करके उसका चलते-फिरते देर तक मनन किया गया है। मन्त्र को कण्ठाग्र करके उसे वार वार मन मे पढते, बोलते और गाते हुए सो जाना तथा अगले दिन प्रात काल अपने नित्य के सन्ध्या, भजन और अग्निहोत्र कर लेने के वाद उसका अर्थ लिखना, बहुत वार यह क्रम रखा गया है। जब तक कि अर्थ इतना स्पष्ट नहीं हो गया कि अपना मन सतुष्ट हो जाय तब तक अर्थ नही लिखा गया। कई वार सदेह रह जाने के कारण अर्थ लिखना स्थगित भी कर दिया गया है। अपनी तरफ से नि.सशय कहा जा सकता है कि मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को जान लेने के लिये यथाशक्ति विकारशून्य और निर्मल मन से पहुँच की गई है तथा इन मन्त्रो मे से एक एक मन्त्र का अर्थ सर्व प्रेरक प्रभु से सच्चे अर्थ का प्रकाश पाने की प्रार्थना करके, मानसिक पवित्रता की अवस्था लाकर ही लिखा गया है। इसलिये पाठको से भी प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे भी यदि ऐसे ही कुछ निर्मल भाव से इन प्रार्थनाओ का पाठ करेंगे, इनका स्वाध्याय व मनन करेंगे तो अच्छा होगा।

३. पाठ की विधि

लेखक की इच्छा है—स्वाध्यायप्रेमी पाठकों के पास न जाने इतना समय होगा कि नही किन्तु लेखक की इच्छा है—कि पाठक निम्न प्रकार से इन मन्त्रों का स्वाध्याय करें।

१ स्वाध्याय प्रतिदिन किया जाय, इसमे कभी नागा न किया जाय।

प्रत्येक मन्त्र के ऊपर तिथिया इसलिये नही लिखी गई हैं कि उन तिथियो के दिन ही उन मन्त्रो के पढने का कुछ माहात्म्य है, किन्तु इसलिये लिखी गई हैं कि पाठक प्रत्येक दिन जरूर एक न एक वैदिक प्रार्थना मे से गुज़र जाया करें। स्वाध्याय मे एक दिन भी नागा न हो, स्वाध्याय लगातार प्रतिदिन जारी रहे, यह तो सबसे पहला प्रयोजन है जिसके लिये कि यह प्रार्थना-पुस्तक रची गई है।

२ यदि सम्भव हो तो स्वाध्याय के मन्त्र को पहिले दिन कण्ठाग्र कर लिया जाय। पहिले दिन का सन्ध्या-समय इस कार्य के लिये अच्छा रहेगा।

लेखक का अभिप्राय यह है कि पाठक वेदमन्त्रो द्वारा (वेदमन्त्रो के शब्दो मे) प्रार्थना करने के अभ्यासी होए। वेद मे प्राय सब उपदेश व ज्ञान प्रार्थना रूप मे ही कहे गये हैं। अत लेखक की समझ मे किसी समय वेद के प्रचार होने का यही अर्थ है कि उस समय के लोग वेदमन्त्रो द्वारा प्रार्थना कर सकें, वेद मन्त्रो के सहारे अपने अन्तःकरण को सगृहीत करने और उसका सफल प्रयोग करने मे समर्थ हो सकें। अत. हम वेद का प्रचार चाहने वालो को समाज में यह अवस्था लानी ही चाहिये कि लोग वेद के शब्दो मे ही ईश्वर-स्तुति कर सकें। अस्तु तात्पर्य यह है कि यदि पाठको ने मन्त्र कण्ठस्थ कर रखा होगा तभी वे वेदमन्त्रों के शब्दों में प्रार्थना

कर सकने में सफल होंगे। यदि उन्होंने मन्त्र पहिले से कण्ठस्थ कर रखा होगा तो इससे उस मन्त्र का आशय समझने मे और उसके आशय का आनन्द लेने मे अर्थात् ठीक तरह स्वाध्याय करने मे उन्हें बड़ी सहायता मिलेगी।

३. अगले दिन प्रात काल अपने स्वाध्याय के समय मे पुस्तक द्वारा वह वेदमन्त्र पढकर तथा उसकी विनय पढकर स्वाध्याय करना चाहिये।

यह कहने की जरूरत नहीं कि यह दैनिक स्वाध्याय जहां तक हो सके पति-पत्नी तथा अन्य सब परिवार के सदस्य मिलकर किया करें। यदि उस परिवार मे अग्निहोत्र भी हुआ करता हो तो यह प्रतिदिन का स्वाध्याय अग्निहोत्र के बाद अग्निकुण्ड के चारो तरफ बैठकर ही करना चाहिये। एक पढता जाये तथा दूसरे उसे सुनें। इस प्रकार परस्पर अर्थ समझने समझाने से भी सहायता प्राप्त होती रहेगी।

४. विनय-पाठ कर लेने के अनन्तर मन्त्र के शब्दार्थ को ध्यानपूर्वक पढना चाहिए। शब्दार्थ देख लेने द्वारा यह अच्छी तरह देख लेना—समझ लेना—चाहिये कि मन्त्र के इन थोडे से शब्दो मे किस तरह पूर्वपठित विनय का सम्पूर्ण भाव आया हुआ है।

विनय मे विस्तार से दिखलाये हुए सब विचारो और भावो को अन्त मे हम मन्त्र-शब्दों मे रखे हुए पा लेवें इसीलिये इस पुस्तक मे शब्दार्थ विनय के पीछे दिखाये गये हैं। बहुत सम्भव है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये पाठको को फिर एक दो बार मन मे विनय को पढ लेना पडा करेगा, कम से कम एक बार तो विनय को फिर पढ ही लेना चाहिये, तभी मन्त्र का अर्थ स्पष्ट होगा।

विनय के शब्द बडे यत्न से इस ढग से लिखे गये है कि पाठको के लिये मन्त्र के सब शब्दों का अर्थ और उनका पूरा पूरा अभिप्राय इसकी प्रार्थनामय भाषा मे ही अच्छी तरह खुल जाय। विनय के शब्दो द्वारा प्रार्थना भी की गई है और मन्त्र के एक एक शब्द का अर्थ और अभिप्राय भी स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इन विनयो की रचना मे अनेक जगह इसके प्रार्थनारूप को और इसकी भाषा को भी बिगड जाने दिया गया है परन्तु मन्त्र के शब्दो का अर्थ तथा उनका पूरा आशय इन दोनो का स्पष्टीकरण ठीक हो जाय इस असली उद्देश्य को कही भी नही भूलने दिया गया है। अत. पाठको को उचित है कि चाहे उन्हें विनय के शब्द कई बार देखने पडे पर वे तब तक स्वाध्याय को समाप्त न करें जब तक कि वे मन्त्र के आशय को मन्त्र के शब्दो मे पूरी तरह न देख लेवें। और ऐसा कर लेने के बाद—

५ उस मन्त्र को—केवल वेदमन्त्र को—बार बार आनन्द से गा गा कर पढें, कम से कम सात बार जरूर दोहरावें, और मन्त्रार्थ को इतनी अच्छी तरह अनुभव करते हुए यह मन्त्रगान करें कि मानो वह वेदमन्त्र हमारे ही हृदय से निकल रहा है—हम ही उस मन्त्र के ऋषि हैं। विनय मे प्रदर्शित वे सब भाव, भावावेश और भक्ति आदि रस उस समय मन मे पूरी तरह उठ रहे हो।

हमने यदि वेदमन्त्र के आशय को पूरी तरह ले लिया होगा तो इसकी पहिचान ही यह है कि तब हमारा स्वय जी करेगा कि हम उस वेदमन्त्र को बार बार पढें, गावें, गाते जायें। मन्त्र के बार बार दोहराने मे बडा आनन्द मिलेगा।

आर्यसमाज मे भक्ति के बढाने की बडी आवश्यकता है। वेदवर्णित भगवद्-भक्ति का प्रसार करने के लिये—इस दिशा मे कुछ तुच्छ सेवा कर सकने के लिये—ही यह पुस्तक लिखी गई है। सच तो यह है कि लेखक को स्वय इस पुस्तक के मन्त्रो का

मनन करते समय बडा आनन्द मिला है। उसे ये अपने '१६ नम्बर की बैरक' के उच्च सात्त्विक सुख के दिन कभी न भूलेंगे। उन दिनों इन मन्त्रो का अर्थ जानने के लिये मन्त्रों का विचार और मनन करते करते मन मग्न हो जाया करता था। मग्न होकर इन मन्त्रो को गाते हुए मानसिक स्थिति उस समय के लिये एकदम ऊँची उठ जाती थी। अत यदि अन्य भी किन्ही सहृदय भाइयों को इन वेदमन्त्रों का स्वाध्याय उनकी आत्मा को ऊँचा कर देनेवाला हो, उन्हें भक्ति प्रेमरस से नहला देनेवाला हो, तो क्या ही अच्छा हो। असल मे इसी आशा से और इसी प्रार्थना के साथ, लेखक ने यह सग्रह प्रकाशित करवाने की—छपवा कर कुछ स्थिर कर रखने की—इच्छा की है। क्या कही यह आशा और यह प्रार्थना सुनी जायेगी।

४. छन्द

ऊपर मन्त्रो के गाने का वर्णन आया है। यद्यपि लेखक को स्वर तथा गान विद्या के विषय मे कुछ ज्ञान नही है, तो भी इस संग्रह में छन्दों का ध्यान रखा गया है। इन पुस्तक के उस ऋतु के सब मन्त्र उसउस ऋतु के अनुकूल छन्दो मे ही सगृहीत किये गये हैं। निरुक्त के दैवतकांड में ऋतुओं के साथ छन्दो का सम्बन्ध निम्न प्रकात कहा है—

१ वसंतो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथंतरं साम।

नि० दैवत ७ ३ १ ॥

२ ग्रीष्म. त्रिष्टुप् पंचदशस्तोमो बृहत्साम ...

नि० दै० ७ ३ ३ ॥

३ वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम

नि० दै० ७ ३.४ ॥

४ शरदनुष्टुप् एकविंशस्तोमो वैराजं साम ...

५ हेमंत. पंक्तिः त्रिणवस्तोम· शाक्वर साम इति ॥

६ शिशिरोऽतिच्छदा. त्रयस्त्रिंशो सोमो रैवतं साम ॥ नि० दै० ७ ३ ५ ॥

स्वय वेद मे भी कई जगह ऋतुओ के साथ छन्दो का यही सम्बन्ध वर्णित है। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र देखिये—

१—अय पुरो वसंत प्राणायनो गायत्री वासंती ...।

यजु० १३.५५ ॥

२—अय दक्षिणा ... ग्रीष्मो मानस.त्रिष्टुप् ग्रैष्मी ...।

यजु० १३ ५५ ॥

४—अयं पश्चात् · वर्षा. चाक्षुष्यो जगती वार्षी ।

यजु० १३ ५६ ॥

४—इदमुत्तरात् शरत् श्रोत्रमनुष्टुप् शारदी · ।

यजु० १३.५७ ॥

५—इदमुपरि ... हेमतो वाच्यः पंक्तिर्हैमंती · ।

यजु० १३.५८ ॥

इन मन्त्रों मे तथा निरुक्त वचन मे एक ही समान ऋतुओं और छन्दों का सम्बन्ध कहा है। अन्तर केवल इतना है कि निरुक्त में छठी ऋतु के साथ 'अतिच्छन्दा' छन्द कहा है और वेद वाक्य मे पाच ऋतुओ का ही वर्णन है। इसलिये हमने भी वसन्तादि पहिली पाच ऋतुओ मे तो क्रमश गायत्री आदि पाच छन्दो का ही क्रम रखा है परन्तु छठी (शिशिर) ऋतु को विविध छन्दोवाला बना दिया है। निम्न कोष्ठक देखिये—

ऋतु	छन्द	पद अक्षर	कुल अक्षर
वसन्त	गायत्री	३ ८	२४
ग्रीष्म	त्रिष्टुप्	४ ११	४४
वर्षा	जगती	४ १२	४८
शरद्	अनुष्टुप्	४ ८	३२
हेमन्त	पक्ति	४ १०	४०
		५ ८	
शिशिर	विविध		

५. सौर वर्ष

इस पुस्तक की दैनदिनी (Diary) के लिये 'सौर वर्ष' चुना गया है—अर्थात् सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि मे सक्रान्ति से जो महीने बनते हैं उन बारह महीनो का वर्ष गिना गया है। यद्यपि हमारे देश मे कई कार्यों मे चान्द्रतिथियो का भी उपयोग बहुतायत से होता है, परन्तु चूंकि चान्द्र महीनो की तिथियाँ नियत नही होती हैं, बिना किसी क्रम के कभी द्विगुणित और कभी लुप्त होती रहती हैं, इसलिये उन तिथियो के अनुसार प्रतिदिन के स्वाध्याय की पुस्तक को चलाना किसी तरह व्यवहार्य्य नही हो सकता। अत. सौरतिथियो के अनुसार यह पुस्तक चलाई गई है। यद्यपि अभी तक देश मे प्रचलित सौरतिथियो के अनुसार भी प्रतिवर्ष प्रत्येक मास मे निश्चित दिन नही होते है (जैसे कि पाश्चात्य जनवरी, फरवरी आदि महीनो मे होते है) पर सौरमहीनो की इस त्रुटि को काशी के ज्ञानमण्डल से प्रकाशित होनेवाले 'पचाङ्ग' और 'सौर रोज़नामचे' मे जिस तरह दूर किया गया है, उससे सब समस्या हल हो जाती है।

उन्होंने प्रत्येक राशि व सौरमास के दिन नियत कर दिये है और प्रत्येक मास की घटती-बढ़ती को अगले मास से मिला कर पूर्णाङ्क कर दिये है। इस तरह सौरतिथियो की एकता सारे देश मे (और ससार मे) हो सकती है। और यदि हमे यह अभीष्ट हो कि सौर तिथियो का चलन हो जाय तो इन तिथियो को व्यवहार्य्य

बनाने के लिये यह करना पड़ेगा। अस्तु। इस पुस्तक मे लेखक ने इसी के अनुसार प्रत्येक मास के दिन निश्चित कर दिये है। प्रत्येक सौरमास मे ये नियत दिन कितने कितने होते हैं यह याद रखने के लिए पाठक निम्न दोहा याद कर सकते हैं—

मार्ग पौष उनतीस के, का मा फा चै तीस।
आ बत्तीस, फा चौथ सन, औ बाकी इकत्तीस॥

[मार्गशीर्ष और पौष २९ दिन के होते हैं कार्तिक, माघ, फाल्गुन और चैत्र ३० दिन के होते हैं। आषाढ महीना बत्तीस दिन का होता है। और चौथे साल मे फाल्गुन महीना तथा शेष सब महीने (अर्थात् वैशाख, ज्येष्ठ, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन) ३१ दिन के होते हैं]।

यद्यपि पंजाब, बंगाल, गढवाल आदि प्रदेशो में सौरतिथियो का चलन है पर उनमे संक्रमण काल के मान मे भेद रहने के कारण जो एक दो दिन का अन्तर रहता है वह इस ज्ञान-मण्डल के 'पचाङ्ग' की विधि से हट जाता है।

यद्यपि सौरवर्ष वैशाख मास से प्रारम्भ होता है, पर इस पुस्तक मे यह चैत्र-मास से प्रारम्भ कर दिया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने पूर्वोल्लिखित ऋतुक्रम ठीक रखना था और प्रथम ऋतु वसन्त ऋतु ही होनी चाहिये, इसलिये चैत्रमास को भी वैशाख मास के साथ जुडा रखना आवश्यक समझा गया।

आशा है इस पुस्तक द्वारा सौरतिथियो के व्यापी प्रचार मे भी यह ज़रा सी अप्रत्यक्ष सहायता मिलेगी।

६. ऋतुचर्या

प्रत्येक ऋतु के स्वाध्यायमन्त्रो का प्रारम्भ करने से पूर्व इस पुस्तक मे यह बात भी दिखला दी गई है कि आयुर्वेद के ग्रन्थो के अनुसार उस ऋतु मे कैसी चर्या रखनी चाहिये, उस ऋतु मे क्या पथ्य है और क्या अपथ्य। परन्तु इन ऋतुचर्याओ के अनुसार आचरण करनेवालो का ध्यान एक बात की तरफ आकृष्ट कर देना उचित है। वह यह है कि ऋतुचर्या दिखाते हुवे प्रारम्भ मे उस ऋतु के जो लक्षण दिये हैं वे लक्षण जिन दिनो में घटते हो उन्ही दिनो के लिये वह ऋतुचर्या है। इसीलिये प्रत्येक ऋतुचर्या के प्रारम्भ मे उस ऋतु के लक्षण भी लिख दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि वसन्त महीनों (चैत्र, वैशाख) मे यदि ये वसन्त के लक्षण न हों तो तब तक यह चर्या नही करनी चाहिये अथवा यदि ये लक्षण फाल्गुन मे ही प्रकट हो तो तभी से यह वसन्तचर्या करनी चाहिये। अर्थात् इन ऋतुचर्याओ को किन्ही निश्चित महीनो के लिये नही समझना चाहिये किन्तु जिन भी किन्ही दिनो उस ऋतु के लक्षण प्रकट हो तो तभी उस ऋतुचर्या का अनुसरण करना चाहिये। सुश्रुत महाराज ने तो प्रत्येक अहो-रात्र मे भी छओं ऋतुए मानी हैं; जैसे प्रातःकाल वसन्त, मध्याह्न ग्रीष्म, सायं वर्षा इत्यादि। दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को बहुत बार ऋतु से भी अधिक अपनी निजी प्रकृति का ध्यान रखने की आवश्यकता होगी। अतः (उदाहरणार्थ) पित्त प्रकृतिवाले को चाहिये कि वह वसन्त और वर्षा में भी पित्त-कारक वस्तुओं से सावधान रहे। अस्तु।

प्रत्येक महीने में क्या वस्तु निषिद्ध है, त्याज्य है, यह जो प्रत्येक ऋतुचर्या

के अन्त मे उसके दोनो महीनों के सम्बन्ध मे उल्लेख किया गया है वह जिस हिन्दी कहावत के अनुसार है वह निम्नलिखित है—

चैते गुड़, वैसाखे तेल।
जेठे पन्थ, असाढ़े बेल॥
सावन दूध (साग), न भादो मही।
असोज करेला, न कातिक दही॥
मगसिर जीरा, पूसे धना।
माघे मिसरी, न फागुने चना।

७. बारह सौर महीने या बारह आदित्य

सौर वर्ष के पक्ष मे मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि सौर बारह महीने ही प्रसिद्ध तैंतीस देवताओ मे से बारह आदित्य देवता हैं। ये देवता क्यो हैं यह बात पाठको को विदित होना आवश्यक है, क्योकि यह समझा कर पाठकों को मैं यह भी कुछ निर्देश कर सकूंगा कि प्रत्येक मास के लिये जो मैंने एक एक प्राणायामपूर्वक व्यायाम लिखी है उसका उस उस महीने से क्या सम्बन्ध है।

यद्यपि आदित्य (सूर्य) पृथ्वी के चारो तरफ घूमता नही है तो भी वर्षभर मे जो पृथ्वी उसका एक चक्कर पूरा करती है उससे आदित्य ही हमे आकाश मे एक गोलाकार चक्र मे वर्षभर घूमता प्रतीत होता है। यह सूर्यमार्ग "ज्योतिर्मण्डल" या "राशिचक्र" कहलाता है। इस मार्ग के बारह भाग किये गये हैं, और इस मे दीखने-वाले आकाश के बारह नक्षत्र समूहो के कारण ये भाग ही बारह (मीन, मेष, वृष आदि) राशि कहलाते हैं। एक (जैसे मीन) राशि मे जब तक सूर्य रहता है तब तक एक (जैसे चैत्र) सौर महीना रहता है। जब इस राशि से सक्रान्त कर सूर्य दूसरी राशि (जैसे मेष) मे आता है तो दूसरा (जैसे वैशाख) सौर महीना हो जाता है। अब यहां वह बात देखिये जिसके कारण कि ये बारह सौरमहीने बारह आदित्य देवता कहलाते हैं। आदित्य तो बेशक इस बारह विभागवाले मण्डल मे नही घूमता है परन्तु तो भी पृथ्वी के आदित्य के चारो तरफ घूमने के कारण आदित्य का प्राण (जीवनशक्ति प्रकाश आदि) हम पृथ्वीवासियो को इन राशियो से चिह्नित भिन्न-भिन्न बारह विभागो मे से गुजर कर पहुँचता है, अत यह भिन्न भिन्न बारह प्रकार का प्रभाव रखता है। एवं भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण ही एक आदित्य बारह प्रकार का आदित्य हो जाता है। इसीलिये ये बारह महीने बारह आदित्य कहलाते हैं, द्युस्थानीय बारह आदित्यदेव कहलाते हैं।

देवताओ मे आदित्य सर्वोच्च देवता है। शरीर मे जैसे जीवात्मा है वैसे इस सौर-मण्डल का आत्मा आदित्य है। यह बात निरुक्त के परिशिष्ट मे अच्छी तरह स्पष्ट की गई है। वेद मे स्पष्ट कहा है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।"

ऋ० १ ११५. १॥

"सब स्थावर और जगम जगत् का आत्मा सूर्य है" यह इस सूर्यदेवताक मन्त्र का आधिदैविक अर्थ है।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

प्रश्नोपनिषद् १.८॥

"सब प्राणियो का, सब उत्पन्न वस्तुओ का, प्राण होकर यह सूर्य उदय होता है।" प्रश्नोपनिषद् मे यह मन्त्र ऋग्वेद का वचन कहकर उपदेश किया गया है। वास्तव मे इस ससार के सब प्रकार के जीवन का, सब प्रकार की चेष्टा, गति व क्रिया का तथा सब प्रकार की शक्ति का केन्द्र सूर्य ही है। भौतिक विद्या के ज्ञाता भी प्रकाश, ताप, विद्युत्, चुम्बक आदि सब बलो का तथा वनस्पति, पशु, मनुष्यो मे रूपान्तरित सब बलो का भी आधार आदित्य को ही मानते है। पर आदित्य का यह प्राण ही हमे देश, काल, अवस्था आदि नाना भेदो से भिन्न भिन्न प्रकार का मिलता है और यही प्राण के प्रकार का भेद है जिसके कारण द्युस्थानीय देवता भिन्न-भिन्न बहुत से हुए हैं तथा एक आदित्य की जगह नाना आदित्य बने हैं। इन प्रसिद्ध १२ आदित्यों के अतिरिक्त ७ आदित्यो का वर्णन निम्न वेदमन्त्र मे देखिये—

"सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः ... ॥"

ऋ० ९ ११४.३॥

इस मन्त्र मे नाना सूर्यवाली (भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्यवाली, भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्यवाली) सात दिशाओ का वर्णन है और इसी के अनुसार सात आदित्यो का वर्णन है। एक ही आदित्य भिन्न भिन्न सात दिशाओ मे भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण सात आदित्य हो गया है। इस बात का स्पष्टीकरण प्रश्नोपनिषद् के निम्न वाक्य से हो जाता है।

'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते।"

प्रश्नोपनिषद् १.६॥

अर्थात् सूर्य प्राची (सामने की) दिशा मे उदय होता हुआ अपनी रश्मियो मे- १ प्राच्य प्राणो को धारित करता है, दक्षिणा (दायी) दिशा मे उदय होता हुआ २. दाक्षिण प्राणो को रश्मियो द्वारा देता है, इसी तरह ३. पीछे, ४. बायें, ५ नीचे, ६ ऊपर तथा ७ अन्तराल के प्राणो को देता है—और एव सब प्रकार के प्राणो को अपनी किरणो मे देता है। ये ही सात नाना सूर्य दिशाओ के सात आदित्य हैं। पर यह तो दिशा भेद से प्राणभेद हुआ। जो काल या अवस्था भेद से १२ प्राणभेद हैं उन्हीं के कारण प्रसिद्ध बारह महीनो के बारह आदित्य बने हैं।

"कतमे आदित्या इति द्वादश वै मासा : संवत्सरस्य एते आदित्या ... ।"

बृहदारण्यक उप० ३.९.५ ॥

"आदित्य कौन से हैं? संवत्सर के बारह महीने ही बारह आदित्य है।"

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक महीने मे सूर्य भिन्न-भिन्न प्रकार का प्राण देता हुआ भिन्न-भिन्न आदित्य कहलाता है। प्रत्येक महीने मे आदित्य की किरणें हम पर

अपना जरा जरा भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती हुई पड रही हैं। इसी सिद्धांत के अनुसार इस पुस्तक मे प्रत्येक महीने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की एक-एक प्राणवर्धक व्यायाम वतलाई गई है।

८. बारह अंगों के लिये बारह प्रकार का प्राणदायक व्यायाम

यह तो कहा ही जा चुका है कि सूर्य प्राणभण्डार है। सूर्य का पृथ्वी के प्रत्येक जीव के प्राणमय शरीर पर सीधा प्रभाव पडता है, और सूक्ष्मदर्शी योगियो के कथनानुसार सूर्यप्राण के इन उपर्युक्त बारह विभागो का, इन बारह आदित्यो का, मनुष्य के निम्नलिखित बारह अङ्गो पर विशेष प्रभाव पड़ता है अथवा यूं कहना चाहिये कि सूर्य शरीर के इन बारह अङ्गो का मनुष्य के निम्न अङ्गो से सम्बन्ध है, आकर्षण है, मेल है, एकता है—

आदित्य	राशि	महीना	अंग
पहिला आदित्य	मीन	चैत्र	सिर और मुख
दूसरा आदित्य	मेष	वैशाख	गर्दन और गला
तीसरा आदित्य	वृष	ज्येष्ठ	भुजायें, कन्धे, फेफड़े
चौथा ,,	मिथुन	आषाढ़	छाती और आमाशय
पांचवां ,,	कर्क	श्रावण	हृदय, पीठ और रीढ
छठा ,,	सिंह	भाद्रपद	अन्तड़ियां और पेट
सातवां ,,	कन्या	आश्विन	गुर्दे और कटि
आठवां ,,	तुला	कार्त्तिक	उत्पादक अ ग
नवां ,,	वृश्चिक	मार्गशीर्ष	कूल्हे और जांघें
दसवां ,,	धनु	पौष	घुटने, टांगें
ग्यारहवां ,,	मकर	माघ	गिट्टे Shin
वारहवां ,,	कुंभ	फाल्गुन	पैर और अंगूठे

इसी प्राकृतिक अनुकूलता को लेकर योगियों ने इन अंगों के प्राणायाम (प्राणदायक व्यायामे) निकाले हैं जिन्हें कि इन महीनो मे करने से विशेष लाभ होता है। पर यहाँ भी कोई इस अन्धविश्वास मे न पडे कि चैत्र मे लिखी व्यायाम केवल चैत्र मास मे ही करनी चाहिये। एक तो सक्रान्ति के मान मे कुछ दिनों का हेर-फेर सम्भवित है अत यह नही कहा जा सकता कि पहिला आदित्य बिल्कुल ठीक ठीक चैत्र मास मे ही पूरा-पूरा पड़ता है। पर यह तो निश्चित बात है कि मास की अपेक्षा शरीर के अगो के साथ इन व्यायामो का अधिक सम्बन्ध है। अर्थात् जिसे शिर के विशेष आरोग्य पाने की आवश्यकता है वह इस चैत्र मास मे लिखी शिर की व्यायाम को बारहो महीने करे तो अच्छा है। बल्कि उसे तो चैत्र-व्यायाम के अन्त मे उल्लिखित शिर की तीनो गौण व्यायामो को भी बारहो महीने करना चाहिये। इस ही प्रयोजन के लिए उस अ ग के लिये तीन-तीन गौण व्यायामे भी प्रत्येक महीने की व्यायाम के अन्त मे दिखला दी गई हैं। पर फिर भी यह सत्य है कि मनुष्य को अपने शिर पर इस व्यायाम से चैत्रमास मे बहुत अधिक लाभ मिलेगा, क्योकि चैत्र मास के आदित्य का (इस महीने मे आनेवाले सूर्यप्राण का) मनुष्य के प्राणमय शरीर के उस भाग पर सीधा प्रभाव पडता है जो कि स्थूल शरीर मे शिर और मुख से सम्बन्धित है। इसी तरह प्रत्येक मास के प्राणायाम के विषय मे समझ लीजिये।

६. प्राणायामों (व्यायामो) की विधि

देखने मे ये प्राणायाम, ये प्राणदायक व्यायामे बहुत सादी लगेंगी। पर यदि ये विधि के साथ की जायें तो इनका प्रभाव बहुत अधिक है। कोई इनकी सादगी के कारण इनको तुच्छ न समझे।

इन प्राणदायक व्यायामो का सब रहस्य, सब महत्त्व निम्न तीन बातो मे है। यदि इन तीन बातो पर ध्यान रखा जायगा तो ये मामूली दिखाई देनेवाली व्यायामें अत्यन्त गुणदायक और बडी अद्भुत साबित होगी।

१ प्रत्येक व्यायाम मे यथास्थान मासपेशियो का तानना और ढीला छोड़ना।

२ प्रत्येक व्यायाम मे ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास लेना व रोकना तथा ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास को बाहिर निकालना।

३. प्रत्येक व्यायाम मानसिक ध्यानपूर्वक करना, मन को निर्दिष्ट प्रकार से यथास्थान लगाना।

इन तीनों बातो के विषय मे पाठको को कुछ अधिक जान लेना चाहिये, इसलिये इन तीनो विषयों पर क्रमश कुछ पक्तियाँ लिखता हूँ।

१. जो व्यायाम मासपेशियो को खीचने द्वारा इन्हें तान कर की जाती है, ऐसी कुछ मिनटों की व्यायाम ही ढीली मासपेशियो के साथ की गई आध घटे की व्यायाम से भी बहुत अधिक गुणकारी होती है। व्यायाम-कला के अच्छे ज्ञाता लोग बहुत बार बिना शरीर को हिलाये-डुलाये बैठे बैठे ही, केवल मासपेशियो को तानने-खीचने और फिर ढीला छोडने द्वारा, सब व्यायाम कुछ मिनटो में कर लिया करते हैं। बात यह है कि जब हम मासपेशियाँ तानते हैं तो इस द्वारा अपनी नसों के

असंख्यात घटक अणुओं को समाकृष्ट करते हैं और इनके मलों को बाहिर निकाल फेंकते हैं और इस तरह उस अंग मे निर्बाध प्राणसंचरण कर लेते हैं। जिस व्यायाम पद्धति मे केवल अगों का बढाना होता है, मलो का निकालना नही होता, तो उससे अगों का स्थूल अश बेशक वढ जाता है पर उनमे बल, प्राण, जीवनीशक्ति नही होती, उनमे प्राण व रुधिर का संचरण रुकने से रोगोत्पत्ति ज़रूर होती है।

२ ये व्यायामे सदा शुद्ध से शुद्ध वायु मे करनी चाहियें। सूर्य द्वारा आनेवाला प्राण हमारे शरीरों को वायु द्वारा ही सबसे अधिक मिलता है। अत ठीक प्रकार से श्वास लेने मे ही प्राण की प्राप्ति हो जाती है। हमे गहरा, दीर्घ पूर्णश्वास लेना चाहिये। यदि श्वास दीर्घ और गहरा होगा तो वह पेट तक पहुँचता अनुभव होगा और उससे पहिले पेट फूलेगा पीछे छाती तनेगी, बाहिर निकालते समय पहिले छाती खाली होगी और अन्त मे पेट पिचकेगा। ऐसे गम्भीर श्वास का लेना दृढतापूर्वक और काबू के साथ होना चाहिये तथा श्वास का छोडना एकरस और आसानी से होना चाहिये। इस प्रकार के पूर्णश्वास लेने का, ठीक तरह श्वास-प्रश्वास करने का, अभ्यास करना चाहिये। शरीर मे बल और आरोग्य बढाने वाली यह ठीक प्रकार की श्वसनक्रिया ही है, व्यायाम अर्थात् अंगो का हिलाना-डुलाना उतना नही है। मासपेशियाँ बनाने वाले लोग शरीर की प्राणशक्ति और नीरोगता पर ध्यान नही देते। असल में तो प्राण की जीवनी शक्ति (नीरोगता और कार्यक्षमता) ही पहिली वस्तु है, शरीर की दृढता और सुडौलता आदि सर्वथा गौण हैं। इसलिए प्रतिमास की उन भिन्न-भिन्न व्यायामो को भी कोई बेशक न करे किन्तु ठीक प्रकार से दीर्घ-श्वास प्रश्वास दिन मे ५, ७ बार कर लें तो यह पर्याप्त है। हमे ठीक प्रकार के प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को शुद्ध और बलवान् (प्राण-पूर्ण) बनाना चाहिये। जब हम श्वास अन्दर लेवें तो हमारे शरीर का एक-एक अणु प्राण से उज्जीवित और परिपूर्ण हो जाय तथा जब हम श्वास बाहिर छोडें तो हमारे अगो के मल बाहिर निकलें और नवीन प्राण के लिए शरीर शुद्ध हो जाय। व्यायाम करते हुए जब हम कोई ऊपर की तरफ चेष्टा कर रहे हो तो श्वास का अन्दर लेना तथा जब अपने अंग को नीचे की तरफ ले जा रहे हो तो श्वास को बाहिर निकालना चाहिये, ऐसा करने से इस बल-प्राप्ति और शुद्धि की क्रिया मे बडी सहायता और अनुकूलता मिलती है। अत॰ व्यायामो मे श्वास लेने और छोडने का यही सामान्य नियम है।

३. पर मन प्राण से भी ऊँची वस्तु है। हम जो कुछ बने हुए है वह अपने विचारो के ही परिणामरूप हैं। यदि हमारी मन.शक्ति जागृत हो तब तो हम व्यायाम का सब काम मन द्वारा ही कर सकते हैं और इसके विपरीत यदि मन शक्ति न लगायी जाय तो घटाभर भी किया व्यायाम व्यर्थ है। इसीलिये इन मासिक व्यायामो के साथ कुछ महीनो तक ध्यान व सकल्प भी अच्छे शब्दो मे प्रदर्शित कर दिये गये हैं और पाठको को आगे भी इसी तरह सकल्प व ध्यान स्वय अपने शब्दो मे बना लेने चाहियें और इन संकल्पो के साथ मनोयोगपूर्वक ये व्यायामे करनी चाहियें। पाठको को धीरे धीरे अनुभव होगा कि ध्यानो का कितना प्रभाव है। यदि बीमारी आदि के कारण इन प्राण-व्यायामो का करना कभी सम्भव न हो तो भी इन ध्यानो को नही छोडना चाहिये, केवल इन ध्यानो सकल्पो ही से बडा लाभ होगा। याद रखिये कि आखिरकार हमारे शरीर का एक एक अग और कुछ नही है यह भौतिकरूप मे दृढ़ हुआ मनस्तत्त्व ही है। अत यदि हम मे मन.शक्ति प्रबल हो तो

हम शरीर मे जो चाहें वही परिवर्तन कर सकते हैं। अथर्ववेद के बहुत से सूक्त संकल्प-शक्ति द्वारा रोगो को निर्मूल करने के लिए ही हैं। वेद से वास्तविक लाभ तो हम तभी उठा सकते ह यदि हमने अपने मन को जागृत और बलरूप बना लिया हो। अस्तु।

यह फिर दोहराने की आवश्यकता है कि मुख्य वस्तु स्वास्थ्य है, प्राणशक्ति-पूर्ण स्वास्थ्य है। हमारा शरीर पुष्ट हो रहा है या नही इसकी अपेक्षा हमे इस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है कि हमारे शरीर की पुष्टि कैसे (किस प्रकार के) अणुओ से हो रही है। यदि हमारा रुधिर अशुद्ध होगा तो उससे बने अग भी मलिन होंगे और ये स्वास्थ्य भी दान-आदान (हवन) के सिद्धान्त पर—अशुद्ध अणुओं के छोडने तथा नये शुद्ध अणुओ के लेने के सिद्धान्त पर—आश्रित है। पर ये अणु किस प्रकार के आकृष्ट होगे यह सबसे पहिले हमारे विचारो पर (मन पर) निर्भर है और फिर इस बात पर निर्भर है कि हमारे अग ठीक प्राणाभ्यासो द्वारा अभीष्ट अणुओ के खीचने के अभ्यासी हो गये हैं या नही। अत हमे अपने विचारों को बहुत प्रबल, उत्साहमय और शुद्ध बनाना चाहिये, मन को आज्ञा देने वाला बनाना चाहिये और प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को संसारव्यापक महाप्राण से एक स्वर (In tune) रखना चाहिये। अपनी मन:शक्ति से प्राणायामो (ठीक प्रकार श्वसन के अभ्यास) के साधन द्वारा शरीर को शुद्ध और नित्य नव प्राणान्वित करना यही वास्तवमे सच्ची शरीर-साधना (Physical Culture) है। इस ही प्रयोजन के लिये ये व्यायामे हैं।

ये व्यायामे प्राणाभ्यासपूर्वक मनोयोग के साथ प्रतिदिन दो बार कर लेनी चाहियें—प्रात: उठते ही, यदि शौच व लघुशका का वेग हो तो उससे निवृत्त होकर, तथा रात्रि मे सोने से पूर्व (यदि उस समय पेट भारी हो जो कि होना नही चाहिये, तो साय भोजन से पूर्व) करनी चाहियें। व्यायाम शुरू करने से पूर्व ५, ७ बार उपरिनिर्दिष्ट पूर्ण श्वास-प्रश्वास कर लेना चाहिये, और अपने मन को स्वास्थ्य शक्ति, पवित्रता आदि भावो से भरकर पूरे मनोयोग के साथ इन अभ्यासो को करना चाहिये।

११. धन्यवाद

अन्त मे मैं अपने मित्र पं० देवनाथ जी विद्यालङ्कार का बहुत बहुत धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने कि न केवल छपाने के लिये बडी समझदारी और बडे यत्न से इस पुस्तक की एक दूसरी ठीक ठीक प्रतिलिपि कर देने की कृपा की है, किन्तु इसके छपाने के सम्पूर्ण अति कठिन कार्यभार को ही अपने स्वाभाविक बिलकुल अनन्यभाव से सम्पन्न किया है।

इस पुस्तक के स्वाध्याय से लाभ उठाने वाले सज्जनों को वर्त्तमान वेदभाष्य-कारों में से पं० श्री पा० दा० सातवलेकर जी तथा श्री प० जयदेव जी विद्यालङ्कार को भी हृदय से धन्यवाद देना चाहिये, क्योंकि मंत्रो के चुनाव मे तथा अर्थों के निश्चय करने में मुझे उक्त दोनों महानुभावो के भाष्यों से बड़ी सहायता मिली है।

गुरुकुल कांगडी
१ माघ १९८६

स्वाध्यायशील जनो का सेवक
'अभय'

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र-
चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्र-
विणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा
व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अथर्व०१९-७१-१



स्तुति करते हम वेद ज्ञान की,
जो माता है प्रेरक-पालक,
पावन करती मनुज मात्र को।
आयु, बल, सन्तति,-पशु कीर्ति,
धन, मेधा, विद्या का दान।
सब कुछ देकर हमें दिया है,
मोक्ष मार्ग का पावन ज्ञान।

शुक्ल

वसन्त ऋतु

गायत्री छन्द

वसन्त की ऋतुचर्या

लक्षण— साधारणत चैत्र और वैशाख मास की ऋतु वसन्त ऋतु मानी जाती है। कई फाल्गुन और चैत्र मास की ऋतु को वसन्त ऋतु कहते है। पूरे जाडे (शीत) की ऋतु से पूरी गर्मी की ऋतु मे पहुँचने मे मध्य में दो ऋतुए पडती हैं, इनमें से एक जाडे को समाप्त करनेवाली है। और दूसरी गर्मी का प्रारम्भ करनेवाली है। यह दूसरी ऋतु वसन्त ऋतु है। इस ऋतु मे गर्मी प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु अपने पूर्ण रूप मे नही आती।

महिमा—वसन्त ऋतु मे नये जीवन का प्रारम्भ होता है। शिशिर ऋतु की रूक्षता से शीर्ण हुई वनस्पतिया फिर नये अकुरो, नये पत्तो, नये पुष्पो से नया जीवन प्रारम्भ करती हैं। शिशिर मे सब वृक्ष वनस्पतियो की रूक्षता के कारण जब पुराने पत्ते झड चुकते हैं तब उन के नये पत्ते, फूल अकुर आदि वसन्त ऋतु मे फूटते हैं। इस ऋतु मे वनस्पतियो तथा स्थावर, अस्थावर जगत् का नवीन जीवन शुरू होता है। हमें भी अपना नवीन जीवन इस ऋतु मे शुरू करना चाहिये। इस लिये वसन्त ऋतु ही सब से पहिली ऋतु समझी जाती है और 'ऋतुराज' कहलाती है। श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है "ऋतूना कुसुमाकर—" अर्थात् सब ऋतुओ में से सबसे अधिक दिव्यता सब से अधिक परमात्मा के वैभव का प्रकाश इस ऋतु मे ही होता है। इस ऋतु मे जैसा जीवन प्रारम्भ किया जायगा, उसका असर शेष सारे वर्ष पर पडेगा। इस ऋतु मे हमे खूब अच्छी तरह से—सावधानी से—अपना खान-पान, व्यवहार-विचार आदि पवित्र और सुन्दर बनाने चाहियें।

योगसाधन करने वाले वसन्त मे (या शरद् मे) ही अपना साधन प्रारम्भ करते हैं। प्राणायाम के नये अभ्यास का प्रारम्भ भी वसन्त या शरद् मे किया जाता है। अन्य ऋतुओ मे प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से नाना रोग होने की सम्भावना होती है। इसका यह मतलब नही है कि अन्य ऋतुओ मे प्राणायाम का अभ्यास छोड देना चाहिये। प्राणायाम को वसन्त या शरद् मे प्रारम्भ करके जारी तो हमेशा रखना चाहिये, परन्तु जो पुरुष प्राणायाम पहिले से न करता हो उसे प्राणायाम का या प्राण-सम्बन्धी किसी भी क्रिया का प्रारम्भ वसन्त या शरद् मे ही करना चाहिये। इसका कारण यह है कि प्राण की क्रियाओ का सम्बन्ध वात से है। अत इसे यदि हम कफ और पित्त की अधिकता के समय मे प्रारम्भ करें तो किसी प्रकार के वातविकार होने का डर नही होता।

हठयोगी लोग 'षट्कर्म' (नेति, धोती, वस्ती आदि कर्म) द्वारा शरीर की शुद्धि करने के लिये भी इस ऋतु को सब से अच्छा मानते हैं। वे लोग वर्ष में दो वार अर्थात् वसन्त और शरद् के प्रारम्भ मे इन कर्मों द्वारा अपने शरीर की सफाई अवश्य कर लिया करते है।

इस ऋतु मे जहाँ नये पत्ते अकुर आदि फूटते हैं वहाँ शरीर के दोष मल (Foreign matter) भी फूटता है, इसलिये यदि इस ऋतु का हम ठीक उपयोग उठाए तो हम अपने शरीर को दोषो से रहित और निर्मल एव पवित्र कर सकते हैं।

गुण—यह ऋतु पदार्थों मे मधुरता उत्पन्न करने वाली, स्निग्ध और कफ की बृद्धि करने वाली है। जाडो (शीत) मे सचित कफ इस ऋतु मे प्रकुपित होता है।

पथ्यापथ्य—वसन्त ऋतु मे कफ प्रकुपित होता है इसलिये कफ को दूर करने के सब उपाय इस ऋतु मे करने चाहियें। शिशिर मे स्निग्ध तथा शीत पदार्थों के सेवन के कारण शरीर मे जो श्लेष्मा (कफ) सचित हुई होती है वह वसन्त मे सहसा गर्मी के पडने से प्रकुपित हो जाती है और कफजन्म रोग यथा जुकाम, खाँसी, गले की खरावी, अरुचि, भूख न लगना, भारीपन आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत. इस ऋतु के प्रारम्भ मे ही श्लेष्मा के क्षय के लिये यत्न करना चाहिये। कोई अच्छे प्रकार का अपनी प्रकृति के अनुसार उचित ढग से एक वार वमन कर लेना चाहिये। वमन कर लेने से आमाशय की श्लेष्मा क्षीण होती है। इसी प्रकार गले की कफ-नाशक गरारो द्वारा, आँखों की कफनाशक अजनो द्वारा तथा नासिका की कफनाशक नस्यो द्वारा एव आतो की हलके विरेचन द्वारा कफ दूर कर लेनी चाहिये।

इस ऋतु मे हलके, रूक्ष, तीक्ष्ण, गरम पदार्थ खाने हितकर हैं, गेहूं मूग, चित्रक, शहद, सोठ, अदरक आदि का सेवन अत्यन्त लाभकर है।

इसके विरुद्ध इस ऋतु मे कफवर्धक वस्तुएं न खानी चाहियें। अर्थात् खट्टे, भारी, मीठे, चिकने तथा शीतवीर्य भोजन तथा दही भल्ले पकवान आदि गरिष्ठ भोजन कफवर्धक होने से खाने उचित नही हैं।

इन दिनो कभी-कभी उपवास कर लेना लाभदायक होगा।

व्यायाम द्वारा भी श्लेष्मा दूर कर देनी चाहिये। इस ऋतु मे भ्रमण करना वहुत अच्छा समझा जाता है—'वसन्ते भ्रमण पथ्यम्।'

दिन मे सोना कफवर्धक होने से वर्जनीय है।

उस कहावत के अनुसार चैत्र मे गुड खाना और वैशाख मे तैल खाना या तैल-मर्दन निषिद्ध है।

चैत्र मास (मीन)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

सिर को नीरोगता और स्वास्थ्य देने वाला

एडियां मिलाकर, पजों को एडियो से ३०-३५ अश के कोण पर रखकर सीधे खड़े होइये। खड़े होकर अपनी दोनो भुजाओ को दायें बायें पूरा खोलकर फैला दीजिये, ऐसी सीधी फैलाइये कि ये कधो के साथ समतल फैली हो। हथेली ऊपर की तरफ रहे। छाती ज़रा-सी आगे बढी हुई हो। अब हाथो की मुट्ठी इतनी ज़ोर से कसिये कि भुजाओ की सब मासपेशियां (Muscles) कस जायें और साथ ही सारे शरीर की मासपेशियां तन जायें। इस अवस्था में भुजाओ को धीरे-धीरे ऊपर उठाते जाइये जब तक कि ऊपर दोनो मुट्ठियां मिल न जायें। जब ये भुजायें ऊपर उठायी जा रही हों तब एक दीर्घश्वास अन्दर भरिये। जिस समय हाथो को नीचे ला रहे हो तब श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालिये। यह कर चुकने पर हाथो की मुट्ठी और मासपेशियो को ढीला कर दीजिये और पूर्वस्थिति में हो जाइये। इस प्रकार व्यायाम ८-१० मिनट तक बार-बार कीजिये। इस प्राणायाम के समय मन को सिर मे लगाइये, मन द्वारा यह चित्रित कीजिये कि प्राणवायु मेरे मस्तिष्क मे, मेरे सिर मे, मेरे एक-एक घटक (Cell) मे पहुँच कर उसे अनुप्राणित कर रहा है। ऐसा ध्यान करने मे सिर की तरफ रुधिर-सचरण (Circulation) बढेगा और वास्तव मे सिर मे प्राण पहुँचने मे सहायता करेगा।

ध्यान—यह प्राणायाम मुझे लाभ पहुँचा रहा है। रुधिर मेरे सिर मे, मेरे मस्तिष्क मे भली प्रकार संचरण कर रहा है। यहाँ के सब दूषित मल निकल रहे हैं और प्राणशक्ति निर्बाध—बे-रोकटोक—ऊपर पहुँच रही है। मेरा शीर्ष निर्मल है और उसका एक-एक घटक स्वास्थ्य से जीवन पूर्ण हुआ हुआ है।

सिर के लिये गौणतया आषाढ, आश्विन और पौष की प्राणदायक व्यायामे भी लाभ पहुँचायेंगी।

तेज धारण करें

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ य० ३६। ३

ऋ० ३.६२ १०। यजु० ३ ३५। साम० उ० ६ ३ १०॥

विनय

मुझे क्या करना चाहिये क्या नही, यह मैं नही जानता। किस समय क्या कर्त्तव्य है क्या अकर्त्तव्य, क्या धर्म है क्या अधर्म, यह मैं नही जान पाता। सुना है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी बहुत बार इस तरह किंकर्त्तव्यविमूढ रहते हैं। पर क्या इसका कोई इलाज नही है? हे सवित देव! हमारे उत्पादक देव! क्या तूने हमे उत्पन्न करके इस अंधेरे ससार मे यो ही छोड़ दिया है। कोई निर्भ्रान्त (निश्चित) प्रकाश हमारे लिये तुमने नही दिया है। यह कैसे हो सकता है? नही, तुम अपने अनन्त प्रकाश के साथ सदा हमारे हो। यदि हम चाहे और यत्न करें, तो तुम हमे अपने प्रकाश से आप्लावित कर सकते हो। इसके लिये हम आज से ही यत्न करेंगे और तेरे उस 'भर्ग' (विशुद्ध तेज) को अपने मे धारण करने लगेंगे जो कि वरणीय है, जिसे कि हर किसी को लेना चाहिये—जिसे कि प्रत्येक मनुष्य-जन्म पानेवाले को अपने अन्दर स्वीकार करने की जरूरत है। इस तेरे वरणीय शुद्ध स्वरूप का हम जितना श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेंगे अर्थात् जितना तेरा कीर्तन सुनेंगे, तेरा विचार करेंगे, तेरे मे मन एकाग्र करेंगे, तेरा जप करेंगे, तुझमे अपना प्रेम समर्पित करेंगे उतना ही तेरा शुद्ध स्वरूप हमारे अन्दर धारण होता जायगा। बस, यह ऊपर से आता हुआ तुम्हारा तेज ही हमारी बुद्धि को और फिर हमारे कर्मो को ठीक दिशा मे प्रेरित करता रहेगा। इस शुद्ध स्वरूप के साथ तुम ही मेरे हृदय मे बस जाओगे और तुम ही मेरे बुद्धि, मन आदि सहित इस शरीर के सचालक हो जाओगे। फिर धर्म अधर्म की उलझन कहाँ रहेगी! तुम्हारे पवित्र सस्पर्श से इस शरीर की एक एक चेष्टा मे शुद्ध धर्म की ही वर्षा होगी। इसलिए हे प्रभो! हम आज से सदा तुम्हारे शुद्ध तेज को अपने मे धारण करने मे लगते हैं। एक एक मानसिक विचार के साथ, एक एक जप के साथ इस तेज का अपने अन्दर आह्वान करेंगे और इस तरह प्रतिदिन इस तेज को अपने मे अधिक-अधिक एकत्र करते जायेंगे। निश्चय है कि इस 'भर्ग' की प्राप्ति के साथ-साथ धर्म के निश्चय मे पटु होती जाती हुई हमारी बुद्धि एक दिन तुम्हारी सर्वज्ञता के कारण पूरी तरह बिल्कुल ठीक मार्ग पर ही चलने वाली हो जायगी।

शब्दार्थ—

(सवितु) प्रेरक उत्पादक **(देवस्य)** परमात्मदेव के **(तत्)** उस **(वरेण्यं)** वरने योग्य **(भर्गः)** शुद्ध तेज को **(धीमहि)** हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं **(यः)** जो धारण किया हुआ तेज **(नः)** हमारी **(धियः)** बुद्धियो को, कर्मों को **(प्रचोदयात्)** सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।

भद्र-शा०-आत्मसमर्पण से कल्याण

यद् अंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत् तत् सत्यमंगिरः॥

ऋ० १. १. ६॥

विनय

हे प्रकाशमय देव! यह सच है कि स्वार्थत्यागी का कल्याण ही होता है। पर दुनिया में ऐसा दिखाई नहीं देता। दुनिया में तो दीखता है कि स्वार्थमग्न लोग ही आनन्द मौज उड़ा रहे हैं और स्वार्थत्यागी दुःख भर रहे हैं। स्वार्थी विजय पर विजय पा रहे हैं दूसरों पर जुल्म कर रहे हैं और स्वार्थत्यागी पुरुष सताये जा रहे हैं। परन्तु हे मेरे प्यारे देव! हे मेरे जीवनसार! आज मैं तेरी परम कृपा से सूर्य की तरह यह साफ देख रहा हूँ कि आत्म-बलिदान करने वाले का तो सदा कल्याण ही होता है। इसमें कुछ संशय नहीं रहा, यह अटल है, बिल्कुल स्पष्ट है। दुनिया की ये प्रतिदिन की उल्टी दिखाई देने वाली घटनायें भी आज मेरी खुली आँखों के सामने से इस प्रकाशमान सत्य को छिपा नहीं सकती हैं कि आत्मसमर्पण करने वाले के लिए कल्याण ही कल्याण है। मैं देखता हूँ कि दुनिया में चाहे कभी सूर्य टल जाय, ऋतुएँ बदल जायें, पृथ्वी उल्टी घूमने लग जाय और सब असंभव संभव हो जाय पर यह तेरा सत्य अटल है कि आत्म-बलिदान करनेवाले का अकल्याण कभी नहीं हो सकता—"नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति" ["हे प्यारे! कल्याण करनेवाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता"] कृष्ण भगवान् के गाये हुए ये सान्त्वनामय शब्द परम सच्चे हैं।

हे जीवन के जीवन! जब मनुष्य स्वार्थ को त्यागता है, आत्म-बलिदान करता है तो उस त्याग व बलिदान द्वारा हे कल्याणस्वरूप! वह केवल तेरे और अपने बीच की रुकावट का ही त्याग करता है, निवारण करता है और तेरे कल्याणस्वरूप को पाता है। भला, आत्म-बलिदान में अकल्याण की गुंजाइश ही कहाँ है? सचमुच, स्वार्थशून्य पवित्र पुरुषों पर आये हुए कष्ट, दुःख, आपत् सब क्षणिक होते हैं। उनके सम्बन्ध में जो अक्षणिक है, सत्य है, अटल है वह तो उनका कल्याण है।

शब्दार्थ—

(अंग) हे प्यारे! (अंगिरः) मेरे जीवनसार (अग्ने) प्रकाशक देव! (यत् त्वं) जो तू (दाशुषे) आत्म बलिदान करने वाले का (भद्रं) कल्याण (करिष्यसि) करता है, (तत्) वह (तव) तेरा (सत्यं इत्) सच्चा, न टलने वाला नियम है।

सुगमता से ईश्वर-प्राप्ति द्वारा कल्याण

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

ऋ० १. १ ६॥

विनय

ससार मे हमारा जिन द्वारा जन्म होता है उन्हे हम पिता कहते हैं—और भी जो वृद्ध पुरुष गुरु आदि होते हैं वे भी हमारा उत्कृष्ट पालन करनेवाले होने से पिता कहलाते हैं। परन्तु हे प्रभो अग्ने ! हम सभी को कभी न कभी अनुभव हो जाता है कि हमारे असली पालक पिता तो तुम्ही एक मात्र हो। एक समय आता है जब कि सासारिक पिता भी वैसे ही रोते खडे रह जाते हैं और हमारी पालना, रक्षा नही कर सकते। सचमुच ससार के हम सब वासी—सासारिक पिता व पुत्र सब के सब—तेरे एक समान पुत्र हैं। हे हम सबके पिता ! हे परम पिता ! जब हम सब तेरे पुत्र है तो हमारी तेरे तक हमेशा पहुँच क्यो नही होती है ? पुत्र का तो यह अधिकार है कि वह जब चाहे पिता के पास पहुच सके। जब इस ससार मे और कोई हमारी रक्षा कर सकनेवाला है ही नही, हमारा दुखडा सुन सकनेवाला है ही नही, तो हे पिता ! हम और कहाँ जायें ? तू तो हमारे लिये सु उपायन रह, सुगमता से पहुँच सकनेवाला हो। हे एक-मात्र पिता ! हम जिस समय चाहे जिस जगह चाहे तुझे मिल सके—अपना दु ख सुना सकें—अपनी बाल-कामनाये पूरी करा सकें। हम बच्चो की तुमसे यही प्रार्थना है, यही याचना है।

और हमारा कल्याण किसमे है, यह भी हम अबोध बालक क्या जाने। जो हमे अकल्याण दिखाई देता है वही पीछे पता लगता है कि वह कल्याण था। हे पिता ! तुम्ही जानते हो कि हम बच्चो का कल्याण किसमे है। बस, तुम्ही हमारी स्वस्ति के लिये, कल्याण के लिये हमे—अपने बच्चो को—सेवित करो, पालो-पोसो। हम तुम्हारे बच्चे हैं ! हम तुम्हारे बच्चे है ! !

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रभो अग्ने ! (स) वह तुम (पिता सूनवे इव) पिता की तरह मुझ पुत्र के लिये (सु उपायनः भव) सुगमता से पहुँचने योग्य (भव) होओ और (स्वस्तये) कल्याण के लिये (नः) हमे (सचस्व) सेवित करो।

हम सन्मार्ग से चलें

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ।।

ऋ० १० ५७ १।। अथर्व १३.१.५९।।

विनय

हे इन्द्र, परमैश्वर्यवान्! हम तुमसे ऐश्वर्य नही माँगते है। हमारी तुमसे याचना तो यह है कि हम सदा सन्मार्ग पर चलते जायें, इसको कभी न छोड़ें। सन्मार्ग पर चलते हुए हमे जो कुछ ऐश्वर्य मिलेगा वही सच्चा ऐश्वर्य होगा। जिस किसी तरह मिला हुआ 'ऐश्वर्य' ऐश्वर्य नही होता—उसमे ईश्वरत्व नही होता—सामर्थ्य नही होता। सन्मार्ग से जो कुछ ऐश्वर्य मुझे मिलेगा, उस ऐश्वर्य को तुझसे पाकर हे इन्द्र! मेरी प्रार्थना है कि मैं यज्ञ से कभी विचलित न होऊँ। यज्ञ करता हुआ—उपकार करता हुआ ही मैं उस तेरे दिये ऐश्वर्य को भोगू। जो कुछ तुम्हारे द्वारा (तुम्हारे देवो द्वारा) मुझे मिला है, उसे तुम्हे (देवों को) विना दिये भोगना 'चोरी'[1] है। ऐसा पाप स्वार्थवश हम कभी न करें। यज्ञ को, आत्मत्याग को, परार्थ मे आत्म-विसर्जन को कभी न भूले। यज्ञ के विना भोग भोगना विषपान करना है। अत हमारी दूसरी प्रार्थना है कि हम यज्ञ को कभी न छोड़ें।

हमारी तुमसे यह प्रार्थना नही है कि तुम हमारे शत्रुओ का नाश कर दो। हमारी याचना तो यह है कि हमारे अपने अन्दर 'अराति न'[2] ठहरें। हमारे अन्दर अराति न हो तो बाहर हमारा अराति कोई कैसे हो सकता है। अराति अर्थात् अदान-भाव हमारे अन्दर क्षण भर को न ठहरे, क्षण भर के लिये न आए। अदानभाव होते हुए यज्ञ असम्भव है। अत हमारा एक-मात्र शत्रु अदानभाव ही है। यह अन्दर का शत्रु ही हमारा शत्रु है। हे प्रभो! इससे हमारी रक्षा करो। फिर बाहर के किसी शत्रु की हमे परवाह नहीं।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (वय) हम (पथो मा प्रगाम) सन्मार्ग को छोड कर मत चलें (सोमिन.) ऐश्वर्ययुक्त होते हुए (वय यज्ञात्) [मा प्रगाम] हम यज्ञ को छोड कर मत चलें। (अरातय) अदानभाव (न. अन्तः मा स्थु.) हमारे अन्दर न ठहरें।

---

1 देखो गीता ३ १२।

2. अराति का अर्थ शत्रु प्रसिद्ध है—इसका शब्दार्थ 'दान न देना' है।

प्रभुकृपा द्वारा द्वेष सागर से पार होना

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षद् अति द्विषः ।।

ऋ० १०.१८७.१। अथर्व० ६.३४.१।।

विनय

हे मनुष्य ! क्या तू अब चाहता है कि तू द्वेष से पार हो जाय ? क्या तू अपने मनुष्य भाइयो मे द्वेष कर करके, और बदले मे उनके द्वेष को पा पाकर अब तंग आ चुका है ? तूने अपने सुख मे बाधक समझ न-जाने कितनो से द्वेष किया है, पर जितना ही तूने उनसे द्वेष किया है—वैर का बदला वैर से दिया है—क्या उतना ही वह द्वेष बढता नही गया है ? ओह, इस बदले की, प्रतिद्वेष की प्रक्रिया से द्वेष इतना बढता गया है कि तू आज अपने बनाये एक द्वेष-सागर मे घिर गया है। यदि तू अब पूरा व्याकुल हो चुका है और चाहता है इस द्वेष-चक्र से पार हो जाय तो तू उठ और जगत् मे व्यापक अपने उस अग्निदेव तक अपनी वाणी को पहुँचा, जो कि सब मनुष्यो की कामनाओ को पूरा करने वाला है। अरे, वह तो 'वृषभ' है, हम पर करुणा करके कामनाओ को बरसा रहा है। केवल उस तक अपनी आवाज़ पहुँचाने की देर है कि वह तेरी कामना पूरी कर देगा। यदि यह तेरी इच्छा हार्दिक है तो निश्चय से तेरी प्रार्थना, तेरी पुकार, वेग से, प्रकृष्टता से वहाँ पहुँचेगी। यदि वाणी को प्रकृष्टता से प्रेरित करने का हममे सामर्थ्य हो तो प्रार्थना की वाणी उस अग्निदेव को पहुँचकर उससे क्या नही करा सकती, किस कामना की पूर्त्ति नही करा सकती। पर हमारी कामना को पूरी करने की सामर्थ्य उसी मे है—केवल उसी मे है। वही हमे द्वेष-सागर से पार करेगा। इसलिये तू अपने सुख मे बाधक समझ कर अब किसी से द्वेष न कर, किन्तु सुख के बरसानेवाले उस प्रभु से प्रार्थना कर और फिर देख कि द्वेष कहाँ है। प्रार्थना द्वारा उस प्रभु के सम्मुख पहुँचते ही सब द्वेष समाप्त हो जायगा।

शब्दार्थ—

(क्षितीनां) मनुष्यो के (वृषभाय) अभीष्टो को बरसानेवाले (अग्नये) अग्नि प्रभु के लिये (वाचम्) अपनी वाणी को (प्र ईरय) प्रकृष्टता से प्रेरित कर। (स) वह (न.) हमे (द्विष.) द्वेषो से (अति पर्षत्) पार लगायेगा।

शान्तस्वरूप परमात्मा हम में प्रविष्ट होवे ।

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्द्धयामो वचोविदः ।
सुमृडीको न आविश ॥

ऋ० १.९१.११ ॥

विनय

हे प्रशान्तस्वरूप सोमदेव ! तुम सब जगत् के सार हो, जीवन रस हो, तो भी प्रकृति के विषयो मे फँसा हुआ मनुष्य-ससार तुम्हें नही जानता, तुम कुछ हो यह कभी अनुभव नही करता । इसलिये हम लोग जिन्होंने तुम्हारी दया से तुम्हारी थोडी बहुत अनुभूति का सुख पाया है, अपना यही कार्य समझते हैं कि पागलो की तरह सब जगह तुम्हारे गुण गाते फिरें—फिरा करें । तुम्हारी भक्ति ने ही हमे "वचोविद्" भी बना दिया है—तुम्हारी भक्ति से हम वाणी की शक्ति को, रहस्य को जान गये हैं और इस शक्ति का प्रयोग करना भी जान गये हैं अत. अपनी वाणियो से हम सदा तुम्हारा कीर्तन करते है, तुम्हारा यश गाते हैं, तुम्हारे स्वरूप का वर्णन करते है । जहाँ विषयग्रस्त मानवी हृदयो ने तुम्हे निकाल रखा है या जहाँ प्रकृतिवाद ने तुम्हारे लिये जगह नही रखी है, वहाँ भी तुम्हारा नाम फैलाते हैं, तुम्हे पहुँचाते है । मानो तुम्हारे सैनिक बन कर सासारिक दृष्टि से तुम्हारा राज्य बढाने का यत्न करते हैं । पर, हे देव ! तुम इतना करो कि हमारे अन्दर सात्त्विक सुख के दाता होते हुए सदा प्रविष्ट रहो, बस हम यही चाहते है । हम तुच्छ लोग तुझे कहाँ से बढा सकते हैं ! हम तुझे फैलाते हैं, तुम्हारा राज्य फैलाते हैं यह कहना कितनी धृष्टता का वचन है ! असल मे तुम ही, हे सर्व शक्तिमान् ! हे अनन्त अपार ! असल मे तुम ही हमारे अन्दर जितना प्रविष्ट होते हो उतना ही हममे वह तुम्हारा अवर्णनीय सात्त्विक सुख अनुभूत होता है कि उस आनन्द मे मस्त होकर हम तुम्हारे गुण गाते फिरते हैं । बल्कि तब हमारे एक-एक अङ्ग से, हमारी एक-एक हरकत से, तुम्हारा प्रकाश होता है । अत हमारी प्रार्थना तो यही है कि तुम हमारे अन्दर प्रविष्ट होओ, तुम हमारे मे आविष्ट होओ । जितनी मात्रा मे तुम हमारे मे प्रविष्ट होगे, उतनी ही मात्रा मे हमारे द्वारा जगत् मे तुम्हारा प्रचार व प्रकाश होगा । हे प्रभो ! इस सात्त्विक सुख से हमे अनुप्राणित करते हुए हममे आविष्ट होओ ।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोमदेव ! (वयं वचोविदः) वाणी के वेत्ता हम लोग (त्वा) तुझे (गीर्भिः) अपनी वाणियो द्वारा (वर्द्धयामः) बढाते हैं । (सुमृडीकः) अच्छे सुख देने वाले होते हुए तुम (न आविश) हममे प्रविष्ट होओ ।

परमेश्वर की स्तुति और महिमा अपार

तुंजे तुंजे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥

ऋ० १.७.७॥ अथर्व० २०.७०.१३॥

विनय

भगवान् ने मुझ पर कितनी कृपा की है, इसका मैं वर्णन नही कर सकता। जब जिस वस्तु की आवश्यकता मेरे कल्याण के लिये हुई तभी वह वस्तु कही से आ मिली। वह कल्याण-स्वरूपिणी माता पुत्र की एक-एक ज़रूरत को पूरी तरह जानती हुई चिन्ता-पूर्वक देती जाती है। ओह, उसकी करुणा अपार है। इस भगवान् के जगत् मे रहने वाले बहुत से मनुष्य न जाने क्यों सतोष का परित्याग किये रहते हैं और घबराते हैं। वे या तो प्रत्येक प्राणी को दी गई भगवान् की स्वाभाविक देन का मूल्य नही समझते या वे अकृतज्ञ है। पहली बात ही ठीक समझी जा सकती है। पर मैं तो यही कहूँगा और बिना थके कहता जाऊँगा कि पाप मे हटानेवाले उस परमैश्वर्य युक्त इन्द्र भगवान् ने मुझे निहाल कर दिया है, मुझे पाप और दुःख के गर्त्त से उबारा है। एक के बाद एक ऐसा आतरिक सुख मिलता गया है कि मैं उसका वर्णन नही कर सकता। जब-जब उसकी ये देनें याद आती हैं तो आनन्दाश्रुओ से मैं गद्गद हो जाता हूँ और मेरे मुख से कृतज्ञता भरी वाणी से उसके गुणगान निकलने लगते है, स्तोत्र गाता जाता हूँ पर तृप्ति नही होती। ओह, यह अपूर्ण वाणी हृदय के अनुभूत भाव को पूर्णतया कहाँ प्रकट कर सकती है। फिर भी मैं पूर्णता की आशा मे बार-बार गाता जाता हूँ—गाता जाता हूँ—पर स्तुति कभी पूरी नही होती। यह कभी अनुभव नही हो पाता कि उसकी दिल भर के स्तुति हो गयी। ओह, उसकी स्तुति का कौन पार पा सकता है! "अपार तेरी दया, अपार तेरी दया।"

शब्दार्थ—

(तुंजे तुंजे) एक एक दान पर मैं (वज्रिण इन्द्रस्य) पापवर्जक इन्द्र की (ये उत्तरे स्तोमा·) अधिक अधिक स्तुति करता जाता हूँ उन सबसे भी (अस्य सुस्तुति) उसकी स्तुति का पार (न विन्धे) नही पाता हूँ।

मन की शक्ति

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

ऋ० १०.५७.४॥

विनय

हे मनुष्य ! जो तू इतना निर्बल, हतोत्साह और शिथिल हो गया है इसका कारण तेरे मन की निर्जीवता है। तेरा मन निर्जीव हो गया है, मानो तुझमे मन रहा ही नही है। तेरे रोग का और कोई कारण नही है। तू अपनी इस मन्दता को—निर्बलता को—दूर करने के लिये यो ही अप्राकृतिक दवायें खाता फिरता है इनसे कुछ नही बनेगा। "वहम का इलाज लुकमान के पास भी नही है।" जरा वहम को छोडकर अपने अन्दर उस जगद्व्यापक मन की धारा को प्रविष्ट होने दे जो कि सब संसार मे व्यापक है और सब संसार को चला रही है—प्रत्येक मनुष्य के मन को हिला रही है। उस मनोमय धारा को तू जितना अपने अन्दर ग्रहण करेगा उतना तेरा मन सजीव होता जायगा। तब तू फिर से ठीक तरह "क्रतु"—कर्म—कर सकेगा, तेरे अन्दर "दक्ष"—बल—आ जायगा और तुझमे एक नये जीवन का संचार हो जायगा। और जगत् को प्राण देने वाले जो सूर्य देव हैं उनका दर्शन करता हुआ—उनसे प्राण लेता हुआ—तू दीर्घ आयु तक जीवित रहेगा। यह सब मन शक्ति के प्रवेश का चमत्कार है। अतः हमारी तो परमात्मा से यही प्रार्थना है कि तुझ मे मन शक्ति का प्रवेश हो। इसी मे तेरा कल्याण है। मन शक्ति के बिना तो अन्य भी किसी उपचार से लाभ नही उठाया जा सकता। अतः मन ही को बढा, मन ही को जगा, मन ही को चैतन्य कर।

शब्दार्थ—

(मनः) मन का (ते) तुझ मे (पुनः) फिर (आ एतु) प्रवेश हो जाये। जिससे कि तू (क्रत्वे) कर्म करने लगे (दक्षाय) तुझ मे बल आ जाय (जीवसे) जीवन आ जाय (ज्योक् च) और तू चिरजीवी होता हुआ (सूर्यं दृशे) निरन्तर सूर्यदर्शन करता रहे।

इन्द्र–अभय !

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥

ऋ० २ ४१ १२ ॥ अथर्व० २०.५७.१० ॥

विनय

मैं डरता क्यो हूँ ? इस परमेश्वर की (इन्द्र की) सृष्टि मे रहते हुए तो किसी भी काल मे, किसी भी देश मे भय का कुछ भी कारण नही है। क्या मैं अपने शत्रुओ से डरता हूँ ? मेरा तो इस इन्द्र की सृष्टि मे कोई शत्रु नही होना चाहिये। मेरा कोई शत्रु है ही नही। हाँ, एक अर्थ मे पाप करनेवाले मनुष्यो को शत्रु कहा जा सकता है, क्योकि पाप करना परमात्मा से शत्रुता करना है—पाप करना ईश्वरीय शासन का विद्रोह करना है। पर ऐसे पाप करने वाले भाई से भी मुझे डरने की क्या ज़रूरत है ? यह ठीक है कि ऐसे पाप करनेवाले भाई तब मुझे अपना शत्रु समझ लेंगे जब कभी कि उनके पाप का विरोध करना मेरा कर्त्तव्य हो जायगा और तब वे मुझे अपना शत्रु मानकर नाना प्रकार से सताने—कष्ट देने—को भी उद्यत होंगे। पर उस पापी भाई के सताने से भी मेरा क्या बिगडेगा, वह तो विचारा स्वय परमात्मदेव का मारा हुआ है। परमात्मा तो स्वभावत. 'शत्रून् विजेता' हैं। उससे शत्रुता करके अर्थात् पाप करके कौन बचा रह सकता है ? यदि यह विश्वास पक्का हो जाय कि परमात्मा 'शत्रून् जेता' है तो अज्ञानी पापी पुरुषो की तरफ से आये हुए बडे से बडे सन्तापो का, घोर से घोर अत्याचारो का भी भय हट जाय। ऐसा विचार थोड़ी देर के लिये आने पर ही एकदम निर्भयता हो जाती है। और फिर उसे सचमुच 'विचर्षणि' समझ लेने पर तो कोई भय रहता ही नही। देखो, वह "विचर्षणि" परमेश्वर सब प्राणियो के सब कर्मों को ठीक-ठीक देखता हुआ पाप और पुण्य का फल दे रहा है। वह ठीक ढग से ठीक समय हरेक पाप का विनाश कर रहा है—पाप को परास्त कर रहा है। तो मुझे डरने की क्या ज़रूरत है ? मुझे तो कोई दु ख क्लेश तभी मिलेगा यदि मेरा ही कोई पापकर्म उदय होगा। नही तो किसी अन्य मनुष्य की चाहना से मुझे क्लेश कभी नही हो सकता है। और यदि मेरे अपने ही पाप-कर्मो के कारण कोई क्लेश आता है तो वह तो आना ही चाहिए। उसे मैं खुशी से सह सहकर निष्पाप और उऋण होता जाऊँगा। वह क्लेश उस 'शत्रु' का भेजा हुआ नही है, किन्तु मेरे प्यारे परमेश्वर का भेजा है, उसका तो मुझे स्वागत करना चाहिए। एव इस ससार में—चारो दिशाओ मे, मेरा अब कोई दु ख दे सकने वाला शत्रु नही रहा है। जब से प्रभु को 'विचर्षणि', और 'शत्रून् जेता' जान लिया है तब से मैं अभय हो गया हूँ—सब तरफ से अभय हो गया हूँ—किसी दिशा से कोई भय नही। अभय, अभय।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर, मुझे (सर्वाभ्य आशाभ्य परि) सब दिशाओ से (अभय करत्) अभय कर दे। (शत्रून् जेता) जो कि परमेश्वर शत्रुओं को जीतने वाला है। (विचर्षणि) और सब कुछ [हर एक प्राणी के हर एक कर्म को] पूरी तरह देखने वाला है।

सर्वोपरि परमेश्वर

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ॥

ऋ० ८. ४५. २०॥

विनय

हे भगवन्! मैं बुड्ढा हूँ और तुम मेरी लाठी हो। तुम मेरे सहारे हो। मेरा इस जन्म का यह देह चाहे वृद्ध न दीखता हो, पर मैं सच्चे अर्थ मे जीर्ण हूँ, पुराना हूँ अतएव अनुभवी हूँ। मैं न जाने कितनी योनियो मे फिरा हूँ—सब ससार भोग चुका हूँ। पर अब मैं तुम्हे "शवसस्पते" करके सम्बोधन करता हूँ। क्योकि मैंने सुदीर्घ अनुभव से जान लिया है कि सब बलो के स्वामी तुम्ही ही। मैंने कभी बडा धनाढ्य होकर धनबल का अभिमान किया है, किसी समय यह समझा है कि मेरे साथ इतना बडा भारी दल है, सो जो मैं चाहूँ कर सकता हूँ इस तरह दलबन्दी के बल को भी आज़माया है, कभी अपने बुद्धि-बल, चतुराई-बल के मुकाबिले मे सब दुनिया को हेच समझा है। शरीर-बलो और शस्त्र-बलो का तो कहना ही क्या है! पर इतने लबे, अनगिनत योनियो के सुदीर्घ अनुभवो के बाद जीर्ण होकर - पुराना होकर अब समझा है कि सब बलो के स्वामी तो तुम हो। इसलिये अब और सब बलो का सहारा छोडकर एक तुम्हारा सहारा पकड लिया है। हे मेरे एक-मात्र बल! तुम मुझ से अब क्षणभर के लिये भी मत दूर होओ। अब मैं यदि क्षण भर के लिए भी तुमको भूल जाता हूँ—अपने मानसिक विचार नेत्र के सामने से क्षण भर के लिये भी तुम्हे ओझल पाता हूँ—तो मैं व्याकुल हो जाता हूँ—एक दम निस्सहाय हो जाता हूँ। अत अब तो यही सतत कामना है कि तुम सदा ही मेरे सामने और मेरे साथ ही बने रहो। बुड्ढे की लाठी जब आँखो के सामने पडी हो—पर उसकी पहुँच के परे पडी हो—तब तो उसका सहारा न पा सकते हुए उसका दीखना बुड्ढे के लिये और भी दु खदायक हो जाता है। इसलिये हे मुझ वृद्ध की लाठी! हे मुझ निर्बल के बल, हे मेरे एक मात्र सहारे! तुम अब सदा मेरे साथ रहो—सधस्थ बने रहो। तुम से ज़रा भी दूर होकर अब मैं नही रह सकता।

शब्दार्थ—

(शवस पते) हे सब बलो के स्वामी! (जिव्रयः) बुड्ढा पुरुष (रम्भं न) जैसे डडे को (त्वा) उस तरह तुमको मैंने (आरम्भ) अवलम्बन कर लिया है। और अब मैं (त्वा) तुम्हे (सधस्थे) अपने समान स्थान मे (आ) आमने सामने—आँखो के सामने (उश्मसि) चाहता हूँ—देखना चाहता हूँ।



आलस्य प्रमाद त्यागपूर्वक यज्ञ

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति
यन्ति प्रमादं अतन्द्रा ।।

ऋग्वेद ८. २. १८।। अथर्व० २०. १८. ३।।

विनय

आलस्य मनुष्य का वहुत वडा शत्रु है। हम जो नित्य पाप करते हैं उनमे से वहुतो का कारण मन की कुटिलता नही होता किन्तु वहुत वार केवल हम आलस्य व सुस्ती के कारण पापी वनते हैं। एव वहुत से अत्यन्त लाभकारी कार्यों को शुरू करके केवल आलस्य से हम उन्हें छोड देते हैं और आत्मकल्याण से वचित हो जाते हैं। अत आलस्य करनेवाले लोग कभी परमात्मा के प्यारे नही हो सकते। यो कहना चाहिये कि परमात्मा के देवता आलसियो को नही चाहते, क्योकि आलसी लोग देवो के चलाये इस ससार-यज्ञ मे उनको सहयोग नही दे सकते। परमात्मा अपने इन देवो द्वारा जगत् मे परिपूर्ण व्यवस्था रखते हैं—इन द्वारा पूरा नियमन, अनुशासन (Discipline) चला रहे हैं। भूल, गलती, अनुचितता, अपराध, पाप का ठीक नियमानुसार हमे दण्ड मिलता रहता है—वेचैनी, रोग, व्यथा, वेदना क्लेश, मृत्यु आदि द्वारा हमे शिक्षा दी जाती रहती है कि हम परमात्मा की आज्ञाओ का उल्लघन न करें। ये देवता इस अनुशासन को—विल्कुल अतन्द्र होकर—विल्कुल भूल-चूक से रहित होकर—कर रहे हैं। ये सृष्टि के देव उस सत्त्वगुण के वने हुए है जो कि तम को जीतकर रज को अपने वश मे किये हुए हैं। अत आलस्य प्रमाद करनेवाले तमोगुणी (तमोगुण मे दवे हुए) मनुष्य देवो के प्यारे कैसे हो सकते है? अत उन्हें देव वार-वार प्रमादो के लिये दण्ड दे दे कर—उन्हे पुन पुन ठोकरें मारते हुए—जगाते रहते हैं। परमात्मा के देव जो यह जगत् रूपी यज्ञ चला रहे हैं उसी के अनुसार—उसकी अनुकूलता मे—जो भी कुछ कर्म मनुष्य करता है वह सव यज्ञ-कर्म ही है। मनुष्य को इस यज्ञार्थ-कर्म के सिवाय और कोई कर्म नही करना चाहिये। वही कर्म शुभ है, पुण्य है, यज्ञिय है, जिस द्वारा इस ससार के कुछ अच्छे, ऊँचे और पवित्र वननें मे सहायता व सहयोग मिलता है। इस तरह का कोई भी कर्म करना इस संसार-यज्ञ के लिये सोम-रस का सेवन करना है। जरा देखो—इन देवो के प्यारे लोगो को देखो—जो कि अपने प्रत्येक कर्म द्वारा ससार यज्ञ के सवर्द्धक, पोषक इस सोम-रस को पैदा करते हुए और अपने इस कर्त्तव्य मे सदा जागृत, कटिवद्ध, सनद्ध रहते हुए देव तुल्य जीवन विता रहे हैं।

शब्दार्थ—

(देवाः) देव लोग **(सुन्वन्तं)** यज्ञ कर्म करते हुवे की **(इच्छन्ति)** इच्छा करते हैं। **(न स्वप्नाय स्पृहयन्ति)** निद्राशील सुस्तो को नही चाहते। **(अतन्द्रा.)** स्वय आलस्यरहित ये देव लोग **(प्रमादं)** ग़लती, भूल करने वाले का **(यन्ति)** नियमन करते हैं।

मृत्यु से त्राण करने वाली ईश्वरीय शक्तियाँ

जीवान्नो अभिधेतन आदित्यासः पुरा हथात् ।
क्व स्थ हवनश्रुतः ।।

ऋ० ८. ६७. ५ ।।

विनय

हे आदित्य देवो ! दौडो । हमे बचाओ । मौत हमारे सामने मुंह खोले खडी है । अगले ही क्षण मे हम उसके ग्रास होने वाले हैं । भोगो को भोगते हुए तो हमे मालूम न था कि ये आसानी से भोगे जाते हुए भोग एक दिन भोक्ता बनकर हमे खाने के लिये आयेंगे । उस समय हम खुशी से अपने को इन विषयो के बन्धन-जाल मे बांधते गये, यह न अनुभव किया कि हम मृत्यु के जाल मे बँध रहे हैं । पर अब इस समय का—यह मृत्यु मुख मे जाने का—एक क्षण, पश्चात्ताप-मय यह एक क्षण, शेष सारे बीते हुए जीवन काल के मुकाबिले मे खडा है । बस यह ही एक क्षण है इस बीच, हे आदित्यो ! मैं तुम्हे पुकार रहा हूँ । सुना है तुम जगदीश्वर की अखण्डनीय शक्तियाँ हो, तुम बधन-जाल से छुडाने वाली शक्तियाँ हो, तुम प्रकाश देनेवाली शक्तियाँ हो । वो तुम कहाँ हो ? मेरी पुकार क्यो नही सुनते ? क्षण भर मे दम निकलना चाहता है । तुम तो 'पुकार सुननेवाले' (हवनश्रुत्) प्रसिद्ध हो । तुमने बडे-बडे पापियो के हार्दिक पश्चात्ताप के करुण-क्रन्दनो को सुना है और उन्हे अन्तिम समय मे भी उबारा है । क्या यह मेरा इस समय का पश्चात्तापमय रुदन भी हृदय मे निकला रुदन नही है ? तो फिर तुम क्यो नहीं सुनते, क्यो नही दौड कर मुझे बचाते ? क्या अगले क्षण जब मैं मर चुकूंगा, मेरा विनाश पूर्ण हो चुका होगा, मेरी ही समाप्ति हो चुकी होगी, तब आओगे ? तब क्या बनेगा । ओह ! यदि मेरा उबारना अभीष्ट है तो ये जो जीवन के दो-चार पल शेष हैं इन्हीं मे आ पहुँचो । दौड़ो, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ ।

शब्दार्थ—

(आदित्यास) हे आदित्यो ! (अभिधेतन) दौडो (जीवान् नः) हम जीने वालों के पास (हथात् पुर.) हमारे मारे जाने से पहिले ही दौडो । (हवनश्रुत) हे पुकार सुननेवालो ! (क्व स्थ) तुम कहाँ हो ?



भगवत् स्तोता संसार महासागर से तरते हैं

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
तरत् स मन्दी धावति ॥

ऋ० ६.५८.१ ॥ साम० पू. ६. १. २. ४ ॥

विनय

हे दुःख और पाप से तरना चाहने वाले भाइयो! देखो, कोई हैं, जो कि तर गये हैं। इस दुस्तर दीखनेवाले संसार महासागर से तरा जा सकता है—सचमुच तरा जा सकता है। पर तरता वह है जो कि "मन्दी" है। क्या तुम भगवान् की भक्ति-स्तुति मे रमनेवाले हो? क्या इस भजनरस से तुम्हारा अन्त करण तृप्त हो गया है? तुम्हारा अपना आन्तर (अन्दर) आनन्द से परिपूर्ण हो गया है अर्थात् तृप्त होकर तुम्हें संसार की अब अन्य किसी वस्तु की—किसी भी वस्तु की—कामना नही रही है? क्या तुम ऐसे मस्त हो गये हो? ऐसे आत्माराम हो गये हो? "मन्दी" होने के लक्षण तो ये ही हैं। देखो, ऐसे "मन्दी" तरते जा रहे है और तर गये हैं।

यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है? जब भजन करने से अन्दर सोई पडी हुई शक्ति जागती है तो वह प्राण, वाणी और मन को उज्जीवित करती हुई ऊपर की तरफ चढने लगती है। हठ-योगियो की परिभाषा मे इसे कुण्डलिनी का जागरण और प्राणोत्थान कहते हैं। इस कुण्डलिनी का वास्तविक जागरण ही 'तरना' शुरू करना है। प्राण की धारा मूलाधार से उठकर ऊपर चढने लगती है, हैमवती-शक्ति नाचती कूदती हुई, भजन-स्तुति करती हुई—मार्ग मे प्राण, वाणी, मन के अद्भुत चमत्कार दिखाती हुई—ऊपर, अपने शिवरूप स्वामी की तरफ चढने लगती है। यह आध्यान अर्थात् मानसिक-चेतना से युक्त प्राणधारा के रूप मे क्रमश ऊपर जाती हुई अनुभूत होती है। यही उत्पन्न किये "अन्धस्" (सोम) की धारा है जिसके साथ-साथ आत्मा ऊँचा होता जाता है। इसी धारा के साथ 'मन्दी'-नामक भक्त की ऊर्ध्वगति होती है। प्रसिद्ध सात लोक सब अन्दर है। उन्नत होता हुआ आत्मा इन सब लोको को पार करता हुवा सत्यलोक मे पहुँच कर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है—बिल्कुल पार तर जाता है। शिर के सत्यलोक मे प्राण, वाणी, मन आदि शक्ति जाकर ठहर जाती है और समाधि हो जाती है। इस प्रकार देखो! "मन्दी" (भगवान् का भक्त) दुःख-सागर को तर जाता है—ऊपर पहुँच जाता है। अहो! इस पुण्य घटना का विचार करना—इसे कल्पना की आँखो से देखना—भी कितना ऊँचा उठानेवाला है! "तरत् स मन्दी धावति", "तरत् स मन्दी धावति।"

शब्दार्थ—

(**मन्दी**) जो भक्ति, स्तुति करनेवाला, स्वय तृप्त, आनन्दमग्न पुरुष होता है (**स**) वह (**तरत्**) तर जाता है (**स**) वह (**सुतस्य**) उत्पन्न की गई (**अंधस.**) आध्यानयुक्त प्राण व वाणी की (**धारया**) धारा के साथ (**धावति**) ऊपर वेग से उठता जाता है। (**स मन्दी**) वह आनन्द तृप्त (**तरत्**) तर जाता है, (**धावति**) ऊर्ध्वगति द्वारा ऊपर चढ जाता है।



सर्वत्र रक्षक परमेश्वर

वृवदुक्थं हवामहे, सृप्रकरस्नमूतये ।
साधु कृण्वन्तं अवसे ॥ ऋ० ८ ३२.१०॥

विनय

हे परमेश्वर! हम तुम्हें रक्षा के लिये पुकारते हैं। इस ससार मे बहुत से क्लेश, दु.ख और आपत्ति हम पर आती हैं, बहुत से भय उपस्थित होते रहते हैं उस समय मे हे परमेश्वर! हम तुम्हें ही याद करते हैं। तुम्हारे सिवा क्लेश मे हम और किसे पुकारें! क्योंकि हम जानते हैं कि तुम ही एक मात्र रक्षक हो, जब तुम रक्षा करना चाहते हो तो सैकड़ों विपत्तियो के बादलो को एक क्षण भर मे उडा देते हो, सैकडों बन्धन एक दम मे काट देते हो जहाँ कोई भी रक्षा का उपाय नहीं नज़र आता, अन्तिम नाश ही दीख रहा होता है, बच जाने की हम कोई कल्पना तक नही कर सकते होते, वहाँ पर भी तुम्हारे अदृश्य हाथ पहुँचे हुए हमारी रक्षा कर देते हैं। तुम्हारे रक्षा करने वाले हाथ हर जगह और हर वक्त पहुँचे हुए हैं। इस लिए हे सृप्रकरस्न! हम कभी भी आशा नही छोडते कि तुम हमे बचा न लोगे। अतः हम तुम्हें पुकारते जाते हैं। आखिर तुम यदि नही भी रक्षा करते तो भी हम अशान्त नही होते क्योंकि हम जानते है कि तुम्हारी अरक्षा मे भी रक्षा छिपी होती है। हे देव! अटल विश्वास है कि तुम कल्याण ही करने वाले हो। तुमसे अकल्याण कभी हो ही नही सकता है। हम नही समझ पाते है कि स्पष्ट दीखने वाली अमुक आपत्ति किस तरह कल्याण के रूप मे बदल जायगी, कैसे हमारा विनाश भलाई के लाने वाला होगा, पर अनुभवो द्वारा अन्तस्तल पर यह विश्वास निहित है कि तुम अपनी हर एक घटना द्वारा हम लोगो का भला ही कर रहे हो और आखिर तुम हमारी पालना करोगे, हमे बचा लोगे। हमारा अत्यन्त विनाश तुम कभी नही होने दे सकते। अतः हम तुम्हे ही रक्षा के लिये पुकारते है। सदा ऐसे विलक्षण ढग से सब का कल्याण करते हुए तुम हमारी निश्चित रक्षा करने वाले हो; हमारे कल्याण के लिए अपने रक्षक बाहुओं को प्रत्येक क्षण मे और प्रत्येक स्थान मे फैलाए बैठे हो ; तुम्हारे सिवाय मनुष्य के लिये और कौन स्तुत्य है? मनुष्य और किसके गीत गावे? तुम्हारी ही स्तुति कर वह अपनी वाणी को कृतकृत्य कर सकता है।

शब्दार्थ—

(वृवदुक्थं) स्तुति करने योग्य इन्द्र को (ऊतये) रक्षा के लिये (हवामहे) हम पुकारते हैं जो इन्द्र (सृप्रकरस्नं) सब जगह फैली हुई भुजाओं वाला है (अवसे) जो पालन पोषण के लिये (साधु कृण्वन्तम्) कल्याण ही करने वाला है, उस इन्द्र को।

सरस्वती देवी

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ऋ० १.३ ११ ॥

विनय

जिन्होंने अपने जीवन को यज्ञ बनाया है वे जानते हैं कि इस जीवन-यज्ञ को जहां अन्य (परमेश्वर के शक्तिरूप) देवो ने धारण कर रखा है वहां सरस्वती देवी ने भी इसे धारण किया हुआ है । यह देवी दो कार्य कर रही है । यह एक तो 'सूनृता' वाणी को प्रेरित करती है और दूसरी सुमतियो को जगाती रहती है । सूनृता उस वाणी का नाम है जो कि सच्ची और प्यारी होती है । केवल प्रिय वाणी तो किसी काम की है ही नही किन्तु केवल सच्ची वाणी बोलना भी अधूरा है । सत्य के साथ वाणी मे अहिंसा भी रहे तभी वाणी पूरी होती है और तब वाणी मे प्रेम भी आ जाता है । सरस्वती देवी हम लोगो मे ऐसी सत्यमयी और मधुर वाणी को प्रेरित करती रहती है । इस कारण हमारा जीवन-यज्ञ अभग्न चलता है । और इसके अतिरिक्त यह सरस्वती देवी इस यज्ञ के एक ऐसे अन्य गहरे और सूक्ष्म अग को भी निवाहती है, जब कि यह हममें निरन्तर श्रेष्ठ, सुन्दर, कल्याणकर, बुद्धि (ज्ञान) को जगाती है । जब जीवन-यज्ञ ठीक चल रहा होता है तो अन्दर सरस्वती देवी हममे शुभ सबकी कल्याणकारी, हितकारी, बुद्धियो को ही उत्पन्न करती हुई और हमारी वाणी से सच्चे और प्रेममय वचनो का ही प्रवाह बहाती हुई होती है । अत. जब कभी हमारे मन मे कोई दुर्मति उत्पन्न होवे, हमारा मन किसी के लिये अहित व अनिष्ट सोचे तो समझ लो कि सरस्वती देवी ने हमे छोड दिया है । जब कभी हम अनृत या कठोर (हिंसक) वचन बोलें तो समझ लो कि सरस्वती देवी हमारे जीवन की यज्ञशाला से उठ गई है । हमे फिर सुमति और सुनृता वाणी का सकल्प करके अपने हृदयासन मे सरस्वती देवी को बिठलाना चाहिए, और इस यज्ञ-भग के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए ।

हम प्राय समझते हैं कि सरस्वती देवी का प्रसाद पढना-लिखना आ जाना है । पर यह नहीं है । यदि किसी के हृदय मे निरन्तर सुमति की ही धारा बहती हो और उसकी वाणी से सत्यमय और मधुर वचनों का ही अमृत झरता हो तो वह मनुष्य चाहे बिल्कुल निरक्षर हो तो भी उसमे निश्चय से सरस्वती का वास है, जो कि उसके जीवन-यज्ञ को धारे हुए चला रही है ।

शब्दार्थ—

(सूनृतानां) सच्ची और प्यारी वाणी को **(चोदयित्री)** प्रेरित करती हुई **(सुमतीनां)** और अच्छी बुद्धियो को **(चेतन्ती)** चेताती हुई **(सरस्वती)** सरस्वती **(यज्ञं)** यज्ञ को **(दधे)** धारण किये हुए है ।

परमात्मा से प्रेम

प्रियं नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।
प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ऋ० १ २६. ७ । सा० उ० ८ १.१ ॥

विनय

हे मनुष्य भाइयो ! हम अपने परम आत्मा को, परम अग्नि को भूल गये हैं। हम यह भी भूल गये हैं कि हम स्वय भी वास्तव मे आत्मा रूप हैं, आत्माग्नि हैं । इसी लिये हम इस ससार की परम तुच्छ धन, दौलत, माल, असबाव, पुत्र, वधू सुख, आराम, शरीर तथा सौन्दर्य आदि विनश्वर वस्तुओ से तो इतना प्रेम करने लग गये हैं, इनमे इतने आसक्त, लिप्त और अनुरक्त हो गये हैं कि हमे इस गन्दी दलदल मे से अब ऊपर उठना असम्भव सा हो गया है । पर जो हमारा असली स्वामी सखा और सब कुछ है, परम पवित्र प्रभु है, उसे हम दिन रात के चौवीसो घण्टो मे से कुछ क्षणो के लिए भी स्मरण नहीं करते । अब तो हम होश सभालें, जागें और अपने परम प्यारे अग्नि प्रभु को अपना लें । वही हम सब प्रजाओं का एकमात्र पति है, स्वामी है, वही हमे सब सुखो का देने वाला 'मन्द्र' है, वही एकमात्र है जो कि हम सब का वरणीय है और वही है जो कि अपने परम यज्ञ द्वारा हम प्रजाओ को सब कुछ दे रहा है । अरे प्यारो ! हम उसे छोडकर कहाँ प्रेम करने लगे ? सचमुच हमने अपनी प्रेमशक्ति का अभी तक घोर दुरुपयोग किया है । क्या प्रेम जैसी पवित्र वस्तु हमे इन अशुचि, तुच्छ, अनित्य वस्तुओं मे रखने के लिए ही दी गई थी । आओ, अब तो हम अपने प्रेम के लक्ष्य को पा लेवें और उस मन्द्र 'विश्पति' को, वरेण्य 'होता' को अपना प्यारा बना लेवें, अपना प्रेम समर्पण कर देवें ।

किन्तु इस तरह प्रेमपथ पर चल देने पर हे भाइयो ! हमे भी उसे रिझाना होगा, उसे प्रसन्न करना होगा उसके प्रेम को अपने प्रति आकर्षण करना होगा, अर्थात् हमें भी उसका प्यारा बनना होगा और उसके प्यारे तो हम तभी बन सकते है जब कि हम "स्वग्नि" बन जायें, उत्तम प्रकार की आत्मायें बन जायें । अत आओ, हम सब मनुष्य अपने उस परम प्यारे के लिए अपनी आत्माओ को शुद्ध करें । उस बृहत् अग्नि के लिए अपनी अग्नियों को उत्तम प्रकार की बना लेवें । अब हमारी आत्माग्नि से विश्वप्रेम की सुन्दर किरणें ही प्रसारित होवें, हमारी बुद्धि-अग्नि मे से सत्य की ज्योति ही निकले, हमारी मानसिक अग्नि सर्व कल्याण के उत्तम विचारों मे ही प्रकाशित हुआ करे, और हमारी चित्ताग्नि से पवित्र इच्छायें व भावनायें ही उठें । इस प्रकार हम उत्तम अग्नि वाले हो जायें । क्योंकि इसी प्रकार वह हमारा प्यारा हमसे प्रसन्न होगा । इसी प्रकार हमने अपने प्यारे को रिझाना है ।

शब्दार्थ—

वह (विश्पति) हम प्रजाओं का स्वामी (मन्द्रः) आनन्द देने वाला (वरेण्य.) और वरणीय (होता) दाता अग्नि (न) हमें (प्रिय अस्तु) प्यारा हो जाय तथा (वयं) हम भी (स्वग्नय) उत्तम अग्नियो वाले होकर (प्रियाः) उनके प्यारे हो जावें ।

आत्म ज्योति का प्रकाश

गूहता गुह्यं तमो, वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि ॥ ऋ० १. ८६. १० ॥

विनय

हे मरुत देवो ! हे प्राणो ! हम अंधेरी गुफा मे पड़े हुए हैं। चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा है। इस अंधेरे मे खा जाने वाले राक्षस हमे सता रहे हैं, हमे खाये जा रहे हैं; इन्हें भगाओ। इन सब 'अत्रियो" को हमसे दूर कर दो। हमे जो कुछ चाहिए वह प्रकाश है। हमे प्रकाश दो, इस गुफा मे चारो तरफ प्रकाश फैला दो।

मैं पंचकोशो की अँधेरी गुहा मे रह रहा हूँ—शरीर प्राण मन आदि के पाँच शरीरो मे बंद पड़ा हुआ हूँ—अपने आपको भूल इन शरीरो को आत्मा समझ रहा हूं। इसलिए काम, क्रोध, लोभ आदि राक्षस मुझे खाये जा रहे हैं। ये काम, क्रोध आदि अज्ञान मे ही रह सकते हैं। आत्मान्धकार मे ही ये फलते-फूलते हैं। इसलिए हे प्राणो ! तुम मेरे गुहा के अंधकार को विलीन कर दो, अंधकार के हटने पर ये 'अत्रि' अपने आप ही यहाँ से भाग जायँगे। जब हम मे आत्म-ज्योति फैल जायगी, सब भूतो, सब प्राणियो मे, फिर आत्मा दिखाई देने लगेगा तो हम किस के प्रति क्रोध करेंगे ? जब हमारा प्रेम सर्वव्यापक हो जायगा तो हम किस एक मे कामासक्त होगे ? लोभ किस लिये करेंगे ? ओह, आत्म-ज्योति का प्रकाश हो जाने पर ये क्षुद्र "अत्रि" कहाँ ठहर सकते हैं। आत्म-ज्योति वह ज्योति है जिससे कि सहस्रो सूर्य, चन्द्र और विद्युतें प्रकाशित हो रही हैं, जिस परमोज्ज्वल-ज्योति के सामने हज़ारो सूर्यों की इकट्ठी ज्योति भी फीकी है—वह प्रकाश हमे दो। हम उस प्रकाश के पाने के लिए तड़प रहे हैं। उस प्रकाश के पा जाने पर तो सब कुछ हो जायगा, हृदय का अंधकार मिट जायगा और इन खा जाने वालो से हमारी रक्षा हो जायगी। हे प्राणो ! तुम प्रकाश के लानेवाले हो। हम जानते हैं कि तुम्हारे जागने पर प्रकाशावरण का क्षय हो जाता है।[1] इस सत्य मे हमे विश्वास है। इसलिए हे प्राणो ! हम तुमसे विनय कर रहे हैं। तुम हममे समा कर हमारे प्रकाश का द्वार खोल दो।

शब्दार्थ—

(मरुत) हे प्राणो ! (गुह्यं तमः) गुहा के अँधेरे को (गूहत) विलीन कर दो (विश्वं अत्रिणम्) सब खा जानेवालो को (वि यात) भगा दो। (यत् उश्मसि) जिसे हम चाह रहे हैं उस (ज्योतिः) ज्योति को (कर्ता) हमारे लिये कर दो।

१—योग दर्शन मे प्राणायाम का फल बतलाते हुए कहा है "तत क्षीयते प्रकाशावरणम्" अर्थात् प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाश का आवरण हट जाता है—अनन्त प्रकाश खुल जाता है।

सच्चे सम्राट् वरुण द्वारा आत्म-साम्राज्य-स्वाराज्य-प्राप्ति

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ ऋ. १.२५.१० ॥

विनय—वरुण सम्राट् हम प्रजाओ के अन्दर आकर बैठा हुआ है। यह कितनी विचित्र बात लगती है; पर यह उतनी ही सच्ची है। असली साम्राज्य अन्दर ही है। बाहिर भी सच्चा सम्राट् वही हो सकता है जिसने पहिले अपनी प्रजाओ के हृदयो में सिंहासन प्राप्त कर लिया है। प्रजाओ के हृदयो मे बिना घुसे कोई सच्चा सम्राट् नही बन सकता है। ठीक ठीक सच्चा शासन अन्दर घुसकर ही किया जा सकता है। इसीलिए इस सब ब्रह्माण्ड के एकमात्र अखण्ड सम्राट् जो वरुण देव हैं, वे हम प्रजाओ के अन्दर आकर बैठे हुए हैं। उस असली सम्राट् के दर्शन के लिये यदि हम निकलें तो हमे बाहिरी सम्राटो के पास पहुँचने की तरह उनके पास पहुचने के लिये कही बाहिर नहीं फिरना होगा। वे तो स्वय हमारे अन्दर आकर बैठे हुए हैं और इस लिये आकर बैठे है कि हमे साम्राज्य दे दें—'साम्राज्याय'। पर हम ऐसे मूर्ख हैं कि हमें कुछ खबर ही नही है। हम छोटी छोटी बातो पर हकूमत पाने के लिए—राज्य पाने के लिए बाहिर घूमते फिरते हैं, लडते झगडते, सत्यादि नियमो का भंग करते, मारकाट करते फिरते हैं। पर यह नही जानते कि सर्वश्रेष्ठ (वरुण) राजा तो स्वय हमे सारे ससार का बादशाह बनाने के लिये, विश्व का साम्राज्य देने के लिये अन्दर आकर बैठा हुवा है और प्रतीक्षा कर रहा है। हम उधर देखते ही नही।

पर जो उधर देखते हैं वे देखते है कि वे वरुण प्रभु "धृतव्रत" और "सुक्रतु" है—वे व्रतो को धारे हुए हैं, उनके व्रत अटल हैं, उनके नियम कभी टूट नहीं सकते और वे शोभन कर्म ही करने वाले हैं, उनसे कभी बुरा कर्म हो ही नही सकता है। हम भी यदि सत्य नियमो का कभी भंग न करने वाले और सदा शोभन कर्म करनेवाले हो जायँगे तो उसी क्षण हमें वह सच्चा साम्राज्य मिल जायगा। वे महात्मा उस साम्राज्य को भोग रहे हैं जिनके लिये सत्य व्रतो का उल्लंघन और बुरा काम होना असम्भव हो गया है। वह वह साम्राज्य है जिसके प्रथम दर्शन होने पर सब कालो और सब देशों के इस महापद को प्राप्त महापुरुष चिल्ला उठते रहे हैं—"मैंने जो पाना था वह पा लिया,"[1] "मैं बादशाह हो गया," "मैं तो अमृत हू।"[2]

सन्तों द्वारा प्राप्त किये गये इस महा साम्राज्य को "धृतव्रत" और "सुक्रतु" बन कर हम भी पा लेवें इसीलिए वे वरुण हमारे अन्दर बैठे हुए हैं और प्रतीक्षा कर रहे है।

शब्दार्थ—(वरुण.) वरुण (धृतव्रत) अटल व्रतो के धारण कर्ता और (सुक्रतु) सदा शोभन कर्म ही करने वाले होकर (साम्राज्याय) साम्राज्य के लिये (पस्त्यासु आ) प्रजाओं के अन्दर आकर (निषसाद) बैठा हुआ है।

१. योगदर्शन १-१६ व्यास-भाष्य। २. तै० उपनिषद् शिक्षाध्याय १०-१

सरस्वती माता ज्ञान देवी बड़े भारी समुद्र को प्रकाश करती है

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥ ऋ० १ ३ १२ ॥

विनय

ज्ञान की सच्ची जिज्ञासा होते ही यह अनुभव होने लगता है कि अरे, ससार मे तो वड़ा ज्ञातव्य है; एक से एक अद्भुत विद्या है, जिस विषय मे देखो उसी विषय में ज्ञान पाने का इतना क्षेत्र है कि मनुष्य कई जन्मो मे भी उसका पार नही पा सकता। तव दीखता है कि मनुष्य के सामने न जाने हुए ज्ञान का एक अनन्त समुद्र भरा पडा है। यह देखनेवाले मनुष्य नम्र हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान का अभिमान नही रहता। ऐसे ही मनुष्य सरस्वती देवी की शरण मे जाते हैं। सरस्वती देवी के झण्डे के नीचे आनेवालो को सवसे पहिले तो यही पता लगा करता है कि ज्ञेय अनन्त है, हमारे ज्ञातव्य संसार का पार नही है और हम तुच्छ लोग तो अपनी क्षुद्र इन्द्रियो और वुद्धि को लिये हुए इस के एक किनारे खड़े हैं। विद्या देवी पहिले तो इस वडे भारी समुद्र को ही हमारे लिए प्रकाशित करती है, इसके पार तो पीछे पहुँचाती है। पहिले हमे यह अनुभव होना चाहिये कि ज्ञेय अनन्त है। ज्ञान की अनन्तता तो हमे पीछे दीखेगी। सरस्वती देवी जिधर जिधर अपने "केतु" को—अपने झण्डे को—ले जाती है अर्थात् जिधर-जिधर अपनी प्रज्ञापक शक्ति को फिराती है, वहाँ-वहाँ पता लगता जाता है कि अरे यह भी एक वडा उत्तम ज्ञेय-क्षेत्र है, यह भी एक वडा भारी ज्ञेय-क्षेत्र है। एव हरेक क्षेत्र को हमारे लिये जगाती जाती है और फिर सव वुद्धियो को विशेष रूप से दीपित भी करती जाती है—अर्थात् जिस-जिस वस्तु की गहराई मे हम जाकर जानना चाहते हैं, उस-उस वस्तु के तत्त्व को, उसके सच्चे स्वरूप को भी हमारे लिये चमका देती है। तव हम जिस विषयक वुद्धि पाना चाहे उसी विषय के ज्ञान को यह देवी हमारे लिये प्रदीप्त कर देती है। तभी अनुभव होता है कि सभी वुद्धियो मे वही देवी प्रदीप्त हो रही है, वही चमक रही है, सर्वत्र उसी का राज्य है। सरस्वती देवी के सच्चे स्वरूप का या ज्ञान के आनन्त्य का (जिसके कि सामने ज्ञेय कुछ भी नहीं होता)[1] अनुभव उसी अवस्था मे पहुँचने पर होता है।

अत वे मनुष्य जिन्हें अभी तक यह भी प्रकट नही हुआ है कि हमे ज्ञान का एक वडा भारी समुद्र पार करना है, वे समझ ले कि उन पर सरस्वती देवी की कुछ भी कृपा नही हुई है और उनके लिए वह दिन तो वहुत दूर है जव कि सरस्वती देवी उनके लिए सव वुद्धियो को दीपित कर देगी।

शब्दार्थ—(**सरस्वती**) ज्ञान देवी (**केतुना**) ज्ञान द्वारा, प्रज्ञापक शक्ति द्वारा (**महः अर्णः**) वड़े भारी ज्ञान-समुद्र को (**प्रचेतयति**) प्रकाशित करती है और (**विश्वा धियः**) सव प्रकाशित वुद्धियो को (**विराजति**) विशेषतया दीपित करती है।

१—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्।
योग० सू० ४– ३१ ॥

ज्ञानी पुरुष ईश्वर कृत अद्भुत बातों को सब ओर देखता है।

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा ॥ ऋ० १ २५ ११ ॥

विनय

इस ससार मे हम बहुधा आश्चर्यचकित कर देनेवाली घटनाएँ होते देखा करते है। इनका करने वाला कौन है? वैसे तो प्रतिदिन होनेवाली बातो को भी यदि हम ध्यान से देखें तो हमको उनमे बडी अद्भुतता दीखेगी। ये अन्धकार और प्रकाश कितनी अद्भुत वस्तु है जिनका परिवर्तन हम रोज साय प्रात देखते हैं। नन्हे से बीज मे बडा भारी वृक्ष बन जाना, अभी चलते, फिरते, हँसते, खेलते, दीखते मनुष्य का एक दम ऐसा सो जाना कि फिर वह कभी न जग सकेगा, जीव से जीव पैदा हो जाना, ये सब भी वास्तव मे कितनी अद्भुत बातें हैं। परन्तु जब पृथ्वी आग बरसाने लगती है और ज्वालामुखी फटने से सैकडो शहर बरबाद हो जाते है, भूकप आते हैं, बडे-बडे साम्राज्य देखते-देखते मिट जाते हैं, थोडे ही दिनो मे एक मनुष्य सितारे की तरह ऊँचा, यशस्वी हो जाता है या राजा रक हो जाता है, तो इनमें अद्भुतता सभी अनुभव करते हैं। विज्ञान के आजकल के अद्भुत चमत्कारो को देखो, सिद्ध साधु, सन्तो द्वारा हुई चकित कर देनेवाली बातो को देखो! ये सब ससार के एक से एक बढ कर के अद्भुत हैं। इन सब अद्भुतो का करनेवाला कौन है? हम लोग समझते है कि इनके करनेवाले मनुष्य हैं, मनुष्य की वैज्ञानिक शक्ति या सघशक्ति है, या कुछ भी नही है केवल प्रकृति का खेल है। पर जो "चिकित्वान्" (जानने वाले) है उन्हे तो सब तरफ इन अद्भुतो का करने वाला वही इन्द्र (परमेश्वर) दीखता है। उसी से ये सब ससार के आश्चर्य निकलते दीखते हैं। इन सब विविध आश्चर्यों को देखते हुए उनकी दृष्टि सदा उस एक इन्द्र पर ही रहती है। उनके लिये फिर ये आश्चर्य कुछ आश्चर्य नही रहते। प्रभु तो "गूगे को वाचाल करने वाले और लँगडे को भी पहाड लँघानेवाले" है ही। ससार मे जो अद्भुत बातें हो चुकी है वे सब प्रभु की ही की हुई थीं, कल जो अद्भुत घटना होनेवाली है, कोई तख्ता पलटनेवाला है वह भी उसी प्रभु की सहज लीला मे ही होने वाला है। प्रभु की अपार लीला देखनेवाले ज्ञानी इसमे कुछ आश्चर्य नही करते, वे अद्भुत से अद्भुत घटना मे भी कार्य-कारण भाव को देखते है।

अत हे मनुष्य! ससार के इन आश्चर्यों को देखकर चकित होना छोड दो किन्तु इनको देखकर इनके कर्त्ता को पहिचानो। उस नट को पहिचानो जो कि ससार को यह अद्भुत नाच नचा रहा है।

शब्दार्थ—

(चिकित्वान्) ज्ञानी पुरुष (कृतानि या च कर्त्वा) जो की जा चुकी हैं और जो की जावेंगी (विश्वानि अद्भुतानि) उन सब अद्भुत बातों को (अतः) इस परमेश्वर मे हुई (अभिपश्यति) सब तरफ देखता है।

जीवन और मृत्यु परमात्मा—अधीन

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं, न मरामहे ।
प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः ॥ ऋ० १ ९१ ६ ॥

विनय

हे हृदयेश ! हे देव ! हे सोम ! जब तुम्हारी इच्छा हमे जीवित रखने की है तब हमे कोई मार नही सकता । यह अन्धा, अज्ञानी ससार बहुत बार तेरे भक्तो से द्वेष करने लगता है और उन्हे सताता है और उन्हे मारना तक चाहता है । भक्त प्रह्लाद को मारने की कितनी चेष्टायें की गईं, भक्त मीरा की जान लेने के लिए राजा ने कई बार यत्न किया, भक्त दयानन्द को लोगो ने कई बार जहर दिया । पर तेरी इच्छा विना कौन मर सकता है ? भक्त लोग इस तत्त्व को जानते होते हैं अत वे आनन्दित रहते हैं । मरने से डरने वाला यह ससार—तेरे ईश्वरत्व को न जाननेवाला यह ससार—यो ही भय-त्रास और मरणाशका से मरा जाता है । पर भक्त देखते हैं कि जब तक तेरी इच्छा नही है तब तक उन्हे कोई मार नही सकता और जब तेरी इच्छा होगी तब तो मरना भी उनके लिए उतना ही आनन्ददायक होगा जितना कि तेरी इच्छा से जीना आनन्ददायक है । ओह, इस ज्ञान के कारण वे भक्त जीवित ही अमर हो जाते हैं, अभिनिवेश के क्लेश से पार हो जाते हैं । वे ससार की किसी भयकर से भयकर वस्तु से भी न डरते हुए, तेरे स्तोत्र गाते हुवे निर्भय फिरते हैं । प्यारे स्तोत्रो से तुझे रिझाना या तेरे स्तुतिगान से जगत् मे भक्ति का प्रसार करना, यही उनका कार्य होता है । अपनी रक्षा व अरक्षा की चिन्ता वे तुझपर छोड बेफिक्र हो जाते हैं । तू तो सभजन करनेवालो की रक्षा करनेवाला मौजूद ही है । तो उन्हें क्या चिन्ता ? अहा, कैसी बेफिक्री और निरापदता की अवस्था है ! कैसी अमृत्युता (अमरता) का आनन्द है !

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! **(त्वं च)** तुम यदि **(नः)** हमारे **(जीवातुं)** जीवित रहने की **(वशः)** इच्छा करते हो **(न मरामहे)** तो हम मर नही सकते । **(प्रियस्तोत्र.)** तुम प्रियस्तोत्रवाले हो और **(वनस्पति)** सभजन करने वालो के रक्षक हो ।

जीवन सर्वस्व परमात्मा

आ हि ष्मा सूनवे पितापि र्यजत्यापये ।
सखा सख्ये वरेण्यः ॥ ऋ० १ २६ ३ ॥

विनय

संसार मे पिता पुत्र-वात्सल्य से प्रेरित होकर पुत्र के लिये क्या नही करता ? बन्धु, बन्धु के लिये जी जान से पूरी सहायता करता है, श्रेष्ठ मित्र अपने मित्र के लिये सब कुछ अर्पण करने को उद्यत रहता है। पर हे प्रभो ! तुम तो मेरे सब कुछ हो। तुम्हारे होते हुए मुझे किसी चीज की क्यो कमी रहनी चाहिये। तुमसे मेरा जो सम्बन्ध है वह घनिष्ठ, अटूट सम्बन्ध है—उसे मैं किस नाम से पुकारूँ ? उस परिपूर्ण सम्बन्ध का वर्णन नही हो सकता। मैं संसार की भाषा मे तुझे कभी पिता, कभी बन्धु, कभी सखा, पुकारता हू। पर हे प्यारे ! हे मेरी आत्मा ! इन शब्दो से मेरा-तेरा वह सम्बन्ध व्यक्त नही हो सकता। जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे पैदा करने वाले और लगातार पालनेवाले हो, तब मैं अपनी भक्ति और प्रेम को प्रकट करने के लिये तुम्हे 'पिता पिता' पुकारने लगता हू और तुमसे पुत्र-वात्सल्य पाने के लिये रोने लगता हूं। जब मुझे तुम्हारे घनिष्ठ सम्बन्ध की याद आती है, उस अटूट सम्बन्ध की जो कि मेरा संसार मे और किसी से भी नही है, तब मैं बन्धु-भाव मे होकर तुम से बातें करने लगता हू। और जब देखता हू कि मैं भी तुम्हारी तरह आत्मा हू और चेतन हू, तुम भले ही मुझसे बहुत बडे 'वरेण्य' होओ, तो मैं सखा बनकर तुम्हें 'वरेण्य सखा' नाम से सम्बोधन करता हू। हे प्रभो ! तुम मुझे पुत्र मानो, बन्धु या सखा मानो, कुछ मानो, हर तरह मैं तेरा हूँ और तुम मेरे हो। हे मेरे ! तो मुझ अपने को तुम कैसे छोड सकते हो ? मैं अपूर्ण अशक्त बालक तेरा हू इसलिये मेरी सहायता किये बिना तुम कैसे रह सकते हो ? तुम परिपूर्ण हो, तुम्हे सदा मुझे देते रहने के सिवा और कार्य ही क्या है ? यही मेरे लिये तुम्हारा यजन है—तुम मुझे देते रहो और मैं लेता रहू यही तुम्हारी तरफ से मेरा यजन है। तुमसे मेरा सम्बन्ध इसी रूप मे कायम है। बडा छोटे को दिया ही करता है, इसलिये मैं क्या मागू ? मेरी जरूरत को समझना और पूरी तरह पूर्ण करना तुम स्वय ही करोगे हे मेरे ! तुम स्वय ही करोगे। बस, मैं तेरा हू, मैं तेरा हूँ, और क्या कहू, हे मेरे सर्वस्व ! हे मेरे सब कुछ ! मैं तेरा हू।

शब्दार्थ—

(पिता सूनवे) पिता पुत्र के लिये (हि स्म आयजति) सर्वथा सहायता प्रदान करता है, सर्वा पूर्ण करता है (आपि आपये) बन्धु बन्धु के लिये (वरेण्य सखा सख्ये) श्रेष्ठ मित्र मित्र के लिये सर्वथा सहायता प्रदान करता है।

देवाधिदेव महादेव परमात्मा

यच्चिद्धि शश्वता तना देवं देवं यजामहे ।
त्वे इद्धूयते हविः । ऋ० १.२६.६ ॥ साम० उ. ७ ३.१ ॥

विनय

हे देवाधिदेव, एक देव ! इस जगत् मे दो प्रकार के नियम काम कर रहे है । एक शश्वत् सनातन नियम हैं जो कि सब काल और सब देशो मे सत्य है, सदा लागू हो रहे हैं । दूसरे वे नियम हैं जो कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे ही सत्य हैं, जो कि स्थानिक हैं, स्वल्पकालिक होते हैं, शश्वत् नियमो के अनुसार चलने से हे प्रभो ! तुम्हारा पूजन होता है और अशश्वत् अविस्तृत नियमो के अनुसार चलने से केवल उस-उस देव की तृप्ति होती है, उस-उस देव का यजन होता है। पर हे प्रभो ! इस परिमित अशाश्वत ससार मे रहने वाले हम परिमित अशाश्वत शरीरधारी प्राणी तुम्हारा यजन भी सीधा कैसे कर सकते है ? हम तुम्हारा यजन इन देवो द्वारा ही कर पाते है । फिर तुम्हारे यजन मे और इन देवो के यजन मे भेद यह है कि हम जो यज्ञ विस्तृत और सनातन दृष्टि से (भावना से) करते हैं वह तो इन देवो द्वारा तुम्हे पहुच जाता है और जो यज्ञ परिमित भावना से करते हैं वह इन देवो तक ही पहुचता है । यदि हम अग्नि-होत्र अपनी वायुशुद्धि के लिये करते हैं तो यह अग्नि व वायुदेवता का यजन है, पर यदि हम यही अग्नि-होत्र ससार चक्र को चलाने मे अगभूता बनकर करते है तो इस अग्नि-होत्र से तुम्हारा यजन होता है । यदि हम विद्या का सग्रह अपने सुख के लिये करते हैं तो यह सरस्वती देवी का यजन है पर यदि यह हमारा ज्ञान तुम्हारी ही प्राप्ति के प्रयोजन से है तो यह सरस्वती देवी द्वारा तुम्हारा पूजन है । इसी तरह अपनी मातृभूमि देवी का पूजन भी केवल स्वदेशोद्धार के लिये या जगत् हित के लिये दोनो तरह का हो सकता है । यहाँ तक कि यदि हमारे अपने देह की रक्षा, हमारा नित्य का भोजन खाना भी सचमुच तुम्हारे ही लिये है तो यह दीखनेवाली देह-पूजा भी असल मे तुम्हारा ही यजन है । इसलिये सब बात भाव की है, हवि के प्रकार की हैं । हम सनातन और विस्तृत भावना से जिस भी किसी देव का यजन करते है, उन सब देवो के नाम से दी हुई हमारी हवि तुम्हे ही जा पहुचती है । तब हमारा लक्ष्य तुम्हारी तरफ हो जाता है । अतएव जब हमारा एक-एक कार्य शश्वत् दृष्टि से सनातन नियमो के अनुसार होता है तब हमारे कर्म मे जिस किसी भी देव की पूजा होती दीखती है, वह सब पूजा असल मे तुम्हारे ही चरणो मे पहुच जाती है।

शब्दार्थ—

(शश्वता तना) सनातन और विस्तृत हवि से (यत् चित् हि देव देव) यद्यपि हम भिन्न-भिन्न देवो का (यजामहे) यजन करते हैं (हवि.) पर वह हवि (त्वे इत्) तुझ मे ही (हूयते) हुत होती है तुझे ही पहुचती है ।

विविध युद्धों में मुख्य रक्षक और सहायक परमेश्वर

यमग्ने पृत्सु मर्त्यं, अवा वाजेषु यं जुनाः।
स यन्ता शश्वतीरिषः॥ ऋ० १ २७ ७॥

विनय

इस संसार मे मनुष्य को प्रत्येक अभीष्ट फल पाने के लिये लड़ाइयां लडनी पडती हैं। ससार मे नाना प्रकार के सघर्ष चल रहे हैं। हे प्रभो! जिस मनुष्य की तुम इन संग्रामो मे रक्षा करते हो अर्थात् जिस तुम्हारे अनन्य भक्त को सदा तुम्हारी सहायता मिलती रहती है, उस मनुष्य को नित्य अक्षय अन्न प्राप्त होते हैं। उसे रोटी के सवाल के लिये कोई लडाई नही लडनी पडती। वह इससे निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि उसे एक नित्य अन्न मिल जाता है जिससे कि वह सदा ही तृप्त बना रहता है। वह जानता है कि जिस तूने उसे शरीर दिया है और जो तू उसके इस शरीर की नाना तरह से रक्षा कर रहा है, वही तू उसके इस शरीर को अन्न भी देता रहेगा। सब दुनियां के पशु-पक्षियो की चिन्ता करनेवाला तू उसके शरीर की भी खुद चिन्ता करेगा, नहीं तो शरीर को ही वापिस ले लेगा। वह जानता है कि अपने भक्तो के प्रति तेरी यह प्रतिज्ञा है "तेषां नित्याभियुक्ताना योगक्षेम भजाम्यहम्"। भक्तो के योगक्षेम करने की चिन्ता तूने अपने ऊपर ले रखी है। बस, यही ज्ञान है जिसके कि कारण वे निश्चिन्त रहते हैं—तृप्त रहते हैं। यही ज्ञान "नित्य अन्न" है। यह रोटी का अन्न तो अनित्य है। आज खाते हैं, कल फिर भूख लग आती है। इससे नित्यतृप्ति नही प्राप्त होती, पर उस आत्म-ज्ञान को प्राप्त होकर वे सदा के लिये तृप्त हो जाते है। वे इसी आत्म-ज्ञान पर जीते हैं, रोटी पर नही जीते। अतएव रोटी न मिलने पर (शरीर छूटने पर) वे मरते भी नहीं, वे अमर हो चुके होते हैं। हम लोग रोटी पर ही जीते हैं और रोटी न मिलने पर मर जाते हैं। इस अनित्य अन्न (रोटी) के हमेशा मिलते रहने का प्रबन्ध करके यदि इसे नित्य बनाने का यत्न किया जाय तो भी यह नित्य नही बनता, नित्यतृप्तिकारक नही रहता, क्योंकि हमेशा अन्न मिलते रहने पर भी यह शरीर एक दिन बुड्ढा होकर छूट ही जाता है। रोटी उस समय उसकी तृप्ति व रक्षा नही कर सकती है। अत नित्यअन्न तो ज्ञान-तृप्ति ही है। हे परमेश्वर! इस युद्धमय ससार मे तुम जिसके सहायक होते हो उसे यह शश्वत् अन्न देकर—इस शश्वत् 'इष्' का स्वामी बनाकर—तुम अमर भी कर देते हो।

शब्दार्थ —

(अग्ने) हे अग्ने! तू (य मर्त्यं) जिस मनुष्य की (पृत्सु अवा) युद्धो मे रक्षा करता है और (य वाजेषु जुना) और जिसे युद्धो मे सहायता करता है (स) वह मनुष्य (शश्वती) नित्य सनातन (इष) अन्नो को (यन्ता) वश करता है—प्राप्त करता है।

वैशाख (मेष)

के लिए

प्राणदायक व्यायाम

गले तथा गर्दन की स्वस्थता तथा नीरोगता लाने वाला

पूर्व निर्दिष्ट (चैत्र मास मे निर्दिष्ट) विधि के अनुसार खड़े होकर भुजायें फैलाइये। इस बार हथेलियाँ सामने की ओर हो। मुट्ठियाँ बाँधने के बाद सब मास-पेशियों (Muscles) को तान लीजिये। अब हाथो को धीमे-धीमे छाती के सामने तक लाइये कि दोनो हाथ मिल जाए। क्षण भर ठहर कर दोनो हाथो को फिर वापिस धीमे-धीमे ले जाइये। जब दोनो हाथो को छाती के सामने ले जा रहे हो तो उस समय दीर्घ श्वास अन्दर लीजिए जिससे कि जिस समय दोनो हाथ सामने मिलें उस समय तक फेफड़े पूरी तरह से भर जायें और जब हाथो को वापिस ला रहे हो तो श्वास को धीमे-धीमे बाहिर निकालिये।

अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड दीजिये। और इस तरह इस व्यायाम को ८-१० मिनट तक बार-बार कीजिये।

इस प्राणायाम को करते समय अपना मन, गर्दन तथा गले पर एकाग्र कीजिए और इनको अपने सामने स्वस्थ और सर्वथा नीरोग हालत मे चित्रित कीजिये।

ध्यान—रुधिर मेरे गर्दन तथा गले मे अच्छी तरह सचरण कर रहा है। इस प्राणायाम से मेरी एक-एक नाडी और इन अङ्गो का एक-एक घटक पुष्टि पा रहे है। सब जीर्ण परमाणु निकल रहे है और मुझे बहुत नवीन जीवन मिल रहा है।

इन अङ्गो को गौणतया श्रावण, कार्त्तिक और माघ की व्यायामो द्वारा भी लाभ पहुच सकता है। 

अहो आश्चर्य ! पानी में मीन प्यासी

अपां मध्ये तस्थिवान्सं तृष्णाऽविदत् जरितारम् ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ ऋ० ७ ८९.४ ॥

विनय

हे प्रभो ! क्या तुम्हे मेरी दशा पर तरस नही आता ? सत लोग मेरे जैसों पर हँस रहे है और कह रहे हैं "मुझे देखत आवत हाँसी, पानी मे मीन प्यासी ।" सचमुच मैं तो पानी के वीच मे वैठा हुआ भी प्यास से व्याकुल हो रहा हूँ । तेरे करुणा-सागर मे रहता हुआ भी मैं दु खी हूँ, सतप्त हू । जब कि तूने मेरी इच्छाओं को पूरा करने ही के लिये यह ससार ऐश्वर्यो से भर रखा है और तुम प्रतिक्षण मेरी एक-एक आवश्यकता को वडी सावधानी से ठीक-ठीक स्वय पूरा कर रहे हो, तब मुझे अपने मे कोई इच्छा या कामना रखने की क्या जरूरत है ? पर फिर भी न जाने क्यो मुझे अनेको तृष्णायें लग रही हैं, सैकडो कामनायें मुझे जला रही हैं । हे नाथ ! मैं क्या करू ? इस विषम दशा से मेरा कौन उद्धार करेगा ? हे उत्तम शक्ति वाले ! मैं इतना अशक्त हो गया हू—इतना निर्वल हूँ कि सामने भरे पडे हुए पानी से भी अपनी प्यास बुझा लेने मे असमर्थ हू । मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये, किन्तु कमजोरी इतनी है कि उसे मैं कर नही सकता । हे सच्चिदानन्दरूप ! मैं देखता हू कि आत्मा मे सचमुच अपरिमित वल है, तो भी मैं उस वल को ग्रहण नही कर सकता । मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा अमूल्य ज्ञान-रत्नो का भडार है, पर मैं इस रत्नाकर के बीच मे वैठा हुआ भी ज्ञान का भिखारी वना हुआ हूँ । मैं जानता हूँ कि तुम मेरे आनन्दमय प्रभु सर्वदा सर्वत्र हो, सदा मेरे साथ हो, पर फिर भी मैं कभी आनन्द नही प्राप्त कर पाता । अरे, मैं तो अमृत के सागर मे पडा मरा जा रहा हूँ । तेरी अमृतमय गोद मे वैठा हुआ, स्वय अमृततत्त्व होता हुआ वार-वार मौत के मुह मे जा रहा हूँ । हे नाथ ! अब तो मुझ पर दया करो, मुझे इस विषम अवस्था से उवार लो, अव तो मुझे सुखी कर दो । हे परमकारुणिक ! हे सुक्षत्र ! मुझे इतना क्षत्र-- इतना वल—तो दे दो कि मैं सामने भरे पडे जल का सेवन तो कर सकू, इससे अपनी तृष्णा शान्त करके सुखी तो हो सकू । हे शक्तिवाले ! जिस तूने मुझे इस पानी के सागर मे रखा है वही तू मुझे इसके पीने का सामर्थ्य भी प्रदान कर जिससे कि मैं अपनी प्यास बुझा कर सुखी हो सकू । हे नाथ ! मुझे सुखी कर, सुखी कर, अव तो अपनी शक्ति देकर मुझे सुखी कर । यह तेरा स्तोता कव से चिल्ला रहा है, इसे अव तो सुखी कर दे ।

शब्दार्थ—

(जरितार) मुझ स्तोता को (अपां मध्ये तस्थिवांसं) पानी के बीच मे बैठे हुए भी (तृष्णा) प्यास (अविदत्) लगी है । (सुक्षत्र) हे शुभशक्तिवाले ! (मृड) मुझे सुखी कर, (मृडय) सुखी कर ।



दीनता त्यागपूर्वक जीवन में दृढ़ता

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ ऋ० ७.८९.३ ॥

विनय

हे मेरे तेजस्वी स्वामिन् ! मुझ दीन की प्रार्थना सुनो। मैं इतना दीन हूं, इतना अशक्त हूं कि अपने कर्तव्य के विरुद्ध आचरण कर देता हूं। मैं जानता हुआ कि यह करना नहीं चाहिये, फिर भी कर देता हूं। मैं कई शुभ संकल्प करता हूं कि मैं आज से नित्य व्यायाम करूंगा, नित्य सन्ध्या करूंगा, पर दीनतावश इसे निभा नहीं सकता। हृदय में कई अच्छी अच्छी प्रज्ञायें (बुद्धियां) स्थान पाती हैं पर झूठे लोक लाज के वश में उन पर अमल करना नहीं शुरू करता। उसके विरुद्ध ही चलता जाता हूं। यह मैं जानता होता हूं कि मेरा "क्रतु" क्या है—कर्तव्य कर्म क्या है, अन्दर, से दिल कहता जाता है कि तू उलटे मार्ग पर चला जा रहा है, फिर भी मैं दुर्बल किसी भय का मारा हुआ, उसी उलटे मार्ग पर चलता जाता हूँ। हे दीप्यमान देव ! हे मेरे स्वामी ! तू मुझे वह तेज क्यों नहीं देता जिससे कि मैं निर्भय होकर अपने कर्तव्य पर डटा रहूँ, किसी के कहने से या हंसी उड़ाने से उलटा आचरण करने को प्रवृत्त न होऊँ, किसी क्लेश से डरकर अपने "क्रतु" को न छोड़ूं। मुझे यह अवस्था बड़ी प्रिय लगती है पर दीनतावश मैं इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर रहा हूँ। हे 'सुक्षत्र' ! हे शुभ बल वाले ! मुझे अदीन बना दे। मैं दीनता का मारा हुआ तेरी शरण आया हूँ। इस दीनता के कारण मुझ से सदा उलटे काम होते रहते हैं और फिर मेरा अन्तरात्मा मुझे कोसता रहता है, इसलिए मैं सदा बेचैन रहता हूँ। हे प्रभो ! मुझे सुखी कर। मुझ में तेज देकर मेरी बेचैनी दूर कर। इस अशक्तता के कारण मैं जीवन में पग-पग पर असफल हो रहा हूँ—मेरा जीवन बड़ा निकम्मा हुआ जा रहा है। हे प्रभो ! क्या कभी मेरे वे सुख के दिन न आयेंगे जब मैं अपने क्रतु पर दृढ़ रहा करूंगा, अपने संकल्पों पर अटल रहा करूंगा। हे मेरे स्वामी ! ऐसी शक्ति देकर अब मुझे सुखी कर दो, मुझे सुखी कर दो।

शब्दार्थ—

(समह) हे तेजोयुक्त ! (शुचे) हे दीप्यमान ! (दीनता) दीनता, अशक्तता के कारण मैं (क्रत्वः) अपने क्रतु से, संकल्प से, प्रज्ञा से, कर्तव्य से (प्रतीपं) उलटा (जगम) चला जाता हूं (सुक्षत्र) हे शुभ शक्तिवाले ! (मृड) मुझे सुखी कर। (मृडय) मुझे सुखी कर।

प्रभु के बुद्धियोग से जीवनयज्ञ में सफलता

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति । ऋ० १.१८.७ ॥

विनय

हममे से बहुत से लोगो को अपनी अक्ल का—अपनी बुद्धि का—बहुत अधिक अभिमान होता है । वे समझते हैं कि वे अपनी अक्ल व चतुराई के बल पर हर एक कार्य मे सिद्धि पा लेंगे, उन्हे अपने बुद्धि-बल के सामने कुछ भी दुःसाध्य नही दीखता । पर उन्हे यह मालूम नही कि बहुत बार उन्हे जिन कार्यों मे सफलता मिलती है वह इसलिये मिलती है कि अचानक उस विषय मे उनकी समझ (बुद्धि) प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल होती है । असल मे तो इस जगत् का एक-एक छोटा-बड़ा कार्य उस प्रभु के योगबल (बुद्धियोग) द्वारा सिद्ध हो रहा है । हम मनुष्यो की बुद्धि जब प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल (जानबूझ कर अनुकूल होती है या अचानक) होती है तब हमे दीखता है कि हमारी बुद्धि से किया कार्य सफल हो गया । पर अचानक हुई अनुकूलता के कारण जो हमे अपनी सफलता का अभिमान हो जाता है वह सर्वथा मिथ्या होता है । वह हमे केवल धोखे मे रखने का कारण बनता है और कुछ नही । पर जो जान-बूझ कर प्राप्त की गई अनुकूलता होती है वही सच्ची है । यदि मनुष्य अपने कार्यों की सिद्धि चाहता है—अपने कार्यो को सफल-यज्ञ बनाना चाहता है, तो उसे यत्न-पूर्वक अपनी बुद्धि को प्रभु से मिलाना चाहिए, अपनी बुद्धि का प्रभु मे योग करना चाहिये । हमारी बुद्धि प्रभु से युक्त हो गई है—उसकी बुद्धि से जुड गई है कि नही—यह पूरी तरह से निर्णीत कर लेना तो हम अल्पज्ञ पुरुषो के लिये सदा सभव नहीं होता । हमारे लिए तो इतना ही पर्याप्त है कि हम युक्त करने का यत्न करते जायें । प्रभु सत्यस्वरूप है अतः हमारी बुद्धि सदा सत्य और न्याय के अनुकूल ही रहे (हमारे मन मे जो कुछ सत्य और न्याय है, बुद्धि उसके विपरीत जरा भी निर्णय न करे) यह यत्न करना ही पर्याप्त है । हमारी बुद्धि के प्रभु से योग करने का यत्न करते हुए जब यह योग परिपूर्ण हो जाता है अर्थात् इस योग मे प्रभु व्याप्त हो जाते हैं तभी यह कार्य सिद्ध हो जाता है । अतः हमे अपनी बुद्धियो का अभिमान छोडकर, हमारे यज्ञ-कार्य मे जो बडे प्रसिद्ध अक्लमन्द लोग है उनके बुद्धिबल पर भरोसा करना छोडकर, नम्र होकर अपनी बुद्धियो को सत्य और न्याय-तत्पर बना कर प्रभु से जोडने का यत्न करना चाहिये । हम चाहे कितने बुद्धिमान् हो पर हमे सदा अपनी बुद्धि प्रभु से जोडकर रखनी चाहिये । प्रभु के अधिष्ठान के बिना कोई भी यज्ञ-कार्य सफल नही हो सकता है ।

शब्दार्थ—

(यस्मात् ऋते) जिस प्रकाशक प्रभु के बिना (विपश्चित चन) बडे-बडे बुद्धिमान् अक्लमन्द का भी (यज्ञ) यज्ञ (न सिद्धयति) सिद्ध नही होता (स) वह प्रभु (धीना योग इन्वति) बुद्धियो के योग मे व्याप्त हो जाता है ।

मरणशील मनुष्यों का अमरदेव ही स्तुत्य

तमध्वरेषु ईडते देवं मर्त्ता अमर्त्यम् ।
यजिष्ठं मानुषे जने ।। ऋ ५.१४.२ ।।

विनय

नाना प्रकार के यज्ञो मे जो हम विविध कर्म करते हैं, असल मे हम उन सब कर्मों द्वारा उस अमर देव का ही पूजन करते हैं। हम मरणशील मनुष्यो को अमर देव के ही यजन करने की ज़रूरत है। प्रत्येक यज्ञ-कर्म का प्रयोजन यही है कि हम उस द्वारा मृत्यु से पार हो जायें—अमर हो जायें। यज्ञ मर्त्य को अमर बनाने के लिये ही है। पर हम यज्ञो द्वारा जिस अमर देव की पूजा करते हैं, वह अमरदेव कहा पर है ? सुनो, वह अमरदेव प्रत्येक मानुष्य जन मे है, प्रत्येक मनुष्य मे यजिष्ठ' होकर विद्यमान है। हमे प्रत्येक मनुष मे उनका यजन करना चाहिये। इसीलिये कहा जाता है कि यज्ञ सब मनुष्यो के हित के लिये होता है। यज्ञ का स्वरूप परोपकार है—एक-एक मनुष्य का हितसाधन है। मनुष्यो की सेवा करना ही यज्ञ करना है। जितना हम मनुष्यो की सेवा करते है—मनुष्यो की पीड़ाओ और दुःखो को दूर करने के लिये निःस्वार्थ भाव से यत्न करते हैं—उतना ही हमारे ये कार्य यज्ञ होते हैं—अग्निहोत्र द्वारा किये जानेवाले पुराने ऋतु यागादि भी आधिदैविक देवो की अनुकूलता प्राप्त करके मनुष्य जनता के हित के प्रयोजन से ही किये जाते थे। पर इतने मे भी यज्ञ का तात्पर्य पूरा नही होता। मनुष्यो की जिस किसी प्रकार की सेवा करने से यज्ञ नहीं हो जाता। हमने तो प्रत्येक मनुष्य मे उस अमरदेव का ही यजन करना है। जिस सेवा से मनुष्य के अमरदेव की सेवा नही होती वह सेवा सेवा नही है; वह सेवा यज्ञ नही है। भोगविलास की सामग्री जुटाने से बेशक मनुष्यों की तृप्ति होती दीखती है पर यह मनुष्यो की सच्ची सेवा नही है। ऐसा परोपकार' यज्ञ नही, अयज्ञ है। इसी प्रकार भूखो को इस तरह अन्न देना रोगियो को इस तरह औषध देना भी जो कि उनकी सच्ची उन्नति मे—उन्हें अमर बनाने मे—बाधक होवे, यह भी यज्ञ नही है। अर्थात् जनता की भौतिक उन्नति साधना तभी तक यज्ञ है जब तक कि यह भौतिक उन्नति उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही हो। आध्यात्मिक उन्नति करना ही—दूसरे शब्दो मे—मर्त्य से अमर बनना है। आओ हम मर्त्य अमरदेव की पूजा करें, मनुष्य की ऐसी सेवा करने मे अपने को खो देवें जो सेवा उन के अमर बनने मे सहायक हो।

शब्दार्थ—

(अध्वरेषु) सब यज्ञो मे **(मर्त्ता)** हम मरणशील मनुष्य **(तं अमर्त्यं देवं)** उस अमर—कभी न मरनेवाले—देव की ही **(ईडते)** पूजा करते हैं जो कि देव **(मानुषे जने)** प्रत्येक मनुष्य के अन्दर **(यजिष्ठं)** यजनीय है।

सर्वद्रष्टा

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥ ६.४५.१६॥ ऋग्वेद

विनय

हे मनुष्य ! तू किस-किस की स्तुति करता फिरता है ? संसार में तो एक ही स्तुति के योग्य है । संसार में हम मनुष्यों का एक ही पति, पालक और रक्षक है । हे मनुष्य ! तू न जाने किस-किस को अपना पालक समझता है और उस-उसकी स्तुति करने लगता है । कहीं तू रुपये पैसेवाले व्यक्ति को अपना रक्षक समझता है, कहीं तू किसी लब्धप्रतिष्ठ रोबदाब वाले व्यक्ति को अपना स्वामी बनाकर रहता है । कहीं तू किसी दार्शनिक व कवि की प्रज्ञा व प्रतिभा के स्तुति-गीत गाने लगता है, उनके ज्ञान व कवित्व पर तू मोहित रहता है । संसार में ऐसे भी मनुष्य बहुत हैं जो कि किन्हीं जीवित व जीवरहित आकृतियों के सौन्दर्य को देखकर ही ऐसे मोहित हो जाते हैं कि उनका मन उस सौन्दर्य की प्रशंसा करता नहीं थकता । परन्तु संसार में मनुष्य की स्तुति के पात्र बहुत नहीं हैं । एक ही है, केवल एक ही है, और वह इन सब स्तुत्य वस्तुओं का एक स्रोत है । उसकी स्तुति न कर, इन शाखाओं की स्तुति करने से कल्याण नहीं होता—रक्षा नहीं मिलती । रूप, रस आदि ऐन्द्रियिक विषयों की स्तुति तो मनुष्य का विनाश ही करती है, पालन कदापि नहीं । इनकी स्तुति तो अति अज्ञानी पुरुष ही करते हैं । पर जो संसार में हमारे अन्य रक्षा करने वाले बल, ज्ञान और आनन्द हैं (बली, ज्ञानी और सुखी लोग हैं) वे भी "विचर्षणि" "वृषक्रतु" नहीं हैं, उनमें ज्ञान और बल पर्याप्त नहीं है । संसार के ये सब बल, ज्ञान और आनन्द तो उस एक सच्चिदानन्द महासूर्य की क्षुद्र किरणें मात्र हैं । इन किरणों की स्तुति करने से अपने को बड़ा धोखा खाना पड़ेगा । हे ! मनुष्य ! ये संसार के क्षुद्र बल और ज्ञान सतत्व का पालन न कर सकेंगे ये बीच में ही छोड़ देंगे । इन में पूरा ज्ञान और बल नहीं है । अतः इनमें आसक्त होकर इनकी स्तुति मत कर । स्तुति उस मनुष्यों के एक 'पति' की कर, जो "विचर्षणि" होता हुआ पालक है और "वृषक्रतु" होता हुआ पालक है । वह एक-एक मनुष्य को विशेषतया देख रहा है । प्रत्येक मनुष्य को और उसके सब संसार को वह इतनी अच्छी तरह देख रहा है कि प्रत्येक मनुष्य यही अनुभव करेगा कि उस मेरे प्रभु को मानो एकमात्र मेरी फिक्र है । और उस पालक पति का एक-एक क्रतु एक-एक संकल्प, एक-एक कर्म ऐसा 'वृष' अर्थात् बलवान् है कि उसकी सफलता के लिये उसे दुबारा संकल्प व यत्न करने की जरूरत नहीं होती । हे मूर्ख मनुष्य ! अपने उस 'पति' की ही स्तुति कर उसकी सैकड़ों किरणों की स्तुति छोड़ कर उस असली सूर्य की ही स्तुति कर, उस एक की ही स्तुति कर ।

शब्दार्थ—

(य एक इत्) जो एक ही है और जो (कृष्टीनां) मनुष्यों का (विचर्षणि:) सर्वद्रष्टा और (वृषक्रतु) सर्वशक्तिमान् (पति) पालक (जज्ञे) हुआ है (तं उ) उसकी ही (स्तुहि) तू स्तुति कर ।

प्रभु के महान् प्यारे

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ॥ ऋ० ६.४५.३ ॥

विनय

मैं क्या बतलाऊँ प्रभु किन-किन अद्भुत ढंगों से मनुष्य को उन्नत कर रहे हैं। जब मनुष्य रोता और पीटता रहता है, जब उसके अन्दर ऐसे युद्ध चल रहे होते हैं कि उसे विफलता पर विफलता ही मिलती जाती है, पीछे से पता लगता है कि उस समय में, उन्हीं दिनों में, उसने अपनी उन्नति का बहुत बड़ा रास्ता तै कर लिया होता है। मनुष्य प्रभु की कल्याणमयी घटनाओं को नहीं समझ पाता कि उन घटनाओं से कभी—सुदूर भविष्य में—उसका कल्याण कैसे सकेगा। प्रभु के उन्नत करनेवाले मार्ग इतने महान् और विशाल हैं कि अल्पदृष्टि मनुष्य उन्हें पूर्णता में कभी नहीं देख सकता, अतएव वह कल्याण की तरफ जाता हुआ भी घबराया रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति—स्वभाव—के अनुसार अपने-अपने निराले ढंग से उन्नत व विकसित हो रहा है। जब मनुष्य अपने ही उन्नति-मार्ग को नहीं समझ पाता तो उसके लिये दूसरे मनुष्यों के विकास का दावा भरना कितना कठिन साहस है! उस अगम्य लीला वाले प्रभु की जिस 'प्रणीति' से जिस व्यक्ति ने उन्नति पायी होती है वह व्यक्ति उसी रूप में उस प्रभु के गीत गाता फिरता है। इस तरह अनादिकाल से मनुष्य नाना प्रकार से उसकी प्रशस्तियाँ गाते आ रहे हैं और गाते रहेंगे। मनुष्य उसकी स्तुतियों का कैसे पार पावें? भक्त पुरुष तो उस प्रभु की रक्षाओं का—रक्षा के प्रकारों का—ही अन्त नहीं देखता। प्रभु की रक्षण-शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, वहाँ से रक्षणों का एक ऐसा सनातन प्रवाह बह रहा है कि वह सब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंगों की, सब स्थावर और अस्थावर जगत् की, एक ही समय में अकल्पनीय तरीकों से रक्षा कर रहा है। मनुष्य अपने पिछले कुछ अनुभवों के आधार पर सोचता है कि ऐसा होने से मेरी रक्षा हो जायगी अतः वह वैसा ही होने की प्रभु से प्रार्थना करता है और वैसी ही आशा करता है। पर इस बार प्रभु एक बिलकुल नये मार्ग से रक्षा करके मनुष्य को आश्चर्यचकित कर देते हैं। एवं नये से नये अकल्पनीय ढंगों से मनुष्य को प्रभु का रक्षण मिलता जाता है। तब पता लगता है कि प्रभु संसार का सब प्रकार से कल्याण ही कर रहे हैं। हम मानें या न मानें, पर वे तो हमें मारते हुए भी हमारी रक्षा कर रहे हैं। अहो, देखो उस प्रभु के उन्नति-मार्ग महान् हैं, उसकी रक्षा के प्रकार अनन्त हैं, सब जाननेवाला संसार उसकी स्तुतियाँ ही स्तुतियाँ गाता है।

शब्दार्थ—

(अस्य) इस परमेश्वर के (प्रणीतयः) आगे ले जाने के—उन्नत करने के—मार्ग (महीः) बड़े हैं (उत प्रशस्तयः पूर्वीः) और इसकी प्रशंसाएँ सनातन हैं (अस्य ऊतयः न क्षीयन्ते) इसकी रक्षायें कभी क्षीण नहीं होतीं।



प्रभु कृपा से

उत नः सुभगाँ अरि र्वोचेयु र्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेत् इन्द्रस्य शर्मणि ॥ ऋ० १.४.६ ॥

विनय

हे पापो और बुराइयो का उपक्षय करने वाले जगदीश्वर ! तुम्हारी कृपा से मैं इतना उच्च हो जाऊं कि मेरी अच्छाइयो का बखान मेरे शत्रु भी करें । मेरी तरफ से तो मेरा कोई शत्रु नही होना चाहिये, पर जो मेरे प्रतिद्वन्द्वी है—जिनके कि विचार मेरे विचारों से नही मिलते, जो कि मेरे वायुमण्डल से बिलकुल उलटे वायुमण्डल मे रहते हैं—उन मेरे विरोधी भाइयो के लिये यह स्वाभाविक होगा कि उनके कानो मे सदा मेरे अवगुण ही पहुँचें और उनका दृष्टिकोण ही ऐसा होगा कि उन्हे मेरी बुराइयाँ ही सहज मे दिखाई देवें । पर हे प्रभो ! यदि मेरा जीवन बिलकुल पवित्र होगा, मेरे आचरण मे सर्वथा सचाई और शुद्धता होगी तो मेरे जीवन का उस दूरस्थ (विचारों से मुझ से दूर रहनेवाले) भाई पर भी असर क्यो न होगा ? बस, हे प्रभो ! मेरे अन्दर से सब बुराइयो का नाश करके मुझे ऐसा उच्च बना दो कि जो मुझसे इतनी विपरीत परिस्थिति मे रहते है उन पर भी मेरी अच्छाई की, उच्चता की, छाप पड़े बिना न रहे । सामान्य मनुष्य तो मुझे अच्छा कहेगें ही, मेरी स्तुति करेंगे ही, पर इन विरोधियो के अन्त करण भी मेरी विशुद्धता को पहिचानें, यही इच्छा है । अपने सच्चे विरोधियो से जो यश मिलेगा वह खरा यश होगा, उसमे अत्युक्ति आदि का खोट न होगा । मित्रो और उदासीनो से तो यश मिला ही करता है उसमे कुछ विशेषता नही, उसका कुछ मूल्य नही ।

पर हे प्रभो ! इस यश को पाकर मैं फूल नही जाऊंगा, तुम्हें भूल नही जाऊंगा, बल्कि इस यश को भूला रहकर सदा तुम्हारी ही याद मे सुखी रहूँगा । यह यश तो मेरी विशुद्धता की पहचान मात्र होगा, यह मेरे सुख का कारण कभी नही होगा । मेरा सुख तो तुम्हारी शरण मे है । बाहिरी दुनियाँ चाहे मेरी घोर निन्दा करे, मुझे अपमानित करे तो भी मैं तेरे प्रसाद से पाये सुख मे वैसा ही सुखी रहूँगा जैसा कि बाहिरी यश पाने पर हूँ । मेरा सुख या दुःख बाहिरी यश या अपयश पर अवलम्बित न होगा । हे प्रभो ! ऐसी कृपा करो कि तुझ परमेश्वर की प्रसन्नता से पाये हुए सुख मे ही मैं सदा सुखी, आनन्दित और सन्तुष्ट रहूँ । बाहिरी यश द्वारा सुख पाने की चाह मुझे कभी उत्पन्न न हो, बाहिरी यश मिलते होने पर भी उस यश से सुख पाने की चाह मुझे कभी न उत्पन्न हो । मैं तुम्हारे ही सुख मे रहूँ ।

शब्दार्थ—

(दस्म) हे पापनाशक इन्द्र ! (अरि उत) शत्रु भी (न सुभगान् [वोचेयुः]) हमारी अच्छाइयों को, हमारे सौभाग्यो को कहें (कृष्टय वोचेयु) सामान्य मनुष्य तो कहें ही । फिर भी हम (इन्द्रस्य इत्) तुझ परमेश्वर के ही (शर्मणि) सुख मे (स्याम) रहें, होवें ।

मन की दिव्यशक्ति

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ऋ० १०.५७ ६ ॥

विनय

हे सोम ! तुम्हारा दिया हुआ, तुम्हारी महाशक्ति का अंशभूत मन हमारे शरीरो मे विद्यमान है । इस मन का—इस तुम्हारी अमूल्य देन का—हमे गर्व है । इस मन के कारण ही हम मनुष्य है । इस मननशक्ति के कारण ही हम पशुओ से ऊँचे हुए हैं । तो क्या अपने शरीरो मे मन जैसी प्रबल शक्ति को धारण किये हुए भी हम लोग तुम्हारे व्रत मे न रह सकेंगे ? बेशक तुम्हारे व्रत का पालन करना बडा कठिन है । तुमने जगत् मे जो उन्नति के नियम बनाये हैं, ठीक उनके अनुसार चलना बड़ा दु साध्य है । पर जहाँ तुमने ये कठिन नियम बनाये है वहाँ तुमने ही हममे मन की अतुलशक्ति भी दी है। अत हमारा दृढ निश्चय है कि हम अपनी मनःशक्ति के प्रयोग द्वारा सदा तुम्हारे व्रत मे ही रहेंगे—कभी इसका भंग न करेंगे—कठिन से कठिन प्रलोभन व विपत्ति के समय मे भी मन शक्ति द्वारा व्रत मे स्थिर रहेंगे ।

पर यह सब व्रतपालन किस लिये है ? यह तुम्हारी सेवा के लिये है । यह तुम्हारा दिया मन इसी काम के लिये है । हम चाहते हैं कि केवल यह हमारा मन ही नही, किन्तु हमारे मन की प्रजा भी तुम्हारी सेवा मे ही काम आवे । मन मे जो एक रचना-शक्ति (Creative Power) है, उस द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कुछ रचना कर जावे, कुछ निर्माण कर जावे । यह रचना ही मन की प्रजा है । यदि हम, हे सोम ! सर्वथा तुम्हारे व्रत मे होंगे तो हमारी यह रचना (प्रजा) भी नि सदेह तुम्हारी सेवा के लिये ही होगी—इसी मे व्यय होगी । एव हम और हमारी प्रजा सदा तुम्हारी सेवा मे रहे, तुम्हारी सेवा मे ही अपना जीवन बिता देवें । अब यही संकल्प है, यही इच्छा है, यही प्रार्थना है ।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोमदेव ! **(तनूषु)** अपने शरीरो मे **(मन)** मन को, मन शक्ति को **(बिभ्रत)** धारण किये हुए **(वयं)** हम लोग **(तव व्रते)** तुम्हारे व्रत मे हैं—तुम्हारे व्रत का पालन करते हैं और **(प्रजावन्त)** प्रजा-सहित हम लोग **(सचेमहि)** तुम्हारी सेवा करते रहे ।

आत्मजीवन निर्माण

अहमिद्धि पितुःपरि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥

ऋ० ८.६.१०॥ साम० पू० २.२ ६.८॥ अथर्व० २०.११५.१॥

विनय

मैं सूर्य के सदृश हो गया हू । मैं अनुभव करता हूं कि मैं मनुष्यो में सूर्य वन गया हूं । मुझ सूर्य से सत्यज्ञान की किरणें सब तरफ निकल रही हैं । जैसे इस हमारे सूर्य से प्राणिमात्र को ताप, प्रकाश और प्राण मिल रहा है, सव का पालन हो रहा है, इसी तरह मैं भी ऐसा हो गया हूं कि जो कोई भी मनुष्य मेरे संपर्क मे आता है उसे मुझ से ज्ञान, भक्ति और शक्ति मिलती है । मैं कुछ नही करता हूं पर मुझे अनुभव होता है कि मुझ से स्वभावत जीवन की किरणें ,चारो तरफ निकल रही हैं और चारों तरफ के मनुष्यो को उच्च, पवित्र और चेतन वना रही हैं । इसमें मेरा कुछ नही है, मैंने तो प्रभु के आदित्य (सूर्य) रूप की ठीक तरह से उपासना की है अत. उनका ही सूर्यरूप मुझ द्वारा प्रकट होने लगा है । मैंने वुद्धि द्वारा सूर्य की उपासना की है । मनुष्य का वुद्धि-स्थान (सिर) ही मनुष्य मे द्युलोक (सूर्य का लोक) है । मैंने अपनी वुद्धि द्वारा सत्य का ही सव तरफ से ग्रहण किया है और ग्रहण करके इसे धारण किया है । धारण करनेवाली वुद्धि का नाम ही 'मेधा' है । इस प्रकार मैंने मेधा को प्राप्त किया है द्युलोक के साथ अपना सम्बन्ध जोडकर द्युलोक को अपने में ग्रहण किया है, इसीलिये मैं सूर्य के समान हो गया हूं । द्युलोक मे स्थित प्रभु का रूप ऋतरूप है, सत्यरूप है । मैंने अपनी सव वुद्धियां, सब ज्ञान, उन सत्यस्वरूप पिता मे ही ग्रहण किये हैं । मैंने इसका आग्रह किया है कि मैं सत्य को ही—केवल सत्य को ही—अपनी वुद्धि मे स्थान दूंगा । इस तरह मैंने प्रभु के द्युरूप की सतत उपासना की है, ऋत की मेधा का परिग्रह किया है । इस सत्यबुद्धि के धारण करने के साथ-साथ मुझमें भक्ति और शक्ति भी आ गई है, मेरा मन और शरीर भी तेजस्वी हो गया है । पालक पिता के सव गुण मुझमें प्रकट हो गये हैं । मैं सूर्य हो गया हूं । हे मुझे सूर्यसमान करनेवाले मेरे कारुणिक पिता ! तुझ ऋत की मेधा को सव तरह से पकडे हुए मैं तेरे चरणों में पडा हुआ हूं ।

शब्दार्थ—

(अहं इत्) मैंने तो (हि) निश्चय से (पितुः) पालक पिता (ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर की (मेधा) धारणावती वुद्धि को (परिजग्रभ) सव तरफ से ग्रहण कर लिया है, अत. (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) हो गया हूं ।

मन्यु का पात्र !

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ।।
ऋ० ८ ६ ४।। साम० पू० २ १ ५ ३।। अ० २० १०७ १

विनय

इन्द्र परमेश्वर जहाँ हमारे पिता है, उत्पादक और पालक हैं, वहाँ वे हमारे कल्याण के लिये रुद्र भी हैं, सहारकर्त्ता भी हैं। जब जगत् मे किसी स्थान पर महार की आवश्यकता आ जाती है तो प्रभु अपने मन्यु को प्रकट करते हैं, मानो अपना तीसरा नेत्र खोल देते हैं, अपने तीसरे रूप को प्रकाशित करते हैं। उस कल्याणकारी शिव के मन्यु का तेज जब देदीप्यमान होने लगता है तो सब नाश होने योग्य ससार पतगे की तरह आ आकर उसमे भस्म होने लगता है, मन्यु का पात्र कोई भी व्यक्ति बच नही सकता, सब वहे चले आते हैं। देखो, समय समय पर बडे-बडे सग्राम, दुष्काल या महामारी आदि रूपो में प्रभु का वह महाबल वाला मन्यु जगत् में प्रकट होता रहता है। सब मनुष्य अपने विनाश की तरफ खिचे चले जा रहे होते हैं पर उन्हे यह मालूम नहीं होता। जैसे कि सब नदियाँ समुद्र की तरफ बही चली जा रही हैं कि उसमे जाकर समाप्त हो जायेंगी, लीन हो जायेंगी; उसी तरह प्रभु का मन्यु काल-समुद्र बनकर उन सब प्राणियो को अपनी तरफ खीचता जा रहा है जिनका कि समय आ गया है। मनुष्यो के किये हुए पाप उन्हे विनाश की ओर वेग से खींचे ले जा रहे है। जिन्होंने इस ससार को ज़रा भी तह के अदर घुसकर देखा है वे देखते हैं कि किस किस विचित्र ढग से मनुष्य अपने मृत्यु-स्थल की तरफ खिचे चले जा रहे हैं। धन्य होते हैं अर्जुन जैसे दिव्यदृष्टिपात पुरुष जिन्हे कि काल का यह आकर्षण दिखाई दे जाता है और जो देखते हैं कि "यथा नदीनां बहवोम्बुवेगा समुद्रमेवाभिमुख द्रवन्ति। तथा तवामी नरलोक वीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिज्वलन्ति" पर हम लोग तो मौत के मुँह मे घुसे जा रहे होते हैं पर कुछ पता नहीं होता। हममे से अपनी शक्तियो का बडा गर्व-करनेवाले बडे-बडे प्रख्यात लोग जिस समय ससार को जितने अभिमान के साथ अपना पराक्रम दिखा रहे होते है, उसी समय वे उतने ही वेग से मृत्यु की तरफ दौडे जा रहे होते हैं, पर उन्हें कुछ पता नही होता। जबकि उनका सब ठाठ एक क्षण मे गिर पडता है, सामने मौत खडी दीखती है तब जाकर प्रभु का रुद्र रूप उन्हे दीख पडता है। प्यारो! तो तुम अभी से क्यो नहीं देखते कि इसके मन्यु के सामने सब ससार झुका पडा है—पापी होकर कोई भी मनुष्य उसके सम्मुख खडा नही रह सकता है—जिससे तुम अभी से उसके मन्यु का पात्र न बनने की समझ पा सको।

शब्दार्थ—

(**अस्य**) इस परमेश्वर की (**मन्यवे**) मन्यु, 'क्रोध', दीप्ति के सामने (**विश्वा विशः**) सब प्रजाये (**कृष्टयः**) सब मनुष्य (**सं नमन्त**) ऐसे झुक जाते हैं (**समुद्राय इव सिन्धवः**) जैसे कि नदियां समुद्र मे समा जाने के लिये उधर स्वयं बही जाती हैं।



हे नाथ !

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिः गीर्भिः ईमहे ।
इन्द्र अभिमातिषाह्ये ॥

ऋग्वेद० ३. ३७ ३ ॥ अथर्व० २०.१९.३ ॥

विनय

हे परमेश्वर ! मुझे यह वाणी तेरे नामोच्चारण के लिए ही मिली है। मैं निरन्तर तेरे पवित्र नामो का उच्चारण करता रहता हू। तेरी दी हुई इस वाणी से मैं अन्य कुछ कर ही नही सकता, कोई भी निरर्थक बात, कोई भी अनीश्वरीय बात, मेरी वाणी से नहीं निकल सकती। मेरे एक-एक कथन मे तेरी ही धुन होती है, तेरा ही निवास होता है। हे इन्द्र ! मैं इस प्रकार अपनी सब वाणियो से नानारूप मे तेरे ही नामो का कीर्तन करता रहता हू। यदि मैं ऐसा न करूँ तो मैं अपने शत्रुओं को कैसे पराजित कर सकूँ ? उनसे कैसे रक्षित रहूँ ? तेरा पवित्र नामोच्चारण करता हुआ ही मैं निरन्तर सब शत्रुओ पर विजयी हुआ हू और हो रहा हूं। मेरा सबसे बडा शत्रु "अभिमाति" है, अभिमान है। आजकल इस महाशत्रु को मार डालने के लिये विशेषतया तेरा नाम मेरा महाअस्त्र हो रहा है। जब मनुष्य के काम, क्रोध आदि अन्य शत्रु जीते जा चुके होते हैं, मनुष्य आत्मिक उन्नति की ऊँची अवस्था को पहुचा होता है, तब भी यह अभिमान, अहंकार, अस्मिता, मनुष्य का पीछा नहीं छोडता। यह है जो कि अविद्या का कुछ अंश शेष रहने तक भी आत्मा का मुकावला करता रहता है। यही हैं जो कि, हे मेरे परमेश्वर ! मुझे अन्त तक तुमसे जुदा किये रहता है। जब मनुष्य खूब उन्नत हो जाता है, तब उसे और कुछ नही तो, अपनी उन्नतावस्था का, अपने पुण्यात्मा होने का अभिमान हो जाया करता है। यह अभिमान ही मनुष्य को बिल्कुल पतित कर देने के लिये पर्याप्त होता है। इसीलिये ही हे शतक्रतो ! हे अनन्तवीर्य ! हे अनन्तप्रज्ञ ! इसीलिए मैं निरतर तेरे नाम को जपता रहता हू, जीभ पर तेरा परमपवित्र नाम रखे फिरता हू। जब जरा भी अभिमान मन मे आता है 'यह बडा भारी काम मैं कर रहा हू" "यह मैंने किया है" तो तुरत मेरे हाथ जुट जाते है और मुख से तेरा नाम निकल पडता है। इस तरह इस महा-शत्रु से मेरी रक्षा हो जाती है। तेरा नाम मुझे तुरत नमा देता है, तेरा स्मरण आते ही मैं अवनत-शिर होकर भूमि पर मस्तक टेक देता हू—तो उस महाबली अभिमान को क्षण भर मे विलीन हो चुका पाता हू, चारो तरफ कोसो दूर तक उसका पता नही होता, सब पृथ्वी पर तुम ही तुम होते हो, और मैं तुम्हारे चरणो मे। मैं उस समय तेरे पृथ्वीरूप विस्तृत चरणो मे लगी हुई धूल का एक परम तुच्छ कण बनकर निरभि-मानता के परम परम सात्विक सुख का उपभोग पाता हू। हे नाथ ! तेरे नाम की अपार महिमा का मैं क्या वर्णन करूँ ?

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे अनन्तकर्म ! हे अनन्तप्रज्ञ ! (विश्वाभि: गीर्भि:) मैं अपनी सब वाणियो से (ते नामानि) तेरे नामो को (ईमहे) लेता हूं—लेता रहता हू, (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अभिमातिषाह्ये) शत्रु का—अभिमान शत्रु का—पराभव करने के लिये लेता हू।

प्रभु की प्राप्ति !

सदा व इन्द्रश्चर्कृषत् आ उपो नु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥ साम० पू. ३ १ १.३ ॥

विनय

हे मनुष्यो ! तुम अपने परमात्मा से प्रेम क्यो नही करते ? जहाँ हरिकथा होती है वहाँ से तो तुम भाग आते हो । बार बार प्रभु-चर्चा होती देखकर तुम ऊबते हो, जबकि विषयो की चर्चायें सुनने के लिये सदा लालायित रहते हो । तुम्हे उस अपने पिता से इतना हटाव क्यो है ? तुम चाहे जो करो, पर वह देव तो तुम्हे कभी भुला नही सकता । वह तो तुम्हें प्रेम से अपनी तरफ आकर्षण ही कर रहा है, सदा आकर्षण कर रहा है, निरन्तर अपनी तरफ खीच रहा है । तुम जानो या न जानो पर वह अत्यत समीपता के साथ माता की तरह तुम पुत्रो की निरतर परिचर्या भी कर रहा है । वह परमेश्वर हमारे रोमरोम मे रमा हुआ, हमारे एक एक श्वास के साथ आता-जाता हुआ, हमारे मन के एक-एक चितन के साथ तद्रूप हुआ हुआ, और क्या कहें, हमारी आत्मा की आत्मा होकर, एक अकल्पनीय एकता के साथ हमसे जुडा हुआ है । हमे ससार मे जो कुछ प्रेम, आराम, वात्सल्य, भोग, सेवा, सुख मिल रहा है वह किन्ही इष्ट मित्रो या प्राकृतिक वस्तुओ से नही मिल रहा है, वह सब हमारे उस एक अनन्य सम्बन्धी परमदयालु प्रभु से ही मिल रहा है । वह केवल हमे अपनी तरफ खीच ही नहीं रहा है, किन्तु इतनी समीपता से निरन्तर हमारी सेवा भी कर रहा है, प्रेमप्रेरित होकर हमारी खिदमत कर रहा है, हमारा पालन, पोषण, रक्षण, दुःखनिवारण, आदि सब परिचर्या कर रहा है । अरे ! वह तो कही छिपा हुआ भी नही है । उसके और हमारे बीच मे कोई भी आवरण नही है । उसे ढका हुआ, आच्छादित भी कौन कहता है ?

हे मनुष्यो ! सच बात तो यह है कि यदि हम उसके इस प्रेमाकर्षण को जानने लग जायें—वे प्रभु देव सदा प्रेम से हमे अपनी तरफ खीच रहे हैं, यह हम सचमुच अनुभव करने लग जायें—तो हमे यह भी दीख जाये कि वे हमारे अत्यन्त निकट हैं और अत्यन्त निकटता के साथ हमारी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं, और फिर एक दिन हमे यह भी दिख जाये कि वे सब ब्रह्माण्ड के रचयिता महा पराक्रमी इन्द्र प्रभु—जिनके कि विषय मे परोक्षतया हम इतनी बातें सुना करते थे, वे—हमसे किसी आवरण से ढके हुए भी नही हैं, वे प्रत्यक्ष हमारे सामने हैं और यह दीख जाना ही परमात्मा का साक्षात्कार करना है, परम प्रभु को पा लेना है ।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (इन्द्र) परमेश्वर (व) तुम्हे (सदा) सदैव (आचर्कृषत्) अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है । (स) वह (नु) निःसदेह (उप उ) समीप ही, समीपता के साथ (सपर्यन्) तुम्हारी सेवा करता हुआ है । (शूर इन्द्र देव) वह महापराक्रमी इन्द्रदेव (न वृत) ढका हुआ, आच्छादित नही है ।

अमरता !

ज़ुहुरे वि चितयन्तो अनिमिषं नृम्णं पान्ति ।
आ दृढां पुरं विविशुः ॥ ऋ० ५-१९ २ ॥

विनय

एक नगरी है जो कि बिल्कुल दृढ है, अभेद्य है, इसमे पहुच जाने पर किसी भी शत्रु का हम पर आक्रमण सफल नहीं हो सकता : क्या कोई उस स्थान पर पहुचना चाहता है । वहाँ पहुचने का मार्ग कुछ विकट है, कड़ा है, आसान नही है । वहाँ पहुँचनेवालो को ज्ञानपूर्वक स्वार्थ-त्याग करते जाना होता है और सदा जागते हुवे अपने "नृम्ण" की—आत्म-बल की—रक्षा करते रहना होता है, ये दो साधनायें साधनी होती हैं । कई लोग अपने कर्तव्य व उद्देश्य का विना विचार किये यूँ ही जोश मे आकर 'आत्म-बलिदान' कर डालते हैं। ऐसा करना आसान है पर यह सच्चा बलिदान नही होता । इससे यथेष्ट फल नही मिलता । इस पवित्र उद्देश्य के सामने अमुक वस्तु वास्तव मे तुच्छ है इसलिये अब इस वस्तु को स्वाहा कर देना मेरा कर्तव्य है इस प्रकार के स्पष्ट-ज्ञान के साथ, विना किसी जोश के, जो आत्म-बलिदान होता है वही सच्चा आत्म-बलिदान होता है । नहीं तो, हम तो बहुत बार आत्म-बलिदान के नाम से आत्मघात कर रहे होते हैं । वहाँ पहुँचने के लिये तो आत्मा का घात नही, किन्तु आत्मा की रक्षा करनी होती है । हम लोग प्राय क्रोध करके, असत्य बोलकर, इन्द्रियों को स्वच्छद भोगो मे दौडाकर अपना आत्म-तेज, आत्मवीर्य, आत्मबल खोते रहते हैं । पर वे पुरुष अपने इस 'नृम्ण' आत्मबल की बडी सावधानी से, सदा जागरूक रहते हुए, बडी चिता से, रक्षा करते हैं । वे पल पल में अपनी मनोगति पर भी ध्यान रखते हुए देखते रहते हैं कि कही अदर कोई आत्मबल का क्षय करनेवाला काम तो नही हो रहा है । एव रक्षा किया हुआ आत्म-बल ही उस दृढ पुरी मे पहुँचने वाला है । वास्तव मे ये दोनो साधनायें एक ही है, यदि हम इनके इस सम्बन्ध पर विचार करें कि ऐसे लोग आत्मबल की रक्षा करने के लिये शेष हरेक वस्तु का बलिदान करने को उद्यत रहते हैं और ये सदा इतने सत्य के साथ आत्म-बलिदान करते जाते हैं कि उनके प्रत्येक आत्म-बलिदान का फल यह होता है कि उनका आत्म-बल बढता है । आओ ! हम भी आत्म-हवन करते हुए और आत्म बल की रक्षा करते हुए चलने लगें और उस मार्ग के यात्री हो जायें जो कि अभयता, अजातशत्रुता, अमरता और अभेद्यता की दृढ पुरी मे पहुँचनेवाला है ।

शब्दार्थ—

जो (वि चितयन्तो जुहुरे) ज्ञान पूर्वक स्वार्थ त्याग करते हैं और (अनिमिषं नृम्णं पान्ति) लगातार जागते हुए, अपने आत्मबल की रक्षा करते रहते हैं [ते] वे (दृढां पुरं) दृढ अभेद्य नगरी में (आविविशुः) प्रविष्ट हो जाते हैं । 

भक्ति महान् !

कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
तदिद्धि अस्य वर्धनम् ।। साम० पू० ३ १ ४ २।।

विनय

प्रभु की थोडी सी भी भक्ति महान् फल को देनेवाली होती है । हम लोग समझा करते हैं कि थोडे से संध्या-भजन से, एक आध मत्र द्वारा उनका स्मरण कर लेने से हमारा क्या लाभ होगा, या एक दिन यह भजन छोड देने से हमारी क्या हानि होगी। पर यह सत्य नही है । हमारी उपासना चाहे कितनी स्वल्प और तुच्छ होवे पर वह उपास्यदेव तो महान् है । ज्ञान और शक्ति मे वह हमसे इतना महान् है कि हम कभी भी उसके योग्य उसकी पूरी भक्ति नही कर सकते है। और उसके सामने हम इतने तुच्छ हैं कि वह यदि चाहे तो अपने जरा से दान से हमे क्षण मे भरपूर कर सकता है । हम यदि थोडी देर के लिये भी उससे अपना सम्बन्ध जोडते हैं तो वह महान् देव उस थोडे से समय मे ही हमे भर देता है। सत लोग अनुभव करते है कि प्रभु का क्षण भर ध्यान करते ही प्रभु की आशीर्वाद-धारा उनके लिये खुल जाती है और वे उस क्षण भर मे ही प्रभु के आशीर्वाद से नहा जाते हैं, एक बार प्रभु का नामोच्चारण करते ही उन्हे ऐसा आवेश आता है कि शरीर रोमाचित हो जाता है, मन और आत्मा आनदरस से पवित्र और प्रफुल्ल हो जाते हैं । पर यदि हम साधारण लोगो की प्रार्थना, उपासना अभी उस महाप्रभु से इतना ऐश्वर्य नही पा सकती है तब तो हमे उसके थोडे से भी भजन की बहुत कदर करनी चाहिए, एक भी दिन एक भी समय नागा न करनी चाहिये । एक समय भी नागा होने से जो सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह फिर जोडना पडता है । यही कारण है कि नागा होने पर प्रायश्चित्त का विधान है । एव एक समय नागा होने से एक समय की देरी नही होती, वह दुबारा सम्बन्ध जोडने जितनी देरी हो जाती है । अत हम चाहे किसी दिन भजन मे बिल्कुल दिल न लगा सकें, तथापि उस दिन भी कुछ न कुछ उपासना जरूर करनी चाहिये, यत्न जरूर करना चाहिए । पीछे पता लगता है कि एक दिन का भी यत्न व्यर्थ नही गया, एक एक दिन की उपासना ने हमे बढाया है—हमारे शरीर, मन और आत्मा को उन्नत किया है ।

कम से कम यह तो असन्दिग्ध है कि ससार की अन्य बातो मे हम जितना समय देते हैं, सासारिक बातो की जितनी स्तुति उपासना करते है और उससे जितना फल हमे मिलता है, उससे अनन्त गुना फल हमे प्रभु की (अपेक्षया बहुत ही थोडी सी) स्तुति उपासना से मिल सकता है और मिल जाता है । कारण स्पष्ट है, क्योकि वह महान् है, ज्ञान का भण्डार है, सर्वशक्तिमान् है और ये सासारिक बातें अल्प हैं, तुच्छ हैं, निस्सार हैं, ज्ञानशक्तिविहीन केवल विकार हैं ।

शब्दार्थ—

(महे) महान् **(प्रचेतसे)** बडे ज्ञानी **(देवाय)** इष्टदेव परमेश्वर के लिये **(कत् उ)** कुछ भी, थोडा सा भी **(वच. शस्यते)** वचन—स्तुति रूप में—कहा जाये **(तत् इत् हि)** वह ही निश्चय से **(अस्य)** इस वक्ता का **(वर्धनं)** बढाने वाला है ।

हमारी पुकार

आ घा गमत् यदि श्रवत् सहस्रिणीभिः ऊतिभिः ।
वाजेभिः उप नो हवम् ।।

ऋ० १ ३० ८।। साम० उ० १ २ ११।। अथर्व० २० २६. २।।

विनय

वह आ जाता है, निश्चय से आ जाता है, हमारे पास आ प्रकट हो जाता है यदि वह सुन लेवे। बस, उसके सुन लेने की देर है। उस तक अपनी सुनाई करना, अपनी रसाई करना बेशक कठिन है। उस तक हमारी पुकार पहुँच जाये, इसके लिये हममें कुछ योग्यता चाहिये, हममे कुछ सामर्थ्य चाहिये। पर इसमे कुछ सन्देह नही है कि वह परमात्मदेव यदि पुकार सुन लेवे, यदि हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर लेवे तो वह निश्चय से आ जाता है—और तब वह आता है अपनी सहस्रो प्रकार की रक्षा-शक्तियो के साथ। हमारी रक्षा के लिये मानो वह अनन्त महाशक्तिनी सेना के साथ आ पहुँचता है। हमारी रक्षा के लिये तो उसकी जरासी शक्ति ही बहुत होती है पर तब यह पता लग जाता है कि उसकी रक्षा-शक्ति असीम है। वह हमारे 'हव' पर—पुकार पर—अपने 'वाज' के साथ (अपने ज्ञान-बल के साथ) आ पहुँचता है। हम पीडितो की रक्षा कर जाता है और हम अज्ञानान्धकार मे ठोकरें खाते हुओ के लिये ज्ञान-प्रकाश चमका जाता है, पर यदि वह सुन लेवे। कौन कहता है कि वह सुनता नहीं। बेशक, उसके हमारी तरह कान नही, पर वह परमात्मदेव बिना कान के सुनता है। यदि हमारी प्रार्थना कल्याण की प्रार्थना होती है और वह सच्चे हृदय से - सर्वात्मभाव से—की गई होती है तो उस प्रार्थना मे यह शक्ति होती है कि वह प्रभु के दरबार मे पहुँच सकती है। आह! हमारी प्रार्थना भी प्रभु के दरबार मे पहुँच सके, हममे इतनी स्वार्थशून्यता, आत्म-त्याग और पवित्रता होए कि हमारी पुकार उसके यहाँ तक पहुँच सके। यदि हमारी प्रार्थना मे इतनी शक्ति हो, हम अन्धकार मे पडे हुए, दुःख-पीडितो, दुर्बलो के हार्दिक करुण-क्रन्दनो मे इतना बल हो कि इन्द्रदेव उन्हे सुन लेवे तो क्या है? तब तो क्षण भर मे वे करुणासिन्धु हम डूबतो को बचाने के लिये आ पहुँचते हैं। बस, हमारी प्रार्थना उन तक पहुँचे, हमारी पुकार में इतना बल हो, तो देखो, वे प्रभु अपने सब साज-सामान के साथ अपने ज्ञान, बल और ऐश्वर्य के भण्डार के साथ, अपनी दिव्य विभू-तियो की फौज के साथ हम मरतो को बचाने के लिये, हम निर्बलो मे बल सचार करने के लिये, हम अन्धो को अपनी ज्योति से चकाचौंध करने के लिये आ पहुँचते हैं।

शब्दार्थ—

(यदि) यदि (न हवं) हमारी पुकार (श्रवत्) वह इन्द्र सुन लेवे तो वह (सहस्रिणीभिः ऊतिभिः) अपनी सहस्रों बलशालिनी रक्षा-शक्तियो के साथ और (वाजेभिः) सहस्रों ज्ञानबलों के साथ (उपआगमत् घ) निश्चय से आ पहुँचता है।

हमें वर दो

पवमानस्य ते वयं पवित्रं अभ्युन्दतः ।
सखित्वं आ वृणीमहे ॥

ऋ० ९.६१.४॥ साम० उ० २ १ ५ ॥

विनय

हे त्रिभुवन पावन ! तुम अपने स्पर्श से इस सब जगत् को पवित्रता दे रहे हो। यह सच है कि तुम्हारे बिना यह संसार बिल्कुल मलिन है। यह संसार तो स्वभावतः सदा मलिन ही होता रहता है, विकृत होता रहता है, गन्दगियाँ पैदा करता रहता है। परन्तु तुम्हारी ही नाना प्रकार की पवित्र करने वाली धारायें नाना प्रकार से इस संसार के सब क्षेत्रों से इन मलिनताओं को निरन्तर दूर करती रहती हैं। हे पवमान ! हे सब जगत् को अपने अनवरत प्रवाह से पवित्र करने वाले ! जो मनुष्य तुम्हारे स्वरूप की इस पवित्रता को जानते हैं, वे अपने आपको भी (अपने हृदय को भी) पवित्र करने में लग जाते हैं, अपने अन्तःकरण से काम, क्रोध आदि विकारों को निकालकर इसे बड़े यत्न से निर्मल बनाते हैं। जब यह पवित्र हो जाता है तो इस पवित्र अन्तःकरण में तुम्हारी सात्त्विक धारायें जो आनन्द-रस पहुँचाती हैं, हृदय को सदा सरस बनाये रहती हैं, उसका वर्णन वाणी में नहीं किया जा सकता। पवित्रान्तः-करण भक्त लोग ही उसका अनुभव करते हैं। जिनके हृदयों में द्वेष, क्रोध, जड़ता आदि का कूड़ा भरा हुआ है उनके शुष्क हृदय, या जिन्होंने प्रेम भक्ति का दुरुपयोग कर विषैले रसों से हृदय को गंदा कर रखा है उनके भी मलिन हृदय, इस पवित्र आनन्द-रस का आह्लाद क्या जानें ? जब मनोविकारों का यह सूखा या गीला मल निकल जाता है तभी मनुष्य के हृदय में तुम्हारे पवित्ररस का स्यन्दन होना प्रारम्भ होता है और उसमें फिर दिनों दिन सात्त्विकरस भरता जाता है। भक्तिभाव के बढाने से जब भक्तों के हृदय-मानस आनन्द के हिलोरे लेने लगते है, तो वे देखने योग्य होते हैं। हे सोम ! तब उनके पवित्र हृदय का तुम 'पवमान' के साथ सम्बन्ध जुड़ गया होता है। इस सम्बन्ध, इस सखित्व, इस एकता के कारण ही उन का हृदय सदा तुम्हारे भक्ति-रस के चुआनेवाला झरना बन जाता है। हे प्रभो ! यही सम्बन्ध, अपना यही सखित्व हमें प्रदान करो। हे सोम ! हम तुझसे इसी सखित्व की भिक्षा माँगते है। हे जगत् को पवित्र करने वाले ! जिस सख्य के हो जाने से तुम्हारी पवित्र कारक धारा मनुष्य के हृदय को सदा भक्ति रस मे रसमय बनाये रखती हैं, उसी सखित्व की भिक्षा हमें प्रदान करो। हम अपने हृदय को पवित्र करते हुए तुमसे यही सखित्व, यही मैत्रीभाव, यही प्रेम-सम्बन्ध प्राप्त करना चाहते हैं, वरना चाहते हैं। यह वर हमें प्रदान करो।

शब्दार्थ—

(पवित्रं अभि उन्दतः) हमारे पवित्र हुए अन्तःकरण को भक्तिरस से आर्द्र करते हुए (पवमानस्य ते) तुझ परम पावन के (सखित्व) सख्य को, मित्रभाव को (वय) हम (आवृणीमहे) वरण करते हैं।

तेरी इच्छा

अभ्रातृव्यो अना त्वं अनापिः इन्द्र जनुषा सनादसि ।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥

ऋ० ८.२१.१३॥ अ० २० ११४.१॥

विनय

हे परमेश्वर ! तुम्हारे लिये न कोई शत्रु है और न कोई बन्धु है। तुम जिस उच्च स्वरूप मे रहते हो वहाँ शत्रुता और बन्धुता का कुछ अर्थ ही नही। और तुम्हारे लिये कोई नायक व नियन्ता कैसे हो सकता है? तुम ही एक मात्र सब जगत् के नियन्ता हो, नेता हो। तुम जन्म से, स्वभाव से ही ऐसे हो। 'जनुषा' का यह मतलब नही कि तुम्हारा कभी जन्म होता है। तुम तो सनातन हो, सनातन रूप से ऐसे शत्रुरहित और बन्धुरहित हो। पर सनातन होते हुए भी तुम हमारे बन्धुत्व (आपित्व) को चाहते हो। और इस बन्धुत्व को तुम युद्ध द्वारा चाहते हो, युद्ध द्वारा ही चाहते हो। अहा ! कैसा सुन्दर आयोजन है ! तुम चाहते हो कि ससार के सब प्राणी सासारिक युद्ध कर के ही एक दिन तुम्हारे बन्धु बन जायें, तुम्हारे बन्धुत्व का साक्षात्कार करलें। सचमुच बिना लडाई के मिली सुलह, बिना सघर्ष के मिली प्रीति, बिना सग्राम के मिली मैत्री नीरस है, फीकी है, अवास्तविक है उसका कुछ मूल्य नही है। बन्धुता तो अबन्धुता की, लडाई की, सापेक्षता मे ही अनुभूत की जा सकती है। इसीलिये हे मेरे जगदीश्वर ! मुझे अब समझ मे आता है कि तुमने कल्याणस्वरूप होते हुए भी इस अपने जगत् मे दुःख, दर्द, दारिद्रय, रोग, क्लेश, आपत्ति, उलझन आदि को क्यो उत्पन्न होने दिया है और अब समझ मे आता है कि तुमने इन कठिनाइयो को खडा करके प्राणियो के जीवन को निरन्तर युद्धमय, सघर्षमय, क्यो बनाया है। सचमुच, यह सब कुछ तुमने इसीलिये किया है कि हम इन बाधाओ को जीत कर, इन कठिनाइयो, उलझनो को पार करके तेरे बन्धुत्व के रसास्वादन के योग्य बन जाये। तू तो अब भी हमारा बन्धु है, हममे से जो तेरे द्रोही कहे जाते हैं—जो नास्तिक हैं—उनका भी तू अब भी एक समान बन्धु है (और असल मे किसी का भी बन्धु या शत्रु नही है) तो भी तेरी उस बन्धुता का अनुभव—तुझे बन्धु रूप से पा लेने का परमानन्द—हमे तभी मिल सकता है जब हम ससार के इस परम विकट युद्ध को विजय करके तेरे पास आ पहुँचें। तू चाहता है कि आज जो तुझसे बहुत दूर है, तेरा कट्टर द्वेषी है, वह युद्ध करके एक दिन तेरा उतना ही नजदीकी और उतना ही कट्टर बन्धु बन जाये। अत अब मैं तेरे बन्धुत्व पाने के समर मे ही कमर कसे खडा हुवा अपने को पाता हूँ, जितनी बार मरूँगा इसी समर की युद्धभूमि मे मरूँगा और अन्त मे तेरे बन्धुत्व को पाकर ही दम लूँगा। यही तेरी इच्छा है, यही तेरी मुझसे प्रेममय इच्छा है।

शब्दार्थ –

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वं) तुम (जनुषा) जन्म से ही, स्वभाव से ही (अभ्रातृव्य) शत्रु रहित (अनापिः) बन्धु रहित (अना) नियन्तृरहित (असि) हो, (सनात्) तुम सनातन हो, सनातन से ही ऐसे हो। पर तुम (युधा) युद्ध द्वारा (इत्) ही (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छसे) चाहते हो।

तेरी तरंगें

ये ते पवित्रमूर्मयो अभिक्षरन्ति धारया ।
तेभिर्नः सोमः मृडय ॥

ऋ० ६.६१.५॥ सा० उ० २.१ ५॥

विनय

मानसरोवर मे कुछ न कुछ तरंगें सदा उठा ही करती हैं । चारो तरफ होने वाली घटनाओ से मनुष्य का मानससर नाना प्रकार से क्षुब्ध होता रहता है । परन्तु हे सोम ! मैं अपने मानस को पवित्र बना रहा हूँ । इसलिये पवित्र बना रहा हूँ जिससे कि इसमे तेरी जगत्-व्यापक धारा से आई हुई तरगें ही पैदा होए और किसी प्रकार की क्षुद्र तरगें न पैदा हो । हे सोम ! अपनी शीतल सुखदायिनी और ज्ञाना-मृतवर्षिणी धाराओ से तुमने इस जगत् को व्याप्त कर रखा है । इन्ही द्वारा यह जगत् धारित हुआ है, नही तो इस जगत् का सब जीवन-रस न जाने कब तक का सूख चुका होता । मैं देखता हूँ कि तुम्हारी इस जीवनरसदायिनी दिव्य धारा का मनुष्यो के पवित्र हुए अत करणो के प्रति एक आकर्षण उत्पन्न हो जाया करता है । जैसे कि चन्द्रमा के (भौतिक सोम के) आकर्षण से समुद्र जल मे ज्वारभाटा उत्पन्न होता रहता है, उसी तरह हे सच्चे सोम ! मनुष्य के पवित्र हुए मन सरोवर मे भी तेरी सोमधारा के महान् आकर्षण से उच्च तरगें उठने लगती है, ऊँचे-ऊँचे व्यापक सन-तन भावावेश (Emotions) उठने लगते हैं । विश्वप्रेम, वीरता, अदम्य उत्साह सर्वार्पण कर डालने की उमग दु खित मात्र पर दया, इत्यादि ऐसे सनातन व्यापक भावावेश है जो कि तेरी त्-धारक महान् धारा के अनुकूल हैं । बस, पवित्र हुए अंत करणों मे तेरी महाश क्मती धारा के अनुसार ये ही तेरी ऊर्मियाँ, तेरी तरगे अभिक्षरित हुआ करती है । हे सोम ! मुझे अब इन्ही सत्यमयी व्यापक तरगो के मन में उठने से सुख मिलता है । वे राग द्वेष की हवा से उठने वाली क्षुद्र भावावेशो (Emotions) की तरगें, वे मन को क्षुब्ध करने वाले एक पक्षीय ज्ञान से होनेवाले छोटे-छोटे अनुराग, मोह, शका, भय उत्कठा, कामना आदि की तरगे मुझे सुख नही देती, किन्तु क्लेश रूप दिखाई देती हैं । इसलिये हे मेरे सोम ! मेरे मानस मे उन्ही तरंगो को उठाकर मुझे सुखी करो जो तरगें पवित्र हृदयो मे तुम्हारी धारा से उठती हैं । बस ये ही उच्च भावावेश, ये ही व्यापक सनातन महान् भावावेश, मेरे मानस मे उठा करे —ये ही तरगे बार-बार उठें, खूब उठें, खूब ऊँची ऊँची उठें — ऐसी ऊँची और महान् उठें, कि इन आनन्ददायक भावावेशों मे उठता हुआ मैं तन्मग्न होकर तेरी ऊँचाई के सस्पर्श का सुख अनुभव कर सकूँ ।

शब्दार्थ—

(ते ये ऊर्मय.) तेरी जो तरगें **(धारया)** जगत् के धारण करनेवाली तेरी जगत् व्यापक ज्ञानधारा द्वारा **(पवित्रं अभिक्षरन्ति)** मनुष्य के पवित्र हुए अन्त करण में प्रकट होती हैं, उठती हैं **(सोम)** हे सोम ! **(तेभि.)** उन तरगो से **(न· मृडय)** हमे आनन्दित कर दो ।

ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ

यद् वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदाभर ।।

ऋ० ८ ४५ ४१ ।। साम० उ० ४ १.६।। अ० २०.४३.२।।

नियम

हे परम परमैश्वर्यवाले इन्द्र ! तुम्हारा नानाप्रकार का ऐश्वर्य इस संसार मे भरा पड़ा है। पर तुम्हारे इन ऐश्वर्यों मे से जिस प्रकार के ऐश्वर्य की मुझे स्पृहा है, जिस प्रकार के ऐश्वर्य को मै चाहता हूँ वह तो है वह जो कि ससार के वीर, दृढ (वीड) पुरुषो मे दिखाई देता है और जो कि स्थिर तथा विमर्शशील पुरुषो मे रहता है। आम लोग रुपये पैसे को ऐश्वर्य समझते हैं पर असल मे वह ऐश्वर्य नही है। रुपये, पैसे तथा अन्य सपत्ति के पदार्थों का ऐश्वर्य होना या न होना मनुष्य पर आश्रित है, मनुष्य की शक्ति पर आश्रित है, अत मनुष्य तथा मनुष्य का सामर्थ्य ही वास्तविक धन (ऐश्वर्य) है। गीता मे जो 'अभय', 'सत्त्वसशुद्धि' आदि सद्गुणो को दिव्यसंपत्ति कहा है वह सत्य है, वही सच्ची सपत् है। शम, दम तितिक्षा आदि छ गुण इसीलिये 'षट् सपत्ति' नाम मे जगत् मे प्रसिद्ध हैं। हे इन्द्र ! मुझे तो यह ही सच्ची सपत् चाहिए। ससार के रुपये पैसे के धनियो को देख कर मुझे जरा भी उनकी सी अवस्था के प्रति आकर्षण नहीं होता। परन्तु वीरो की वीरता, अदम्य उत्साह, तेज और दृढता पर मैं मोहित हूँ। जो चिरकाल तक स्थिरता से श्रद्धापूर्वक साधना करते हुए अन्त मे अवश्य विजयशील होते है, उनका यह स्थिरता का गुण मुझे उनका भक्त बना लेता है। और जब मैं उन पुरुषो को देखता हूँ जो कि विचारपूर्वक सब कार्य करते हैं, पेचीदी अवस्था आने पर भी जिन्हें अपने कर्तव्य का निर्णय करने मे ज़रा देर नही लगती, तो मै यही चाहता हूँ कि यह विमर्शक्षमता मुझ मे भी आजाय। जिनके पास ये तीन गुण नही होने उनके पास तो रुपया पैसा भी नही ठहरता, यदि ठहरता भी है तो या तो वह शक्तिरूप नही होता या बुरी शक्ति बन जाता है। क्या हम रोज नही देखते कि बुजदिली के कारण, अस्थिरता के कारण, नासमझी के कारण सब कमाया हुआ बड़ा भारी धन एक दिन मे बरबाद हो जाता है या होता हुआ भी बेकार साबित होता है। इसलिए मेरे पास तो यदि भूमि, घर, आदि कुछ सामान न हो, कपडा लत्ता भी न हो, एक कौडी तक न हो, पर यदि मुझमे वीरता, अजेय दृढता हो और लगातार देर तक सतत काम करने की शक्ति एव लगन हो तथा मुझमे विचारशीलता हो, तो मै हे प्रभो ! अपने को महाधनी समझूँगा और ससार मे आत्माभिमान के साथ सिर ऊँचा करके फिरूँगा। इसलिये हे नाथ ! मुझे तो तुम दृढता, स्थिरता, और विमर्शशीलता प्रदान करना; मै यही माँगता हूँ, आपसे यही ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यत्) जो धन तूने (वीळौ) दृढ, न दबने वाले पुरुष मे (यत् स्थिरे) जो धन स्थिर रहने वाले मे (यत् पर्शाने) और जो धन विचारशील पुरुष मे (पराभृतं) रखा है (तत्) वह (स्पार्हं) स्पृहणीय, चाहने लायक (वसु) धन (आभर) मुझे प्राप्त करा।

मंगल मिलन

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम्।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

ऋ० ८.४४.२३॥

विनय

हे नारायण! तुम्हारी मंगलकामना प्राणीमात्र के लिए अनवरत हो रही है, तुम्हारे आशीर्वाद प्रत्येक जीव के लिए—अपने प्रत्येक पुत्र के लिये—एक समान बरस रहे हैं। फिर भी जो ये आशीर्वाद हमे लगते नही हैं, हम पर अपना असर नहीं करते हैं, इसका कारण यह है कि हम ही अपने आपको इनसे वंचित रख रहे हैं। स्वार्थ, अहंकार, अस्मिता से हमने अपने आपको ऐसा बाँध लिया है, ऐसा लपेट लिया है कि हम तुम्हारे वास्तव मे परमनिकट होते हुए भी तुमसे दूर हो गये हैं कि हम पर तुम्हारी आशीर्वाद-वर्षा का कुछ भी असर नही होता। हे मेरे प्यारे! प्रकाशमय देव! हममें दूरी करने वाला, हमे जुदा रखने वाला, यह आवरण अब सहा नही जाता। अब तो यह पर्दा फट जाय, यह आवरण हट जाय और मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जायँ, तो मुझ पर बरसाये गये जीवन भर के तेरे सब आशीर्वाद एक क्षण मे सफल हो जायें, तथा जीवन भर में तुम्हारे प्रति की गई मेरी सब प्रार्थनाएँ एक पल में पूरी हो जायँ। हे प्रभु! वह दिन कब आयेगा, जबकि मैं तेरे ध्यान मे मग्न होकर अपने आपको खो दूँगा और दूसरी तरफ तुम अपने परम प्यारे पुत्र को अपनी गोद मे आश्रय दे दोगे, जबकि मेरा आत्मा अपने परम आत्मा को पा जायगा और दूसरे शब्दों में तुम परमात्मा अपने एक चिरवियुक्त अंग को फिर अंगीकार कर लोगे, जबकि मेरी आत्मा-अग्नि तुम्हारी बृहत्-अग्नि में जाकर 'मैं' को नष्ट कर देगी अथवा जबकि तुम्हारे द्वारा मेरे स्वीकृत हो जाने से "तुम" जाता रहेगा? तब मेरी कोई प्रार्थना न रहेगी क्योकि तब मेरा कोई स्वार्थ व कामना न रहेगी और इसलिये तब तुम्हारा कोई आशीर्वाद भी बाकी न रहेगा। उस मंगल मिलन मे तुम्हारे सब आशीर्वाद मूर्तिमन्त, सत्य, सफल हो जायेंगे। जीवन भर मे जो जो मैंने तुमसे भक्तिमय प्रार्थनायें की हैं और उनके उत्तर मे, उनकी स्वीकृति मे, तुमसे मैंने जो नाना आशीर्वाद पाये हैं, वे सबके सब आशीर्वाद आखिर इसी महान् मगलमिलन के लिये थे। मेरी सब प्रार्थनाओं की एक इच्छा, और तुम्हारे सब मेरे प्रति आशीर्वचनो की एक इच्छा, यह मिलन ही थी। तुम्हारी मेरे कल्याण की सब की सब कामनायें, सब आशीर्वाद, इस आत्मप्राप्ति मे एक दम पूरे हो जाते हैं, क्योकि यही मेरा सबसे बडा कल्याण है, कल्याणो का कल्याण है, जिसमें सब कल्याण समा जाते हैं। अहो! वह मंगल मिलन, वह महान् मिलन!

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (यत् अह त्वं स्याम्) जब मैं तू हो जाऊं (वा घ) या (त्वं अह स्या) तू मैं हो जाय तो (ते इह आशिषः) तेरे इस ससार के वे सब आशीर्वाद (सत्या स्यु) सत्य, सफल हो जायें।

आराधना कर!

अभि प्र गोपतिं गिरा, इन्द्रमर्च यथाविदे।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम्॥

ऋ० ८.६९.४॥ साम० पू० २२८४॥ अ० २०९२.१॥

विनय

हे मनुष्य! यदि तू यथार्थ सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो तू इन्द्र की शरण में जा। ये इन्द्रियाँ—प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन समझी जानेवाली ये इन्द्रियाँ—तुझे परिमित ज्ञान ही देंगी तथा बहुत बार बड़ा भ्रामक ज्ञान उत्पन्न करेंगी, मन इन्द्रिय भी तुझे दूर तक नहीं पहुँचायेगी, और तेरे रागद्वेषपूर्ण मलिन मन की तर्कना शक्ति केवल कुतर्क में लगेगी। बाहिर से मिलनेवाला ज्ञान अर्थात् विद्वानों के उपदेश और तत्त्वज्ञानियों के ग्रन्थ अपनी अपनी दृष्टि से कहे व लिखे जाने के कारण तुझे अभी कुछ शान्ति न दे सकेंगे, बहुत सभव है कि ये तुझे और उलझन में डाल देंगे। अत तुझे शान्ति दे सकनेवाला सच्चा यथार्थ ज्ञान अपने अन्दर से, अपनी आत्मा से ही मिलेगा। इसे तू अपनी आत्मा में खोज; उस अपनी आत्मा में खोज जो कि इन सब इन्द्रियों का स्वामी है, जिसने अपनी शक्ति प्रदान करके मन आदि इन्द्रियों को अपना साधन बना रखा है जोकि सत्य ज्ञानस्वरूप है, जो कि परम सत्यस्वरूप परमात्मा का पुत्र है, और जो कि अतएव स्वभावत सदा सत्य का पालक है। हे मनुष्य! तू इस सत्यदेव की पूजा कर, आराधना कर, पूरे यत्न से इसे प्रसन्न कर तो तुझे सत्य मिल जायगा। वाणी शक्ति द्वारा तू इसकी अपरोक्ष पूजा कर। इस सत्यमय देव की आराधना करने के लिये तुझे सत्यमय वाणी की साधना करनी पड़ेगी। बोलने में, व्यवहार में, हर एक अभिव्यक्ति में पूरी तरह सत्य का पालन करना होगा, अन्दर की मनोमय वाणी में भी सर्वथा सत्य के ही चिन्तन, मनन की विकट तपस्या करनी होगी। अन्दर घुसने पर ही तुझे पता लगेगा कि परिपूर्ण वाणी द्वारा सत्य की आराधना करना कितना कठिन है। पर साथ ही यह भी सच है कि जब तू यह साधना पूरी कर लेगा तो तेरा 'सत्य सूनु' 'सत्पति' आत्मा प्रकट हो जायगा और अपना अमूल्य भण्डार, सब सत्य ज्ञान के रत्नों का भण्डार, तेरे लिये खोल देगा। तब तुझे कोई उलझन न रहेगी, तेरा निर्मल मन ठीक ही तर्क करेगा तेरी इन्द्रियाँ भी अधिक स्पष्ट देखेंगी, पर सब से बड़ी बात तो यह है तब तुझे वह सत्यमयी 'ऋतंभरा' बुद्धि मिल जायगी जिस द्वारा कि तू जब जिस विषय का यथार्थ ज्ञान पाना चाहेगा वह सब तुझे प्रकाशित हो जाया करेगा। सत्य का पालन करनेवाला सत्पति आत्मा स्वयमेव तेरे लिये सत्य की रक्षा करता रहेगा। वाणी द्वारा सत्य की साधना करने का यह स्वाभाविक फल है। हे मनुष्य! तू इस सत्य इन्द्र की आराधना कर, अपरोक्ष रूप से पूरी तरह आराधना कर।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य! (यथाविदे) यथार्थ ज्ञान पाने के लिये तू (गोपतिं) इन्द्रियों के स्वामी (इन्द्रं) आत्मा का (गिरा) वाणी द्वारा (अभि प्र अर्च) अपरोक्ष और पूरी तरह पूजन कर, जो कि आत्मा (सत्यस्य सूनुं) सत्य का पुत्र है और (सत्पतिं) सदा सत् का पालक है।

उद्धार का मार्ग

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीघे विवस्वभिः ॥

ऋ० ८.१०२-२२॥ साम० पू० १.१.२ ६॥

विनय

मैं जो प्रतिदिन आग जलाकर अग्निहोत्र करता हूँ उससे क्या हुआ, यदि इस अग्नि-दीपन से मेरे अन्दर की आत्म-ज्योति न जग सकी। यदि मेरे प्रतिदिन अग्नि-होत्र करते रहने पर भी मेरे जीवन मे कुछ भेद न आया, मेरा व्यवहार आचरण वैसा का वैसा रहा, न मुझमे सद्बुद्धि ही जागृत हुई और न मैं सत्कर्मो मे प्रेरित हुआ, तो मेरा यह सब अग्निचर्या करना व्यर्थ है। सचमुच हरेक बाह्य-यज्ञ अन्दर के यज्ञ के लिये है। बाहिर की अग्नि इसीलिये प्रदीप्त की जाती है कि उस द्वारा एक दिन अन्दर की आत्माग्नि प्रदीप्त हो जाय। यह आत्माग्नि मन द्वारा प्रदीप्त की जाती है। इसीलिये कहा गया है कि बाहिर की द्रव्यमय-यज्ञ की अपेक्षा अन्दर का मानसिक-यज्ञ हजार गुणा श्रेष्ठ होता है। अत मनुष्य को चाहिये कि वह मन द्वारा अपनी आन्तर-अग्नि को जलाये, आत्माग्नि को प्रदीप्त करे और इस प्रकार "घी" को, सद्बुद्धि को, प्राप्त कर ले तथा सत्कर्म मे प्रेरित होता हुआ आत्मकल्याण को पा जावे। जो मनुष्य मनन करते हैं अर्थात् आत्मनिरीक्षण, आत्मचिन्तन विचार और भावना करते हैं, जाप करते हैं तथा धारणा, ध्यान, समाधि करते हैं, वे इन सब मानसिक प्रक्रियाओ द्वारा आत्म-ज्योति को जगा लेते हैं और उन्हे सत्यबुद्धि, ज्ञानप्रकाश, सदा ठीक कर्म मे ही प्रवृत्त कराने वाली समझ मिल जाती है। अतः आज से मैं भी इस अग्नि को प्रदीप्त करूँगा, विवस्वतो द्वारा—तमोनिवारक ज्ञानकिरणों द्वारा—इस अग्नि को प्रज्वलित करना प्रारम्भ करूँगा। जैसे सूर्यकिरणों द्वारा ही संसार की सब प्रकार की ज्योतियां प्रदीप्त और प्रकाशित होती है, वैसे उस ज्ञान-सूर्य सविता परम आत्मा की किरणो द्वारा ही मैं अपनी आत्माग्नि को प्रदीप्त करूँगा। सत्यज्ञान देने वाले सब वेदादि ग्रन्थ, सत्य का उपदेश देने वाले सब गुरु, आचार्य, मेरे अन्दर मन की सब सात्त्विक वृत्तियां ये सब उसी ज्ञान-सूर्य की भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे फैली हुई किरणें हैं, विवस्वत् है। मैं इन द्वारा आज से अपनी आत्माग्नि को प्रतिदिन प्रदीप्त करता जाऊँगा। यही मेरे उद्धार का सीधा, साफ और चौडा मार्ग है।

शब्दार्थ—

(मनसा) मन द्वारा (अग्निं) अग्नि को, आत्मा को (इन्धानः) प्रज्वलित करता हुआ (मर्त्यः) मनुष्य (धियं) सद्बुद्धि को और सत्कर्म को (सचेत) प्राप्त करे। मैं (विवस्वभि) तम को हटाने वाली ज्ञान किरणो द्वारा (अग्निं) इस अग्नि को (ईधे) प्रदीप्त करता हूँ।

मैं तुझे चाहता हूँ

आ ते वत्सो मनो यमत्, परमात् चित्सधस्थात् ।

अग्ने त्वां कामया गिरा ॥

ऋ० ८.११.७॥ साम० पू० १.१. १. ८॥

विनय

हे परमात्मन् ! तुम्हारा स्थान बहुत ऊँचा है। तुम्हारे उत्कृष्ट पद को मैं कैसे पाऊँ ? तुम जिस दिव्य धाम मे रहते हो, जिस सर्वशक्तिमय, सर्वज्ञानमय, परमानन्दमय लोक मे तुम्हारा निवास है, उस परम स्थान तक मैं अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, तुच्छ जीव कैसे पहुँच सकता हूँ ? परन्तु नहीं, मैं भी आखिरकार तुम्हारा पुत्र हूँ, वत्स हूँ, प्यारा अमृत आत्मज हूँ। मैं चाहे कैसा हीन व पतित होऊँ पर स्वरूपतः अमर चिन्मय आत्मा हूँ। अत तुम्हारा धाम मेरा भी धाम है, तुम्हारा ऊँचे से ऊँचा स्थान मेरा सहस्थान है, 'सधस्थ' है। तुम्हारे दिव्य से दिव्य स्थान से तुम्हारे पुत्र का अधिकार कैसे हट सकता है। मैं तुम्हे अपने प्रेम द्वारा तुम्हारे दूर से दूर, ऊँचे से ऊँचे पद से खींच लाऊँगा। हे पितः ! मुझे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ बनने की क्या जरूरत है ? मैं तो अपने अगाध प्रेम से, अपनी अनन्य भक्ति से तेरे मन को काबू कर लूंगा, तेरे मन को पा लूंगा। फिर मुझे और क्या चाहिये ? हे मेरे अग्ने ! हे मेरे जीवन! मैं तुम्हें अपनी सर्वशक्ति से चाह रहा हूँ, कामना कर रहा हूँ। आत्मा में तुमने जो वाणी नाम्नी आत्मशक्ति रखी है, मैं उसकी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हें ही खींच रहा हूँ। मैं अपनी आन्तर और बाह्यवाणी की समस्त शक्ति को तुम्हारे मिलन के लिये ही खर्च कर रहा हूँ। मन में तेरी ही चाह है, मन में तेरा ही जाप है, तेरी ही रटन है; 'वैखरी' वाणी में भी तेरा ही नाम है, तेरा स्तोत्रपाठ है, शरीर की चेष्टाओं से भी जो कुछ अभिव्यक्त होता है वह तेरी लगन है, तेरे पाने की तडप है। क्या तू अब भी न मिलेगा ? मैं तेरा वत्स इस तरह से, हे पित ! तेरे मन को हर ही लूंगा। तू चाहे कितने ऊँचे स्थान का वासी हो, पर तेरे मन को जीत के ही छोड़ूंगा। मेरा प्रेम, मेरी भक्ति तेरे मन को खींच लेगी और फिर तेरे मन को, तेरे प्रेम व वात्सल्य को, मुझे अपनाना होगा।

शब्दार्थ—

(वत्सः) मैं वत्स (ते मन) तेरे मन को (परमात् चित्) अति-उत्कृष्ट भी (सधस्थात्) सहस्थान से (आ यमत्) वश करता हूँ, प्राप्त करता हूँ (अग्ने) हे परमेश्वर ! मैं (त्वां) तुझे (गिरा) वाणी द्वारा (कामये) चाहता हूँ— मिलना चाहता हूँ।

हे वरुण !

इमं मे वरुण श्रु धी हवमद्या च मृडय ।

त्वामवस्युराचके ॥

यजु० २१ १॥

विनय

हे वरुण देव ! मैं कितने दिनो से तुम्हे पुकार रहा हूँ । पुकारते-२ अब तो बहुत काल बीत गया है । मेरी पुकार की सुनवाई और कब होगी ? लोग मुझ पर हँसते हैं । मेरी तुम्हारे प्रति व्याकुलता को देखकर मेरा ठट्ठा करते हैं और मुझे पागल समझते हैं । परन्तु मैं तो तुम्हारी शरण मे आ चुका हूँ, एक मात्र तुमसे ही रक्षा पाने की आशा रखता हुआ निरन्तर प्रार्थना कर रहा हूँ और करता चला जाऊँगा । तुम ही को मेरी लाज बचानी होगी । क्या मैं ऐसे ही पुकार मचाता रहूँगा और तुम अनसुनी करते जाओगे ? नही, तुम्हे मेरी पुकार सुननी होगी । हे सर्वश्रेष्ठ ? हे पापनिवारक ! हे मेरी परम आत्मन् ! तुम्हे मेरी यह पुकार जरूर सुननी होगी । तो, अब तो बहुत काल बीत चुका है, मेरा मन अपनी इस कामना को तुम्हारे आगे कब से धरे बैठा है, क्या इसकी स्वीकृति का समय अब तक नही आया है ? अब-तो हे नाथ ! इसे पूरा कर दो, आज का दिन खाली न जाय । बहुत बार आशा बँधते-बँधते टूट चुकी है पर आज तो निराश न होना पडे, आज तो इस चिरकाक्षित अभिलाषा को पूरा कर दो चिरकाल के व्यथित व्याकुल हृदय को सुखी कर दो । यह हृदय तुममे अटल श्रद्धा रखे, तुमसे कामना के अवश्यम्भावितया पूरा होने का विश्वास रखे, बडे दिनो से तपस्या कर रहा है । बहुत सी निराशाओ के घावो से घायल हो चुका है, पर श्रद्धा नही छोड सकता । तो आज तो इसके दुर्दिनो का अंत कर दो, इसकी शुभाकाक्षा को मूर्तिमती कर दो जिससे इसकी घावो की सब व्यथा अब एक क्षण मे मिट जाय । बस, आज जरूर, आज जरुर । पुकार मचाते-मचाते अब पर्याप्त दिन हो चुके, तुम्हारी शरण मे पडा मैं बहुत चिल्ला चुका, अपने इस पागल का आज तो सुदिन कर ही दो और इसे अपनी गोद मे उठा लो ।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे वरुण ! (मे) मेरी (इमं) इस (हवं) पुकार को (श्रुधी) सुन लो । (अद्य च) आज तो मुझे (मृडय) सुखी कर दो (त्वा अवस्यु) मैं तुम्हारी शरण मे आया हुआ, तुमसे रक्षा चाहता हुआ (आचके) प्रार्थना कर रहा हूँ।



हे शक्ति के स्वामी !

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥

ऋ० ८ १४.२॥ साम० उ० ६.२ ६॥ अ०२०.२७.२॥

विनय

हे शचीपते ! हे शक्ति के स्वामी ! तुम सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमयी शक्ति के स्वामी हो, और परिपूर्ण होने के कारण अपनी इस शक्ति का जगत् के पालन पोषण मे परिपूर्णतया ही सदुपयोग कर रहे हो। परन्तु मैं यद्यपि अपूर्ण जीव हूँ, तो भी मुझे अपनी शक्ति का सदा पूरा सदुपयोग ही करने मे यथाशक्ति तुम्हारा अनुकरण करना चाहिये। इसलिये मैं चाहता हूँ और सकल्प करता हूँ कि यदि मैं "गोपति" होऊँ, सच्चा वैश्य बनकर भूमि, गौ, धन का (वैश्यशक्ति का) स्वामी होऊँ तो मैं इसका सदुपयोग ही करूँगा। हे सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर ! तुम मुझे ऐसी बुद्धि देना, ऐसी समझ और योग्यता देना कि मैं यह धन केवल ससार के "इस मनीषी पुरुष" के लिये ही देना चाहूँ और इसे ही दूँ, किसी को देने की मुझे कभी और इच्छा तक न हो, कभी प्रलोभन तक न होए। यह 'मनीषी' वह पुरुष होता है जोकि अपने मन का ईश है, जो कभी क्षण भर के लिये भी मन का गुलाम नही होता है, जो जितेन्द्रिय है, जिसे अपने पर पूरा काबू है। ऐसे ही पुरुष को दिया हुआ धन सदुपयुक्त होता है, हजारो गुणा फल लाता है, सर्वलोक का हित करता है। हमारे धन के एकमात्र अधिकारी, ये आत्मवशी पुरुष ही हैं। वास्तव मे हमारा सब धन, इन सयमी महानुभावो का ही है। परन्तु हे प्रभो ! बहुत बार हम किन्ही अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण या केवल रिवाज के वशीभूत होकर या अपनी कमजोरी के कारण, अजितेन्द्रिय 'लोगो'—भोगी विलासी 'सन्तो'—को दान दे देते हैं। ओह ! यह तो तुम्हारी दी हुई धन शक्ति का घोर दुरुपयोग है, यह पाप है। यह दान नही है, यह या तो रिश्वत है या आत्मघात करना है। नही, यह सम्पूर्ण मनुष्य समाज का व राष्ट्र का घात करना है, द्रोह करना है। जो मनीषी नही हैं उन्हे धन देने का विचार भी हमारे मन मे नही आना चाहिये, देने की इच्छा (दित्सा) ही नही होनी चाहिये। जिसे अपने पर काबू नही उसके पास गया हुआ धन उस द्वारा सर्वनाश का कारण होता है। इसलिये, हे शचीपते ! मुझे इतनी शक्ति प्रदान करो कि मैं अनुचित दान के लिये स्पष्ट 'न' कर सकूँ। भोगियो को दिये जाने वाले दान मे सम्मिलित न होने की हिम्मत कर सकूँ हे प्रभो ? मैं तो उसी को दान दूँ जो कि अपने मन का ईश होने के कारण जनता के हृदयों का भी ईश हो और एतएव जिसके पास गया हुआ धन सर्व जनता के लिये हो—एवं जनता के कल्याण मे ही स्वभावत ठीक ठीक उपयुक्त हो जाना हो।

शब्दार्थ—

(शचीपते) हे शक्ति के स्वामी ! (यत् अहं) यदि मैं (गोपति.स्याम्) धन भूमि आदि का स्वामी होऊँ तो [मेरी मति ऐसी होए कि] मैं (अस्मै मनीषिणे) इस मन के ईश, पूरे जितेन्द्रिय पुरुष के लिये ही (दित्सेयं) इस धन शक्ति का देना चाहूँ और (शिक्षेयं) इसे ही दूँ।

हे समर्थ परमेश्वर !

दृते दृंह मा, ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ।
ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ॥ यजु० ३६.१९॥

विनय

हे जगदीश्वर ! मैं चाहता हूँ कि अब मैं तुम्हारी अध्यक्षता मे ही जीऊँ—तुम्हारी देख मे तुम्हारी आँखो के नीचे ही अपना जीवन व्यतीत करूँ । मुझे यह सदा स्मरण बना रहे कि तुम मुझे देख रहे हो । मेरा एक एक कार्य, मेरी एक एक चेष्टा, एक एक हरकत, तुम्हे साक्षी रखकर की गई हो । और इस तरह तुम्हारे सम्यक् दर्शन मे—तुम्हे देखता हुआ—मैं चिरकाल तक जीऊँ । सच तो यह है कि जब मैं तुम्हारी ठीक-ठीक अध्यक्षता मे अपना जीवन व्यतीत करूँगा तो मेरा जीवन ऐसा स्वाभाविकतया चलेगा कि यह स्वयमेव दीर्घजीवी हो जाएगा । अत मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से जुदा न हो जाऊँ । परन्तु तुम्हारे सदर्शन मे जीना आसान काम नही है । मैं यह जानता हूँ कि तुम ही मेरे जीवन हो, मेरी शक्ति हो, मेरी आत्मा हो तो भी मै निर्बलतावश तुम्हे सदा भूला रहता हूँ । सासारिक वायु के झोको के थपेडो से मेरी सुधबुध ऐसी भूली रहती है कि मुझ मे तुम्हारी स्मृति जागृत नही रह सकती । इसलिये हे जगदीश्वर ! मेरी तो तुमसे यह प्रार्थना है कि तुम मुझे पहिले दृढ बना दो मजबूत बना दो, चट्टान बना दो । हे दृते ! हे सर्वशक्तिस्वरूप ! तुम मुझे ऐसा दृढ बना दो कि ससार की घटनायें मुझे चलायमान न कर सकें । मै सदा तुम्हे देखते रहने का यत्न करता हूँ—तुम्हे देखते रहते हुए ही अपने सब कर्म करने का यत्न करता हूँ पर यह बहुत थोडी देर चलता है । कोई भी सासारिक खुशी या कोई दु ख, कोई चिन्ता आने पर वह मेरा सात्त्विक ध्यान जाता रहता है । कोई भी नई सी बात होने पर मेरा ध्यान उधर खिच जाता है और मैं उस तेरे सदर्शन की सुखमय अवस्था से गिर जाता हूँ । इसलिये, हे दृते ! मै दृढता का भिखारी हुआ हूँ । मैं जानता हूँ कि जब मैं दृढ हो जाऊँगा तथा उस दृढता द्वारा सुख मे दु ख मे, सपत् मे विपत् मे सदा तुम्हारा यह सदर्शन करते रहने का अभ्यासी हो जाऊँगा तो धीरे धीरे तुम्हारा सम्यक् दर्शन मुझमे ऐसा समा जायेगा कि वह फिर मुझसे जुदा न हो सकेगा । और तब मुझे तुम्हारा ध्यान करने की भी जरूरत न रहेगी । जैसे कि हम दिन भर सूर्य प्रकाश द्वारा ही सब काम करते हैं पर हमे यह याद रखने की आवश्यकता नही होती कि हम सूर्य प्रकाश मे है, वैसे ही तब मैं बिना यत्न किये तुम्हारे संदर्शन के प्रकाश मे चौबीसो घटे रहने सहने और जीवन व्यतीत करने वाला हो जाऊँगा । अत हे दृते ! मुझे ऐसा दृढ बना दो कि मैं कभी तुम्हारे सदर्शन से न हट सकूँ ।

शब्दार्थ—

(दृते) हे समर्थ परमदृढ परमेश्वर ! (मा) मुझे (दृह) दृढ बनादे, जिससे कि मैं (ते सदृशि) तेरे सदर्शन मे, तेरी ठीक दृष्टि मे (ज्योक्) चिरकाल तक (जीव्यास) जीता रहूँ (ते सदृशि ज्योक् जीव्यास) तेरे सम्यक् दर्शन मे दीर्घ आयु तक जीवित रहूँ ।

हे वज्रवाले !

न घेम् अन्यत् आपपन वज्रिन् अपसो नविष्टौ ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ॥

ऋ० ८.२.१७॥ साम० उ० १.२.३॥ अ० २०.१८.२॥

विनय

हे जगत् के ईश्वर ! परममंगलकारी ! मैं जो भी कोई नया कार्य शुरू करता हूँ, नया यज्ञकर्म नया शुभकर्म प्रारम्भ करता हूँ तो वह सब तेरा ही नाम लेकर, तेरे ही भरोसे तेरे ही बल पर शुरू करता हूँ। अपने हरेक कार्य का मंगलाचरण मैं तेरे ही आगे झुककर, तेरी ही मानसिक वंदना करके, करता हूँ। हे वज्रवाले ! मैं तेरे सिवाय किसी भी अन्य के आगे झुककर मंगल नहीं मना सकता। क्योंकि वह पाप से निवृत्त करने वाला वज्र तो तेरे ही हाथ में है— अनिष्टों, अमंगलों और विघ्नों का वास्तव में वर्जन कराने वाला वज्र तेरे ही हाथ में है। तो हे वज्रवारिन् ! मैं किसी अन्य की स्तुति करके क्या पाऊँगा ? जो कार्य सचमुच एकमात्र तुम्हारे ही आश्रय से किये जाते हैं और जो मनुष्य सचमुच अपना कर्म सर्वथा तुझे अर्पण करके करते हैं तो वहाँ पराजय, असफलता या असिद्धि नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। यह बात कइयों को जरा विचित्र सी लगेगी, किन्तु सर्वथा सत्य है। सचमुच तब सब मंगल ही मंगल हो जाता है। यह सब तेरे वज्र का प्रताप है। जो लोग केवल तेरा ही आश्रय लेकर कार्य शुरू करते हैं, सर्वथा त्वदर्पित होते हैं उनके पास निरन्तर जागता हुआ तेरा वज्र उनकी रक्षा करता है। अतः हे परम मंगलकारी वज्रिन्! इस संसार में तू ही एकमात्र स्तुति करने योग्य है। मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ। यदि मैं किसी धनाढ्य पुरुष की स्तुति करूँ तो शायद वह मुझे मेरे कार्य के लिये धन दे देगा, किसी प्रभावशाली पुरुष की विनती करूँ तो शायद मेरे लिये उसका प्रभाव बड़ा सहायक हो जायगा, परन्तु हे जगत् के ईश्वर ! मैं जानता हूँ कि यह सब तभी होगा जबकि तेरी ऐसी इच्छा होगी। संसार के सब प्राणी, सब अमीर-गरीब छोटे-बड़े सब तेरे ही बनाये हुए पुतले हैं। संसार के बड़े से बड़े पुरुष भी तेरे ही आश्रय पर, तेरी ही इच्छा पर, जीवित हैं, तो मैं उन पुरुषों का आश्रय लेकर क्या करूँगा ? जब तुझे अभीष्ट होता है कि किसी कार्य में धन, जन, बुद्धि आदि की सहायता मिले तो वह कहीं न कहीं से मिलती ही है। बल्कि हम देखते हैं कि धन जन, मान आदि पाने के लिये जिन पुरुषों का हम भरोसा करते हैं, निरर्थक खुशामद करते हैं, वहाँ से हमें कुछ भी नहीं मिलता, किन्तु किसी दूसरी ही आशातीत जगह से वैसी सब सहायता मिल जाती है। अतः मैं तो अपने कार्यों के प्रारम्भ में किसी भी अन्य का भरोसा नहीं करता, मैं तो केवल तेरा ही पल्ला पकड़ना जानता हूँ, मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ।

शब्दार्थ—

(वज्रिन्) हे वज्रवाले ! मैं (अपसः) कर्म के (नविष्टौ) प्रारम्भ में (अन्यत् घ ईं) अन्य किसी को भी (न आपपन) नहीं स्तुति करता (तव इत् उ) तेरी ही (स्तोमं) स्तुति करना (चिकेत) जानता हूँ।

मेरे आत्मन् !

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥

ऋ० ८.४५.२३॥ साम० उ० १.२.७॥ अ० २०.२२.२॥

विनय

हे मेरे आत्मन् ! जब तू आत्मसुधार के लिये अग्रसर होता है, तो संसार की कई विरोधिनी शक्तियाँ तेरा मुकाबिला करती हैं, तुझे आगे बढने से रोकना चाहती हैं। जब तू अपनी उन्नति के लिए सुधार के मार्ग का अवलम्बन करेगा तो कई अज्ञानी मूढ भाई उसे न समझने के कारण तेरा विरोध करेंगे, तेरी निन्दा करेंगे। जिन भाइयो के स्वार्थ मे उस सुधार द्वारा धक्का लगेगा या धक्का लगने का काल्पनिक भय होगा वे 'अविष्यु' (अपनी पालना चाहने वाले) स्वार्थ-पीडित पुरुष तेरे मार्ग मे बेशक रोडे अटकायेंगे, चुगली करेंगे, भ्रम फैलायेंगे और तुझे नाना प्रकार के कष्ट देंगे। पर हे मेरे आत्मन् ! तू इनसे मत घबराना, मत दबना, मत नष्ट होना। तू अन्त मे इन सब को अवश्य जीत लेगा। तेरा तेज अदम्य है। इसी तरह तेरे निराले कार्यों को देखकर—जिन्हे आम जनता ने अभी तक नही अपनाया है ऐसे नये सुधार के कार्यों को तुझे आचरण मे लाते देखकर— कुछ लोग तेरी खिल्ली उडायेंगे, तेरा उपहास करेंगे, हँसी-हँसी मे बड़े तीक्ष्ण व्यग्य करेंगे। पर हे मेरे मन ! तू इनसे भी कभी हतोत्साह मत होना, इनसे प्रभावित मत होना, अनुद्विग्न और प्रसन्न चित्त से इन सब को सह लेना। एक समय आयेगा जब कि ये अज्ञानी मूढ पुरुष भी सचाई समझ जायेंगे और ये ठट्ठा करने वाले लोग तेरे अनुयायी हो जायेंगे। यह ठट्ठा उडाना तथा मूर्खों द्वारा पीडा पहुँचाया जाना इस ससार मे सुधार के साथ, उन्नतिशीलता के साथ, सदा से होता आया है और होता रहेगा। कुतर्क, ठट्ठा, पीडा आदि क्रमो मे से हरेक सुधार को और हरेक सुधारशील आत्मा को गुजरना ही पडता है। अत. तू इनसे न दबता हुआ निर्भय होकर आगे ही बढता जा, अपना काम करता जा। यदि तू इन्हें अभी पूरी तरह सहन नही कर सकता तो अच्छा है कि तू "ब्रह्मद्विष्" लोगो का—उन लोगो का जो ब्रह्म से (ज्ञान से या परमेश्वर से) प्रीति नही रखते, जो तेरे मार्ग से विपरीत मार्ग को पकडे हुए हैं— उनका सेवन मत कर, उनकी संगति मे मत रह, उनकी उपेक्षा कर, उनसे यूँ ही बात मतकर, बिना प्रयोजन उनके सपर्क मे मत आ। ऐसा करने से तू अनावश्यक सघर्ष से बचेगा और तुझे अपने को दृढ करने का निर्बाध अवसर मिलेगा। दृढ हो जाने पर तो तू इन सब के मध्य में रहने वाला गुरु हो जायेगा।

शब्दार्थ—

[हे मेरे आत्मन् ! हे मेरे मन !] (**त्वा**) तुझको (**मूरा.**) मूढ (**अविष्यव**) अपनी पालना चाहने वाले स्वार्थ-पीडित लोग (**मा दभन्**) मत नष्ट करे, मत दबा दें और (**उपहस्वान.**) उपहास करने वाले, ठट्ठा उडानेवाले लोग भी (**मा**) मत दबा दें। तू (**ब्रह्मद्विष**) ज्ञान व परमेश्वर से प्रीति न रखने वाले मनुष्यो का (**माकीं वन.**) मत सेवन कर, मत सगति कर।

वह इन्द्र !

इन्द्र इत् नो महोनां दाता वाजानां नृतुः ।
महाँ अभिज्ञु आयमत् ॥

साम० उ० १२-१॥ ऋ० ८ ९२ ३॥

विनय

इस ससार के जो तेजस्वी महापुरुष हजारो लाखो लोगो के नेता होकर वडे वडे काम कर रहे है, उनमे उस तेज और महाबल को उत्पन्न करने वाले इन्द्र परमेश्वर ही हैं । इस ससार मे जो नाना आन्दोलन उठते और दवते रहते है, कभी कोई लहर चलती है कभी कोई तथा इन आन्दोलनो और लहरो मे उस समय के सब मनुष्य बलात् खिचे चले जाते हैं, यह सब खेल खिलाने वाले और हमे नाच नचानेवाले भी इन्द्र ही हैं । ये इन्द्र हम सबको अपना थोडा या बहुत तेज और बल दे रहे हैं और उस द्वारा नाच नचा रहे हैं । आज जो हममे महातेजस्वी है, वह कभी कुछ दिनो मे सर्वथा निस्तेज हो जाता है तथा एक तुच्छ पुरुष कुछ ही दिनो मे यशस्विता के शिखर पर पहुँचा देखा जाता है । यह सब उसका खेल है । आओ, हम अपने तेज व बल का सब अभिमान त्यागकर, नम्र होकर, उस महान् इन्द्र की शरण मे पड जाये । जरा देखो, वह इन्द्र कितना महान् है, जो कि अकेला हम अनन्त जीवो को कठपुतली की तरह नचा रहा है, स्थावर, जगम सभी असख्य प्रकार की सृष्टि को हिला रहा है ! वह महान् इन्द्र इस ब्रह्माण्ड को नचा रहा है तो इसका यह मतलब नही है कि उसकी इस सृष्टि मे कुछ व्यवस्था नही है, मनमानी या अन्धाधुन्धी है । वह हमे नाच भी पूरी व्यवस्था के साथ, अटल सत्यनियमो के साथ नचा रहा है। इसका कारण यह है कि वह "अभिज्ञु" है, सब के अभिप्रायो को एक दम जानता है, सर्वान्तर्यामी है, इस सब ब्रह्माण्ड की वह आत्मा है । हम सब अनन्त प्राणियो के हृदयो मे आत्मा की आत्मा होकर, अन्तर्यामी होकर, वह अकेला ही बैठा हुआ अनन्त-जीवरूप अनन्त चक्रो वाले इस महायन्त्र को चला रहा है । अहो, वह इन्द्र परमेश्वर कितना महान् है ! कितना महान् है ! !

शब्दार्थ—

(इन्द्र इत्.) इन्द्र ही (नः) हमे (महोनां, वाजानां दाता) तेजो और बलो का देने वाला तथा (नृतु) नचाने वाला वह (महान्) महान् है और (अभिज्ञु) अभिप्राय को जानने वाला, अन्तर्यामी होता हुआ (आयमत्) इस जगत् को व्यवस्था मे बाधे हुए है ।

हे प्यारे !

इन्द्रो अङ्ग महद् भयम् अभीषत् अप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ।।

ऋ० २ ४१ १०।।

विनय

हे प्यारे ! तू क्यो घबराता है ? तेरे सामने जो भय उपस्थित है उससे बहुत बडे भय और बहुत भारी विपत्तियाँ मनुष्य पर आ सकती हैं और आती है । परन्तु हमारे परमेश्वर उन सब को क्षण मे टाल सकते है और टाल देते हैं । उसके सामने, उसके मुकाबिले मे आये हुए महान् से महान् भय पल भर भी नही ठहर सकते है । हे प्यारे ! तू देख कि इस ससार मे एक वह इन्द्र ही स्थिर वस्तु है, वही सत्य है सनातन, अटल, अच्युत है, कभी नष्ट न होने वाला है । शेष सब कुछ—सभी कुछ क्षणभगुर है, विनश्वर है अशाश्वत है और चला जाने वाला है । यही एक महासत्य है जिसे कि सिखाने के लिए ससार मे चौबीसो घटो की घटनायें हो रही हैं । हे मनुष्य ! तू इस महासत्य पर विश्वास कर और निर्भय हो जा । वास्तव मे ससार के सब दुःख, क्लेश, भय, सकट टल जाने वाले हैं नश्वर है, क्योकि ये नश्वर वस्तुओ द्वारा और अज्ञान द्वारा बने है । ससार मे जो अनश्वर है, अटल है वह तो परमेश्वर ही है । इस समय चाहे तुझे यह भय ही भय चारो तरफ नजर आता हो, पर उस अटल इन्द्र की शरण पकडने पर यह सब अभी जाता रहेगा जैसे कि सदा रहने वाले अटल सूर्य (इन्द्र) के सामने से नष्ट हो जाने वाले बादलो का भारी से भारी समूह जाता रहता है, छिन्न भिन्न हो जाता है, वह सदा सूर्य को घेरे नही रह सकता । अतः हे प्यारे ! तू अब उस परमेश्वर की ही शरण पकड, जोकि स्थिर है और "विचर्षणि" है—जोकि सदा रहने वाला है और इस सब जगत् को ठीक ठीक देखने वाला सर्वज्ञ है । यह समझ लेते ही तेरे सब भय मिट जायेंगे । इन्द्र को स्थिर और विचर्षणि जान लेना ही उसकी शरण मे आ जाना है । जिसने सचमुच उसे एक मात्र नित्य और सर्वज्ञ वस्तु करके देख लिया है वह उसे छोडकर और कहाँ अपना आश्रय टिका सकता है और जिसने उसके इस रूप को देख लिया उसके सामने कौनसा भय ठहर सकता है ? इसलिये, प्यारे ! तू घबरा मत, तू उसकी शरण को पकड । यह सामने आये हुए इस छोटे से भय को ही नही मिटा देगा, किन्तु एक दिन आएगा जब कि यह जगदीश्वर तुझसे ससार के सबसे भारी भय को, ससार-बध के महान् भय को बार बार जीने मरने के महाभय को भी छुडाकर तुझे सदा के लिये अजर, अमर और अभय कर देगा ।

शब्दार्थ—

(अङ्ग) हे प्यारे ! (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर तो (अभीषत्) सामने आये हुए (महद् भय) बडे भय को भी (अप चुच्यवत्) विनष्ट कर देता है । (स हि) वह ही निश्चयपूर्वक (स्थिर) स्थिर है, अचल है, शाश्वत है और (विचर्षणि.) सब जगत् को ठीक ठीक देखने वाला है ।

ज्येष्ठ (वृष)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

कंधों, भुजाओं और फेफड़ों में स्वस्थता तथा नीरोगता लानेवाला

(१)

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खडे हो जाइये। भुजायें फैला लीजिये। हथेलियां ऊपर की तरफ हो। मुट्ठी बाँधने के बाद मासपेशियो को तान लीजिये। अब हाथो को कोहनी पर से मोडते हुए सिर की तरफ धीमे धीमे लाइये जिससे कि अँगुलियो के जोड कधो को छू जायें। दोनो हाथो को फिर धीमे धीमे वापिस ले आइये। ध्यान रखिये कि इस बीच मे सारे शरीर की माँसपेशियाँ तनी रहे। जब हाथ कधे की तरफ ले जा रहे हो तो पूर्णश्वास अन्दर भरिये और हाथो को वापिस सीधा करते समय श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिये। अब शरीर को ढीला छोड दीजिये और इस तरह व्यायाम को कई बार कीजिये।

(२)

इस मास के लिये व्यायाम का दूसरा प्रकार निम्न है—

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खडे हो जाइये। दोनो हाथ नीचे की तरफ सीधे लटके हो। मासपेशियो को तान लीजिये। अब दाहिना हाथ कोहनी से मोडते हुए ऊपर की तरफ ले जाइये। जब कोहनी कंधे के साथ सम-रेखा मे आ जाये तब ठहरिये। फिर हाथो को पूर्वस्थिति मे वापिस ले आइये। इस बीच शरीर की मास-पेशियां तनी रहनी चाहियें। इसके बाद यही व्यायाम बाये हाथ से कीजिये। ऊपर की ओर हाथो को गति देते समय श्वास को अन्दर भरिये ताकि जब हाथ कधे तक पहुच जायें तब फेफडे श्वास से पूरे भर चुके हो। हाथो को वापिस नीचे की ओर लाते समय श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिये। अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड दीजिये और इस व्यायाम को कई बार कीजिये।

इस व्यायाम मे अपना मन कधो, भुजाओं और फेफडो पर एकाग्र कीजिये और उन्हे पूर्ण स्वस्थ रूप मे अपने सामने चित्रित कीजिये।

ध्यान—इस व्यायाम से मेरे फेफडों की श्वासधारिणी शक्ति बढ रही है। मेरे फेफडे दिनो दिन मजबूत हो रहे हैं। इस व्यायाम से मैं स्वस्थ हो रहा हूँ और वास्तविक लाभ प्राप्त कर रहा हूँ।

इन अगो को गौणतया भाद्रपद, मार्गशीर्ष और फाल्गुन की व्यायामो द्वारा भी लाभ पहुँचता है।



अश्वारोही बनो !

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः, सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितः, तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

विनय अथर्व० १९.५३.१॥

कालरूपी महावली घोडा चल रहा है। यह सब ससार को खीचे लिये जा रहा है। इस विश्व के सब प्रकार के जगतो मे सात तत्व काम कर रहे हैं (सब जगतों मे सात लोक, सात भूमियें हैं, सप्त प्रकार की सृष्टि है और प्रत्येक प्राणी मे भी सात प्राण, सात ज्ञान, और सात धातु हैं) ये ही सात रस्सिया (रश्मिया) हैं जिनसे कि यह विश्व उस कालरूपी घोडे से जुड़ा हुआ है। काल की महाशक्ति से जुडकर इस ब्रह्माण्ड के सब भुवन, सब लोक, सब मनुष्य, सब प्राणी, सब उत्पन्न वस्तुयें चक्र की तरह घूम रही हैं। इन असख्य भुवनों के उत्पन्न चर या अचर पदार्थों के, असख्यात अक्षों को (व्यक्ति केन्द्रो को) गति देता हुआ, यह महाशक्ति काल, अपने इन भुवन-चक्रों द्वारा इस समस्त विश्व को चला रहा है। इस तरह यह ससार न जाने कब से चलाया जा रहा है! हम परम तुच्छ मनुष्यों का क्या कहना, असंख्यों वर्षों की आयुवाले वहुत से सौर-मडल भी जीर्ण होकर सदा से इस अनन्तकाल मे लीन होते गये हैं। परन्तु कभी जीर्ण न होता हुआ यह कालदेव आज भी अपनी उसी और उतनी ही शक्ति से इस विश्व ब्रह्माण्ड को खींचे लिये जा रहा है। इस कालदेव को मेरे कोटि कोटि प्रणाम हैं। भाइयो! क्या तुम्हें यह कभी जीर्ण न होनेवाला, सब विश्व चलानेवाला महावीर्य अश्व दीख रहा है? पर याद रखो कि इस महावेगवान् अश्व की असवारी वे ही ले सकते हैं जो कि ज्ञानी हैं—जो कि समय को पहचानते हैं, जिनकी दृष्टि इस सबको हिलानेवाले अनन्त कालदेव के दर्शन पाकर विशाल हो गई है, अतएव जो कि क्रान्तदर्शी है, जो कि विशाल भूत और भविष्य को दूर तक देख रहे हैं। जो अज्ञानी या अति चचल मनुष्य, स्थिर ज्ञान-प्रकाश को न पाकर क्षुद्र दृष्टिवाले और काल के महत्व को न पहिचाननेवाले हैं वे तो कालरथ पर नही चढ़ सकते हैं और न चढ सकने के कारण वे या तो कुचले जाते हैं या कुछ दूर तक घिसटते जाकर कहीं इधर-उधर दूर जा पडते हैं और मार्ग-भ्रष्ट हो जाते है या इसके नीचे यूं ही पडे रहकर नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये काल नाम मृत्यु का हो गया है। परन्तु वास्तव मे काल तो वह महाशक्तिवाला, महावेगवाला यान है, जिस पर कि सवार होकर हम बडी जल्दी अपना मार्ग तय करके लक्ष्य पर पहुच सकते हैं। अतः आओ, हम आज से काल के असवार बनें, अपने पल पल, क्षण क्षण का सदा सदुपयोग करें, इस महाशक्ति को कभी भी गँवायें नही और काल की इस विशालता को देखते हुवे सदा ऊँची विशाल दृष्टि से ही समय के अनुसार अपना कर्तव्य निश्चय किया करें।

शब्दार्थ—

(सप्तरश्मि) सात रस्सियोंवाला (सहस्राक्ष.) हजारो धुरो को चलाने वाला (अजर) कभी भी जीर्ण, वुड्ढा न होनेवाला (भूरिरेताः) महावली (कालः अश्वः) समय रूपी घोडा (वहति) चल रहा है—ससार-रथ को खीच रहा है (विश्वा भुवनानि) सब उत्पन्न वस्तुएं, सब भुवन (तस्य) उसके (चक्रा) चक्र हैं—उस द्वारा चक्रवत् घूम रहे हैं। (तं) उस घोडे पर (विपश्चितः) ज्ञानी और (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग ही (आरोहन्ति) असवार होते हैं। □

साथी बनो !

त्वां जना ममसत्येषु इन्द्र, सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्, ना सुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ।।
ऋ० १०.४२.४।। अथर्व० २०.८९.४।।

विनय

हे परमेश्वर ! केवल राजनैतिक क्षेत्र मे ही नही किन्तु साहित्यिक, वैज्ञानिक सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रो मे मनुष्य दो पक्षो मे विभक्त हुए परस्पर सघर्ष कर रहे हैं । और मजेदार वात यह है कि इन कलहों, युद्धो मे दोनो पक्षवाले तुम्हारे पवित्र नाम की दुहाई दे रहे हैं । प्रत्येक कहता है कि "हमारा पक्ष सच्चा है अत: परमेश्वर हमारे साथ है, विजय हमारी निश्चित है ।" परन्तु, हे मनुष्यो ! सत्य के साथ ऐसे खिलवाड़ मत करो । ज़रा अपने अंदर घुसकर, अन्तर्मुख होकर, अपनी सच्ची अवस्था को देखो । 'सत्य' 'परमेश्वर' आदि परम पवित्र शब्दो का यू ही हलके-पन से उच्चारण करना ठीक नही है । यह पाप है । गहराई मे घुसकर, गहरे पानी में पैठकर, सत्य वस्तु को तत्परता के साथ खोजो और देखो कि वह सत्यस्वरूप इन्द्र सदा सच्चे (वास्तविक) सत्य का ही सहायक है । इस ससार मे जो लोग हाथ मे "हवि." लिये खडे हैं, आत्म-बलिदान चढाने को उद्यत है, अपना सिर हथेली पर रखे फिरते ह, उन त्यागी पुरुषो को ही वे परमेश्वर अपना साथी बनाते हैं, उन्ही के वे सहायक होते हैं । क्योंकि यह ही सच्चे होने की सच्ची पहिचान है । जिसको वास्तव मे सत्य से प्रेम है वह तो उस सत्य के लिये सिर पर कफन बाँध लेता है । सत्य का सच्चा पुजारी तो भगुर शरीर की क्या, ससार भर की अन्य सब असत्य, असार वस्तुओ की वलि चढ़ा करके भी सत्य की रक्षा करता है । अत· उसे ही उस शूर, महापराक्रमी, सर्वशक्तिमान् इन्द्र की मित्रता (सख्य) और सहायता प्राप्त होती है । यदि उस शूर की मित्रता चाहते हो तो 'हविष्मान्' होओ और सवन करनेवाले होओ । जो 'असुन्वत्' है, जो कि यज्ञ के लिये उद्योग करता हुआ सोम का सवन नही करता—कठोर परिश्रम करता हुआ सारवस्तु का, सत्य का, तत्व का निष्पादन नहीं करता—ऐसे पुरुष के साथ वे इन्द्र कभी मित्रता नही करना चाहते । अतः, हे भाइयो ! ढोंग करना छोड़ दो, विना जाने और विना तह मे घुसे यूं ही 'सत्य', 'परमेश्वर' आदि का नाम का पुकारना छोड दो । सत्य कभी छिपेगा नहीं । जब तुम मे सचाई होगी तो उसके लिये सब कुछ त्याग करने को अवश्य तैयार होंगे और तुम मे आगे आगे सत्य-रस को, तत्व-सार को, निकाल प्राप्त करने की उत्कट लगन भी होगी और तव तुम देखोगे कि तुम्हे वह परम सौभाग्य प्राप्त है, कि तुम शूर सर्वशक्तिमान् इन्द्र की मित्रता मे हो, उसके 'युज्' साथी बने हुए हो ।

शब्दार्थ —(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मम सत्येषु) 'मेरा पक्ष सच्चा है, मेरा पक्ष सच्चा है' ऐसे अपने झगडो मे, स्पर्द्धाओ मे (जना) मनुष्य (त्वां) तुझे (वि ह्वयन्ते) विविध प्रकार से पुकारते हैं । एव (समीके) युद्ध मे, सग्राम मे (संतस्थानाः) स्थित हुए, अडे हुए मनुष्य भी तुझे अपने अपने पक्ष मे पुकारते हैं । परन्तु (अत्र) इस ससार मे, हे मनुष्यो ! (यो हविष्मान्) जो मनुष्य बलिदान के लिये तैयार है उसे ही वह इन्द्र (युज कृणुते) अपना साथी बनाता है (शूर) वह इन्द्र (असुन्वता) यज्ञ के लिये सवन न करने वाले अनुद्यमी पुरुष के साथ (सख्यं न वष्टि) कभी मित्रता नहीं चाहता है । □

तुम्हारी शरण में !

उरुं नो लोकं अनुनेषि विद्वान्, स्ववंत् ज्योतिरभयं स्वस्ति।
ऋष्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू, उपस्येयाम शरणा बृहन्ता ॥

ऋ० ६.४७.८ ॥ अथर्व० १६ १५.४ ॥

विनय

हे परम ईश्वर! हे सब कुछ जानने वाले! तुम हमे ज्ञान देकर कभी अपने विस्तीर्ण, खुले, अपार लोक मे पहुचा देते हो—उस लोक मे जहाँ कि आनन्द ही आनन्द है और ऐसा आनन्द है कि उसकी प्रतिक्रिया मे दु.ख, संताप का जन्म नही हो सकता, उस ज्योतिर्मय लोक में, जहाँ प्रकाश का साम्राज्य है और जहाँ विस्तीर्ण शुभ्र प्रकाश-सागर मे अज्ञान व अधकार की छाया तक नही पड सकती, उस लोक मे जहाँ परिपूर्ण अखण्ड अभयता है, इन भय के भूतो का जिनसे कि हम यहाँ हरदम सताये रहते हैं, जहाँ नामोनिशान नही है, और उस लोक मे जहाँ कि कल्याण ही कल्याण बरसता है, अकल्याण की जहाँ कल्पना तक नही हो सकती है। हे इन्द्र! तुम ऐसे लोक के वासी हो, हम मनुष्यों को—जीवो—को वहाँ ले जा सकते हो! हे मेरे स्वामी! अपनी बाहुओ को फैला दो और अपनी महान् शरण मे हमे ले लो। हे महान् देव! तुम्हारे ये बाहू सब पाप ताप का ध्वस करने वाले हैं, क्लेश कष्ट का नाश करने वाले हैं, विघ्न बाधाओं को हटाने वाले हैं। इनकी महान् शरण का आश्रय पाये हुए को दु.ख, अज्ञान, भय व अकल्याण का स्पर्श भी कैसे हो सकता है? अपने बाहू फैलाओ, करुणामय! हमें उठाने के लिये अपने ये वात्सल्यमय बाहू बढाओ जिससे कि हम तुम्हारी परम शरण मे आ बैठें, वह गोद जिस मे बैठ कर कोई क्लेश नही, भ्रम नही, भय नहीं, आमय नहीं।

शब्दार्थ— स्ववंत

(इन्द्र) हे इन्द्र! (त्वं विद्वान्) तू सर्वज्ञ (नः उरं लोकं अनुनेषि) हमे उस महान् विस्तृत लोक मे पहुचा देता है जहाँ (स्ववंत्) आनन्द (ज्योति.) प्रकाश (अभयं) अभय और (स्वस्ति) कल्याण ही है। हे परमेश्वर! (ते स्थविरस्य बाहू) तुझ महान् देव के बाहू (ऋष्वा) सब विघ्न बाधाओ को नाश करने वाले हैं (बृहन्ता शरण) हम उस तुम्हारी [बाहुओ की] अपार शरण मे (उपस्येयाम) बैठ जायें। □

सत्य महान् है !

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द, कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥
ऋ० ४.२३.८ ॥

विनय

प्यारो ! सत्य के महात्म्य को देखो ! सत्य मे वे सनातन ऐश्वर्य व बल हैं, जिनसे शोक रुक जाता है । एक बार सत्य-ज्ञान होने पर ससार के सब शोक—घोर से घोर दु ख—खेल दीखने लगते हैं । अनादि काल से जो भी कोई शोक के पार हो गये हैं उन सब को किसी न किसी तरह सत्यज्ञान की ही प्राप्ति हुई थी । प्राप्ति

किसी भी वर्जनीय वस्तु से—पाप से—छुटकारा चाहते हो तो सत्य का सहारा लो । सत्य को धारण करते ही मनुष्य में और कोई बुराई नही ठहर सकती । जितने हद तक हम मे सच की कमी होती है, उतनी ही मात्रा मे हमारे अन्दर बुराई को रहने की जगह होती है । जो पूरा सच्चा है, उस मे बुराई ठहर ही नही सकती । अत केवल इतना आग्रह रखो कि हम सत्य का ही पालन करेंगे तो इससे हमारे अन्दर की सब वर्जनीय वस्तुयें—आखिर ये वर्जनीय वस्तुयें पाप ही है और कुछ नही—स्वय नष्ट हो जायेंगी ।

और यदि हम सच्चे हैं तो हमारी बात प्रतिद्वन्द्वी को भी जरूर सुननी पडती है, हमारी सचाई का उस पर जरूर असर होता है । यह हो ही नही सकता कि सचाई का असर न हो । सच्ची आवाज 'शुचमान' होती है, उसमे एक तेज होता है, अतएव यह जगाने वाली 'बुधान' होती है । इस तेज के सामने स्वार्थी मनुष्य को (जो कि अपनी स्वार्थ-हानि के डर से सचाई को अनसुनी करना चाहता है) अपने कानो के द्वारों को खोलना पडता है । सचाई ऐसी जगानेवाली शक्ति होती है कि जो अज्ञान के कारण अभी तक समझ नही रहा है उसमे चेतना और जागृति पैदा कर देती है । सच्ची आवाज सीधी हृदय मे जा पहुचती है । जहाँ सत्य की सुनाई होना पहिले असभव पता लगता है उसे भी अत मे सत्य को मानना पडता है । सचमुच ही सचाई बहिरे कानो को भी बेंध कर घुस जाती है ।

शब्दार्थ—

(ऋतस्य हि) सत्य की (शुरुधः) शोकनिवारक सपत्तियाँ (पूर्वीः सन्ति) सनातन हैं । (ऋतस्य धीतिः) सत्य का धारण करना (वृजिनानि) पापो का, वर्जनीय वस्तुओं का, (हन्ति) नाश कर देता है । (ऋतस्य) सत्य की (बुधानः) जगाने वाली और (शुचमानः) दीप्यमान (श्लोकः) आवाज (बधिरा) बहिरे (आयोः) मनुष्य के (कर्णा) कानो मे भी (आततर्द) जबरदस्ती पहुच जाती है । □

हे अग्ने !

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः, श्रवस्यवः श्रव आपन् अमृक्तम् ।
नामानि चित् दधिरे यज्ञियानि, भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ ।।

ऋ० ६ १.४।।

विनय

हे देव ! हमने तुम्हारे पद के, तुम्हारे प्राप्तव्य-स्वरूप के, तुम्हारे चरणो के दर्शन पाये हैं। तुम्हें बार बार नमस्कार करते हुए, तुम्हारी स्तुति करते हुए, तुम्हारे आगे झुकते हुवे, भक्तिभाव से आत्म-समर्पण करते हुए ही हमे ये तुम्हारे दुर्लभ पद के दर्शन मिले हैं। यह सब तुम्हारी भक्ति की महिमा है। इसके साथ ही मेरी पुरानी यश पाने की इच्छा भी तृप्त हो गई है। तुम्हारी कृपा से ऐसा यश मिला है जो कि मृदित नही हो सकता है। बाहिर के मनुष्यो से मिलने वाला यश तो उनके अधीन होता है, वह मृदित होता रहता है। पर तुम्हारे पद-दर्शन से जो मुझे अन्दर का यश मिला है वह अक्षय है, उसे पाकर अब मुझे किसी बाह्य यश की आकाक्षा नही रही है। तेरे सेवको को ससार मे सज्जन पुरुषो द्वारा भी बहुत सा यश मिला करता है, पर वह भी तुझ द्वारा मिले इस आन्तर-यश की ही छाया होती है। हे अग्नि-देव ! तेरी भक्ति ने मुझे उबार दिया है। तेरी भक्ति का तो इतना प्रताप है कि यदि कोई तेरे यज्ञार्ह (यज्ञ मे उच्चारणीय) पवित्र पुण्य नामो को ही केवल धारण करे, उन्हें वाणी से बोलता हुआ भक्ति से हृदय मे गुंजाता रहे, तो इस नामजपन, नाम-धारण से ही उसका अत करण इतना शुद्ध हो जायगा कि उस पर तुम्हारी कल्याण-मयी दृष्टि हो जायगी। तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि मे रहता हुआ वह सुख मे आगे बढता जायगा, उसके व्याधि[1], स्त्यान आदि विघ्न हरण होते जायेंगे, वह निर्विघ्न सुख से उन्नत होता जायगा।

तो क्या, हे अग्ने ! क्या हम तेरे पवित्र नामो को भी धारण न कर सकेंगे ? यह तो कम से कम है जो कि हमे तुम्हारी तरफ पहुचने के लिये करना चाहिये। हमे तो तुम्हारे प्रेम के मार्ग मे अन्त तक जाना है और एक दिन यह कह सकने योग्य होना है "हमने तेरे पद के दर्शन पा लिये हैं और अनश्वर यश के भागी हो गये हैं।"

शब्दार्थ—

(श्रवस्यवः) यश की इच्छा वाले हमने **(देवस्य)** तुझ देव के **(पद)** प्राप्तव्य स्वरूप को **(नमसा व्यन्त.)** नमस्कार द्वारा देखते हुए **(अमृक्तम्)** न मृदित होने वाले **(श्रवः)** यश को **(आपन्)** प्राप्त किया है जो लोग **(यज्ञियानि)** यज्ञार्ह **(नामानि चित्)** नामो को ही **(दधिरे)** धारण करते हैं वे भी **(ते भद्राया सन्दृष्टौ)** तेरी कल्याणमयी दृष्टि मे **(रणयन्त)** रहते हुए सुख पाते है। □

१—प्रणवजप से व्याधि स्त्यान आदि ६ विघ्न हट जाते हैं। देखो योग-दर्शन १—२६, ३०।

घर्म पुकार रहा है !

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां, सुहस्तो गोधुक् उत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नः, अभीद्धो घर्मस्तदु षु प्रवोचम् ।।

ऋ० १ १६४ २६ ।। अथर्व० ७ ७३ ७।।

विनय

ग्रीष्म काल प्रचण्डता से तप रहा है, वर्षा के बिना सब वृक्ष वनस्पतियाँ भी सूखी जा रही हैं, इसलिये मैं इस मेघरूपी धेनु (माध्यमिक वाणी) को पुकार रहा हूँ। यह आकाश मे फिरती हुई खूब उदक दे सकने वाली मेघ-धेनु (माध्यमिक वाणी) आये और अन्तरिक्षनिवासी मध्यमदेव (इन्द्र) एक कुशल दोहने वाले की तरह, इसे दुह लेवे। ओह ? यह सब परमात्मा की इच्छा के बिना कैसे हो सकता है ? भगवान् की प्रेरणा के बिना तो ससार मे एक भी हरकत नही हो सकती है। अत· मैं उनकी करुणा का भिक्षुक हूँ। उनकी करुणामय प्रेरणा से यह धेनु हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ रस को देवे, वर्षारूपी दूध पिला कर इस झुलसी हुई भूमि को तृप्त कर दे। अरे! यह पृथिवी रूपी घर्म[1] तप रहा है, जला जा रहा है, इसीलिये मैं तुम्हे पुकार रहा हूँ। परितप्त व्याकुल ससार वर्षा की मांग मचा रहा है।

मैं बहुत तप तप चुका हू, बडे बडे क्लेश उठा चुका हू, अब ज्ञान-पिपासा ने मुझे बिल्कुल व्याकुल कर दिया है। इसलिये, हे खूब ज्ञानदुग्धामृत दे सकनेवाली सरस्वती देवीरूपी धेनु ! तुम आओ, हृदयान्तरिक्ष मे रहनेवाला देव—जो कुशल दोहने वाला मनोदेव है—वह तुम्हे दुह देवे। उस सर्वान्तिर्यामी प्रभु की ऐसी दया होए कि मेरे लिये यह सरस्वती-धेनु अब तो उस ज्ञान-दुग्ध को दुह देवे जो कि ससार मे सर्वोत्तम रस है। मुझे तप करते हुए बहुत काल हो गया है, गर्मी के बाद वर्षा आया ही करती है, तो अब तो मेरे लिये ज्ञानामृतपान करने का समय आ गया होगा। मैं इसीलिये पुकार रहा हूं,-क्योकि मुझ मे ज्ञान-पिपासा की अग्नि प्रचण्डता से धधक रही है इस समय ज्ञानामृत न मिला तो मैं जल जाऊँगा, ज्ञानामृत मिल गया तो मैं इस सबको इस समय हज़म कर सकता हूँ। मेरी ज्ञान-पिपासा का घर्म तुम्हे पुकार रहा है।

शब्दार्थ—

(एतां सुदुघां धेनुं) इस अच्छी दुही जाने वाली धेनु को मैं (उपह्वये) बुलाता हू (उत एनां सुहस्त. गोधुक् दोहत्) और अच्छा कुशल दोहनेवाला इस धेनु को दुहे। (सविता न श्रेष्ठं सवं साविषत्) प्रेरक परमात्मा इस श्रेष्ठ रस को हमारे लिये प्रेरित करे। (घर्मः अभीद्धः तत् उ सु प्रवोचम्) घर्म खूब तप रहा है इसीलिये यह उचित विनती कर रहा हूँ। □

१—घर्म=यज्ञ का चूल्हा।

सत्य पर चलें !

अप्रतीतो जयति सं धनानि, प्रतिजन्यानि उत या सजन्या ।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति, ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ।।

ऋ० ५ ५०. ९ ।।

विनय

पीछे कदम न हटानेवाला मनुष्य ही विजय को प्राप्त करता है। ऐसा ही मनुष्य विजयी होकर ऐश्वर्यों को पाता है। प्रतिजन से सम्बन्ध रखनेवाले वैयक्तिक ऐश्वर्य तथा जन-समूह से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक व राष्ट्रीय ऐश्वर्य उन्ही जनो या जनसमूहो को प्राप्त होते हैं जिनमे कि चिरकाल तक लगातार उद्योग करते जाने की शक्ति होती है, जिनमे लगन, धैर्य होता है, जिनमे अडे रहने डटे, रहने का गुण होता है, जो कि कभी कदम पीछे हटाना नहीं जानते। जिनमे यह गुण नही है ऐसे व्यक्ति या राष्ट्र के लिये ससार में कोई ऐश्वर्य नही है। अत हे व्यक्तियो ! तुम धैर्य को सीखो, हे राष्ट्रो ! तुम मिलकर अन्त तक डटे रहना सीखो।

पर इसका दूसरा पार्श्व भी है। डटे रहना, अन्याय के विरुद्ध और न्याय के लिये ही चाहिये। परन्तु प्राय दुनिया के सब सत्ताधारी मनुष्य स्वार्थवश हो अन्याय के लिये भी डटे रहते हैं। ऐसे डटे रहने वालों का तो—वे चाहे कितने ही बडे शक्तिशाली हो—विनाश ही होता है। जगत् के संचालक देव लोग तो उसी सत्ताधारी राजा की रक्षा करते हैं जो कि न्याय के लिये झुकने वाला होता है, जो कि सत्य उपदेश देने वाले की बात को नम्रता से सुनता है, अडता नहीं है, अतएव जो कि ऐसे सरक्षण चाहने वाले को सच्चे ब्राह्मणो की सदा पूजा किया करता है। सत्ताधारी लोग यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो उन्हें चाहिये कि वे दुनियावी कोई सत्ता न रखने वाले, सबका भला और रक्षण चाहने वाले, नम्र, ज्ञानी पुरुष उन्हे आकर जो कुछ सुझावें उसे वे सत्कार-पूर्वक सुनें और उनकी शुभ सलाह को वे तुरन्त पूरा करें।

जरूरत इस बात की है कि निर्बल और पद-दलित लोग सत्य पर अडना सीखें और सत्ताधारी लोग नमना सीखें। और उससे भी अधिक जरूरत यह है कि प्रत्येक मनुष्य सदा देखे कि वह कही बलवान्, अन्यायी के सामने झुक तो नहीं जाता है, क़दम पीछे तो नही हटा लेता और असत्ताधारी सच्चे पुरुष के सामने अडा तो नही रहता।

शब्दार्थ—

(अ+प्रति+इत) पीछे कदम न हटाने वाला ही (धनानि) ऐश्वर्यो को (सं जयति) जीतता है, वे ऐश्वर्य चाहे (प्रति-जन्यानि) वैयक्तिक होयें अथवा (या सजन्या) वे सामूहिक होयें। और (देवा.) देव (तं) उस सत्ताधारी राजा की (अवन्ति) रक्षा करते हैं (य. राजा) जो कि राजा (अवस्यवे) रक्षा चाहने वाले (ब्राह्मणे) सच्चे ब्राह्मणो की (वरिवः कृणोति) पूजा किया करता है, उनके आगे झुकता है। □

अमरत्व की घोषणा !

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

ऋ० १० १८ २॥ अथर्व० १२.२.३०॥

विनय

ससार के हरेक प्राणी पर मृत्यु ने पाँव रखा हुआ है। जिस दिन उसकी इच्छा होती है उस दिन वह उस पांव को दबाकर प्राणी को कुचल डालता है, समाप्त कर देता है। पर, हे नरतनधारी मनुष्यो ! तुम मे वह शक्ति है जिससे कि तुम मृत्यु के उस पैर को ढकेल कर अमर बन सकते हो। इस ससार मे तुम मरे हुओ की तरह न रहकर, न सडकर, अमर पुत्रो की तरह दृढता से चलो, शुद्ध, पूत और यज्ञिय बन जाओ। ऐसे बनने से तुम में वह आत्म-शक्ति जग जायगी कि तुम उस मृत्यु के पैर को ढकेल फेंकोगे। ठीक आहार, व्यायाम, तप आदि द्वारा शरीर को शुद्ध रखो और अन्दर सत्वशुद्धि, सौमनस्य आदि लाकर अन्त करण को पवित्र रखो, और फिर इस शरीर और मन से यज्ञिय कर्म ही करते जाओ, इससे तुम निस्सदेह अमर निकल आओगे। यह सत्य है कि यज्ञिय जीवन से मृत्यु मारी जाती है, तब मनुष्य की आयु सौ वर्ष तक चलने वाला यज्ञ हो जाता है, तब वह मनुष्य पूर्ण सौ वर्ष की दीर्घ विस्तृत आयु को यज्ञरूप मे धारण करता है। हम मेरे हुए मनुष्य तो आयु को 'धारण' नहीं कर रहे हैं किन्तु आयु के एक बोझ को जैसे तैसे ढो रहे हैं। जब शरीर को आत्मा धारे हुये होता है तो आत्मा शरीर को पूर्ण सौ वर्ष तक स्वस्थ चलने की—जीवन-यज्ञ को सौ वर्ष तक अखडित चलने की—आज्ञा देता है। और इस जीवन में प्रजा को सृजने द्वारा तथा धन के बढाने द्वारा अपनी विकास की इच्छा को परितृप्त करके यज्ञ को पूर्ण करता है। आत्मशक्ति का प्रकाश करने के लिये ही आत्मा शरीर को धारण करता है। अतः शरीर पाकर इस जगत् मे कुछ न कुछ उपयोगी वस्तु को प्रजनन करना, सृजन (Create) करना तथा जगत् के सच्चे ऐश्वर्य को (धन को) बढा जाना आवश्यक है। संसार मे आयी सब महान् आत्मायें इस ससार मे कुछ न कुछ जगत् हितकारी वस्तु को सृजन करके तथा जगत् मे किसी उच्च से उच्च ऐश्वर्य को बढाकर जाती हैं। हे मनुष्यो ! उठो, मृत्युमय जीवन छोडो, शुद्ध पूत और यज्ञिय बनो और मृत्यु के पैर को परे हटाकर अपने अमरत्व की घोषणा कर दो।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (यदा) जब तुम (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्यु के पैर को हटाते हुए (एत) चलोगे, तो (द्राघीय आयु प्रतर दधाना.) तुम दीर्घ विस्तृत आयु को धारण करने वाले तथा (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) प्रजा और धन से परितृप्त होओगे। इसके लिये (शुद्धा) बाहिर से शुद्ध (पूता.) अन्दर से पवित्र और (यज्ञियास.) यज्ञिय जीवन वाले (भवत) हो जाओ। □

ऋचाओं का संगीत

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तत् विदुः त इमे समासते ॥

ऋ० १ १६४ ३९॥ अथर्व० ९ १०.१८॥

विनय

हे मनुष्य! तू वेद की ऋचायें पढकर क्या करेगा, यदि तूने सब ऋचाओ की एक आधारभूत वस्तु को नही जाना है? उसके बिना जाने वेद पढना निष्फल है, समय खोना है। वेद उसे ही पढ़ने चाहियें जिसे कि वेदमन्त्रो के एक प्रतिपाद्य विषय उस अक्षरतत्व को जानने की इच्छा है जो कि 'परमव्योम' है, एक परम आकाश है। वह इस प्रसिद्ध आकाश से भी उत्कृष्ट है, वह इतना आकाश है कि यह सब विविध ब्रह्माण्ड उसमे ओतप्रोत है। इसीलिये वह 'परमव्योम' कहाता है। उसे ज्ञानी लोग 'ओं' इस अक्षर से भी पुकारते हैं। वह विविध प्रकार से सबकी रक्षा करने वाला (व्योम), अविनाशी (अक्षर) तत्व है। सब देवता, सब ससार, उस एक मे समाया हुआ है। प्रत्येक वेदमन्त्र किसी न किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु ये वेद प्रतिपाद्य सबके सब देवता उस ही एक देव मे ठहरे हुए है। इसलिये यदि उस एक देव को जानने की, उसे पाने की इच्छा है, तभी वेदमन्त्रो को पढो। वेदमन्त्रो को इसलिये मत पढो कि उनमे से किन्ही अपने अभीष्ट विचारो को निकालेंगे या उनके ऐसे अर्थ करेंगे जिनसे कुछ भलाई सिद्ध होगी। वेद का ऐसा पढना तो निष्फल ही नही, किन्तु पाप है। हमे वेद-मन्त्रो के पास इस पवित्र भाव से पहुचना चाहिये कि ये हमे उस एक देव के पवित्र चरणो मे पहुचाने के साधन होंगे। प्रत्येक वेदमन्त्र मे हमे उस अक्षर प्रभु का प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिये। इसलिये वे पुरुष जो उस तत्व को जानते हैं और जो यह जानते हैं कि सब ऋचायें उस अक्षर मे है ऐसे ज्ञानी लोग समासीन हो जाते हैं, ठीक तरह स्थित हो जाते हैं, और यह अवस्था केवल ऐसे ही ज्ञानी लोगों को प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञानी लोगो को शान्ति-प्राप्ति होती है, सब सशयो से रहित स्वस्थता और आनन्द की एक अवस्था प्राप्त हो जाती है। वेदमन्त्रो के ध्यान से वे लोग समाहित (समाधिस्थ) हो जाते हैं,—उस अक्षर में लीन होने का परमानन्द पाते हैं। वहाँ ऋचाओ का पढना सफल हो जाता है।

शब्दार्थ—

(ऋचः) ऋचायें, वेदमन्त्र (अक्षरे) उस अक्षर अविनाशी (परमेव्योमन्) परम आकाश मे आश्रित हैं (यस्मिन्) जिसमे (विश्वेदेवाः) सब के सब देव (अधि निषेदुः) ठहरे हुए हैं। इसलिये (यः) जो मनुष्य (तत्) उस अक्षर को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) ऋचायें, वेदमन्त्र पढ कर करके (किं करिष्यति) क्या करेगा और (ये) जो (तत् विदु.) उसे जानत हैं, (ते इत् इमे) वे ही ज्ञानी लोग (समासते) समासीन होते है—स्वस्थ, स्वरूपस्थ, आत्मानन्द मे स्थित होते हैं। □

अभय ज्योति !

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या, न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
पाक्याचित् वसवो धीर्याचिद्, युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥

ऋ० २.२७ ११॥

विनय

आजकल मैं एक अँधेरी रात्रि मे घिरा हुआ हूँ । मेरे मानसिक नेत्रो के सामने एक ऐसा दुर्भेद्य काला पर्दा आ गया है जिसने कि मेरा सम्पूर्ण प्रकाश रोक लिया है । अपनी वर्तमान अध्यात्मिक समस्या को हल करने मे ही मैं दिन रात डूबा हुआ हू, कही से भी कोई प्रकाश की किरण मिलती नही दीखती । चारो तरफ अँधेरा ही अँधेरा है—घोर गुप्प अँधेरा है । दाँयें बाँयें कही कुछ नजर नही आता, आगे या पीछे कही भी इस अधकारमय उलझन से बाहिर निकलने का रास्ता नही सूझता । क्या करूँ । यह भयकर रात्रि क्या कभी समाप्त भी होगी या नही ? इस अधे जीवन से तो मरना भला है । खाता पीता, चलता फिरता हुआ भी मैं आज मुर्दा हू । चौबीसो घटे विचारने मे ग्रस्त हू, पागल हुवा हुआ हू, प्रकाश पाने के लिये निरन्तर घोर युद्ध मे लगा हुआ हू, पर इस काली रात्रि का कहीं अत होता नही दिखाई देता है । हे देवो ! भगवान् के दिव्य प्रकाश का सदेश लाने वाले, हे उसके 'आदित्य' नामक दूतो ! मैं तुम्हे याद कर रहा हू, तुम्हारी राह देख रहा हूँ । तुम मुझे इस रात्रि से शीघ्र पार ले चलो, नही तो अब मेरा जीना कठिन हो रहा है । सुना है कि बुद्ध, ईसा, दयानन्द आदि अनेक महात्मा अपना दिव्य प्रकाश पाने से पहिले ऐसी अँधेरी रात्रियो मे से गुजरे थे । पर वे तो जन्म-जन्मान्तरो के पके हुए थे और बडे धीर थे । मैं बिल्कुल कच्चा, अपरिपक्व ज्ञान वाला और बड़ा दुर्बल, अधीर हूँ । मुझे इससे पार कौन ले जायगा ! किसी तरह होये, हे वासक आदित्यो ! तुम मुझे भी बसा लो, अन्धकार से निकाल मुझे मरने से बचा लो । मैं चाहे जितना अज्ञानी, कच्चा और धैर्यरहित होऊँ, पर यदि तुम मुझे ले चलोगे—मेरे नायक बन जाओगे—तो मैं निस्सदेह अधकार को समाप्त कर प्रकाश को पा जाऊँगा और तब इस महाभय से पार हो जाऊँगा । मेरी यह भय की अवस्था उस ज्योति को पाकर ही मिटेगी, वह अभय ज्योति ! वह अभय ज्योति ! !

शब्दार्थ—

(न दक्षिणा विचिकिते) न दायी तरफ कुछ दिखाई देता है (न सव्या) और न बायी तरफ (न) न (आदित्या) हे आदित्य देवो ! (प्राचीनं) सामने ही कुछ दिखाई देता है (न उत पश्चा) और न कुछ पीछे । इसलिये (पाक्याचित्) मैं चाहे जितना अपरिपक्व कच्चा होऊँ और (धीर्याचित्) चाहे कितना धैर्यरहित दीन होऊँ (वसव') हे वासक आदित्यो ! (युष्मानीत:) किसी तरह तुम्हारे द्वारा ले जाया गया मैं (अभयं ज्योति.) भय-रहित प्रकाश को (अश्याम्) प्राप्त हो जाऊँ । □

आओ, हम लौटें !

न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

ऋ० १०.८२.७॥ यजु० १७.३१॥

विनय

हे मनुष्यो ! तुम उसे नही जानते जिसने कि ये सब भवन बनाये है । यह कितने आश्चर्य की बात है ! तुम्हारा वह पिता है, पर तुम अपने पिता से जुदा (अन्यत्) हो गये हो, तुम्हारा उससे बहुत फर्क पड गया है । ओह ! कितना भारी अन्तर हो गया है ! मनुष्य का तो उसके प्रभु के साथ अन्तर नही होना चाहिये । वह प्रभु तो हम मनुष्यो की आत्मा की भी आत्मा है । उससे अधिक निकटतम वस्तु तो हमसे और कोई है ही नही, हो ही नही सकती । सचमुच वे परम-आत्मा हमारी आत्मा मे भी व्यापक हैं । उनसे निकट हमारे और कोई नही है । फिर वे हमसे दूर क्यो हैं ? इसका कारण यह है कि हमारे और उनके बीच मे प्रकृति का परदा आ गया है । हम दो प्रकार के परदो से ढके हुए है, जिससे कि वह इतना निकटस्थ भी हमसे इतना दूर हो गया है । एक प्रकार के (तमोगुण-बहुल) लोग तो "नीहार" अज्ञान से ढके हुए हैं जिसकी धुंध मे इतने पास मे भी उन्हें नही देख पाते, दूसरे (रजोगुण-बहुल) लोगो ने "जल्पि" से, विद्या के शब्दाडम्बर से, पढी लिखी मूर्खता से, निरर्थक जल्पना के परदे से अपने आप को ढक लिया है । ये दोनो प्रकार के मनुष्य अपनी-अपनी दिशा मे इतनी दूर बढते गये हैं कि प्रभु से दिनो दिन दूर होते गये है । नीहारावृत लोग तो ससार मे "असुतृप्" होकर विचर रहे हैं । वे खाते पीते मौज करते हुए निरन्तर अपने प्राणो के तर्पण करने मे ही लगे हुए है । कामनाओ इच्छाओ का निवास मनुष्य के सूक्ष्म प्राण मे ही है । ये ज्यो ज्यो अपनी बढती जाती हुई अनगिनत कामनाओं को तृप्त कर अपनी इन कामनाओ को पुष्ट करते जाते हैं, त्यो त्यो ये प्रभु से दूर होते जाते हैं । इसी तरह दूसरे जल्पावृत लोग "उक्थशास्" होते है अर्थात् ससार मे बडे बडे शास्त्र पढकर, वादविवाद वितण्डा मे चतुर होकर, दूसरो को जोरदार व्याख्यान देते फिरते हैं, पर अपने आपको नही पहचानते । ये जितने भारी वक्ता, लेखक, और शास्त्रार्थकर्त्ता होते जाते हैं उतने ही ये बाह्य शब्द जाल मे ऐसे उलझते जाते हैं कि अन्दर के देखने के अयोग्य होते जाते हैं, अत अन्दर के आत्मस्थ प्रभु से दूर होते जाते हैं ।

इसलिये आओ, हम लौटें । अपने अन्दर की तरफ लौटें और अपने उस आत्मा के आत्मा को पा लेवें जिसके साथ हमे निरन्तर जुडा रहना चाहिए ।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (तं न विदाथ) तुम उसे नही जानते (य इमा जजान) जिसने कि इन सब (भुवनो) को बनाया है । (अन्यत्) तुम अन्य प्रकार के हो गये हो और (युष्माक अन्तरं बभूव) तुम्हारा उससे बहुत फर्क हो गया है । (निहारेण) अज्ञान के कोहरे से (प्रावृता) ढके हुए और (जल्प्या च) अनृत और निरर्थक शब्दजाल से ढके हुए हम मनुष्य (असतृप) प्राणतृप्ति मे लगे हुए होकर या (उक्थशासः) आडबर वाले बहुभाषी होकर (चरन्ति) भटकते हैं । □

कहां जायें !

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं, प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥
ऋ० १०.७३.११॥ साम० पू० ४.१ ३ ७॥

विनय—हमारे शरीर मे पाँच इन्द्रियाँ रहती हैं। ये पक्षियो की तरह बाहिर उडती फिरती हैं। ये ऋषि इन्द्रियाँ हैं, ज्ञान लाने वाली ज्ञानेद्रियाँ हैं। इन्हे अपने रूप रसादि विषयो से सगमन करना वडा प्रिय है। इनका उडना (पतन करना) वडा सुन्दर है। वाहिर से वडे सुन्दर सुन्दर रूपो को रसो को, गन्धो को ये कैसी विलक्षणता से ले आती है! इनमे क्या ही अद्भुत गुण है! आँख खोलो, तो सब विविध जगत् दीखने लगता है, आँख बन्द करने पर कुछ नही। आँख मे क्या विलक्षण शक्ति है! इसी तरह कान को देखो, जीभ को देखो, इनमे क्या विचित्र जादू हैं कि वे हमारे लिये बड़े ही आनन्ददायक अनुभूतियो (Sensations) को पैदा करते हैं।

पर एक समय आता है जब ये इतनी अद्भुत इन्द्रियाँ हमारी ज्ञानपिपासा को तृप्त नहीं कर सकती। ये बाहिर से जो प्रकाश लाती हैं वह सब तुच्छ लगने लगता है। यह तब होता है जबकि छठी इन्द्रिय (मन) द्वारा अदर के प्रकाश की तरफ हमारा ध्यान जाता है, प्रत्याहार शुरू होता है और इन्द्रियो का उडना बद हो जाता है। सब इन्द्रियाँ मन के प्रकाश के मुकाबिले मे बैठकर अपने अधकार को और अपनी परिमितता के बंधन को अनुभव करती हैं। ओह! इन्द्रियाँ कितना थोडा ज्ञान दे सकती हैं और वह ज्ञान भी कितना बँधा हुआ है! अदर बाहिर की थोडी सी बाधा से उनका ज्ञान-ग्रहण रुक जाता है। आँख अति दूर, अति समीप नहीं देख सकती, अतिसूक्ष्म को नही देख सकती, ओट मे पार नही देख सकती। यह अँधेरा और यह बंधन तब अनुभव होता है जबकि मनुष्य को अंदर के महान्, सब कुछ जान सकने वाले प्रकाश का पता लगता है। यह इन्द्र का, आत्मा का, प्रकाश है। इस प्रकाश-पिपासा से व्याकुल होकर इन्द्रियाँ आत्मा से उस प्रकाश को पाने के लिये गिडगिडाने लगती हैं, प्रार्थना करने लगती हैं कि "हमारे अँधकार का पर्दा उठा दो, हमारी आँखें प्रकाश से भर दो, हम अंधे हैं हमे आँखें देदो, हम अपने अपने ज़रा से क्षेत्र मे बँधी पडी हैं हमे देशकालाव्यवहित दर्शन की शक्ति दे दो, हमारे बंधन काट दो, हमे जिस देश और जिस काल मे जिस वस्तु को देखना चाहें तुम्हारे इस प्रकाश मे (प्रज्ञालोक* मे) देख सकें।"

इन्द्रियाँ अपने शक्ति-स्रोत इन्द्र की शरण मे न जायें तो और कहाँ जायें?

शब्दार्थ—वे (सुपर्णाः) शोभनपतनशील (वयः) पक्षी (प्रियमेधा.) जिन्हें मेध-[सगमन] प्रिय है और (ऋषयः) जो ज्ञान लानेवाले हैं (इन्द्रं) इन्द्र के पास (नाधमानाः) यह प्रार्थना करते हुए (उपसेदुः) आ बैठे हैं कि "(ध्वान्तं) हमारे अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) निवारण करदो; (चक्षुः पूर्धि) हमारी आँखें भरदो या हमे आँखें दे दो और हम जो (निधया इव) मानो पाशों मे (बद्धान्) बँधे पडे हैं (अस्मान्) हमे (मुमुग्धि) छुडा दो।" □

*तज्जयात् प्रज्ञालोकः। योगदर्शन ३-५।

पवित्र यज्ञ !

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ऋ० १ ८९.८॥ यजु० २५. २१॥ साम० उ० ९.३.९॥

विनय

मन, वाणी और इन्द्रियो के अगोचर भगवान् तो हमे दीखते नही है । देवो ! उनके हाथो के रूप मे हम तुम्हे ही देख पाते है । वे भगवान् तुम्हारे द्वारा ही इस सब ब्रह्माण्ड को चला रहे हैं । इसलिये, हे देवो ! हम तुम्हे ही सबोधन करते हैं । इस ससार मे जन्म पाकर जव होश आई है तो हम देखते हैं कि हम सबने एक दिन मरना है, एक निश्चित आयु तक ही हमने जीना है । तुमने मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष की रखी है । हे 'यजत्रा' ! हे यजनीय देवो ! हमे तुम्हारा यजन करते हुए ही १००, ११६ या १२० वर्ष तक जीवित रहना चाहिये । इसके लिये, हे देवो ! हम अपने कानो से सदा भद्र का ही श्रवण करें, जो यजनीय हैं, जो उचित है, जो कल्याणकारी है, केवल उसे ही सुनें । आंखो से, जो कुछ यजनीय है केवल उसे ही देखें । अभद्रवस्तु, बुरी, अनुचित वस्तु मे हमारे कान आंख कभी न जायें । हे देवो ! यही तुम्हारा यजन है, यही तुम द्वारा उस भगवान् का यजन है । हे देवो ! तुम्हारे अंशो से हमारे शरीर की एक एक इन्द्रिय और एक एक अंग उत्पन्न हुए हैं । जिस जिस देव से हमारा जो जो इन्द्रिय व अग बना है, उस उस अग द्वारा सदा भद्र का सेवन करना ही उस उस देव का यजन करना है । हे देवो ! इसी तरह हम अपनी एक एक इन्द्रिय से तुम्हारा यजन करते रहेगे । हमारे हाथ और पैर सदा भद्र का ही सेवन करने के कारण पूर्ण आयु तक चलने योग्य, दृढ और वलवान् होगे । इन दृढ हाथो और पैरो से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं, जो कुछ चलते हैं, वह सब तुम द्वारा प्रभु की स्तुति करना है । एव हम अपने एक एक वलिष्ठ स्वस्थ अग से जो भी कुछ भद्र चेष्टा व हरकत करते है, हे देवो ! वह सब प्रभु-यजन है । हम चाहते हैं कि इसी तरह हम अपने एक एक अग मे सदा भद्र ही करते हुए तुम्हारी दी हुई यज्ञिय आयु को पूर्ण कर दें ।

अहा ! अपने स्वस्थ, वलिष्ठ, पवित्र अगो द्वारा सदा भद्र का ही सेवन करने वाले के लिये यह जीवन कैसा एक पवित्र यज्ञ बन जाता हैं ।

शब्दार्थ—

(देवा.) हे देवो ! हम (कर्णेभिः) कानो से (भद्रं) भद्र का ही (शृणुयाम) श्रवण करें । (यजत्राः) हे यजनीय देवो (अक्षभिः) हम आंखो से (भद्रं पश्येम) भद्र को ही देखें । (स्थिरैः अगैः) अपने मजबूत अगो से, (तनूभिः) शरीरो से (तुष्टुवांसः) सदा स्तुति पूजन करते हुए ही (यत् देवहितं आयु.) जो हमारी देवो द्वारा स्थापित आयु है उसे (व्यशेम) प्राप्त करलें । □

वह बड़ा है !

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां, सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ।।

ऋ० ५.६०.५।।

विनय--संसार भर के सब मनुष्य (मरुत) परस्पर भाई भाई हैं। मनुष्यमात्र एक ही माता पिता के पुत्र हैं। ससार के किसी देश के एक कोने मे रहनेवाले मनुष्य के उसी तरह पिता "रुद्र"-परमेश्वर है और माता 'पृश्नि" प्रकृति है जैसे कि किसी दूसरे कोने के रहनेवाले के। मनुष्य की दृष्टि से इनमे न कोई बडा है और न छोटा है। काले गोरे, हबशी और सभ्य, पूंजीपति और श्रमी, पौर्वात्य और पाश्चात्य, ब्राह्मण और अछूत, हिन्दू और मुसलमान, जापानी या अमेरिकन, अंग्रेज या हिन्दुस्तानी, नागरिक व देहाती सबके सब एक समान परस्पर मनुष्य भाई हैं। इन मे ऊंच नीच मानना अज्ञान है। मनुष्य की दृष्टि से छोटा बडा मानना अनुचित है। संसार भर के मनुष्यो को "मरुत् देवो" की तरह, उत्तम कल्याण के लिये मिल करके यत्न करना चाहिये, मिल करके ससार मे मनुष्यता की उन्नति करनी चाहिये। जब मनुष्य मनुष्य आपस मे घृणा करते हैं, भिन्न भिन्न देश के वासी होने से या भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी होने से लडते हैं, एक दूसरे का तोपो बन्दूको और जहरीली गैसो से घात करते हैं, छोटे बडे का अभिमान कर एक दूसरे पर अत्याचार करते हैं, तब वे अपने एक समान पिता माता को भूल जाते हैं। क्या अग्रेज भाइयो को पैदा करनेवाला प्रभु और है और भारतवासियों का और ? वह एक ही रुद्र हम सब मरुतों का पिता है। वह कभी बुड्ढा न होने वाला, कभी न मरनेवाला पिता है। वह हम सबके लिये कल्याण-कर्म करनेवाला पिता है। और हम सब की माता यह प्रकृति है जो कि हमारे लिये उत्तम ऐश्वर्यों का दूध प्रदान कर रही है और हमे सब सुख पहुंचा रही है। आओ ! हम इन सब झूठे भेदभावो को भूलकर—काला गोरा, पूंजीपति श्रमी, छूत अछूत, इस देशवासी और उस देशवासी इन सब भेदो को भूलकर—हम सब मनुष्य, सब के सब मनुष्य, मिलकर मनुष्यमात्र के हित का ध्यान करें; एक दूसरे के हित का ध्यान करें। अपने शोभन कर्म करनेवाले अमर पिता के आशीर्वाद को पाते हुए और करुणामयी सुखदात्री माता द्वारा अपनी सब कामनायें पूरी करते हुए अपनी उन्नति का साधन करें और भाई भाई की तरह एक दूसरे की सहायता करते हुए मनुष्यता के उद्देश्य की पूर्ति में बढते जायें।

शब्दार्थ—(अज्येष्ठास) जिनमे कोई बडा नही है और (अकनिष्ठास.) जिनमे कोई छोटा नही हैं ऐसे (एते) ये सब (भ्रातर.) परस्पर भाई (सौभगाय सं वावृधु.) उत्तम ऐश्वर्य के लिए मिलकर उन्नति करनेवाले हैं। (एषां) इन सबका (युवा पिता) सदा युवा पिता (स्वपा रुद्रः) कल्याण-कर्म करनेवाला रुद्र परमेश्वर है और (मरुद्भ्य) इन मरुतो—मनुष्यो—के लिये (सुदिना) * सुख देनेवाली (सुदुघा) उत्तम दूध देनेवाली माता (पृश्निः) प्रकृति है। □

* सुदिन इति सुखनामसु पठितम्।

हे अनन्त देव !

का त उपेति मनसो वराय, भुवदग्ने शंतमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप, केन वा ते मनसा दाशेम॥

ऋ० १.७६.१॥

विनय

हे अनन्त देव ! हम परिमित मनुष्य किसी भी प्रकार से तेरे सपूर्ण रूप को ग्रहण नहीं कर सकते। हम अपने अपूर्ण साधनों द्वारा तेरे पास पहुँचने के लिये—तुझे वर लेने के लिये जीवन भर यत्न ही करते रहते हैं। हमारे मन मे यह सामर्थ्य नही कि वह तेरे परिपूर्ण रूप को कभी मनन कर सके। तो तेरे पास पहुँचने का साधन, उपाय हमारे पास क्या है ? हम कभी समझते हैं कि शायद हम हार्दिक भक्ति करके तुझे सुख पहुँचा लेंगे। पर यह तो हमारा तेरे विषय मे सासारिक भाषा मे बोलना मात्र है। भक्ति से हमे वेशक वड़ा लाभ मिलता है, पर हमारी हार्दिक प्रार्थनाओ या स्तुतियो का तुझ पर वास्तव में किसी प्रकार का प्रभाव नही होता। तू तो शुद्धस्वरूप मे अलिप्त रहता है। मनुष्य समझते हैं कि यज्ञ तो बडी व्यापक वस्तु है अत. शायद यज्ञ तेरी परिपूर्ण वृद्धि और बल को ग्रहण करने मे पर्याप्त हो सकेंगे। पर ऐसा नही होता। तू केवल अपने ही परिपूर्ण यज्ञ से अपने को पा सकता है। पर मनुष्य के किये यज्ञ तो कभी ऐसे परिपूर्ण नही हो सकते कि उन यज्ञो से तेरी अन्नत महत्ता का, तेरे अनन्तबल का, पार पाया जा. सके। ये सब यज्ञ कुछ कुछ अश मे ही तुझे व्याप्त कर पाते हैं। हम तो वेशक तेरे उतने अश की प्राप्ति से ही कृतकृत्य हो जाते हैं "प्यासे को तो एक लोटा भर पानी काफी है, उसे समुद्र की गहराई मापने की क्या ज़रूरत ?"* पर यह सत्य है कि हम तेरी गहराई को माप नही सकते, यज्ञ भी इस मे असमर्थ हैं। यह क्यों न हो ? क्योकि सब स्तुति, भक्ति और यज्ञ आदि हम अपने मन द्वारा ही तो करते हैं और इस हमारे मन मे शक्ति ही कितनी है ? अत यह कहना चाहिये कि हमारा मन ही तुम्हारे योग्य नही है। मनुष्य के क्षुद्र मन की तुम अगम तक पहुच ही नही हैं। तो वह मन हम कहां से लायें जिस द्वारा हम अपनी यह भक्ति व यज्ञ व ज्ञान की आहुति तुझ तक पहुंचा सकें ? ओह ! सचमुच यह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में बंधा हुआ मनुष्य तेरी परिपूर्ण उपासना—तेरी परिपूर्ण आराधना—कभी नही कर सकता।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने ! (ते मनसो वराय) तेरे मन को वरने के लिये (का उपेति भुवत्) कौनसा उपाय—तेरे पास पहुँचने का साधन—है ? (का मनीषा शंतमा) और हमारी कौनसी हार्दिक इच्छा या स्तुति तेरे लिए सुखकारी हो सकती है ? (को वा) अथवा कौन मनुष्य है जो (यज्ञै. ते दक्षं परि आप) यज्ञ कर्मों द्वारा तेरी वृद्धि या वल को व्याप्त कर सकता है, इसके लिये पर्याप्त होना है ? (केन वा मनसा ते दाशेम) या वह मन ही हमारे पास कौनसा है जिससे हम तुझे हवि दे सकें ? □

*श्री रामकृष्ण परमहस यह कहा करते थे।

सत्य की खोज !

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयो र्यत्सत्यं यतरदृजीयः, तदित्सोमो अवति हन्त्यासत् ॥

ऋ० ७.१०४.१२॥ अथर्व० ८ ४ १२॥

विनय—मनुष्य जब ऊँचे वास्तविक ज्ञान को विवेकपूर्वक जानना चाहता है, जब वह सत्यज्ञान की खोज मे होता है, तब उस विवेकशील पुरुष के सामने सत् और असत् दोनो स्पर्धा करते हुए आते हैं। दोनो उसके सामने अपनी अपनी श्रेष्ठता दिखाना चाहते हैं, दोनो उसके हृदय पर कब्जा करना चाहते हैं। कभी सत् प्रबल होता है, कभी असत् प्रबल होता है इस तरह देर तक यह स्पर्धा यह लड़ाई, चलती रहती है। जब उस पर किन्ही कुटिल और असत्य से काम निकालनेवाले लोगो का प्रभाव पडता है तब वह असत्यता को ही काम की चीज समझ लेता है और यदि वह सत्यग्रन्थों को पढता है या सच्चे, निष्कपट, पवित्र लोगो के संग मे आता है तो सत्य की महत्ता को समझने लगता है। फिर किसी ज़बरदस्त बलवान् नीतिनिपुण पुरुष का प्रभाव उसे यह सिखला देता है कि संसार मे असत्य के बिना काम नही चलता है, पर फिर कोई महान् सत्यनिष्ठ पुरुष उसे सत्य का पुजारी, सत्य के पीछे पागल बना देता है। इस तरह सत् और असत् दोनो प्रकार के वचन (ज्ञान) उस पर प्रभाव जमाने के लिए स्पर्धा करते रहते है। पर मनुष्य को यह पता होना चाहिये, (और विवेकी पुरुष को यह धीरे-धीरे पता हो जाता है) कि मनुष्य के हृदय मे बैठा हुआ सोम परमेश्वर तो सदा सत् की, अकुटिल की ही रक्षा कर रहा है और असत् का नाश कर रहा है। जो लोग इस सत्य से अभिज्ञ हो जाते हैं वे तब सोम की शरण मे जाना चाहते हैं। और जो सचमुच सर्वोच्च सत्य ज्ञान की खोज मे लगे हुए हैं उन्हे इसी हृदयस्थ सोम देव की शरण जाना चाहिये, तभी उन्हें अपना अभीष्ट मिलेगा। क्योकि सब भूतो के हृद्देश मे बैठे हुए सोम ईश्वर के आश्रय को मनुष्य जितना ही अधिक सर्वतोभाव मे ग्रहण करता है उतना ही उसमे असत्य का नाश होकर सत्य और निष्कपटता बढती जाती है और उसमे सुविज्ञान भरता जाता है। अत इस सत् और असत् की लडाई मे मनुष्य जितना ही सोम का आश्रय लेगा उतनी ही जल्दी उसमे सत्य की विजय होगी, और उसे शान्ति मिलेगी। हर एक जीव की इस सत् असत् की स्पर्धा मे जल्दी या कितनी ही देर मे अन्तत सोम परमेश्वर द्वारा विजय तो सत्य की ही होनी निश्चित है। क्योकि वे सोम सदा सत्य का, सत्यवचन का, सत्यव्यवहार का रक्षण कर रहे हैं और असत्य का, असत्यभाषण का, असत्य व्यवहार का हनन कर रहे हैं।

शब्दार्थ—

(सुविज्ञानं) उत्तम विशेषज्ञान को (चिकितुषे) जानना चाहने वाले विवेकी (जनाय) मनुष्य के लिये (सत् च असत् च) सत्य और असत्य (वचसी) वचन या ज्ञान (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा करते है। (तयोः) इन दोनो मे से (यत्सत्यं) जो सत्य है (यतरत् ऋजीयः) जौनसा सरल, अकुटिल, छलरहित है (तत् इत्) उसे ही (सोम) सोम परमेश्वर (अवति) रक्षा करता है (असत् हन्ति) और असत् का नाश करता है। □

तेरा नाम जपूं !

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुः, वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः, किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥

ऋ० ६.९.६॥

विनय

हे प्रभो ! मैं चाहता हूं कि मैं विल्कुल एकाग्र होकर अपनी मानसिक वाणी द्वारा तेरा नाम जपूं या तेरा मनन करूं, तेरा ध्यान करूं । परन्तु जब मैं ऐसा करने के लिये बैठता हूँ तो कुछ भी शब्द सुनाई पडते ही मेरे कान वहाँ दौड जाते है, आंखो के सामने कुछ भी आते ही मैं वहाँ देखने लगता हूँ । कभी कान कुछ सुनने लगते हैं, कभी आंखें कुछ देखने लगती हैं । और यदि मैं किसी ऐसे स्थान पर जाकर बैठता हू जहाँ शब्द और रूप आ ही न सकें, तो भी मैं देखता हूँ कि मेरा मन ही अन्दर अन्दर सब कुछ देखता, सुनता रहता है । दिन रात की किसी बात का स्मरण आते ही मन वहाँ भाग जाता है और वहाँ की बात सोचने लगता है । तब पता लगता है कि मेरा मन कितनी दूर पहुचा हुआ है । और यदि किसी दिन कोई मन पर चोट लगानेवाली बात हो चुकी होती है तब तो मन बार बार वही पहुचता है—रोकने का बड़ा यत्न करने पर भी क्षण क्षण मे वही जा पहुचता है । मेरे हृदय मे जगने वाली वह ज्योति भी—जो वातरहित स्थान मे रखे हुए दीपक की शिखा की तरह विल्कुल अनिङ्गित, विल्कुल ही न हिलती हुई, एक रस जलती हुई रहनी चाहिये—वह ज्योति, वह ज्ञान-ज्योति भी सदा इधर उधर हिलती रहती है, मनोवृत्तियो की हवा लगते रहने से हिलती रहती है । तो फिर मैं तेरा ध्यान कैसे कर सकता हूँ ? एकाग्रता से तेरा नाम कैसे जपूं ? तेरा मनन कैसे करूं ? और यदि प्रतिदिन तेरा इतना भी भजन न कर सकूगा तो उस दिन जब कि मेरी यह जीवन-साधना समाप्त होगी, उस दिन तुम्हे क्या उत्तर दूंगा ? तुम्हारे सामने किस बात का अभिमान कर सकूंगा ? यह जीवन, ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, तुमने मुझे तुम्हारे समीप पहुचने की साधना ही के लिये दी हैं । तो उस दिन जब कि तुम यह शरीर वापिस माँगोगे तब मैं तुम्हे क्या उत्तर दूंगा ? क्या मुंह दिखलाऊंगा ? हे प्रभो ! शक्ति दो कि मेरे मन की आज्ञा के विना मेरे ये कान, आँख आदि कही न जा सकें और यह मन भी हृदय की ज्योति के साथ मिल जाया करे—ज्योति एक-रस जगती रहे । ऐसी अवस्था दिन मे दो बार सन्ध्योपासना के समय तो हो जाया करे, नही तो मैं क्या मुंह दिखाने लायक रहूँगा ?

शब्दार्थ

(**मे कर्णा वि पतयतः**) मेरे दोनो कान इधर उधर जा रहे हैं (**चक्षुः वि**) मेरी आंख इधर उधर विविध स्थानो पर पड रही है (**हृदये आहित यत् ज्योति [तत्] इदं वि**) हृदय मे स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी विविध स्थानो पर दौड रही है (**मे मन. दूरे आधीः विचरति**), मेरा मन दूर दूर चिन्ता के विषयो मे विचरण करता रहता है । ऐसी अवस्था मे हे प्रभो ! (**किं स्वित् वक्ष्यामि**) मैं क्या बोलूगा, या क्या उत्तर दूगा ? (**किम् उ नु मनिष्ये**) और मैं क्या मनन करूगा या क्या अभिमान कर सकूगा ?

तेरे दर्शन के लिये

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षु, उपो एमि चिकितुषो वि पृच्छम् ।
समान मिन्मे कवयश्चिदाहु., अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ।।

ऋ० ७.८६ ३ ।।

विनय

हे प्रभो ! मैं तेरे दर्शन पाने के लिए व्याकुल हू । तुझ से साक्षात् मिलने के लिये दिन रात प्रतीक्षा मे हू । इसके लिये यत्न करते हुए बहुत दिन हो गये । ऐसा एक भी साधन नही छोडा जो कि तुझ मे मिलाने वाला प्रसिद्ध हो । कठोर से कठोर तप बडे आनन्द से किये हैं । तो अब कौन सा पाप रह गया है जिसमे तुम्हारे चरण-दर्शन नहीं हो पाते ? हे वरुण ! तुम से ही पूछता हूं, मुझे मालूम नहीं । मुझे मालूम होता तो मैं कब का प्रतीकार कर चुका होता । हे पाप निवारक ! तुम ही मुझ दर्शनपिपासु को वह मेरा अपराध बतलाओ जिससे अप्रसन्न होकर तुम मुझे दर्शन नहीं देते । मनुष्यो मे मैं जिन्हें ज्ञानी भक्त, विद्वान्, महात्मा देखता हूं उन सब के पास जाता हू और जाकर यही पूछता हू कि वरुण देव के मुझे दर्शन क्यो नही होते ? पर वे सब क्रान्तदर्शी महात्मागण भी मुझे एक स्वर से यही बतलाते हैं कि वह वरुण देव ही तुझ से नाराज है । वे सब सच्चे ज्ञानी मुझे यही एक उत्तर देते हैं । तो, हे देव ! मैं अब तुम्हारे बिना अब और किससे पूछू ? सचमुच अब और किसी से पूछना वृथा है । हे देव ! या तो मेरा पाप मुझे दिखला दो, अपनी अप्रसन्नता का कारण बतला दो, नही तो मुझे दर्शन दे दो । हे मेरे स्वामी ! जब मुझे अपने पाप का पता न लगेगा तो मैं उसका प्रतीकार कैसे कर सकूगा । मैं तुम्हे प्रसन्न करके छोडूगा । अपने पापो के प्रतिविधान के लिये मैं घोर से घोर प्रायश्चित करने को तैयार हू । अपने को पूरी तरह पवित्र कर डालने के लिये आज मैं क्या नही कर डालूगा ! मैं अब तुझ से मिल जाने के लिए व्याकुल हो उठा हूँ । इसीलिए, हे अन्तर्यामी प्रभो ! मैं तुझसे अपने पापो को जानना चाहता हू । मेरे पापो के सिवाय इस ससार मे और कोई वस्तु नही है जो कि अब मुझे तुम से मिलने से रोक सके ।

शब्दार्थ —

(वरुण) हे पापनिवारक देव ! (तत् एन पृच्छे) मैं उस पाप को तुझ से पूछता हू [जिसके कारण मुझे तुम्हारा दर्शन नहीं हो पाता] (दिदृक्षु) मैं तुम्हारा दर्शनाभिलाषी हूं । (वि पृच्छम्) इस विषय मे विविध प्रश्न पूछने के लिये मैं (चिकितुष) विद्वानों के (उपो एमि) पास जाता हू परन्तु (कवयः चित्) वे सब ज्ञानी पुरुष भी (समान इत् मे आहु.) मुझे एक ही उत्तर देते हैं—एक ही बात कहते है — कि "(अयं वरुण ह) निश्चय मे यह वरुणदेव ही (तुभ्यं हृणीते) तुझसे अप्रसन्न है, उसे प्रसन्न कर ।"



मुझे आश्रय दो

य आपि नित्यो वरुण प्रियः सन्, त्वां आगांसि कृणवत्सखाते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम, यन्धि ष्मा विप्रःस्तुवते वरुथम् ।।

ऋ० ७ ८८ ६ ।।

विनय

हे जगदीश्वर ! यह जीव तुम्हारा सनातन बन्धु है, यह तुमसे जुदा नही हो सकता । जीव चाहे कितना पतित हो जाय पर असल मे यह स्वरूपत चेतन आत्मा ही है । इस जीवात्मा मे तुम सदा स्वामी (सचालक) होकर व्याप्त हो और तुममें यह जीव-आत्मा सदा आश्रित है । एव जीव सदा तुम्हे प्राप्त तुम्हारा 'आपि' है और सदा तुमसे बधा हुआ तुम्हारा बन्धु है, तुम्हारा सखा है । यह तुम्हारा साथी तुम्हे इतना प्रिय भी है कि तुमने स्वयं कुछ न भोगते हुए भी इस जीव के भोग के लिए ऐश्वर्यों से भरा यह सब ससार खोलकर रख दिया है । पर फिर भी यह जीव—यह तुम्हारा ऐसा प्यारा सखा जीव—इस ससार मे तुम्हारे प्रति अपराध करता रहता है, तुम्हारे नियमों का भंग कर तुम्हे अप्रसन्न करता रहता है ।

हे यजनीय देव ! हम जीवो को इस प्रकार तुम्हारे प्रति अपराधी होने पर क्या करना चाहिये ? हमे यह चाहिये कि हम पापी होने पर तुम्हारे दिये गये भोगो को त्याग दिया करें । हे यक्षिन्! पाप करते ही हम द्वारा तुम्हारे यज्ञ का भग हो जाता है और मनुष्य को बिना यज्ञ किये भोग भोगने का अधिकार नही है । अत पापी होकर हमे भोग त्याग कर देना चाहिये किसी भोग के त्याग के रूप मे उस पाप का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये । पापी होने पर भोग कभी न करें । ऐसा करने से पाप का प्रतीकार हो जाता है—आगे के लिये पाप का निवारण हो जाता है । ऐसा करने से हमे तुम एक 'वरुथ' अर्थात् सुरक्षित घर वा आश्रय दे देते हो । हे जगदीश्वर ! तुम सर्वज्ञ हो, मेरे हृदय को जानते हो, मुझ अपने उपासक के सब सच्चे भावो को जानते हो । अत अब जब कभी मुझसे किसी तुम्हारे नियम का भग होगा तो मैं किसी भोग के त्यागने के द्वारा तेरी शरण मे आने के लिये अपने हाथ फैलाऊँगा । हे विप्र ! हे स्वामी ! तब मुझे अपना 'वरुथ' अवश्य प्रदान कीजियेगा, हाथ फैलाये हुए मुझे अपनी गोद मे स्थान देकर सुरक्षित कीजियेगा, कुछ समय के लिये अपने घर मे मुझे आश्रय दीजियेगा, जिससे पवित्र होकर आगे के लिये मैं वैसा नियम भग करने से अलग रहू ।

शब्दार्थ—

(**वरुण**) हे वरुण ! (**यः नित्य आपि**) जो तेरा सनातन बन्धु है वह (**ते सखा**) तेरा साथी (**प्रिय. सन्**) तेरा प्यारा होता हुआ भी (**त्वा आगासि कृण्वत्**) तेरे प्रति पाप—अपराध—किया करता है । (**यक्षिन्**) हे यजनीय देव ! (**एनस्वन्तः**) पापी होते हुए हम (**ते मा भुजेम**) तेरे दिये भोग न भोगें (**विप्र स्तुवते वरुथ यन्धि स्म**) इस प्रकार तुम सर्वज्ञ मुझ उपासक को अपनी शरण या घर दे दो ।

सत्य को समझें

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति, न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तं, उभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥

ऋ० ७.१०४.१३ ॥अ० ८४१३॥

जगदीश्वर सोम रूप से सब जगत् का पालन पोषण कर रहे हैं। सोम-प्रभु के जीवनदायी रस को पाकर ही सब ससार बढ रहा है, पुष्ट हो रहा है । पर ये भगवान् पाप को कभी नही बढाते हैं, इनका यह सोमरस पाप को कभी नही पहुँचता है । और सब पापो का स्रोत—मूल—जो असत्यता है, उसे तो परमेश्वर का जीवन-रस मिलता ही नही है ।

जब मनुष्य सदा वर्तमान 'सत्' के विरुद्ध कुछ और असत् की अपने अन्दर रचना करके धारण करता है, इस तरह दुहरी बातो को अपने अन्दर धारण करता है, तो यह 'मिथुया धारयन्' मनुष्य अपने इस दूसरे असत् द्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है और एव सत्य की सोम-धारा से अपने को वचित कर लेता है। हरेक पाप का करना भी क्रिया द्वारा सत् से इकार करना है। अत. ज्यूँही मनुष्य असत् की अपने मे रचना करता है या ज्यूँही वह क्रिया से सत्य-विरुद्ध कर्म (पाप-वृजिन) करता है त्योही उसका सत्स्वरूप जीवनरसदायी सोम से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह ईश्वरीय जगत् से जुदा हो जाता है, मानो वह परमेश्वर के बधनागार मे पड़ जाता है, अपने असत् द्वारा ही वह ढक जाता है, वह बँध जाता है। जहाँ परमेश्वर सोमरुप से सब ठीक चलने वालो को जीवन देकर बढा रहे हैं, वहाँ इन्द्र ('इद दारयिता') रूप से ये ही परमेश्वर विपरीतगामी को जुदाकर बाँधने वाले भी हैं। इस तरह असत्य बोलनेवाला या पाप करने वाला जीवन-रस से वचित होकर, सूखकर नष्ट हो जाता है। इसीलिये वर्जनीय होने से पाप का नाम 'वृजिन' है तथा पाप ही 'रक्ष' कहलाता है, चूँकि इससे अपने आपको सदा रक्षित[1] रखना चाहिए । इन वृजिन को, 'रक्ष' को, वह परमेश्वर नाश ही कर देता है, कभी बढाता नहीं है ।

मनुष्य यदि इस सत्य को समझे, इसमें उसे जरा भी सदेह न हो, तो वह पाप करते हुए घबराये और असत्य बोलते हुए उसका कलेजा काँपे। ससार मे यद्यपि हमे दीखता है कि परमेश्वर भी पाप को ही मदद दे रहा है और झूठे को बढा रहा है, परन्तु यह हम क्षुद्र बुद्धिवाले अल्पज्ञो का भ्रम है। हम अल्पज्ञ नहीं देख सकते कि किस पाप का फल कब और कैसे मिलता है,

शब्दार्थ—(सोम.) सोम रूप परमेश्वर (वै) निस्सन्देह (न उ) न तो (वृजिनं) वर्जनीय पाप को (हिनोति) बढाता है, समर्थन करता है और (न) न ही (मिथुयाधारयन्तम्) दुहरी बात को—झूठ को—धारण करने वाले (क्षत्रियं) बलवान् को ही बढाता है, किन्तु वह तो (रक्ष) पाप-राक्षस का (हन्ति) हनन करता है, और (असद् वदन्त) असत्य बोलने वाले का (हन्ति) हनन करता है, ये (उभौ) दोनों ही (इन्द्रस्य) इस इन्द्र रूप परमेश्वर के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ते हैं ।

१—रक्षितव्य यस्मात्—निरुक्त ४.३ २ ।

प्रवाह से बचें

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातु र्योना परिवीतो अन्तः, बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ।।

ऋ० १.१६४. ३२ ।। अथर्व० ६.१० १० ।।

विनय—मनुष्य संसार-सागर में डूबता जाता है। मनुष्य ज्यो ज्यो 'बहुप्रजा' होता जाता है त्यो त्यो यह 'निर्ऋति' मे—घोर कष्ट मे—पडता जाता है। विषयग्रस्त हुआ मनुष्य इस संसार मे अपने बच्चे पैदा करना यही कार्य समझता है, एव प्रकृति मे अपने विस्तार को नाना तरह बढाता जाता है। इसीलिए वह बार बार जन्म पाता है, बार बार जन्म के घोर कष्टों को अनुभव करता है। ऋषि लोगो ने देखा है कि माता की योनि मे आये हुए जीव को बार बार बडा भारी मानसिक क्लेश भोगना पड़ता है। उस समय वह जीव केवल झिल्ली से ढका हुआ नही होता, किन्तु घोर अज्ञान से भी ढका हुआ होता है। क्योकि 'बहुप्रजा' के मार्ग पर जाना अज्ञान से ढके जाने से ही होता है। मनुष्य 'ढका हुवा' (परिवीत) होने से ही इस ससार मे पागल तथा अंधे की तरह रहता है। मनुष्य पागल इसलिए है, चूकि वह जो दिन रात अन्धाधुन्ध काम करता है उसे वह जानता नही, यू ही करता जाता है। मनुष्य जो खाना पीना, चलना फिरना, प्रेम करना, द्वेष करना आदि जो कुछ करता है उसे वह कुछ भी नहीं जानता कि मैं यह क्या कर रहा हू, क्यों कर रहा हूँ इसका क्या प्रभाव होगा। वह नही जानता कि इसका ही फल उसे भोगना होगा। वह नही जान पाता कि पहिले जन्मो मे वह न जाने क्या क्या कर चुका है। अन्धाधुन्ध वह करता जाता है। इसी तरह का उसका सब ससार को देखना है। ससार मे वह मनुष्य स्त्री, पशु, पहाड, नदी, आकाश, सभा, समाज, बड़े बडे आनन्ददायक दृश्य और बडे बडे रुलाने वाले दृश्य, इन सब को सोते जागते देखता जाता है, पर असल मे वह इन किन्ही भी वस्तुओं को नही देखता। ये सब वस्तुयें उससे वास्तव मे छिपी ही रहती हैं, नि सन्देह छिपी ही रहती हैं। वह देखता हुआ भी किसी भी वस्तु का तत्त्व नही देख पाता। इसी लिये वह 'बहुप्रजा' होने के—प्रकृति मे ग्रस्त होने के—मार्ग को अवलम्बन करता है और 'निर्ऋति' मे पडता जाता है। निर्ऋति[1] (पृथिवी) के इस अन्धकार मे धसते जाने की जगह, मनुष्य 'द्यौ' के प्रकाश की तरफ जाने लगे, यदि वह इस ससार मे जो कुछ करे उसे जानने लगे और जो कुछ देखे उसे साक्षात् करने लगे।

शब्दार्थ—(य.) यह मनुष्य (ईं) यह जो कुछ (चकार) करता है (अस्य) इस किये को (स न वेद) वह नही जानता है। (य.) वह मनुष्य (ईं ददर्श) यह जो कुछ देखता है वह (तस्मात्) उस देखने वाले मनुष्य से (नु हिरुक् इत्) नि सन्देह छिपा हुआ ही है। (स) ऐसा वह मनुष्य (मातु योना अन्त.) माता के गर्भाशय मे (परिवीतः) [झिल्ली से और अज्ञान से] ढका हुआ (बहुप्रजा) बार बार जन्म लेता हुआ और बच्चे पैदा करता हुआ (निर्ऋति आविवेश) बडे घोर कष्ट मे प्रविष्ट होता जाता है।

१—निर्ऋति =(१) घोर कष्ट (२) पृथिवी। ये दोनो अर्थ निर्ऋति शब्द के होते हैं।

पाप निवारक देव !

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्, अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तव, अनागसो अदितये स्याम ॥

ऋ० १ २४ १५॥यजु०१२ १२॥साम०पू०६.३.१०.४॥अ०७.८३.३॥

विनय

हे पापनिवारक देव ! तूने हमे तीन बन्धनो से बाँध रखा है। उत्तम बन्धन हमारे सिर मे हैं जिससे हमारा आनन्द और बुद्धि बँधे हुए हैं, ढके हुए हैं, रुके हुए है। यह सत्वगुण का (कारण शरीर का) बन्धन कहा जा सकता है। हृदयस्थ मध्यम बन्धन से हमारा मन और सूक्ष्म प्राण बँधे हुए हैं। यह रज और सूक्ष्म शरीर का बन्धन है। नाभि से नीचे तमोगुण और स्थूल शरीर का अधम बन्धन है जिसमे हमारा स्थूल प्राण और स्थूल शरीर बँधा हुआ है। हे वरुण ! इनसे बँधे रहने के कारण हम से तेरे नियमो का भग होता रहता है और हम पापी बनते रहते हैं। उत्तम बन्धन द्वारा, सच्चा ज्ञान न मिलने से, मध्यम द्वारा राग-द्वेष काम-क्रोध आदि के वशीभूत होने से, और अधम द्वारा, शारीरिकतया त्रुटियुक्त कार्य करने से हम पापी बनते हैं। हे देव ! तु हमारा उत्तम पाश ऊपर की तरफ खोल दे जिससे कि मेरी बुद्धि का द्युलोक के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाय और मुझ मे सत्य-ज्ञान का प्रवेश होने लगे। मध्यमपाश को बीच से खोल दे जिससे अन्तरिक्ष लोक के समुद्र मे मेरे मन के प्रविष्ट हो जाने से इसके रागद्वेषादि मल धुल जायें तथा मेरा मन सम हो जाय। और अधम पाश को नीचे गिरा दे जिससे मेरे पार्थिव शरीर के सब कलुषित परमाणु पृथ्वीतत्व मे लीन हो जायें और हमारा शरीर निरोग, स्वस्थ होकर प्रभु के कार्य निर्दोष होकर कर सके। हे प्रकाशमय बन्धनरहित देव ! इन बन्धनो के टूट जाने पर हम तेरे व्रत मे रह सकेंगे- हमसे तेरे नियमो का भग होना बन्द हो जायगा। तब हम स्वतन्त्र होकर या आत्मतन्त्र होकर विचरेंगे। अन्त मे मैं 'अदिति' (मुक्ति) के ऐसा योग्य हो जाऊँगा कि एक दिन आयेगा जब कि मेरा आत्मा स्थूलशरीर रूपी बन्धन को नीचे पृथ्वी पर छोडकर और मानसिक सूक्ष्मशरीर को अन्तरिक्ष मे लीन करके अपने ऊपरी बन्धन के भी टूट जाने से ऊपर—द्युलोक—को प्राप्त हो जायगा। बिना इन तीन बन्धनो के ढीले हुए मैं मुक्ति की तरफ कैसे जा सकता हूँ ? इसलिये, हे वरुण ! इन बन्धनो को एक बार खोल दो—जरा ढीला कर दो—जिससे कि मेरा मार्ग साफ़ हो जाय और मैं यत्न करता हुआ तेरे व्रत में रहने वाला निष्पाप मोक्षाधिकारी हो जाऊँ।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे पापनिवारक देव ! तू (अस्मद्) हमारे (उत्तमं पाशं उत्) उत्तम बन्धन को ऊपर की तरफ़ और (मध्यमं वि) मध्यम बन्धन को बीच मे तथा (अधमं अव) अधम बन्धन को नीचे की तरफ़ (श्रथाय) ढीला कर दे (अथ) जिससे- इन बन्धनों के टूटने मे (आदित्य) हे प्रकाशमय बन्धन रहित देव ! (वयं तव व्रते) हम तेरे नियमों मे रहते हुए (अनागस) पापरहित होकर (अदितये) बन्धन-राहित्य, स्वतन्त्रता, मुक्ति, के लिये योग्य (स्याम) हो जायें।

तेरी लीला

अनुत्तमा ते मघवन्न कि र्नु, न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो, यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

ऋ० १.१६५ ९॥

विनय

हे सर्वैश्वर्यशालिन् ! मैं आज देख रहा हूँ कि इस विश्व का सब कुछ—छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा—तेरे हिलाये हिल रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कि तेरी प्रेरणा से प्रेरित नहीं हो रही है। इस ब्रह्माण्ड-सागर की क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् सब लहरें तू ही पैदा कर रहा है। जगत् के अनन्तों परमाणुओं में का जो एक एक परमाणु प्रतिक्षण गतिशील है, चींटी से कुंजर तक जो सब प्राणी चेष्टा कर रहे हैं, मनुष्य के वैयक्तिक जीवन और मनुष्य-संघ के समष्टि जीवन में जो नित्य छोटे बड़े परिवर्तन हो रहे हैं, भूकम्प, वर्षा, वायु अग्नि, ऋतु आदि रूप से जो आधिदैविक जगत् निरन्तर बदल रहा है—यह एक जगत् क्या, ऐसे ऐसे जो कोटि कोटि अनन्त जगत्, जो असंख्यात सूर्य और पृथिवियाँ, इस महाकाश में चक्कर लगा रहे हैं—ये सब के सब, तेरी ही दी हुई गति से, तेरी ही प्रेरणा से चल रहे हैं। तू अपनी पूर्ण ज्ञानमयी ठीक ठीक गति देकर इस सब संसार को नचा रहा है। हम मनुष्य क्या, बड़े से बड़े ज्ञानी देव भी तेरे असीम ज्ञान का पार नहीं पा सकते हैं। ये सब तेरे ज्ञान को असीम, अनन्त कह कह कर अपनी अज्ञानता को ही प्रकाशित करते हैं। ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों त्यों पता लगता जाता है कि तू कितना कितना महान् है ! हे महान् ! हे परम महान् !! तेरी महत्ता के आकाश का भी अन्त हमारा कल्पना-पक्षी अपनी ऊँची से ऊँची उड़ान से नहीं पा सकता, वह हार मान कर, थक थक कर, शान्त हो जाता है। तब हम तेरी महत्ता को अनन्त मानकर और तेरी लीला को अगम्य कह कर चुप हो जाते हैं। इतना ही कह सकते हैं कि इस जगत् में जो कुछ पैदा हुआ है, हो रहा है या होगा, उनमें से किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है जो तेरी लीला को समझ सके, जो तेरे द्वारा की जाने वाली या की जा रही लीला के किसी ओर-छोर को पा सके। जो तेरी लीला की अधिक से अधिक सच्ची, नज़दीकी और पूरी खबर लाता है तो वह यही खबर लाता है कि तेरी लीला अगम्य है, तेरी लीला अगम्य है।

शब्दार्थ—

(आ) ओह, सच है कि (मघवन्) हे सर्वैश्वर्ययुक्त ! (नु ते अनुत्तम्[1] न किः) निस्सन्देह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि तुझसे अप्रेरित है—जो कि तुझसे प्रेरित नहीं है, (त्वावान् विदान देवता न अस्ति) तेरे समान ज्ञानवाला कोई देवता भी नहीं है, (प्रवृद्ध) हे परम महान् ! (न जायमानः न जात) न तो कोई उत्पन्न होनेवाली और न कोई उत्पन्न हुई वस्तु है ([तानि] नशते) जो तेरे उन कर्मों तक पहुंचती है (यानि करिष्या, कृणुहि) जिन कर्मों को तू करेगा या कर रहा है।

१—अनुत्तम+आ=अनुत्तमा ॥

वहाँ इन्द्र है।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो, यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव, यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥

ऋ० २.१२.९॥ अथर्व० २०.३४.९॥

नही

विनय

'ईश्वर' 'ईश्वर' नाम लोग लिया करते हैं, परन्तु, हे मनुष्यो! क्या तुम उसे अनुभव करते हो? बेशक, वह इन्द्रियो से परे होने के कारण आंख आदि से ग्रहण किया जा सकता, तो भी हरेक मनुष्य उसे अनुभव कर सकता है। इस संसार मे जो कुछ मनुष्य को विजय मिलती है वह सब उसी से मिलती है। उसकी अनुकूलता के विना बडे से बडे बली अभिमानी को विजय नही मिल सकती। सब विजय उसी की हैं। अत जहाँ हरेक विजय मे हम उसकी महत्ता को अनुभव करें, वहाँ अपनी हरेक हार मे भी उसकी महत्ता को देखें जिसकी कि स्वीकृति न होने के कारण ही हमे हरेक हार मिलती है। इस युद्धमय संसार मे मनुष्य जब अपनी सब प्रकार की शक्ति मे निराश हो जाता है और हारता हुआ अपने को बिल्कुल बेबस जान कर जिस एक अज्ञात और अपने से ऊँची शक्ति को पुकारने लगता है वही शक्ति परमेश्वर है। नास्तिक पुरुष के हृदय मे भी उस चरम नि:सहायता की अवस्था मे किसी अन्य शक्ति से सहायता पाने की छिपी हुई आशा प्रकट हो जाती है। उस शक्ति को क्यो नही देखते? अपनी इस चरम निस्सहाय दशा मे हार कर, बेबस होकर उस परमेश्वर शक्ति को अनुभव करो जिसके विना संसार मे कोई भी विजय नही मिलती। देखो, यह वो है जिसे कि रक्षा पाने के लिये युद्धों मे सब मनुष्य पुकार रहे हैं। और यदि चाहो तो ससार की एक-एक वस्तु मे उसे अनुभव करो। यह सब विश्व उसी को दिखा रहा है। यह ससार और किस मे रखा हुआ है? इस विश्व को किस ने धारा हुआ है? यह ही वो है जो कि इस सब ससार का आधार, सार और आत्मा है और ऐसा होकर भी जो ससार की हरेक वस्तु मे ऐसा तद्रूप (ऐसा तत्प्रतिम) हो बैठा है कि मनुष्य ससार की वस्तुओ को देखते हैं पर उसे नही देखते। पर यह न दीखने वाली ही सब कुछ है। इस ससार मे जो असंभव संभव हो रहे हैं, जिनके कभी मिटने की संभावना नहीं होती वे क्षण भर मे मिट जाते है। ये सब काम यही न दीखने वाला कर रहा है। जिन्हे यह दुनिया अडिग समझती है वह उन्हे भी चुपके से गिरा देता है। उस 'अच्युतच्युत्' को देखो। ससार की एक-एक चीज मे रमे हुए उसे देखो। वह विश्वमय होकर हमारे सामने खडा है, उसे क्यों नही देखते? हे मनुष्यो! उसे देखो, वही इन्द्र है, वही परमेश्वर है।

शब्दार्थ—

(जनास:) हे मनुष्यो! (इन्द्रः स) परमेश्वर वह वस्तु है (यस्मात् ऋते जनास न विजयन्ते) जिसके विना मनुष्यो को कभी विजय नही मिलती और (यं युध्यमाना अवसे हवन्ते) जिस को कि युद्ध करते हुए सब मनुष्य रक्षा के लिये पुकारते हैं तथा (यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) जो विश्व का प्रतिमान अर्थात् उसके प्रत्येक पदार्थ का निर्माता होकर, सब विश्व को अपने मे रख कर, तद्रूप हुआ हुआ है (य अच्युतच्युत्) और जो न डिगने वाले बडे दृढ पदार्थों को भी डिगा देता है।

उस पर श्रद्धा करो !

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरं, उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यःपुष्टीर्विज इवामिनाति, श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ।।

ऋ २ १२. ५।। अथर्व० २०.३४.५।।

विनय

मनुष्य जब गभीरतापूर्वक उस परमेश्वर की सत्ता पर विचार करने लगते हैं तो उन मे से कोई पूछते हैं 'वह ईश्वर कहाँ है' जिसने इस बड़े भोगदायक संसार मे दुःख, दर्द, मृत्यु आदि पैदा करके लोगो का रसभंग कर रखा है, जो कि बडा दुष्टो का दलन करनेवाला तथा अपने वज्र से पापो का संहार करनेवाला कहा जाता है उस घोर भयङ्कर ईश्वर के विषय मे वे पूछते हैं कि 'वह कहाँ है ?' 'हमे बताओ वह कहाँ है ?' दूसरे कुछ भाई निश्चय ही कर लेते हैं कि "ईश्वर फीश्वर कोई नही है।' "ईश्वर तो अब २०वी शताब्दी मे मर गया है"—"ईश्वर केवल अज्ञानियो के लिये है।" परन्तु, हे मनुष्यो ! ज़रा सावधानी से देखो। सत्य को खोजो और इसे धारण करो। देखो कि वे पुरुष जो अपनी समझ मे प्रकृतिमय ईश्वरविहीन संसार मे रहते है, अत जो इस जगत् मे जिस किसी तरह सुखभोग करना ही अपना ध्येय समझते हैं और स्वभावतः विपरीतगामी होकर धर्म दया आदि के सत्यमार्ग को तिरस्कृत कर निरन्तर अपनी पुष्टि की ही धुन मे लगे रहते हैं अर्थात् धनसंग्रह, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि से अपने को समृद्ध और पुष्ट करते जाते हैं, उन 'अरि' नामक स्वार्थी लोगो के सामने भी एक समय आता है जब कि उनका यह सांसारिक-भोग का खडा किया हुआ सब महल[1] एकदम न जाने कैसे गिर पडता है। उनके जीवन मे एक भूकम्प सा आता है, उन्हे एक ज़ोर का धक्का लगता है। उनकी वह सब भौतिक-पुष्टि क्षण मे मिट्टी हो जाती है, सब ठाठ गिर पडता है। उस समय बहुत बार उनका अभिमान नष्ट होता है और वे नम्र होते हैं। कल्याणकारी है वह धक्का, कल्याणकारी है उनका वह सर्वनाश, यदि वह उन्हे नम्र बनाता है, और धन्य हैं वे पुरुष जिन्हे यह कल्याणकारी धक्का लगता है। क्योकि वही पर प्रभु के दर्शन हो जाया करते हैं। हे मनुष्यो ! वह ईश्वर आँख से दीखने की वस्तु नही है, उसे तो श्रद्धा की आँख से देखो। जो मनुष्यो की बडी बडी योजनाओ को पल मारते मे बदल देता है, कुछ का कुछ कर देता है, जिसके आगे अल्पमनुष्य का कुछ बस नही चलता, जरा उसे देखो, नम्र होकर उसे देखो, वही परमेश्वर है।

शब्दार्थ—

(य) जिस (घोरं) अद्भुत भयङ्कर वस्तु के विषय मे (पृच्छन्ति स्म) लोग प्रश्न किया करते हैं कि (कुह स इति) "वह कहाँ है" (उत ईं एनं) और जिस इसके विषय मे (आहुः) बहुत से कहा करते हैं कि (न एष अस्ति इति) "वह है ही नहीं" (स) वही (अर्यः) अरि के, विपरीतगामी स्वार्थी पुरुष के (पुष्टीः) सब सांसारिक समृद्धि, पुष्टि को (विज इव) भूकम्प की तरह (आमिनाति) विनष्ट कर देता है (जनास.) हे मनुष्यो ! (अस्मै श्रत् धत्त) इस परमेश्वर पर श्रद्धा करो (स इन्द्रः) वही परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है।

१. Unhealthy Development.

वह एक है !

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः, अथो दिव्यःससुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १ १६४ ४६ ॥ अथर्व० ६ १० २८ ॥

विनय

हे मनुष्यो ! इस ससार मे एक ही परमात्मा है। हम सब मनुष्यो का एक ही प्रभु है । हम चाहे किसी सप्रदाय, किसी पन्थ, किसी मत के मानने वाले हो पर ससार भर के हम सब मनुष्यो का एक ही ईश्वर है। भिन्न भिन्न देशो भिन्न भिन्न सप्रदायवाले उसे भिन्न भिन्न नाम से पुकारते है, पर वह तो एक ही है। जो जिस देश मे व जिस सप्रदाय के वायुमडल मे रहा है, वह वहाँ के प्रचलित प्रभु-नाम से उसे पुकारता है। कोई 'राम' कहता है, कोई 'शिव' कहता है, कोई 'अल्लाह' कहता है, कोई 'लार्ड' कहता है। 'विप्रो' ने ज्ञानी पुरुषो ने— उस प्रभु को जिस रूप मे देखा, उसके जिस गुणोत्कर्ष का उन्हे अनुभव हुआ, अपनी भाषा मे उसी के वाचक शब्द से उसे वे पुकारने लगे। उन विप्रो द्वारा वही नाम उस समाज व सप्रदाय मे फैल गया। कोई विप्र गुरु से ग्रहण करके उसे 'ओ' या 'नारायण' नाम से पुकारता है, तो कोई अपने महात्माओ और सद्ग्रन्थो से पाकर उसे 'खुदा' या 'रहीम' कहता है, परन्तु वह प्रभु एक ही है।

हम साम्प्रदायिक लोगो ने ससार मे बडे बडे उपद्रव किये हैं और आश्चर्य यह कि ये सब लडाई दगे अपने प्रभु के नाम पर ! वैष्णवो और शैवो के झगडे हुए है, हिन्दू और मुसलमानो मे रक्तपात हुए हैं, यहूदियो और ईसाइयो के युद्ध हुवे हैं। यह सब क्यो ? वह सब तभी होता है जब हम यह भूल जाते हैं कि "एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"। वह एक ही है, पर ज्ञानी लोगो ने अपने अपने अनुभवो के अनुसार उसे भिन्न भिन्न नाम दिया है। ईश्वर होने से वही 'इन्द्र' है, मृत्यु से त्राता होने से वही 'मित्र' है, पापनिवारक होने से वही 'वरुण' है, प्रकाशक होने से वही 'अग्नि' है। वेदमन्त्रो मे इन नाना नामो से पुकारा जाता हुआ भी वह एक है। इसी तरह वेदमन्त्रो ने 'दिव्य', 'सुपर्ण' (शोभन पतनवाला) या 'गरुत्मान्' (गुरु आत्मा), 'अग्नि' 'यम (नियन्ता)', और 'मातरिश्वा (अन्तरिक्ष मे श्वसन करनेवाला)' आदि भिन्न भिन्न अनेक देव-नामो मे उसी एक प्रभु की स्तुति की है। ज्ञानियो ने उस एक को ही भिन्न-भिन्न नामो से पुकारा, पर अज्ञानियो ने उसे भिन्न-भिन्न नामो से जुदा जुदा समझ लिया और जुदा जुदा कर दिया। अत वेद की पुकार सुनो 'वह एक है' 'वह एक है' एक सत्।

शब्दार्थ—

(विप्रा) ज्ञानी पुरुष (एक सत्) एक ही होते हुए को (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकार से बोलते है। उस एक ही को (इन्द्रं, मित्रं, वरुण, अग्निं आहु) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं। (अथो स दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्) और वही दिव्य सुपर्ण गुरुत्मान् कहलाता है (अग्निं, यमं मातरिश्वान आहुः) उस एक ही को अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते है।



२७ ज्येष्ठ

जागते रहो !

यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

ऋ० ५ ४४ १४॥ सा० उ० ९ २ ५॥

विनय

संसार में परिपूर्ण जागृत तो एक ही है, वह अग्नि परमात्मा है। यह सर्वथा अनिद्र है, त्रिकाल में जागृत है। उसमें तमोगुण का (अज्ञान व आलस्य का) स्पर्श तक नहीं है। अतएव सब ऋचायें, संसार की सब स्तुतियाँ, उसी को चाह रही हैं—उसके प्रति हो रही हैं। सब सामों का, मनुष्यों के किये सब यशोगानों का, सब स्तुति-गीतियों का भाजन भी वही एक परम-जागृत देव हो रहा है। और देखो, यह समस्त भोग्य-संसार—भोग्य बना हुआ यह सोमरूप ब्रह्माण्ड—उसी जागरूक अग्निदेव के पैरों में पड़ा हुआ कह रहा है "मैं तेरा हूँ, तेरे ही आश्रय से मेरी सत्ता है, तेरी मित्रता में मेरा निवास हो रहा है, तुझसे हटकर मुझे और कहीं ठौर नहीं है।"

इसी तरह हम मनुष्य-जीव भी यदि अपनी शक्तिभर सदा जागृत रहेंगे, सदा सावधान और कटिबद्ध रहेंगे, तमोगुण को दूर हटाकर सदा चैतन्ययुक्त, अतन्द्र रहेंगे, आलस्य के कभी भी वशीभूत न होकर अपने कर्तव्य को तत्क्षण करने के लिये सदा तैयार, उद्यत रहेंगे, कभी प्रमाद न करते हुए—बिना भूलचूक के—अपने कर्तव्य को ठीक ठीक करते जाने के अभ्यासी हो जायेंगे; तो हम भी उतने ही अंश में 'अग्नि' रूप हो जायेंगे।

परन्तु वास्तविक भोक्ता होना आसान नहीं। संसार के विषयी पुरुष तो भोगों के भोक्ता होने की जगह भोगों के भोग्य बने हुए हैं। परन्तु वही ऐश्वर्य, वही सुख, वही सुख-भोग—जिसके कि पीछे यह सब संसार दौड़ता फिरता है पर जो लोगों को मिलता नहीं, वही ऐश्वर्य (सोम)—जागृत पुरुष के सामने हाथ बाँधकर, सेवक होकर, शरण पाने के लिये आ खड़ा होता है। अग्नित्व को प्राप्त उस मनुष्य के लिये वास्तव में संसार के सब भोग्य-पदार्थ उसकी मित्रता में, उसके हितसाधन के निमित्त, सदा नियत स्थान पर उपस्थित रहते हैं, उसे उन पर ऐसा प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अतः, हे मनुष्यो ! जागो, जागो, सदा जागृत रहो, तामसिकता त्यागो और निरालस्य-जीवन का अभ्यास करो। जागरूकों के लिये ही यह संसार है, स्तुत्यता, लोक-मान्यता, यश, भोक्तृत्व यह सब जागते रहनेवाले के ही लिये है।

शब्दार्थ—

(यः जागार) जो जागता है (तं) उसे (ऋचः) ऋचायें, स्तुतियाँ (कामयन्ते) चाहती हैं, (यः जागार) जो जागता है (तं उ) उसे ही (सामानि) साम, स्तुतिगान (यन्ति) प्राप्त होते हैं और (यः जागार) जो जागता है (तं) उसे, उसके सामने आकर (अयं) यह (सोमः) सोम, भोग्य-संसार (आह) कहता है कि "(तव अहं अस्मि) मैं तेरा हूँ (सख्ये न्योकाः) तेरी मित्रता में ही मेरा निवास है, तेरे सख्य के लिये मैं सदा नियत स्थान पर उपस्थित हूँ।"



यज्ञ कर्म करो !

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुः, यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं, न स्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥

अथर्व० २.३५.१॥

विनय

इस संसार मे भोगो को भोगते हुए हम मनुष्यो का साथ ही यह भी कर्तव्य हो जाता है कि हम भोग से क्षीण हो जाने वाले ऐश्वर्य को अपने उत्पादक कर्म द्वारा सदा संसार मे बढ़ाते भी जायें। हरेक अन्न खाने वाले का कर्तव्य है कि वह अन्न को उत्पन्न करने मे कुछ न कुछ सहायता भी दे। यही यज्ञ-कर्म है। जो लोग यह यज्ञ-कर्म नहीं करते उन्हें परमात्मा की अग्नियाँ जलाने लगती हैं, उन्हे दुःख से सतप्त होना पडता है। परमात्मा की वे जगत् मे स्थापित अग्नियाँ जो कि हम मनुष्यो के लिये भोग्य-ऐश्वर्यो को उत्पन्न कर रही हैं, उन्हे यदि हम भोग भोगने के बाद अपने यज्ञ-कर्म द्वारा अगले भोगो के उत्पन्न करने के लिये सहायता न देंगे—उस दिशा मे उद्दीप्त न करेंगे, तो वे अग्नियाँ हमे सतप्त करने लगेंगी। यही संसार मे दुःखो के अस्तित्व का रहस्य है। भोग के साथ यज्ञ जुड़ा हुआ है। मनुष्य-समाज इसी तरह चल रहा है। मनुष्य परस्पर मिलकर अपने परिश्रमो से भोग्य-वस्तुओं को बढ़ा रहे हैं, और फिर उन्हे भोग रहे हैं। परन्तु मनुष्य-समाज में जो मनुष्य स्वार्थी होकर भोग का सुख लेना चाहते है पर यज्ञ-कर्म (परिश्रम) नही करना चाहते, उनकी उस 'दुरिष्टि' द्वारा हमारे मनुष्य-समाज रूपी यज्ञ मे भग होता है। उनकी इस दुष्प्रवृत्ति से उनका पतन होता है, उनका आत्मतेज दबता जाता है। इस उलटे चक्र को चलाने का यत्न करने के कारण उनको संसार का ताप, दुःख भी मिलता है पर उनकी इस वैयक्तिक हानि से हमारे मनुष्य-समाज की भी क्षति होती है, मनुष्य-समाज को उनका बोझ सहना पडता है। उनको कष्ट व अनुताप इसलिये होता है, इसीलिये मिलता है कि वे यह समझ जायें कि उन्हें मनुष्य-समाज रूपी यज्ञ का भग न करना चाहिये। उन्हें अपनी केवल भोग भोगने की 'दुरिष्टि' को बदल कर यज्ञ-कर्म करने की 'स्विष्टि' मे ले जाना चाहिये। अहा! सब मनुष्य-समाज के व्यक्ति इस सत्य को समझें और सभी स्वेच्छा से यज्ञ-कर्म द्वारा जगत् के ऐश्वर्य को बढ़ाने में सहायक होवें, तो कैसा सुख होवे; किसी को अनुतप्त न होना पड़े, समाज की उन्नति होती जाये।

शब्दार्थ—

मनुष्य-समाज मे (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) निरन्तर भोग करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) उन भोग्य-ऐश्वर्यो को बढ़ाते नहीं हैं और अतएव (यान्) जिन लोगों को (धिष्ण्याः अग्नयः) [परमात्मा द्वारा] जगत् मे स्थापित प्राणादि अग्नियाँ (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर सताप देती हैं, जलाती हैं (तेषां) उन लोगो की (या अवया दुरिष्टिः) जो नीचे गिरानेवाली यह दुष्प्रवृत्ति या दुष्ट-यजन है (तां) उसे (नः) हमारे लिये (विश्वकर्मा) विश्वकर्ता परमेश्वर (स्विष्टिं) सुप्रवृत्ति या ठीक यजन के रूप मे (कृणवत्) कर दें।

उत्तम गुण मुझ में आएं !

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृति मुखं च, वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा, देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥

अथर्व० २ ३५ ५॥

विनय

मेरे जीवन-यज्ञ को भरण पोषण करने वाली मेरी दर्शनशक्ति है। इससे नित्य नया सत्यज्ञान पाता हुआ मेरा मनुष्य-जीवन उन्नत उन्नत होता जा रहा है। इस यज्ञ का साधनभूत जो मेरा स्थूल-शरीर है, उसका भरण पोषण मुँह द्वारा अन्न-ग्रहण करने से हो रहा है। पर मेरा यह सब मानसिक-पोषण और यह सब शरीरिक-पोषण यज्ञ के लिये ही है। मैं उन्नत हुए मन से, शरीर से, इन्द्रियो से जो कुछ करता हूँ वह सब हवन ही करता हूँ। वाणी से जो बोलता हूँ वह हवन ही करता हूँ, ऐसा कुछ नहीं बोलता जो कि प्रभु को साक्षी रख कर नही होता, जो कि अन्यो का हितकर नही होता। कानो से जो सुनता हूँ वह प्रभु-अर्पण-बुद्धि से सुनता हू, वह श्रेष्ठ पवित्र ही श्रवण करता हू जो कि फलत सर्वभूतहित के लिए हो। इसी तरह मन के भी एक एक मनन, चिन्तन को, ऐसा पवित्र, निर्विकार, हवनरूप, करने का यत्न करता हूँ। मैं सदा स्मरण रखता हूँ कि यह मनुष्य-जीवन मुझे विश्वकर्मा प्रभु ने यज्ञरूप करके दिया है। मुझे यह ध्यान रहता है कि यह जीवन-यज्ञ उस प्रभु का आरम्भ किया हुआ, चलाया हुआ है। जिस यज्ञ-स्वरूप ने यह सब विश्व-ब्रह्माण्ड रचा है उसी विश्वकर्मा ने अपने इस विश्व मे मेरा यह छोटा सा जीवन-यज्ञ भी शतवर्ष तक चलने के लिये प्रारम्भ किया है। यही विचार है जो कि मुझे अपने एक एक कर्म को संयमपूर्ण, पवित्र और त्यागमय बनाने को प्रेरित करता है। मैं सचिन्त और सावधान रहता हूँ कि कही यह विश्वकर्मा का विस्तृत किया हुआ पवित्र यज्ञ मेरे किसी कर्म से कभी भ्रष्ट न हो जाये। इसलिये, हे देवो! प्रभु के ससार-यज्ञ को चलानेवाली दिव्य-शक्तियो! तुम मेरे इस यज्ञ मे भी प्रसन्नचित्त होकर आओ और इसे अधिक अधिक यज्ञिय, पवित्र बनाओ। तुम्हारा तो कार्य ही यज्ञ मे आना है। अत हे दिव्य गुणो! तुम मुझमे आओ, प्रसन्नचित होकर आओ। मैं अपने जीवन को यज्ञ बनाता हुआ तुम्हे बुला रहा हूँ। अत, हे यज्ञप्रिय दैवभावो! तुम प्रसन्नता-पूर्वक मुझमे वास करो। देवो के सब गुण, सब देवभाव, सब देवत्व मुझमे आ जावें, स्वभावत मुझमे आ जायें, मुझमे बस जायें।

शब्दार्थ—

(**यज्ञस्य**) मनुष्य-जीवन-यज्ञ के (**प्रभृति**) भरण पोषण का साधन (**चक्षु**) दर्शनशक्ति है (**मुख च**) और मुख भी है। (**वाचा श्रोत्रेण मनसा**) वाणी से, कान से, और मन से (**जुहोमि**) मैं हवन ही करता हूँ। (**इम यज्ञं**) यह मेरा जीवन-यज्ञ (**विश्वकर्मणा**) जगत् रचयिता परमात्मा ने (**विततं**) विस्तृत किया है, इसमे (**देवा**) सब देव, दिव्यभाव (**सुमनस्यमाना**) प्रसन्न होते हुए (**आ यन्तु**) आयें।

ब्रह्मचर्य महिमा !

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया, उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति ॥

अथर्व० ११.५.४ ॥

विनय

यह ससार ब्रह्मचर्य मे ही पालित, पोपित, और पूरित हो रहा है। इस जगत् के आधार मे यदि ब्रह्मचर्य का परमवीर्य न होता, तो यह जगत् कब का खतम, खाली और छूछा हो चुका होता। अपने शारीरिक-वीर्य को, ब्रह्मतेज को और आत्मिक-वीर्य (आत्म-तेज) की रक्षा करनेवाले सयमी ब्रह्मचारी लोग ही हैं जो कि इस त्रिलोकी को निरन्तर जीवन-तेज से पूरित कर रहे है। ब्रह्मचारी अपने शरीर को, अपने मन को, अपनी आत्मा (विज्ञानमय) को तीन समिधायें बना कर बृहत् अग्नि (आचार्याग्नि या परमात्माग्नि) मे रखता है, उसके अर्पण कर देता है। इसका फल यह होता है कि उसकी ये तीनो समिधायें प्रदीप्त हो जाती हैं—उसके शरीर मे वीर्य का तेज आ जाता है, उसका मन ब्रह्म-तेज से समिद्ध हो जाता है, और उसका आत्मा आत्मतेज से सूर्यवत् जाज्वल्यमान, प्रकाशित हो जाता है। शरीर की समिधा से वह स्थूल पृथिवी लोक को तृप्त और परिपूर्ण करता है, मन की दीप्ति से अन्तरिक्ष-लोक को पूरित करता है, और आत्मप्रकाश से द्युलोक को। इस तरह से ससार का प्रत्येक सच्चा ब्रह्मचारी अपने इस सचित, रक्षित, त्रिविध तेज (समिधा) द्वारा इन तीनो लोको को पालित कर रहा है। मेखला का अर्थ है सदा कटिबद्ध मुस्तैद, तैयार, सावधान रहना, आलस्य, खाली रहने की इच्छा, शिथिलता, प्रमाद ब्रह्मचारी के घोर शत्रु हैं। इसी तरह खूब श्रम करना, शरीर और मन से खूब काम लेकर इन्हे थका देने पर ही विश्राम ग्रहण करना यह ब्रह्मचारी का धर्म है, आराम-पसन्द, कामचोर, मनुष्य के भाग्य मे ब्रह्मचर्य का सुख नही है। तप करना, सब द्वन्द्वो का सहना, गर्मी सर्दी, भूख प्यास, सुख दु.ख आदि को प्रसन्नतापूर्वक सहना यह ब्रह्मचारी का तीसरा परमावश्यक व्रत है। कटिबद्धता श्रम और तप के पालन द्वारा ही ब्रह्मचारी मे त्रिविध तेज का (वीर्य का) रक्षण और सचय होता है और इन्ही तीन के लगातार अनुष्ठान द्वारा ही ब्रह्मचारी अपने इस तेज का उपयोग करता हुआ लोको का (त्रिविध ससार का, ससार के लोगो का) पालन पोपण और पूरण करता है। इन्ही मे ब्रह्मचर्य की अपार महिमा का रहस्य है।

शब्दार्थ—

(इयं समित्) यह पहिली समिधा (पृथिवी) पार्थिव-जगत् की, (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौ) द्युलोक की, आत्मिक जगत् की, (उत) और वह (समिधा) अपनी तीसरी समिधा द्वारा (अन्तरिक्षं) मध्य के मनोमय अन्तरिक्ष लोक को (पृणाति) पूर्ण करता है। इस प्रकार (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) समिधा से, त्रिविध दीप्ति से (मेखलया) मेखला से, कटिबद्धता से (श्रमेण) श्रम से और (तपसा) तप से (लोकान्) तीनों लोकों को, ससार के सब लोगो को (पिपर्ति) पालित, पोपित और पूरित करता है।



प्रभु की परिचर्या करें !

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १० १२१ २॥ यजु० २५ १३॥ अथर्व० ४.२ १॥

विनय

आओ, हम अपना सर्वार्पण करके भी उस सुखस्वरूप देव की पूजा करें जो हमें हमारे आत्मस्वरूप का देनेवाला है। हम अपने आप (आत्म) को ही भूलकर भटक रहे हैं, वह हमें अपने इस आप को प्राप्त करा देता है। वही हमें बल भी देता है, अपने को खोकर आत्मशक्ति हीन हुवे हम लोगों को वही अपनी करुणा से शक्ति भी प्रदान करता जाता है। और जब हम उस सब शक्ति के भंडार को कुछ अनुभव करने लगते हैं तो हम देखते हैं कि यह सब विश्व उसके आश्रित है, सब प्राणियों को सब कुछ देनेवाला वही है, सब प्राणी उसी के प्रकृष्ट-शासन में रह रहे हैं। जाने या अनजाने सब उसी का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। उसके परिपूर्ण शासन को कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके नियम अटल हैं। संसार में जो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ (देव) काम करती दिखाई दे रही हैं, वे सब उसी की आज्ञा-पालन कर रही हैं। उसी की प्रेरणा से प्रेरित पृथ्वी, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव अपने अपने महान् कार्य ठीक ठीक चला रहे हैं। ऋषि देखते हैं कि मृत्यु भी उसी के भय से उसकी आज्ञा में दौड़ता फिर रहा है। अहो ! इस मौत से तो यह संपूर्ण ही संसार डरता है। सचमुच इस जगत् में जहाँ सुख भोग हैं, वहाँ इन्हें क्षणिक बनानेवाला दुःख संताप भी जगत् में है और कोई भी ऐसा जन्म पानेवाला नहीं है जो कि मृत्यु का ग्रास न होता हो। देखो, यह "राम की चक्की" संसार में ऐसी चल रही है कि उसमें सब पिसते जा रहे हैं, मरते जा रहे हैं। इस मृत्यु के विकराल कालचक्र को चलाने वाला इसका शासक भी वही है। सब संसार दुःख-पीड़ित और मौत का मारा हुआ पड़ा है। हे मनुष्यो ! यदि तुम उस की इस विकराल भय-रूपिणी मृत्युदेवी से घबरा चुके हो तो यह भी आश्चर्य देखो कि जब मनुष्य उस प्रभु की शरण में आ जाता है तो यही मृत्यु अमृत बन जाती है ! उस प्रभु की मंगल-मय छाया में कोई संताप नहीं रहता, 'मृत्यु' भी मृत्यु नहीं रहती ! आत्मस्वरूप को देकर वह हमें क्षण में अमर कर देता है। आओ, हम उस आत्मस्वरूप को देनेवाले की शरण में आकर अमर बन जायें, उसी से बल की याचना करें जिससे कि हम सदा उसकी छाया में ही सुख से रहने में कृतकार्य हो जायें।

शब्दार्थ—

(**यः आत्मदा**) जो आत्मस्वरूप को देनेवाला और (**बलदा**) शक्ति को देने वाला है। (**यस्य विश्वे उपासते**) सब जिसकी उपासना करते हैं और (**यस्य देवाः प्रशिषं [उपासते]**) देव भी जिसके प्रशासन के आश्रित हैं—जिसकी सर्वोच्च आज्ञा में चलते हैं। (**यस्य छाया अमृतं**) जिसकी शरण या आश्रय पाना अमर होना है और (**यस्य मृत्युः**) जिसकी [जिससे दूर होना ही] मृत्यु है (**कस्मै देवाय**) उस "क" [सुखस्वरूप] देव का हम (**हविषा विधेम**) आत्मत्याग द्वारा पूजन करते हैं।

आषाढ़ मास

देख कहीं

मा वः स्तेन ईशत माघशंसः

यजुर्वेद १—१

चुपके से धन लूटनेवाला और

पाप फैलानेवाला तुझ

पर हुकूमत न

करे

आषाढ़ (मिथुन) मास

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

छाती, आमाशय और पेट में स्वस्थता

लानेवाला

१—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति मे खडे हो जाइये। भुजाएँ छाती के सामने कन्धो के साथ समकोण बनाती हुई समरेखा मे फैला लीजिये। हथेलियाँ नीचे की तरफ हो। मुट्ठियाँ कस लीजिये और सारे शरीर को जहाँ तक हो सके वहाँ तक कसा हुआ रखिये।

अब एक पेट तक पहुँचनेवाला गहरा श्वास अन्दर लीजिये और साथ ही हाथों को धीरे धीरे इतना मोड़िये कि मुट्ठियाँ ऊपर की तरफ आ जायें, पेट को अन्दर सिकोडते हुए श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिये। ऐसा करते हुए हाथो को पहिली स्थिति मे अर्थात् मुट्ठियो को नीचे की ओर ले आइये। इस सारे समय मे शरीर की सारी मांसपेशियाँ पूरी तरह तनी रहनी चाहियें। अब शरीर को ढीला छोडिये और इस व्यायाम को फिर फिर कीजिये।

इस मास के लिये दूसरी व्यायाम निम्न है —

२—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति मे खडे होकर कटि प्रदेश से ऊपर के भाग को इतना झुकाइये कि ऊपर का भाग टाँगो के साथ समकोण बना ले। हाथ नीचे लटके रहें। अब कटि के निचले भाग की स्थिति को बिल्कुल न बदलने देते हुए दोनो हाथो को इस तरह ऊपर की तरफ ले जाइये कि उन दोनो हाथो की पीठ (पृष्ठ भाग) कंधे के ऊपर मिल जायें। इस अवस्था मे हाथो की मुट्ठियाँ कसी रहनी चाहिये। शरीर की अन्य मासपेशियाँ ढीली रखी जा सकती हैं। हाथो को जब ऊपर की ओर ले जा रहे हो तब अन्दर श्वास लीजिये और जब नीचे की ओर ला रहे हो तब श्वास बाहिर निकालिये।

शरीर को ढीला छोडिये और इस व्यायाम को फिर फिर कीजिये।

इन दोनों व्यायामो में मन को छाती, आमाशय और पेट पर एकाग्र करना चाहिये और मन मे इनको पूर्ण स्वस्थ रूप मे चित्रित करना चाहिये।

ध्यान—मेरी छाती, आमाशय और पेट बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं और स्वस्थ हैं—इत्यादि प्रकार के शब्द बनाकर ध्यान कीजिये।

इन अगो को गौणतया चैत्र, आश्विन और पौष मास की प्राणदायक व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँचता है।



नदी के पार !

अश्मन्वती रीयते संरभध्वं, उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीमो अशिवा ये असन्, शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान् ॥

यजु० १५ १०॥ ऋ० १० ५३.८॥ अथर्व० १२ २ २६॥

विनय

भाइयो ! सासारिकता की नदी बडे वेग से वह रही है। अपने अभीष्ट सुखों को, सच्चे भोगों को, बलो को हम इस नदी के पार पहुँचकर ही पा सकते हैं। पर हमे वहाये लिये जानेवाले विषयो के इस भारी प्रवाह को तर जाना भी आसान कार्य नही है। यह नदी वडी विकट है। इस मे पडे हुए भोग्य-पदार्थों के वडे वडे और फिसलानेवाले चिकने पत्थर हमारे पैरो को जमने नही देते हैं। इन शिलाओं की ठोकर खाकर क़दम कदम पर गिर पड़ने का डर है, उधर नदी का वेग हमे वहाये लिये जाता है। परन्तु पार विना पहुँचे हमे सुख, शान्ति भी नही मिल सकती। अतः भाइयो ! उठो, मिलकर एक दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढो। हिम्मत करके उठ खडे होओ और दृढता के साथ प्रवल यत्न करते हुए इस नदी के पार उतर जाओ। पर सबसे वडी विपत्ति तो यह है कि पहिले ही पत्थरो वाली और वेगवती इस नदी के पार उतरना इतना मुश्किल हो रहा है, ऊपर से हमने अपने बहुत से 'अशिव' सग्रहो का वोझ भी सिर पर लाद रखा है। भोगेच्छा, कुसस्कार, अधर्म की वासना तथा पापों के भारी वोझ से हमने अपने को वोझिल बना रखा है। इसके कारण हमारा पार उतरना असभव हो रहा है। आओ साथियो ! भाइयो ! पहिले हम इन सब 'अशिव' वस्तुओ को यही फेंक दें। इन्हें छोडकर हलके हो जायें जिससे कि हम नदी उतरने के लिये आसानी से अपनी पूरी शक्ति लगा सकें। जितने शुभ, कल्याणकारी 'वाज' हैं, सच्चे भोग हैं, वल हैं, ज्ञान हैं, वे तो हमारे लिये वहुतायत मे नदी के पार विद्यमान हैं, हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो हम मूर्ख लोग इन 'अशिव' वस्तुओ को किस लिये उठाये हुए हैं ? यह वोझ तो हमे डुवा देने में ही सहायक होगा। यदि इस वोझ के साथ हम स्वय डूव मरना या नदी-प्रवाह हो जाना नहीं चाहते तो हमे इन सव बुराइयों का तो यहीं नदी-प्रवाह कर देना चाहिये। इन 'अशिव' सग्रहों के वोझ से छुटकारा पाकर हमे एक दूसरे को सहारा देते हुवे आगे वढना चाहिये। विषयो के प्रवल प्रवाह से बचने के लिये हम सवको परस्पर एक दूसरे के 'सरम्भ' (आश्रय) की जरूरत है। हे कल्याण चाहने वालो ! यह नदी चाहे कितनी विकट हो, पर इसे बिना पार किये और कुछ चारा नही है।

शब्दार्थ—

(**अश्मन्वती**) पत्थरों, शिलाओंवाली नदी (**रीयते**) वेग से वह रही है। (**सखाय**) हे साथियो, मित्रो ! (**उत्तिष्ठत**) उठो, (**सरभध्वं**) मिल कर एक दूसरे को सहारा दो और (**प्र तरत**) इस नदी को प्रबलता से तर जाओ। आओ, (**ये अशिवाः असन्**) जो हमारे अकल्याणकर सग्रह हैं उन्हें हम (**अत्र जहीम**) यहीं छोड दें और (**शिवान् वाजान् अभि**) कल्याणकारी सुखों, वलों और ज्ञानो को पाने के लिये (**वयं**) हम (**उत्तरेम**) इस नदी के पार हो जायें।

हम उसे जानें !

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मंत्रयेते, राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥
अथर्व० ४ १६.२॥

विनय

पाप से वास्तव मे डरने वाले मनुष्य ससार मे विरले ही होते हैं। आम तौर से तो लोग पाप करने मे नही डरते किन्तु पापी समझे जाने से डरते हैं। जहाँ कोई देखनेवाला न हो वहाँ अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाना, कोई पाप कर लेना, साधारण बात है। पाप व अपराध कर्म से बचने की कोई कोशिश नही करता, कोशिश तो इस बात की होती है कि हम वैसा करते हुए कही पकडे न जायें। यही कारण है कि मनुष्य अपने बहुत से कार्य छिप कर अकेले मे करने को प्रवृत्त होता है। परन्तु यदि उसे इस ससार के सच्चे एकमात्र राजा वरुणदेव की खबर हो तो वह ऐसे घोर अज्ञान मे न रहे। यदि उसे मालूम हो कि वे जगत् के ईश्वर वरुण भगवान् सर्वव्यापक और सर्वद्रष्टा हैं तो वह पाप के आचरण करने से डरने लगे, वह एकान्त मे भी कभी पाप मे प्रवृत्त न हो सके। सचमुच हम बडे धोखे मे हैं यदि हम समझते हैं कि हम कोई काम गुप्त तौर पर कर सकते हैं। उस सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक वरुण से तो कुछ भी छिपा कर करना असभव है। जब हम दो आदमी कोई गुप्त मत्रणा करने के लिये किसी अँधेरी से अँधेरी कोठडी मे जाकर बैठते हैं और सलाहे करने लगते हैं तो यद्यपि हम समझ रहे होते हैं कि हम दोनो के सिवाय ससार मे और कोई इन बातो को नहीं जानता तथापि इन सब बातो को वह वरुण देव वहीं तीसरा होकर बैठा हुआ सुना रहा होता है। यदि हम वहाँ से उठकर किसी किले मे जा बैठें, या किसी सर्वथा निर्जन वन मे पहुँच जायें तो वहाँ पर भी वह वरुणदेव तो तीसरा साक्षी होकर पहिले से बैठा हुआ होता है। उससे छिपाकर हम कुछ नहीं कर सकते है। यदि हम दूसरे किसी आदमी को भी कुछ नही बताते, केवल अपने ही मन मे कुछ सोचते हैं, तो वह वरुण तो उसे भी जानता है, सब सुनता है। हमारे चलने या ठहरने को, हमारी छोटी से छोटी हरकत को, वह जानता है। हम दूसरो को धोखा देते हैं, ठग लेते हैं और समझते हैं कि इसका किसी को पता नही लगा, तब हम खुद कितने भारी धोखे मे आये होते हैं, क्योकि उस वरुण को तो सब कुछ पता होता है और हमें उसका फल भोगना पडता है।

शब्दार्थ—

(य तिष्ठति, चरति) जो मनुष्य खडा है, या चलता है, (य च वञ्चति) जो दूसरो को ठगता है (य निलाय चरति) जो छिपकर कुछ करतूत करता है (य [प्रतङ्क चरति]) जो दूसरो को भारी कष्ट आदि देकर अत्याचार करता है और (द्वौ सन्निषद्य) जब दो आदमी मिल कर, एक साथ बैठकर, (यत् मंत्रयेते) जो कुछ गुप्त मंत्रणायें करते हैं (तत्) उसे भी (तृतीय) तीसरा होकर (वरुण राजा) सर्वश्रेष्ठ सच्चा राजा परमेश्वर (वेद) जानता है। 

दूर पार....

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात्, न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिवःस्पशः प्र चरन्तीदमस्य, सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥

अथर्व० ४।१६।४॥

विनय

एक राष्ट्र (रियासत) के राजद्रोह का अपराधी भी उस के दड से किसी दूसरे राष्ट्र मे भाग जाकर बच सकता है। परन्तु इस ससार के परिपूर्ण राजा—पापनिवारक सच्चे राजा—वरुण का अपराध करके, इस ससार के अटल नियमो का भंग करके अर्थात् झूठ, द्रोह, हिंसा आदि करके, यदि कोई चाहे कि हम कही भाग जाकर इनके प्राप्तव्य प्रतिफलो से बच जायें तो यह असम्भव है। वरुण राजा के राज्य के बाहिर मनुष्य कभी भी नही जा सकता। इस विस्तृत, दुर्गम, विशाल भूतल के किसी भी प्रदेश मे ही नही, किन्तु वह हो सके तो चाहे मगल, शुक्र आदि किसी अन्य लोक मे भी चला जाए और यदि सम्भव हो तो चाहे वह इस सौर-मण्डल (दिव) से भी परे कही जा पहुँचे, तो भी वह वरुण राजा के राज्य के पार नही जा सकता। वह चाहे कही चला जाय, अपना प्राप्तव्य दड उसे जरूर भोगना पडेगा, अपने किए हुए कर्म के बन्धन से वह कही भी जाकर नही छूट सकता। ये दुनियावी राजाओ (राजा कहलानेवालो) के गुप्तचर तो हमारे जैसे अज्ञानी मनुष्य भी होते हैं, उन्हे बहुत धोखे दिये जा सकते हैं और वे असख्यो भ्रमो के भाजन होते हैं। परन्तु उस वरुण राजा के दिव्य गुप्तचरो से मनुष्य कभी बच नही सकता। वे सब कुछ जान लेने मे समर्थ होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड भर में सर्वत्र व्यापक हुए हुए है। वे उस स्वयं प्रकाश वरुणदेवरूपी सूर्य की अनन्त किरणें बनकर सब ब्रह्माण्ड मे फैले हुए हैं। वे उस की [illegible] के रूप मे हैं। अत. हम मनुष्य जब किन्ही ईश्वरीय नियमो का उल्लघन करते है (शरीर मे, वाणी या मन के मनन से भी मन मे कोई भी अनिष्ट आचरण करते है) तो उसी क्षण, उसी स्थान पर ये दिव्य वरुण-दूत हमे जान लेते है, बल्कि हमे [illegible] पाशो से तत्काल बांध भी लेते है, पर हमे कुछ मालूम नही होता। [illegible] (चरो) का यह कमाल देखो! यह परम गुप्तचरता देखो! वे हजार आँखोवाले, असख्यो प्रकार से देखनेवाले 'स्पश', देश काल आदि के सब व्यवधानो का अतिक्रमण करके सब ठीक ठीक देखते हुए ब्रह्माण्ड भर मे विचर रहे है

शब्दार्थ —

(य उत) जो भी कोई जीव (द्याम् अति) द्युलोक को पार करके (परस्तात्) उससे भी परे (सर्पात्) चला जाय (स) वह भी (वरुणस्य राज्ञ) वरुण राजा से (न मुच्यातै) मुक्त नही हो सकता, बच नहीं सकता। (दिव अस्य) प्रकाशस्वरूप इस वरुण के (स्पश) गुप्तचर (इदं) इस सब ब्रह्माण्ड मे (प्र चरन्ति) अच्छी तरह घूम रहे है जो (सहस्राक्षा) हजारो आँखोवाले होकर (भूमि) इस भूमि को (अति पश्यन्ति) अतिक्रमण करके देख रहे है—जिसे अन्य नहीं देख सकते उसे भी देख रहे है।



अन्तर की वाणी

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः, सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्, तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥

अथर्व० ७ ४३ १ ॥

विनय

हे मनुष्य ! जो तू वाणियाँ बोला करता है, उनमे कुछ तेरा कल्याण करनेवाली होती हैं और कुछ अकल्याण करनेवाली । जो वाणियाँ सच्ची और प्यारी होती है, जो दूसरे के हित के लिये, लाभ पहुँचाने के लिये, सत्य फैलाने के लिये बोली जाती हैं वे कल्याणकारिणी होती हैं और जिन वाणियो को तू छल कपटपूर्वक, द्वेष व क्रोध के साथ, दूसरे की हानि पहुँचाने के लिये बोलता है उनमे तेरा भारी अकल्याण होता है । पर तू वाणियो के इस महान् भेद को न समझता हुआ इन सब प्रकार की वाणियो को बोलता जाता है—अच्छी बुरी दोनो वाणियो को एक ही प्रकार प्रसन्नतापूर्वक बेखटके बोलता जाता है । तू शायद समझता है कि तेरे बोले हुए शब्दो का जो कि उसी समय नष्ट होते दीखते है, तुझ पर कुछ असर नही होता या नही हो सकता । पर तुझे पता नही कि तू वाणी को केवल बोलता नही है किन्तु उसे धारण भी करता है । तू जो शब्द रूप मे बोलता है वह तो वाणी का एक भाग (एक चौथाई भाग) है, उस वाणी के शेष तीन भाग तो तेरे अन्दर छिपे पडे हुए होते हैं, तुझमे रखे हुए होते हैं । जो अभिप्राय तू शब्दो मे (इस चौथी वैखरी वाणी मे) बोलता है, वह अभिप्राय तेरे मन मे (तीसरी मध्यमा वाणी के रूप मे) समाया रहता है और मन मे बोले जाने से भी पूर्व वह अभिप्राय तेरे अदर साकार व निराकार ज्ञान के रूप मे रहता है (जिन्हे कि क्रमश दूसरी और पहली, पश्यन्ती और परा वाणी कहते हैं) । एव तेरी अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की वाणी तेरे अन्दर अपने तीन पाद रखे रहती है और चौथे पाद मे वह बाहिर शब्दरूप मे दीखती है । यह शब्दरूप चौथाई वाणी चाहे तुझे अपने पर कुछ असर कर सकनेवाली न दीखती हो, पर वाणी के इस समूचे रूप पर—वाणी के अन्दर के इन तीनो रूपो पर—भी जब तू ध्यान देगा तो तुझे दीखेगा कि सच्ची कल्याणकारिणी वाणी तुझमे परा, पश्यन्ती और मध्यमारूप मे ठहरी हुई तुझ पर कितना कल्याणकारी प्रभाव कर रही है और बुरे अभिप्राय से परा, पश्यती और मध्यमारूप मे धारण की हुई अकल्याणकारी वाणी अन्दर-अन्दर से तेरा कितना भारी अकल्याण कर रही है ।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य ! (ते) तेरी (एका.) एक (शिवा) कल्याणकारिणी वाणियाँ हैं (ते एका अशिवा) और एक अकल्याणकारिणी है, पर तू (सर्वा) उन सब को (सुमनस्यमान) प्रसन्न चित्त से (बिभर्षि) धारण करता है। वाणी के (तिस्र· वाच) तीन भाग (अस्मिन् अन्त निहिता) तेरे इस देह के अन्दर छिपे रखे हैं (तासां एका) उनका एक हिस्सा ही (घोषं अनु) शब्द व आवाज के रूप मे (विपपात) बाहर निकलता है ।

हमें अनृण करो !

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्, तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः, सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ॥

अथर्व० ६.११७.३॥

विनय

मनुष्य तो जन्म से ही कुछ ऊँचे ऋणो से बँधा हुआ है । मनुष्य उत्पन्न होते ही ऋणी है और उन वास्तविक ऋणों मे मुक्त होना ही मनुष्य-जीवन की इतिकर्त्तव्यता है। मनुष्य ने ससार के तीनो लोको को भोगने के लिये जो तीन शरीर पाये हैं, उन्ही मे वह तीन प्रकार से ऋणी है। हे प्रभो। हम चाहे पितृयाण मार्ग के यात्री हो या देवयान के, हम इन तीन लोकों की अनृणता करते हुए ही रहे। हम अपनी सब शक्ति और सब यत्न इन ऋणो को उतारने मे ही व्यय करते हुए जीवन बितायें। इस स्थूल भूलोक का ऋण अन्यो को भौतिक सुख देने से, तथा समाज को कोई अपने से श्रेष्ठतर भौतिक सतान दे जाने से उतरता है। इसी तरह मनुष्यो को जगत् की प्राकृतिक अग्नि आदि शक्तियो से तथा साथी मनुष्यो की निस्स्वार्थ सेवाओ से जो सुख निरन्तर मिल रहा है उसके ऋण को उतारने के लिये, इन यज्ञ-चक्रो को जारी रखने के निमित्त उसे यज्ञकर्म करना भी आवश्यक है। और तीसरे ज्ञान के लोक से मनुष्य को जो ज्ञान का परम लाभ हो रहा है उसकी सतति भी जारी रखने के लिये स्वय विद्या का स्वाध्याय और प्रवचन करके उससे उसे उऋण होना चाहिये। जो त्यागी लोग सासारिक-भोग की कामना नही करते अतएव जिन्हें ये तीन ऋण इस तरह नही बाँधते, उन ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा के मार्ग मे चलनेवाले देवयान के यात्रियो को भी अपने तीनो शरीरो के उपयोग लेने का ऋण चुकता करना चाहिये अर्थात् अपने भौतिक शरीर से वे बेशक सन्तान उत्पन्न करना आदि न करेंगे पर उस द्वारा सेवा के अन्य स्थूल कर्म उन्हे करने ही चाहिये और अपने प्राण व मन के दूसरे शरीर मे प्रेम दया आदि की धारायें बहानी चाहिये तथा द्युलोक सम्बन्धी तीसरे विज्ञानमय शरीर द्वारा ज्ञान-सूर्य बनकर ज्ञान की किरणे प्रसारित करते हुए तीसरे लोक मे भी अनृण होना चाहिये।

ओह ! मनुष्य तो सर्वदा ऋणो मे लदा हुआ है ! जो जीव इस त्रिविध शरीर को पाकर भी अपने को ऋणबद्ध नही अनुभव करता वह कितना अज्ञानी है ! हमे तो, हे स्वामी ! ऐसी बुद्धि और शक्ति दो कि हम चाहे देवयानी हो या पितृयानी, हम सब लोको मे रहते हुए, सब मार्गों पर चलते हुए, लगातार अनृण होते जाये। अगले लोक मे पहुँचने से पहले पूर्वलोक के ऋण हम अवश्य पूरे कर दें और अगले मार्ग पर जाते हुए पिछले मार्ग के ऋण उतार चुके हो। इस तरह लगातार घोर यत्न करते हुए हम सदा, सब लोको मे अनृण होकर ही रहे।

शब्दार्थ—

(**अस्मिन् अनृणा**) इस लोक मे हम अनृण होवे, (**परस्मिन् अनृणा**) पहले लोक में अनृण हो और (**तृतीये लोके अनृणा स्याम**) तीसरे लोक मे भी अनृण होवें (**ये देवयाना पितृयाणाश्च लोका**) जो देवयान या पितृयान मार्गों के लोक हैं उनमे (**सर्वान् पथ**) सब मार्ग चलते हुए हम (**अनृणा आ क्षियेम**) ऋणमुक्त होकर रहे, बसें।

हे महान् प्रभो !

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षाद्, अपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥

अथर्व० ६.१२४.१॥

विनय

हे महान् प्रभु ! हम स्वल्प मनुष्य अपनी तुच्छ कामनाओ को यूँ ही इतना भारी समझा करते हैं। हम मनुष्यो को जिस समय जो कामना होती है, उसे हम इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि हम समझते हैं यदि हमारी वह इच्छा पूरी न हुई तो हम मर जायेंगे और यदि पूरी हो गई तो सदा के लिये उससे निहाल हो जायेंगे—मानो फिर हमे कुछ कामना ही न रहेगी। परन्तु हम अपनी इच्छाओ को इतना महत्त्व इसी लिये देते हैं क्योकि हम तुम्हारे अनत महत्त्व को अनुभव नही करते। हम यह अनुभव नही करते कि तुम तो जल के अपार समुद्र हो और हमारी प्रवल से प्रवल प्यास को (जिसके मारे हम मरे जाते हो) एक लुटिया भर पानी से बुझा सकते हो। नही, तुम तो कामनाओ के वरसाने वाले, सव तरफ फैले हुए असीम अन्तरिक्ष हो, और तुम हमे अपनी इस अनत वृष्टि मे से केवल एक बूंद ही देकर तृप्त कर सकते हो—छका सकते हो। तुम्हारे दिव्यज्ञानमय बृहत् आकाश से वरसनेवाले ज्ञान-विन्दुओ मे से एक बूंद मे ही वह रस है, वह शक्ति है कि हम उन ज्ञान-विन्दुओ को ही पाकर परितृप्त हो जाते है। हे प्रभु ! मुझे न जाने कितनी कामनायें थी, मुझे अपने मे न्यूनतायें ही न्यूनतायें दिखायी देती थीं और मैं समझता था कि मेरी ये न्यूनतायें पूरा यत्न करते हुए भी कई जन्मो मे भी पूर्ण न होगी। पर, हे पिता ! मैं क्या वताऊँ, तेरे ज्ञानप्रकाशमय दिव्य अन्तरिक्ष से मुझ पर तेरी एक ही बूंद गिरी, पर उस मे वह रस था कि उस तेरे शक्तिकण द्वारा मुझ मे इन्द्रिय (इन्द्रवीर्य = आत्मशक्ति) जाग गयी, मुझको स्थिर पोषक रस मिल गया, मुझ मे छन्दोवद्ध दिव्यज्ञान प्रकट होने लगा, मुझे यज्ञो का दर्शन होने लगा (अर्थात् मुझे किस समय किस प्रकार से आत्मत्यागमय शुभ कर्म करना चाहिये, यह भासित होने लगा) और पुण्यों द्वारा जिस सुख का अर्जन ससार करना चाहता है वह सुख भी मेरा साथी हो गया। इतनी सव वस्तुएं मुझे इकट्ठी मिल गईं। लोगो को इस पर सहज ही विश्वास न होगा, पर यह सच है। सचमुच तेरे ज्ञान-भडार का एक ज्ञानकण, तेरी वलराशि का एक अणु, इस तुच्छ मनुष्य को सर्वथा भरपूर कर देता है।

शब्दार्थ—

(दिव) तेरे ज्ञानप्रकाशमय द्युलोक रूपी (बृहत अन्तरिक्षात् नु) महान् अन्तरिक्ष से ही (अपां स्तोक) तेरे ज्ञान कर्म शक्तिरूप जलो का एक स्वल्पकण (रसेन) अपने तृप्तिदायक रस से युक्त (मा अभि) मुझ पर (अपप्तत्) गिरा, और (अहं) मैं (अग्ने) हे परमेश्वर ! तेरे इस स्वल्प जलकण द्वारा (इन्द्रियेण) इन्द्रवीर्य = आत्मवल से (पयसा) पोषक ज्ञान से (छन्दोभिः) वेदमत्रो से (यज्ञै) यज्ञो से, शुभ कर्मो से और (सुकृतां कृतेन) पुण्य कर्मो के फल अर्थात् सुख से (सं) सयुक्त हो गया हूँ।

पंख खुले हैं !

सहस्राह्ण्यं वियतौ अस्य पक्षौ, हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ।।
अथर्व० १० ८ १८।।

विनय मनुष्य प्रतिक्षण चेष्टायमान है। जीव को दिनरात किसी न किसी अभीष्ट के पाने की चाह या किसी के दुःख को हटाने की चाह लगी रहती है और उसके लिये वह सदा कुछ न कुछ करता रहता है। जीव को तब तक चैन नहीं मिल सकता जब तक कि वह उस अवस्था में न पहुँच जाय जहाँ उसे कुछ कमी न रहेगी, जहाँ उसकी सब कामनायें प्राप्त हो जायेंगी, सब दुःख समाप्त हो जायेंगे । उस स्वर्गलोक को पाने के लिये यह 'हरि' (इधर उधर फिरनेवाला) हंस न जाने कब से उड़ रहा है। यह अपने अभीष्ट लोक को कब पहुँचेगा ? यह लगातार ज्ञान और कर्म के सहारे से उस स्वर्ग को न जाने कब से ढूंढ रहा है ? सुख-प्राप्ति के विषय में उसे जो ज्ञान मिलता है उसके अनुसार वह कर्म करता है, कर्म करने के बाद उसे कुछ अन्य नया अनुभव (ज्ञान) मिलता है, तो वह फिर उसके अनुसार कर्म करता है। इस तरह यह हंस अपने ज्ञान और कर्म (अन्दर से बाहर की तरफ चेष्टा और बाहर से अन्दर की तरफ चेष्टा, प्राण और अपान) के पंखों को हिलाता हुआ उड़ा चला जा रहा है। हजारों दिन बीत गये हैं पर उसके पंख फैले ही हुए हैं। न उसे अभीष्ट स्वर्ग मिलता है और न वह अपनी उड़ान बन्द करता है। पर मजेदार बात यह है कि स्वर्ग के सब देवों को, सब देव-गुणों को अजरत्व, अमरत्व, निष्कामत्व, पूर्णत्व आदि सब देवत्वों को—अपने हृदय में लिये हुए फिर रहा है। वह लाखों योनियों में, लोकों में, नाना देशों में, उड़ रहा है। इस जगत् की सब उत्पन्न वस्तुओं, सब भुवनों, को देखता हुआ जा रहा है। पर सब देश उसके हृदय में ही स्थित हैं। अतः उसे जब कभी स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसे अपने हृदय में ही होगी । पर तब तक वह असंख्यातों स्थानों में, प्रभु की इस अगम्य सृष्टि के करोड़ों भुवनों को देखता हुआ विचर रहा है, चौबीस घंटे ज्ञान और कर्म की कुछ न कुछ चेष्टा करता हुआ स्वर्ग को ढूंढ रहा है, अपने इन पंखों को फड़फड़ाता हुआ निरन्तर गति ही कर रहा है। ओह ! यह कब अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा ! किस दिन अपने पंखों को समेट कर बैठेगा ! इसके पंख तो हजारों हजारों दिनों से खुले हुए हैं ।।

शब्दार्थ—

(स्वर्गं पततः) स्वर्ग को जाते हुए (अस्य) इस (हरेः हंसस्य) ह्रियमाण या हरणशील, जीवात्मा हंस के (पक्षौ) पंख (सहस्राह्ण्यं) सहस्रों दिनों से (वियतौ) खुले हुए हैं, फैले हुए हैं (सः) वह हंस (सर्वान् देवान्) सब देवों को (उरसि) अपने हृदय में (उपदद्य) लिये हुए (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (संपश्यन्) देखता हुआ (याति) जा रहा है।

१—हंस इति मनुष्य नामसु पठितम् ।
हरि =भोगों को हरण करने वाला या इधर उधर ह्रियमाण ।

हे जगदीश्वर !

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा, अभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धाः, हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

अथर्व० ७।११५।२॥

विनय

हे जगदीश्वर ! मेरे पास जो ऐसी लक्ष्मी पडी हुई है जो कि 'अजुष्टा' है जो कि सेवित नही होती, जो कि किसी की प्रीतिमय सेवा मे नही आती, वह किस काम की है ? वह लक्ष्मी 'लक्ष्मी' नही है। वह लक्ष्मी दुराचार बढाने का कारण होती है। 'अजुष्टा' लक्ष्मी पतन का भारी प्रलोभन होती है। ऐसा धन बुरे कार्यों मे ही बरबाद हुआ करता है और मनुष्य को नीचे गिरा देता है। ऐसी लक्ष्मी को मैं मोह के मारे त्यागता (परहित मे दे देता) भी नही हूँ और उस सब का स्वयं उपयोग भी नही कर सकता हूँ। इसलिये वह या तो बुरे काम मे पतित हो जाती है या यूं ही सडकर नष्ट हो जाती है। पर सब मे बुरी बात तो यह है कि यह मेरी ऐसी 'लक्ष्मी' मुझे चिमटी हुई हर तरह से मुझे ही बरबाद करती है, मेरे जीवन-रस को चूसती है। अत, हे मेरे प्रेरक प्रभो ! मुझ मे ऐसी हिम्मत दो कि मैं उस लक्ष्मी को—इससे पहिले कि वह पतित होने लगे और मुझे विनष्ट करने लगे—मैं उसे कही अन्यत्र वारित कर दूं—किसी अच्छे कार्य मे लगा दूं, उसे अपने पर लादे न रखूं। हे सवित ! तुम ही उस दुर्लक्ष्मी को यहाँ से तो हटा दो। यह 'लक्ष्मी' नही है, किन्तु वह मेरे लिये विनाशक शापरूप है। वह मुझ पर मोह द्वारा चिमटी हुई केवल मेरे जीवन-रस को सुखा रही है, जैसे वन्दना बेल जिस वृक्ष पर लगती है उस वृक्ष को बिल्कुल सुखा देती है, वैसे ही यह अजुष्टा लक्ष्मी मुझे घेरे हुए है, मेरा विनाश कर डालने के लिये मुझे आच्छादित किये हुए है। हे प्रभो ! तुम मुझ से इसे छुडाओ। मेरे मोह का भग करके इसे यहाँ से हटाने का मुझे सामर्थ्य दो, नही तो यह 'अजुष्टा, लक्ष्मी मुझे चूस कर खतम कर रही है—मेरी उन्नति को रोक रही है, मेरे आत्म-तेज को हरती जा रही है।

हे प्रेरक ! मेरी प्रार्थना है कि आगे से ऐसा धन तो मेरे पास आने ही न पाये। मुझे तुम बेशक थोडा सा धन देना, पर वह धन चमकता हुआ, तेजस्वी, निष्कलङ्क हो, हिरण्य हो, हितरमण हो। वह धन सर्वांश मे उपयोगी हो, उसका एक एक अंश मेरे तेज, मेरे आत्मवीर्य को बढानेवाला हो। तुम्हारे 'हिरण्यहस्त' से ही अब मैं धन चाहता हूँ। तेरे चमकते हुए 'हिरण्यहस्त' से अब मुझे सदा ऐसा तेजस्वी धन मिलता रहे जिसका कि एक एक कण मेरे आत्म-तेज को बढाने मे व्यय हो तथा वह अन्यत्र भी जहाँ जाये वहाँ मनुष्यो के तेज के बढाने मे ही उपयुक्त होये।

शब्दार्थ—(**अजुष्टा**) असेविता, काम मे न आनेवाली (**पतयालू.**) अतएव दुराचार मे गिरनेवाली, मुझे गिरानेवाली (**या**) जो (**लक्ष्मी.**) लक्ष्मी (**मा**) मुझे (**अभिचस्कन्द**) चिमटी हुई है (**वृक्षं वन्दना इव**) जैसे कि सुखा देनेवाली वन्दना बेल वृक्ष को चिमट जाती है (**ता**) उस ऐसी लक्ष्मी को (**सवित**) हे प्रेरक परमेश्वर ! (**अस्मत् इतः अन्यत्र**) तू हम से, यहाँ से, जुदा (**धा**) रख दे—कर दे (**हिरण्यहस्त.**) हिरण्यहस्त से—तेजस्वी चमकते हाथ से तू—(**न**) हमे (**वसु**) ऐश्वर्य (**रराण·**) देता हुआ हो।

हे मुमुक्षु !

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः, आत्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्व० १० ८.४४ ॥

विनय हे मृत्यु-भय से तर जाना चाहनेवाले मुमुक्षु ! तू उस एक सर्वव्यापक तत्त्व को देख जो कि सर्वथा 'अकाम' है, जिस मे किसी प्रकार की भी कोई कामना नही, अतएव जो कभी भी चलायमान नही होता, सदा सर्वथा धीर है, जो कि कभी न मरेगा और न कभी पैदा हुआ है; जो स्वय ही अपने आधार से सदा विद्यमान है, जिसे कि कभी किसी अन्य ने जन्म नही दिया, जिस सदातन की सत्ता किसी अन्य के आश्रित नही अतएव जिसकी अमृत सत्ता कभी खण्डित भी नही हो सकती, विनाश को नही प्राप्त हो सकती, जो कि आनन्दरस से सर्वथा परिपूर्ण है, हम लोग आनन्द-दायक भोजन को यथेष्ट खाकर जैसे कुछ देर के लिये छके हुए, परितृप्ति की अवस्था मे रहते हैं वैसी ही आप्यायित अवस्था मे जो सदा, त्रिकाल मे रहता है, जो कि आप्तकाम है, जिसमे कोई किसी प्रकार की कमी, न्यूनता, अपेक्षा व आवश्यकता नही है, जो सर्वथा परिपूर्ण है, अखण्ड है, अतएव जो अकाम हुआ है उसे देख, उस एक तत्त्व को देख, उसे पहिचान । उस तत्त्व को अपने अन्दर खोज, अपने अन्दर पहिचान । वह दीखता है कि नही ? क्या तू अपने आप को वैसा अजर, अमर तत्त्व नही देखता ? जब तू अपने आपको अचलायमान, कभी बुड्ढा न होनेवाला, एकरस, नित्य, हमेशा एक समान युवा (जवान) देख लेगा तभी—केवल तभी—तू मृत्युभय से पार होयेगा । उस सच्चे आत्म-स्वरूप को देख लेने के बाद तू शरीर नही रहेगा । तब तू वही धीर, अजर, अमर, तत्त्व हो जायगा । तब मृत्यु कहाँ रहेगी ? तब तो जीने मरने मे कोई भेद नही रहता, जीवन मरण दोनो ही जीवन हो जाते हैं, एक नये प्रकार का नित्य जीवन हो जाते हैं । हजारो मृत्युओ के बीच मे भी आत्मा अपनी अमरता को घोषित करता है । परन्तु जब तक इस आत्म-स्वरूप का साक्षात् न हो जाय, मनुष्य अपने देह से बिल्कुल जुदा अपने आपको अजर अमर न देख ले, तब तक मृत्यु-भय नही जा सकता । मृत्यु से निर्भय होने का ससार मे अन्य कोई दूसरा उपाय नही । जब तक मनुष्य ने यह आत्म-स्वरूप न पा लिया हो तब तक वह चाहे जितना विद्वान्, हजारो ग्रन्थों को पढने पढाने और बनानेवाला हो जाय, उपदेष्टा हो जाय पर वह उसी तरह मृत्यु का मारा हुआ फिरता है जैसे कि एक चींटी या एक खटमल मरण-त्रास से डरकर भागती है । देखो वह अखण्ड, एकरस, सर्वथा अकाम, अचल, अमर, अभय नित्यानन्द । यदि मृत्यु को जीतना है तो देखो —यह धीर, अजर, अमृत, अपना आत्मा ।

शब्दार्थ – जो (अकाम) सर्वथा कामनारहित (धीर.) धीर (अमृत:) कभी न मरने वाला (स्वयभू)स्वय अपने आधार से सदा विद्यमान (रसेन तृप्त)आनन्द-रस से परितृप्त (कुतश्चन न ऊन) तथा किसी प्रकार की कोई भी न्यूनता न रखनेवाला है। (तं) उस (धीर, अजरं, युवान, आत्मान एव विद्वान्), धीर, अजर, सदा तरुण को आत्मस्वरूप जानकर ही मनुष्य (मृत्यो. न बिभाय) मृत्यु से नहीं डरता—मृत्यु से निर्भय हो जाता है।

हे संकल्प देव !

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः, याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्व, अन्यत्र पापीरपवेशया धियः ।।

अथर्व० ९ २ २५।।

विनय

हे काम ! हे संकल्पमय देव ! भगवान् तुम द्वारा ही अपनी कामनाक्रिया करते हुए सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं। हे जगत् व्यापक सकल्प ! हम मनुष्यो मे जो असख्यात इच्छायें, कामनायें सकल्प उठा करते हैं, वे भी सब असल मे तुम्हारी ही तरगें हैं, तुम्हारे ही असख्यात रूप हैं। पर जो तुम हममे अनगिनत रूप धारण करके प्रकट होते हो, जो हम मे अनगिनत इच्छायें प्रकट होती है, उनमे से हम देखते हैं कि कुछ तो पूर्ण हो जाती है, सच हो जाती है और बहुत सी अपूर्ण रहकर केवल हमे दुखी ही करने का कारण होती हैं। अत मैं अब चाहता हूँ कि मुझ मे इच्छाए (सकल्प) उत्पन्न ही वह हो जो कि जरूर सत्य होनी हो। जो व्यर्थ रहनी हो पूर्ण न होनी हो, ऐसी इच्छाए मुझ मे प्रकट ही न हो, उत्पन्न ही न हो। मेरी चाहना है कि मैं 'सत्य सकल्प' हो जाऊ—ऐसा हो जाऊ जिस मे सकल्प सत्य ही हो पर यह तब होगा—यह मैं जानता हूँ कि यह तब होगा—जब कि मुझ मे तुम्हारे मगलरूप ही (मगल सकल्प ही) उत्पन्न होंगे। सब ऋषियो का अनुभव है कि जिन मनुष्यो के हृदय सर्वथा सत्यमय, पूर्णत सत्यनिष्ठ, अतएव पवित्र होते हैं उनमे जो सकल्प उठता है, अपने संकल्प मे वे जो कुछ चाहते हैं, जो कुछ वरते है वह अवश्य पूर्ण हो जाता है। चूंकि ऐसे सत्यनिष्ठ हृदय उस सत्यस्वरूप भगवान् से समरेखा मे हो जाते हैं और अत उनमे वे ही सकल्प उठते हैं जो कि सर्वथा मगल होते है और सब जगत् के कल्याण के लिये होते हैं। यो कहना चाहिये उनमे ईश्वरीय सकल्प ही प्रतिध्वनित होते हैं। इस ससार मे जो कुछ हो रहा है, सफल हो रहा है, वह सब ईश्वरीय सकल्प ही है और मगलमय भगवान् का हरेक सकल्प (हम चाहे उसे समझ सकें या न समझ सक) सर्व-कल्याण के लिये ही है। अत अब मुझ मे ऐसे ईश्वरीय, सत्य हो जानेवाले, भद्र-सकल्प ही उठें। अभी तक तो मेरे हृदय मे अच्छी बुरी दोनो तरह की कामनाये उठती हैं, परन्तु हे सकल्पदेव! अब सब पापी बुद्धियाँ मुझ से निकाल दो, जिस सकल्प मे जरा भी अहित की कालिमा हो, मैल हो, वह अब मुझमे न रह सके। मै सत्य द्वारा अपने हृदय को शुद्ध करता हुआ यत्न करता हूँ कि अपने ज्ञान के अनुसार कोई भी अशिव, अभद्र सकल्प मुझमे न आयें।

शब्दार्थ—

(काम) हे सकल्पदेव ! (या ते शिवा) जो तेरे मगलमय और (भद्रा) कल्याणकारी (तन्व) स्वरूप हैं, (याभि) जिन स्वरूपो से तू (यद् वृणीषे) जो कुछ वरता है वह (सत्य भवति) सत्य हो जाता है। (ताभि) उन अपने स्वरूपो के साथ (त्व) तू (अस्मान्) हम मे (अभि सविशस्व) सब तरफ से प्रविष्ट हो और जो (पापी धिय) पापी बुद्धियाँ व सकल्प हैं, उनको (अन्यत्र अपवेशय) हम से जुदा करके दूर करदे।



देवत्त्व की ओर !

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं, नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान्, स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥

अथर्व० १८.४.१४॥

विनय

क्या तुम देवत्व पाना चाहते हो ? उस प्रसिद्ध बड़ी महिमा वाले 'देवयान' मार्ग के पथिक बनना चाहते हो ? परन्तु शायद तुम उस देवो के चलने के मार्ग को अभी समझ ही न सकोगे। बात यह है कि ससार मे दो मार्ग चल रहे हैं। एक मार्ग से ससार के लोग भोग मे, प्रकृति मे, प्रवृत्त हो रहे है—विश्व के एक से एक ऊँचे सुखभोग पाने के लिये दृढतापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं । दूसरे मार्गवाले लोग भोगो से निवृत्त होकर अपवर्ग की तरफ, आत्मा की तरफ, जा रहे हैं। ये क्रमश पितृयाण और देवयान हैं। इन दोनो मार्गों द्वारा प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनो अर्थों को पूरा कर रही है। परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो एक साथ कैसे हो सकती हैं ? इसलिये जो लोग भोगो मे विश्वास रखते हुए मुँह उठाये उधर जा रहे हैं, उन्हे लाख समझाने पर भी वे आत्मा की बात नही सुनेंगे। देवयान मार्ग तो उन्हे ही भासता है जो भोगो की निस्सारता इतनी अच्छी तरह से समझ गये है, परम लुभावने बडे बडे दिव्य भोगो को (जिनका कि हमे अभी कुछ पता भी नही है) देख कर जो उन से भी ऐसे विरक्त हो चुके हैं कि वे अब ससार के सर्वश्रेष्ठ सुखभोग के इन्द्रासनो को छोड़ कर ज्ञानस्वरूप तत्त्व की शरण पाने के लिये व्याकुल हो गये हैं—भोगो मे अन्धकार ही अन्धकार पाकर अब जो ज्ञानमय लोक मे चढना चाहते हैं। यही मार्ग 'स्वः' को, आत्म-सुख को, आत्म-ज्योति को प्राप्त करानेवाला है। यदि तुम मे अभी भोगलिप्सा बाकी है तो तुम्हें अभी वह जगमगाता हुआ ज्योतिषीमान् मार्ग भी दिखाई नही दे सकता। जबकि ससार के लिये आकर्षक और प्रार्थनीय बडे बडे स्वर्गीय भोगो और दिव्य विभूतियो के भोग भी आत्महीनता के कारण तुम्हें बिल्कुल बेकार, निःसत्त्व जचेंगे और यह आत्मप्रकाशशून्य भोगदायक लोक अन्धकारमय दीखने लगेगा तब उसी अँधेरे के बीच मे सुवर्ण-रेखा की तरह और फिर विद्युत्-लता की तरह अन्त मे चकाचौंध करनेवाली, अनन्त सूर्यो के प्रकाश को भी मात करने वाली, ज्योति की तरह वह देवयान का दिव्य प्रकाश तुम्हारे लिये उत्तरोत्तर बढता जायगा। तब भोगवादियों के लाख समझाने पर भी तुम्हे इन भोगो मे राग नही पैदा होगा।

शब्दार्थ—जो मनुष्य (नाकस्य पृष्ठात्) सुखभोग के लोक मे (दिवं) प्रकाशमय 'द्यौ' लोक के प्रति (उत्पतिष्यन्) ऊपर उठना चाहता हुआ और इस प्रयोजन से (ईजानः) वास्तविक यजन करता हुआ (चितं अग्निं) पुण्यकर्मो द्वारा चिनी हुई अग्नि का, आन्तर अग्नि का (आ-अरुक्षत्) आश्रय ग्रहण करता है (तस्मै) उस ही (सुकृते) शोभनकर्म करनेवाले मनुष्य के लिये (ज्योतिषीमान्) ज्योतिर्मय (स्वर्गः) आत्मसुख को प्राप्त करनेवाला (देवयानः पन्था.) 'देवयान' मार्ग (नभस) इस प्रकाशरहित संसार-आकाश के बीच मे (प्र भाति) प्रकाशित हो जाता है।

वरुण देव !

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः, उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥
अथर्व० ४ १६ ३॥

विनय इस सब संसार का एकमात्र राजा वरुण है, पापनिवारक परम श्रेष्ठ परमेश्वर है। इसके सिवा अन्य कोई इस विश्व में प्रभु (सर्वसमर्थक शासक) नहीं है। अन्य किसी दूसरे का आधिपत्य, शासन इस संसार पर चल नही रहा है। उसके सिवा और कोई संसार पर वास्तविक शासन कर भी नही सकता है, क्योंकि वही ऐसा अद्भुत परिपूर्ण है कि वह महान् से भी महान् होता हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म भी है। हमारी बुद्धि चाहे ऐसे अलखस्वरूप को न मान सके परन्तु वरुण ईश्वर का स्वरूप ऐसा ही है। वह महान् तो इतना है कि यह विस्तृत विशाल भूमि ही नही किन्तु इससे भी लाखो गुना बड़ा द्युलोक भी उस वरुण राजा के हाथ मे है। यह बडा भारी स्थूल दृश्य जगत् ही नही किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत बडा जो प्रकाशमय (मनोमय, विज्ञानमय आदि सूक्ष्म) संसार है, वह भी सर्वथा वरुण राजा के आधिपत्य में ही है। इस भूलोक को तो हम कुछ जानते भी हैं, परन्तु वरुण राजा के अनन्त साम्राज्य के उस प्रकाशमय बडे भारी विभाग को हम अभी नाम-मात्र को ही समझते हैं। और वह द्युलोक भी इतना विलक्षण है कि वह "दूरे अन्ता" है, वह दूर भी है और समीप भी है। आधिभौतिक रूप से वह दूर होता हुआ भी आध्यात्मिक रूप से यही हमारे अन्दर मौजूद है। तो आध्यात्मिक रूप से उस 'द्यौ' का अधिष्ठाता होता हुआ वह वरुण हमारे अन्दर भी सूक्ष्म से सूक्ष्म हो कर घुसा हुआ है अर्थात् यो वह वरुण गहराई मे भी अनन्त है जहाँ कि वह विस्तार मे भी अनन्त है। एवं संसार के ये दो प्रसिद्ध बडे भारी समुद्र—एक पार्थिव समुद्र, भूमि का तीन पचमाश भाग जलराशिमय पारावार तथा दूसरा इससे भी बहुत बडा अन्तरिक्ष समुद्र, जलवाष्पमय पारावार—ये दोनो समुद्र उस वरुण की कोख के समान हैं। परन्तु वरुण देव आकार मे जहाँ इतने विशाल हैं, इतने विराट् शरीरवाले है कि ये बडे जल-समुद्र उनके कोख मे रहनेवाले जरा से पानी के समान है, तो साथ ही वे इतने सूक्ष्म भी हैं कि वे इतने विराट् शरीरधारी होकर भी इस जल के एक कण मे (एक बिन्दु मे) भी छिपे पडे हैं, समाये हुए हैं, व्याप्त हैं। वरुण राजा ऐसे है। अहो! वरुण प्रभु के इस महान् से महान् होने के साथ ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के स्वरूप की भी यदि हम उपासना करें, विस्तार के साथ गहराई मे भी बढे हुए होने का हम यत्न करें, तो इस साधन से भी हम इतने शक्तिशाली हो जायें और इतने सम हो जायें कि हमारे सब पाप स्वयमेव निवारण हो जायें, हमसे पापाचरण होना अस्वाभाविक हो जाय।

शब्दार्थ—(इयं भूमि.) यह भूमि (उत) भी (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की है तथा (असौ) वह (बृहती) बडा तथा (दूरे अन्ता) दूरता और समीपता वाला (द्यौः) द्युलोक (उत) भी वरुण राजा का है। (उत उ) तथा (समुद्रौ) ये दोनो समुद्र (वरुणस्य) वरुण देव की (कुक्षी) कोखें हैं (उत) और साथ ही वह (अस्मिन्) इस (अल्पे उदके) पानी की क्षुद्र बूंद में भी (निलीन.) छिपा हुआ है, व्याप्त है।

अभय ही अभय !

इदमुच्छ्रेयो अवसानमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ।।

अथर्व० १९ १४.१ ।।

विनय ऐ मेरे भाई ! मैंने अब तक तुमसे बहुत द्वेष किया, खूब दुश्मनी की। तुमने मुझे नुकसान पहुँचाया तो बदले मे मैंने तुम्हे पहुँचाया, तुमने फिर उसका बदला लिया तो मैंने उसका प्रत्युत्तर दिया, इस तरह हमारी द्वेषाग्नि दिनोदिन बढती ही गयी है, भयकर रूप धारण करती गयी है। इस द्वेष से हम दोनो ही का बहुत नुकसान हो चुका है, हम शीर्ण हो चुके हैं। मैं देखता हूँ कि क्रोध मे आकर दात पीसते हुए उत्तर का प्रत्युत्तर देते जाने का, ईट का जवाब पत्थर से देते जाने का, कही अन्त नही है सिवा इसके कि हम दोनो का शीघ्र ही पूरा विनाश हो जाय। इसलिये कल्याण इसी मे है कि अब हम इसे खतम करे। हम मे से कोई एक अब उत्तर का प्रत्युत्तर न देकर, क्रोध का जवाब क्रोध मे न देते हुए शान्ति मे देकर, इसमे विराम लगा दे। इसी मे कल्याण है, निश्चय से इसी मे कल्याण है। इसी तरह यह बढती जाती हुई, हमारा नाश करनेवाली क्रोधाग्नि शान्त होगी। द्वेष कभी प्रतिद्वेष से शान्त नहीं होता है। अत तुम तो चाहे अब भी मुझ से द्वेष करो, मुझे चाहे कितनी हानि पहुँचाओ, पर मैं अब उसका जवाब नही दूँगा। मैं आज इस द्वेष-परम्परा का अवसान करता हूँ। आज से तुम मेरे शत्रु नही हो, तुम तो मेरे भाई हो। मेरे हृदय के किसी कोने मे भी अब तुम्हारे प्रति द्वेष का लेश नही है। देखें, अब तुम मुझसे कब तक द्वेष करते रहोगे, कर सकोगे। मैं तो अब तुम्हारे क्रोध को, तुम्हारे क्रोध-प्रेरित सब नुकसान को प्रेमपूर्वक सहता ही जाऊँगा, प्रेम ही करता जाऊँगा। मैं आज अपने द्वेष के सब अस्त्र फेंक कर इस दिशा मे पूरी हार मानकर निश्चित हो गया हूँ। द्वेष खतम करते ही मैं तो आज बडा विश्राम अनुभव कर रहा हूँ। अब जब कि मैंने इस कल्याण के मार्ग का अवलम्बन किया है तो, हे द्यौ और पृथिवि ! अब तुम भी मेरे लिये कल्याणकारी हो जावो। मेरे अन्त द्वेष के कारण अब तक यह ससार भी मुझे तपता अनुभव हुआ करता था। पर अब तो यह सब आकाश और भूमि, आसमान और जमीन, यह सब ससार मेरे लिये कल्याणमय हो जाय। हे भाई ! केवल तुम्हारे प्रति ही नही, किन्तु किसी भी व्यक्ति के प्रति आज से मेरा द्वेष नही रहा है। अत ये सब विस्तृत दिशायें मेरे लिये आज से बिलकुल असपत्न हो गई हैं, शान्त और सुखदायिनी हो गई हैं।

शब्दार्थ—

(इदं उत् श्रेय) अब यह ही कल्याणकर है कि (अवसानं आ अगां) मैं अब समाप्ति पर आजाऊँ, द्वेष-परम्परा का विराम कर दूँ। अत. हे शत्रु ! (त्वा) तेरे साथ (न वै द्विष्म.) मैं तो द्वेष करना छोड ही देता हूँ। (द्यावा पृथिवी) द्यौ, और पृथिवी भी (मे) मेरे लिये (शिवे अभूताम्) अब कल्याणकारी हो जायें, (प्रदिश. मे असपत्ना. भवन्तु) सभी दिशायें मेरे लिये शत्रु रहित हो जायें (न. अभय अस्तु) मेरे लिये अब अभय ही अभय हो जाय।

सभी मित्र हों !

अभयं मित्रादभयममित्रात्, अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः, सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अथर्व० १९.१५ ६ ॥

विनय

हे जगदीश्वर ! इस तेरे जगत् मे, इस तेरे न्यायपूर्ण सच्चे शासन मे रहते हुए मुझे कोई भी भय क्यो होना चाहिये ? तू सब जगत् मे सदा कल्याण ही कल्याण कर रहा है तो फिर मुझे कभी डर क्यो होवे ? भय करना नास्तिक होना है, तुझ पर अविश्वास करना है, तुझे भुलाना है, तेरा द्रोही होना है। अत हे मेरे परमप्यारे, कल्याणस्वरूप स्वामी ! आज से मैं मन की दुर्बलता छोडकर अभय रहने का व्रत लेता हूँ। मैं अपनी शक्तिभर किसी भी भय के अधीन न होऊँगा। हे मेरे जगदीश्वर ! इसमें मेरी सहायता करो। भय न छोड कर तो मैं संसार मे कुछ भी नही कर सकता, सत्यपथ पर नही चल सकता, कभी भी तेरे दर्शन नही पा सकता । अत, हे प्रभो ! मुझे ऐसा बल दो कि संसार मे किसी भी मनुष्य से मुझे भय न हो; न मित्र से भय हो, न अमित्र से। सत्यपथ पर चलते हुए मुझे न मित्रो की नाराजगी आदि का भय हो और न अमित्रों द्वारा क्लेश पाने का। तेरे सामने मित्र अमित्र सब एक हैं। तेरे सामने मित्रों के अमित्र हो जाने से क्या डरना और अमित्रो द्वारा जो तू ही मुझ पर विपत् लाता है उससे क्या घबराना ! अनिष्ट तो तू मित्र और अमित्र दोनों द्वारा ला सकता है और लाता है। अत इन दोनो ही द्वारा मुझे इस भय से बचा। जो कुछ है और जो कुछ होगा, वह सब निस्सन्देह शुभ ही है। मेरा निर्बल मन बहुत सी घटित, ज्ञात, परिचित बातो को अनिष्टकर मान कर उनसे तो भयत्रस्त होता ही है, पर वह आगे आने वाली बातो मे सदा अनिष्ट की आशका करके भी यूँ ही भयपीडित बना रहता है "आगे न-जाने क्या होगा," "मेरे इस कर्म की सिद्धि होगी कि नहीं," "कहीं इसका फल, परिणाम बुरा न निकले," इस प्रकार का जो मुझ मे भय रहता है वह तो बडा ही आत्मघातक है। अत., हे मेरे अन्तर्यामी ! मुझ में अब ऐसा ज्ञान प्रदीप्त कर दो कि मेरे सब मोह हट जायें और मैं तेरे कल्याण-स्वरूप को सदा देदीप्यान देखता हुआ दिन मे या रात मे, सदा सब कालो मे, सब अवस्थाओं मे अभय रहूँ। ऐसा बल दो कि अधकार हो या प्रकाश, विपत् हो या सपत्, अनुकूलतायें हो या प्रतिकूलतायें मैं इन सब दिशाओ में सदा निर्भय रह सकूँ।

शब्दार्थ—

(मित्रात् अभयं, अमित्रात् अभयं) मुझे मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न रहे। **(ज्ञातात् अभयं)** जो मालूम हो गया है उससे भय न हो, और **(यः पुरः अभयं)** जो आगे है, आनेवाला है उससे भी भय न हो । **(नः नक्तं अभयं, दिवा अभयं)** हमे रात मे भी अभय हो, दिन में भी अभय हो **(सर्वा आशाः)** सब दिशायें सब दिशाओ के वासी प्राणी **(मम मित्रं भवन्तु)** मेरे मित्र हो जायें, मेरे मित्र रूप रहें ।



राष्ट्र वन्दना करो !

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

अथर्व० १९।४१।१॥

विनय हे राष्ट्रीय भाइयो ! क्या तुम जानते हो कि यह राष्ट्र कैसे उत्पन्न हुआ है ? हम वैयक्तिक पुरुषो के समूहात्मक इस राष्ट्र-पुरुष का कैसे जन्म हुआ ? यह हमारे पूर्व ऋषियो के 'तप' (पिता) और 'दीक्षा' (माता) का पुत्र है । प्रारम्भ मे उन सत्यदर्शी ऋषियो ने, जिन्हे स्वय आत्मसुख प्राप्त था, जो आप्तकाम थे अतएव जिन्हे अपना कुछ भी स्वार्थ न था और इसलिये जो केवल लोक-कल्याण के लिये जी रहे थे, भद्र के लिये (लोक-कल्याण के लिये) तप का अनुष्ठान किया । उन्होंने देखा कि सर्वलोकहित के लिये यह आवश्यक है कि वैयक्तिक शक्ति (बल व ओज) से ऊपर एक ऊँची बडी उत्कृष्ट शक्ति (बल और ओज) व्यक्तियो के सामने होये । अतः उन्होंने अपनी इस भद्र-कामना का विस्तार किया, सब मनुष्य एक दूसरे का भला चाहें, मनुष्यो मे एक सामुदायिक भले की भावना उत्पन्न हो, इसका उन्होने घोर यत्न किया । चूँकि मनुष्यो के क्षुद्रस्वार्थ इस उच्च भावना के विरोधी हैं, अतएव उन ऋषियो को मनुष्यो मे इस भावना के जमाने मे बडे कष्ट सहने पडे, बड़ी बड़ी तपस्यायें करनी पडीं । परन्तु वे दृढ-सकल्प ऋषि तो व्रत ग्रहण किये हुए थे, दीक्षित थे, इसी प्रयोजन के लिये ही मानो जन्मे थे, अत उन्होंने अपना व्रत पूर्ण किया और इस भावना को उत्पन्न कर दिया । सब व्यक्तियो मे उत्पन्न हुई इस भावना की मूर्ति ही राष्ट्र है । इस प्रकार, हे राष्ट्रीय भाइयो ! यह हमारा राष्ट्र उत्पन्न हुआ है और इस राष्ट्र-पुरुष का वह अभीष्ट बल और ओज भी प्रकट हो गया है जिससे कि सब राष्ट्र का कार्य चलता है । अत हे देवो ! ऋषियो की तपस्याओ से उत्पन्न हुए इस बलवान् तेजस्वी राष्ट्र-देव के सामने तुम भी झुको । यह राष्ट्रात्मा महादेवता देवो का भी वन्दनीय है । राष्ट्र का एक व्यक्ति बडे से बडा, विद्वान् से विद्वान्, महात्मा से महात्मा, देव से देव, होता हुआ भी राष्ट्र का एक व्यक्ति—उस संघात्मक राष्ट्र के सामने तुच्छ है । हे राष्ट्र के व्यक्ति देवो ! तुम इस राष्ट्र-देव की वन्दना करो । अपनी सम्मतियो, को अपने तुच्छ लाभो को, अपने शारीरिक मानसिक या रुपये पैसे के स्वार्थो को तथा अपनी बड़ी से बडी, प्यारी से प्यारी, कामनाओ को भी राष्ट्रीय हित के सामने तुरन्त झुका देने के लिये तैयार रहो । यही राष्ट्र-देव की वदना है ।

शब्दार्थ—

(स्वर्विदः) आत्मसुख प्राप्त किये हुए (ऋषयः) ऋषियो ने (भद्र इच्छन्तः) लोक कल्याण की इच्छा करते हुए (अग्रे) प्रारम्भ मे (तप उपनिषेदुः) तप का अनुष्ठान किया और (दीक्षां उपनिषेदुः) दीक्षा को ग्रहण किया । (ततः) उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रं जातं) राष्ट्र उत्पन्न हुआ (बलं ओजश्च जात) तथा राष्ट्रीय बल और ओज भी उत्पन्न हुआ (तत्) इसलिये (अस्मै) इस राष्ट्र के सामने (देवाः) देव भी (उपसंनमन्तु) ठीक प्रकार झुके, सत्कार करें ।

भूमिमातः !

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः, अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः, वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अथर्व १२.१.६२॥

विनय

हे भूमिमात. ! हम तेरे पुत्र हैं, तुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह पार्थिवदेह हमे तेरे रज कणों से मिली है । हे मात. ! हमे अपनी गोद मे विठलाओ। तेरी आनन्दमयी गोद मे वैठ कर हम सम्पूर्ण मातृसुख को प्राप्त करें, तेरे दुग्धामृत का पान भी करें। तू हमे केवल सुखमय आश्रय-स्थानो को ही नही प्रदान करती किन्तु अपने उन सर्व स्थानो मे तू हमे हमारे उपयोगी भोग्य-पदार्थों को भी देती है। तेरी ऐसी गोद मे हमारा आश्रय पाना, हमारे लिये रोगरहित, निरन्तर निर्वाध पुष्टि, (उन्नति) का देनेवाला हो। हे विस्तृत मातृभूमे ! तेरे आश्रय मे रहते हुए हमे जो तेरे अन्न, फल, औषध, जल, वायु, धन, पशु, मान, रक्षा, विद्या, सुख आदि मिलते हैं वे हमे ऐसे शुद्ध और उचित रूप मे मिलते रहे कि ये हमारे रोगो, भयो और दु खो को हटा कर हमारी स्वास्थ्यकर पुष्टि को ही करते जायें, हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति ही साधते जायें। यह तेरा सब भोग्य-पदार्थरूपी पुष्टिकारक दूध हे मात ! हम तेर वच्चो के लिये ही है—हम वच्चो की रोग भय रहित पुष्टि के लिये ही है। हमारी शरीरिक-उन्नति ऐसी अक्षुण्ण होये कि हम पूर्ण दीर्घ आयु को भोगे। हमारी मानसिक व आत्मिकउन्नति भी ऐसी अक्षुण्ण होये कि हम क्रमशः 'प्रतिबुध्यमान' होते जायें, उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान और बोध से (आत्म-जागृति से) युक्त होते जायें। एव हम अवोध वालको का ज्यो ज्यो ज्ञान वढेगा, हम सव प्रकार के ज्ञानो मे उन्नत होंगे, त्यो त्यो, हे मात ! हम तेरे अपने पर किये गये अपार उपकारो को भी—तेरे मातृत्व को भी—हम अधिक अनुभव करने लगेंगे तथा तेरे प्रति अपने कर्त्तव्यो के लिये भी जागृत हो जायेंगे। अत तब हम राष्ट्र-कर के इस तुच्छ धन की वलि, किसी भय से नही किन्तु 'प्रतिबुध्यमान' होते हुए, जानते हुए, इसे कर्त्तव्य समझते हुए—प्रेम मे तुम्हारे प्रति दिया करेंगे। केवल यह तुच्छ, साधारण, नित्यप्रति की वलि ही नही, किन्तु हे मात. ! हममे तेरे प्रति कर्त्तव्य का वोध ऐसा जागृत हो जाय कि हम तेरे लिये सव कुछ वलिदान करने को सदा उद्यत रहे। तुझ से मिला हुआ यह शरीर, यह आयु, यह प्राण, यह पुष्टि, यह धन, यह सव कुछ और किस काम के लिये है ? यदि ये तेरी वस्तुए आवश्यकता पडने पर तेरे लिये समर्पित न हो सकें—तेरे दूध को चुकाने का समय आने पर भी यदि हम इन्हे भेंट चढाने से हिचकें—तो ऐसे धन, ज्ञान और जीवन को धिक्कार है, इन पापमय वस्तुओ का भूमि पर रहना व्यर्थ है। नही, हम सर्वस्व तुझ पर वलि चढा देने को सदा उद्यत रहेंगे।

शब्दार्थ—(**पृथिवि**) हे भूमे ! हम (**ते प्रसूताः**) तुझसे उत्पन्न, तेरे पुत्र हैं, अतएव (**उपस्थाः**) तेरी गोद, तेरे आश्रय-स्थानो के सव पदार्थ (**अस्मभ्यं**) हमारे लिये हों और (**अनमीवा. अयक्ष्मा. सन्तु**) आरोग्यवर्धक व रोगनाशक होयें (**नः दीर्घं आयु.**) हमारी आयु दीर्घ होयें (**वयं**) हम (**प्रतिबुध्यमाना.**) जागते हुए ज्ञानसम्पन्न होते हुए (**तुभ्यं**) तेरे लिये (**वलिहृत**) अपनी वलि देनेवाले (**स्याम**) होयें।

हे इन्द्र !

यदचरस्तन्वा वावृधानो, बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से ॥

ऋ० १० ५४ २॥

विनय

हे इन्द्र परमेश्वर ! जो हम वेदो मे भी युद्ध वर्णन पाते है कि इन्द्र ने वृत्र को मारा, इन्द्र ने अपने वज्र से अमुक अमुक असुरो का संहार किया, इन्द्र सोम को पीकर मस्त होकर बडे पराक्रम के कार्य करता है, इन्द्र हवि को खाता है और हवि देनेवाले को धन देता है, तो ये सब वर्णन आलंकारिक हैं। स्थूल जगत् मे रहने वाले, स्थूल बुद्धिवाले हम मनुष्यों के हृदयो पर उसी वर्णन का प्रभाव होता है जो कि हमारे जैसा वर्णन हो, अतएव तुम्हारे शरीर का वर्णन किया जाता है, तुम्हारे युद्धों का वर्णन किया जाता है। हम माया मे रहने वालो को माया रूप से ही किया गया तुम्हारा वर्णन समझने योग्य होता है। असल मे न तुम्हारा कोई शरीर है न कोई भौतिक वज्र हैं। तुम्हारा शत्रु त्रिकाल मे भी कौन हो सकता है ? तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी माया, सब कुछ अपने अटल नियमो से चल रही है। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख स्वभावत हो रहा है। तुम न किसी के शत्रु हो, और न मित्र हो। तुम्हारी असली शक्ति की हम कल्पना तक नही कर सकते, वह तो अविज्ञेय है। हम तो इतना ही देख सकते हैं कि जगत् मे जो कुछ हरकत हो रही है, जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे सब नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं जो कि तुम्हारी ही एकमात्र शक्ति के एक अंग हैं। स्थूल रूप मे सब शक्ति सफलता व विजय के रूप मे दीखती है, अत. संसार की भाषा मे तेरी अनंत शक्ति का टूटा-फूटा वर्णन हम लोग इसी युद्ध के ढंग से किया करते है। तेरी अवर्णनीय शक्तियो का, बलो का ख्यापन हम मनुष्यो द्वारा और दूसरे किस तरह किया जाय ?

पर साथ ही यह भी ठीक है कि हमारे ये सब वर्णन माया हैं, अधूरे हैं, यह अवर्णनीयों का वर्णन है; यह अज्ञेय का काम-चलाऊ ज्ञान कराना है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत् तन्वा वावृधानः) जो तू शरीर के साथ बढता हुआ (अचरः) विचरा है (जनेषु बलानि प्रब्रुवाणः) मानो मनुष्यो मे अपने बलो को ख्यापित करता हुआ विचरता है (यानि युद्धानि आहुः) या जो यह वर्णन है कि तूने युद्ध किये है, (सा ते माया इत्) यह सब तेरी माया ही है। (न अद्य शत्रुं) असल मे तो न तेरा कोई आज शत्रु है (न पुरा विवित्से) और न कभी पहिले तूने अपना कोई शत्रु पाया है।

यज्ञ महिमा !

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधानाः, यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥

ऋ० १०.६७ २॥ अथर्व २० ९१ २॥

विनय

'यज्ञ यज्ञ' सब कहते हैं, पर यज्ञ के मूलतत्त्व को जानने वाले कोई विरले ही होते हैं। हम तो इतना जानते हैं कि जगत्-हित के लिये स्वार्थत्याग के कार्य करना यज्ञ है। इतना ठीक भी है पर यज्ञ के प्रथम रूप मे हम बहुत दूर हैं। यदि हमे कही वह रूप दीख जाय तब तो हम देख लें कि यज्ञ ही हमारा प्राण है, हमारा जीवन है; यज्ञ तो हमारे एक एक श्वास मे होना चाहिये। इस यज्ञ के 'प्रथम धाम' (मुख्य-स्थान) को जो साक्षात् देख लेते हैं वे 'अगिरस्' कहाते हैं, क्योकि ऐसे लोग इस जगत्-शरीर के अगो के रस होते हैं। ये वे महात्मा पुरुष होते हैं जो कि ससार को ठीक रास्ते पर ले जाते हुए ससार के प्राणरूप होते हैं। ससार मे जो पाप, अधर्म, स्वार्थ की शक्तियाँ प्रवृत्त हो रही हैं उनसे ससार का जीवन-रस सूख जाय यदि ये 'अगिरस्' उसमे निरन्तर धर्मधारा न बहाते रहे। इन अंगिरसो को वार वार प्रणाम है।

पर हमे तो यह जानना चाहिये कि ये 'अगिरस्' महात्मा कैसे बनते हैं ? इनके लक्षण क्या हैं ? इनके चार लक्षण हैं। (१) ये सत्य ही बोलते हैं, ये सत्य का ही वर्णन करने हैं। (२) केवल वाणी मे ही सत्य नही होता किन्तु इनके ध्यान व विचार मे भी कुटिलता नही आने पाती, इनके विचार मे—मन मे—भी असत्यता नही आती (अतएव) इनकी बुद्धि इतनी सच्ची और प्रकाशपूर्ण होती है कि इन्हें समष्टि-बुद्धि-रूप जो 'द्यौ' है उसके पुत्र कहना चाहिये और (३) ये वीर-पुत्र होते हैं क्योकि ससार सदा अज्ञान-शत्रु पर विजय पाने के लिये अग्रसर रहते हैं (४) और ये 'द्यौ के पुत्र' अपने मे 'विप्रपद' को ज्ञानमय व्यापक पद को धारण किये होते हैं—भगवान् को, भगवान् के एक ज्ञानमय व्यापक रूप को, अपने मे धारण किये फिरते हैं।

हे यज्ञकर्मों द्वारा ऊँचे चढने की इच्छा रखनेवाले और यत्न करनेवाले भाइयो ! अगिरसो के इन चार लक्षणो को अपने मे रमाते चलो, रमाते हुए चढते चलो।

शब्दार्थ—

(**ऋतं शंसन्त.**) सत्य ही कहनेवाले, (**ऋजु दीध्याना.**) अकुटिल ध्यान करने वाले, (**असुरस्य**) प्रज्ञावाले (**दिवः**) दिव के, 'द्यौ' के (**वीरा. पुत्रास**) वीर पुत्र, (**विप्रं पदं दधाना.**) और जो ज्ञानमय या व्यापक पद को धारण किये हुए है ऐसे (**अंगिरसः**) अगिरस लोग (**यज्ञस्य प्रथमं धाम**) यज्ञ के परम मुख्य स्थान को (**मनन्त**) जानते है। 

मेरी पुकार सुन !

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं, हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं, स्वस्तिर्नो मघवा धात्विन्द्रः ॥

ऋ० ६ ४७ ११॥ य २० ५०॥ सा०पू० ४.१ ५ २॥ अ० ७ ८६ १॥

विनय

यह ससार एक रणस्थली है। इसमे हरेक मनुष्य अपनी समझ के अनुसार किसी न किसी विजय पाने मे लगा रहता है और उसके लिये दिन-रात सघर्ष मे लग जाता है। यद्यपि इन सघर्षो मे विजय पाने के लिये मनुष्य प्राय: अपने शरीरवल, वुद्धि-वल, सगठन-वल, विज्ञान-वल, मित्र-वल, सैन्य-वल आदि वलो का प्रयोग करता हुआ अभिमान से समझता है कि मैं इन वलो द्वारा ये सव लडाइयाँ जीत लूँगा, परन्तु एक समय आता है जव कि मनुष्य इन सव वाह्य-वलो से हारकर, निराश होकर, ससार की किसी अज्ञात शक्ति को ढूँढने व पुकारने लगता है। 'हे राम' 'या अल्लाह' या 'O my God' आदि कह कर किसी न किसी नाम से, हे इन्द्र ! असल मे वह तुझे पुकार उठता है। तव पता लगता है कि, हे ससार की अज्ञात अदृश्य शक्ति ! तू ही एकमात्र शक्ति है। संसार के शेप सव वल तेरे ही आधार से वल है। जव तू चाहता है तव वे वल होते हैं, तेरी जव इच्छा नही होती तव किसी भी वल मे शक्ति नही रहती। इसलिये, हे इन्द्र ! तू ही मेरा सच्चा पालक है और तू ही एकमात्र सव आपत्तियो से मेरा रक्षक है। तुझ ही महापराक्रमी को हर सग्राम मे पुकारना चाहिये। तेरा ही पुकारना शोभन है, सुफलदायक है। और किसी को पुकारना निष्फल है, वेकार है। पुकारा हुआ तू भक्तजनों के सकट एक क्षण मे दूर कर देता है। तू सर्वशक्तिमान् है। अतएव तू 'पुरुहूत' है, सदा से जव से सृष्टि चली है सन्त लोग तुझे आडे समय मे पुकारते रहे हैं, याद करते रहे हैं। हे शक्र ! तुझे छोडकर मनुष्य और किसे पुकारे ? इसलिये, हे इन्द्र ! मैं भी तेरी पुकार मचा रहा हूँ। मघवन् ! तू मेरे लिये कल्याणकारी होता हुआ मेरी पुकार सुन। मैं निश्चय से जानता हूँ कि मैं तेरा पवित्र नाम लेता हुआ अपने इस जीवन की सव लडाइयो मे विजय पाता चला जाऊँगा। मुझे किसी युद्ध मे किसी भी अन्य हथियार की ज़रूरत नही। वस, तू मेरी वाणी पर रहे, यही चाहिये। तेरा नाम पुकारना मुझे सव विपत्तियो से पार कर देगा।

शब्दार्थ—

(त्रातारं इन्द्रं) पालन करनेवाले इन्द्र को, (अवितार इन्द्र) रक्षा करनेवाले इन्द्र को (हवे हवे सुहवं) एक एक संग्राम मे सुख से पुकारने योग्य (शूरं इन्द्रं) पराक्रमी इन्द्र को और (शक्रं इन्द्र) उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र को (पुरुहूतं इन्द्र) जिसे कि असख्यों सन् पुरुषो ने समय समय पर पुकारा है—उस इन्द्र का मैं भी (ह्वयामि) पुकारता हूँ, वुलाता हूँ। (मघवा इन्द्र:) वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (न: स्वस्तिः धातु) हमारा कल्याण करे।

मैं क्या हूं ?

न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदामागन्प्रथमजा ऋतस्य, आदित् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

ऋ० १ १६४ ३७॥ अथर्व० ६ १०.१५॥

विनय

मैं क्या कहूँ ? क्या मैं यह शरीर हूँ ? इसमे चेतना कहाँ से आई है ? मैं क्या वास्तव मे अमर हूँ ? यह कुछ समझ मे नही आता। या क्या मैं विल्कुल परिस्थितियो का गुलाम हूँ ? इन परिमितता के बधनो मे क्या मैं कभी छूट सकता हूँ? यह ससार किसलिये है ? किधर जा रहा है ? मेरा इससे क्या सबन्ध है ? कुछ नही समझ पाता। हमारे दर्शनो मे कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। उधर पश्चिम के दार्शनिक कुछ और वैज्ञानिक कुछ कहते हैं। मैं सब तरफ से बँधा हुआ अपने को अनुभव करता हूँ, सशयो से दबा हुआ इधर उधर भटकता फिरता हूँ, पर ज्ञान-तृप्ति कही नही होती है। कहते हैं कि जब 'ऋतभरा प्रज्ञा' का उदय हो जाता है तब कोई सशय नही रहता। उसके प्रकाश मे प्रत्येक वस्तु बिल्कुल यथावत् दिखाई देती है, वहाँ सशय और भ्रम हो ही नही सकता। वह यौगिक प्रत्यक्ष है,[1] उससे हरेक तत्त्व का साक्षात्कार, प्रत्यक्ष हो जाता है। ओह ! यदि वह 'ऋतभरा प्रज्ञा'[2] मुझे प्राप्त हो जाय तो ससार की वाणियाँ, वेद-शास्त्र, दर्शन (Philosophies) और विज्ञान (Science) जो कुछ कहते हैं, उस सब का मतलब हल हो जाय। ये भिन्न भिन्न वाणियाँ सब नव्य और पुरातन ग्रन्थ जो कुछ कहते हैं, उनकी प्रतिपादित वस्तु मिल जाय। फिर ये परस्पर विरुद्ध दीखने वाले शास्त्रवचन मुझे बहका न सकेंगे। बस, वह ऋतभरा प्रज्ञा चाहिये और कुछ नही चाहिये। वही मेरे इस भयकर सन्निपात रोग का एकमात्र इलाज है। मुझे उसके बिना अब किसी सासारिक ज्ञान से चैन नही मिल सकता। आह ! ऋतभरा प्रज्ञा ! ऋतभरा प्रज्ञा !! उसी के लिये मेरे सारे यत्न।

शब्दार्थ—

(यदि वा इदमस्मि) मैं यह हूँ या नही, क्या हूँ, **(न विजानामि)** यह कुछ जान नही पाता, **(निण्यः)** दबा हुआ, **(सन्नद्धः)** पूरी तरह बँधा हुआ **(मनसा चरामि)** सशयित मन से फिरता हूँ। **(यदा)** यदि **(मा)** मुझे **(ऋतस्य प्रथमजा.)** सत्यस्वरूप की प्रथमोत्पन्ना बुद्धि **(आगन्)** प्राप्त हो जाय **(आत् इत्)** तो मैं **(अस्याः वाचः भाग)** वाणी मात्र के प्रतिपाद्य विषय को **(अश्नुवे)** पा जाऊँ।

१—'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'' "श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्" योग-दर्शन १।४७-४८।

२—ऋत सत्यमेव बिभर्तीति ऋतम्भरा।

हे पुरुष !

उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममसृतं सुखं रथं, अथ जिर्वि विदथमावदासि ।।

अथर्व० ८.१ ६।।

विनय हे पुरुष ! तू इस सृष्टि मे मुरझाया हुआ, गिरी हुई तबीअत से क्यो रहता है ? तू उठ । तुझे तो दिनो दिन उन्नत होना चाहिये । तू अपने आप को विकसित करने के लिये ही ससार मे आया है । तुझे जीवन द्वारा आत्मा की शक्तियो का प्रकाश करना है । तेरे जीवन को, प्राण को, वल से सयुक्त करता हूँ । तेरे प्राण मे महावल भरा हुआ है, इस वल को पाकर लगातार तेरा उत्थान, उन्नति होती जाय । अपने आपको पतित करने का, या हिम्मत हारने का क्या काम है ? इस बल को तू जगाता जायेगा तो तेरा 'जीवातु' (जीवन) एक उत्तरोत्तर आनन्ददायक यात्रा हो जायगी । अत तू इस 'दक्ष' से युक्त होकर अव इस शरीररूपी रथ पर सवार हो जा । अभी तक तू इस पर सवार नही था किन्तु शायद यह शरीर तुझ पर सवार रहा है । उठ, इस शरीर का तु अधिष्ठाता है यह रथ तेरा है । इसे अपने अधीन रख कर चला तो पता लगेगा कि यह रथ कितना सुख से चलनेवाला है । तव शरीर के क्लेश, रोग आदि का तुझ पर प्रभाव न हो सकेगा । वल्कि तेरे प्रभाव से यह शरीर रोगादि से रहित स्वस्थ हो जायगा । यही नही, किन्तु यदि तू इस रथ का पूरा सवार, रथी, अधिष्ठाता हो जायगा तो तू चाहे तो तेरा अमर आत्मा उस प्राण-वल द्वारा इस रथ को अमृत भी वना सकता है, सव अणिमादि सिद्धियां और 'काय-सपत्' इसमे प्रकट हो सकती हैं । इसीलिये कहता हूँ कि तू उठ ! इस सुखमय अमृत रथ पर चढ जा और इस द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-विकास को करता हुआ उन्नत उन्नत होता जा । इस वल को पा लेने के वाद, इस रथ पर चढ जाने के वाद, कभी 'क्रमिक ह्रास' का नियम नही लग सकता है । वह प्राण-वल तुझमे दिनोदिन वढता ही जायेगा । स्वभावत वृद्धावस्था के आने पर भी तेरी शक्ति मे ह्रास नही आना चाहिये । उत्तरोत्तर वढता हुआ प्राण-वल तो वृद्धावस्था मे पूर्ण विकसित हो जाता है, 'वसु' और 'रुद्र' अवस्था से उठकर उस समय प्राण 'आदित्य' रूप हो जाते हैं । जैसे प्राण-भडार आदित्य सव जगह अपनी किरणो को फैलाता है, उसी तरह वृद्धावस्था मे तू अक्षीण शक्ति होकर अपने विशाल अनुभव-ज्ञान को सव मनुष्य-समाज के लिये प्रदान करता रह ।

शब्दार्थ—(पुरुष) हे जीव ! (ते उद् यान) तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो, (न अवयान) नीचे पतन कभी नही । (ते जीवातु) तेरे जीवन को (दक्षताति) वल से युक्त (कृणोमि) करता हूँ । (इम) इस विद्यमान (अमृत) अमृत युक्त (सुख) सुखकारी (रथ) रथ पर (हि) निश्चय से (आरोह) तू चढ जा । (अथ) फिर (जिवि.) जीर्ण हो कर, बुढापे मे भी (विदथं) ज्ञान का (आवदासि) प्रचार करता रह ।

नोट—'जीवातु ते दक्षताति कृणोमि' ये शब्द मुझे परमात्मा कह रहे है और उन्होंने मेरे शरीर मे दक्ष (बल) का सचार कर दिया है ऐसा अनुभव कीजिये ।

हे प्रभो !

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

अथर्व० १२ १.१॥

विनय

हे प्रभो ! जिस भूमि पर हम रहते हैं वह भूमि हमें उन्नत करे, हमें विशाल बनाये। हम इसे धारण करने का पूरा यत्न कर रहे हैं। जब कभी हम मोहवश यह समझ लेते हैं कि कूटनीति अर्थात् झूठ, कपट, चालाकी आदि से अपने देश, राष्ट्र व मातृभूमि की धारणा होगी तब हम भूले होते हैं। पृथिवी को धारण करनेवाले जो आवश्यक गुण हैं, उनमें तो सब से पहिला सत्य है। वह महान् सत्य जिससे विश्व-ब्रह्माण्ड स्थित है, हमारी भूमि को भी वह ही धारण किये हुए है। और केवल सत्य-ज्ञान ही नहीं, किन्तु उसका आचरण राष्ट्र को स्थिर रखता है। हमें कठोरता के साथ, तेजस्विता के साथ, पूरा पूरा सत्याचरण करना चाहिये। हममें जितना सत्य होगा, जितनी उग्र सत्यचर्या होगी, जितना हम दृढ संकल्प होकर ग्रहण किये व्रतों को निवाहनेवाले होंगे, जितने हम राष्ट्र के लिये कष्ट सह सकेंगे, जितना हमें अनुभूत ज्ञान होगा और जितना हम निस्वार्थ होकर परोपकार वृत्तिवाले होंगे, उतना ही यह हमारा देश अचलतया स्थित रहेगा। भूमि को कोई राजा, शासन या प्रजा नहीं धारण करते, किन्तु वहाँ के वासियों में स्थित ये छः गुण ही एकमात्र भूमि के धारण करनेवाले होते हैं। यह जानकर इन गुणों को हम अपने में लाने का पूरा यत्न करते हुए ही यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्यारी मातृभूमि हमें विस्तृत और विशाल बनाये। हम इन गुणों की साधना द्वारा अपनी मातृभूमि को धारण करें और यह भूमि हमारे भूत और भव्य की रक्षा करनेवाली होकर हमें उन्नत करे। हम अपने भूत के आधार पर ही भविष्य में उन्नत हो सकते हैं और जितना ही हम अपने राष्ट्र के साथ एक होंगे, तादात्म्य करेंगे, उतना दूर तक हम अपने राष्ट्र के भूत में प्रविष्ट होंगे और उतना ही अपने भविष्य को उज्ज्वल और महान् बना सकेंगे। इस तरह मातृभूमि की हमारी उपासना हमें सुविशाल कर दे। राष्ट्र का व्यक्ति मातृभूमि के जीवन और मरण के साथ ही जीता या मरता है। मातृभूमि की अनन्यभाव से उपासना मनुष्य को इतनी विस्तृत आयु (जीवन) प्रदान कर देती है ! तब मनुष्य क्षुद्र बातों से कितना ऊँचा हो जाता है ! आओ, हम आज से उन सत्य आदि महान् [बृहत्] गुणों को अपने में धारण करते हुए अपनी मातृभूमि की सच्ची पूजा किया करें जिससे यह भगवती मातृभूमि हमारे भूत के दृढ़ चट्टान पर हमारे उज्ज्वल भव्य की रचना को सुरक्षित करती हुई हमारे लिये उन्नत विशाल क्षेत्र को खोल देवे— उस भूत और भव्य को व्याप्त कर लेनेवाले विस्तृत लोक को हमारा बना देवे।

शब्दार्थ - (बृहत् सत्य) महान् सत्य (उग्र ऋत) कठोर सत्याचरण (दीक्षा) व्रतपालन (तपः) कष्टसहन (ब्रह्म) अनुभव-ज्ञान (यज्ञ) निस्वार्थ कर्म ये (पृथिवीं धारयन्ति) पृथिवी को धारण कर रहे हैं। (भूतस्य भव्यस्य पत्नी) भूत और भव्य की रक्षा करनेवाली (सा नः पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिए (उरुं लोकं) विस्तृत लोक को, विशाल क्षेत्र को (कृणोतु) करे।

मेरा मन !

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्, प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० ३४. ५ ॥

विनय हे प्रभो ! मेरे चित्त का मैल अभी तक नही निकला। स्वार्थ-कामना, राग-द्वेष, मोह आदि मलिनता इसमे सूक्ष्मता से ऐसी चिमटी हुई हैं कि इस सूक्ष्म मैल के कारण मेरे विना जाने भी इसमे अशुभ सकल्प पैदा हो जाते है। हे नाथ ! मेरे मन को इतना मजबूत कर दो कि कम से कम इसमे अशुभ राग-द्वेषात्मक संकल्प तो न उठें, 'उदार' रूप मे न आयें। मुझे तो इस मन से परम पुरुषार्थ साधना है, सत्यज्ञान को प्राप्त कर लेना है। पर यह मन अभी इतना भी शुद्ध और बलवान् नही हुआ है कि सदा शिवसकल्प बना रहे। मन में तो सब वेदज्ञान भी मौजूद है। ऋक्, यजु, साम, तीनों प्रकार का वेदज्ञान मन के ही आश्रित है। मैं देख रहा हूँ कि जैसे कि रथनाभि मे अरे लगे रहते हैं वैसे सब वेद मन मे रखे हुवे हैं। हे परमेश्वर ! यह प्रलय मे भी नष्ट न होनेवाला तुम्हारा अनन्त नित्य वेदज्ञान तुम्हारे सर्वव्यापक परम शुद्ध मनमे ही तो—'प्रकृष्ट चित्तसत्त्व' मे ही तो—रहता है। और वही से यह वेद-ज्ञान ऋषियों ने अपने शुद्ध मनो मे पाया है और वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि बने हैं। सचमुच वेद-ज्ञान पुस्तको मे नही है, यह मन में है। मैं जानता हूँ कि संपूर्ण वेदराशि, तीनों प्रकार का वेद-ज्ञान, मेरे भी मन मे रखा हुआ है। मेरे भी मन के उच्च, पवित्र होने पर वे तीन अवस्थायें आ सकती हैं जिनमे कि ऋक्-ज्ञान, यजु-ज्ञान, और साम-ज्ञान स्वभावत मुझ मे प्रकाशित हो सकेंगे। सभी प्रजाओ के सभी मनुष्यो के मनस्तत्त्व में जहां उनका सब प्रकार का चित्त, उनके सस्कारो का महाकोष, उनका अनन्त वासनाजाल, सब योनियो की सब प्रकार की असख्यात वासनायें मौजूद हैं, वही मन मे सब सत्य-ज्ञान भी मौजूद है। पर यह सब जानते हुवे भी मैं लाचार हू। बल्कि मैं चूंकि इस अनन्तभण्डार को जानता हूँ इसी लिये छटपटा रहा हूँ। मुझे तो अपने मनमें वेदज्ञान को प्रकाशित करना है, पर यह अभी कुसस्कारो से भरा पडा है। मेरे मन को तो सत्य-संकल्प बनना है, पर यह अभी शिव-सकल्प भी नही बना है। हे हृदय वासी ! कृपा करके मेरे मन को ऐसा दृढ कर दो कि मुझमे चाहे कितने सकल्प उठें और जब जो सकल्प चाहे वही उठे, पर वे सब सकल्प शुभ ही शुभ हो, उनमे कोई अशिव न हो। मुझ मे अकल्याणकारी संकल्प उठने तो अब बंद ही हो जायें। मन की इतनी शुद्धि, इतनी प्रबलता तो प्रदान कर ही दो।

शब्दार्थ—(यस्मिन्) जिस मनस्तत्त्व मे (ऋच. साम) ऋक्-ज्ञान और साम-ज्ञान तथा (यस्मिन् यजूंषि) जिस मे सब यजु-ज्ञान भी (प्रतिष्ठिता) इस तरह स्थापित हैं (इव) जैसे कि (रथनाभौ अरा) रथनाभि मे अरे लगे रहते है, जड़े रहते हैं और (यस्मिन्) जिस मनस्तत्त्व मे (प्रजाना सर्वं चित्तं) प्रजामात्र का सपूर्ण चित्त, सब सस्कारो से चित्रित और सर्व वासना-जाल से युक्त चित्त (ओत) ओत-प्रोत हुआ हुआ, पिरोया हुआ है (तत् मे मन.) वह मेरे अन्दर स्थित मन (शिवसंकल्प अस्तु) सर्वथा शुभ ही सकल्प करनेवाला हो जाय।

प्राण अजेय !

वृत्रस्य त्वा श्वसथात् ईषमाणाः, विश्वे देवाः अजहुः ये सखायः।
मरुद्भिः इन्द्र सख्यं ते अस्तु, अथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥

ऋ० ८ ९६ ७॥

विनय

हे मेरे आत्मा ! तेरे असली साथी तो प्राण ही हैं। जब तक प्राण तेरे साथी नहीं हो जाते तब तक अन्य देवो का साथ बेकार है, बल्कि समय पर धोखा देनेवाला है। मैं जब उत्तम ग्रन्थ पढता हूँ, सन्तो की वाणी सुनता हूँ, पवित्र उपदेश श्रवण करता हूं तब मन मे बड़े दिव्य, उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं, आन्तरिक मनन और भावन से मन की अवस्था ऐसी ऊंची हो जाती है कि हृदय मे मानो देवसमाज लग जाता है। मैं अपने को बिलकुल निर्विकार, निष्काम, और पवित्र समझने लगता हूँ। परन्तु पाप-प्रलोभन के आते ही यह सब का सब उलट जाता है, वृत्रासुर के सम्मुख आने पर इस सब देव-समाज मे भग्गी पड जाती है, उसकी फुकार से सब दिव्यविचार क्षण मे उड जाते हैं, जरा सी देर मे हृदय मे महाबली वृत्रासुर का राज्य जम जाता है। उस समय मैं यह जानता हुआ भी कि मैं बुरा कर रहा हूँ, पाप कर रहा हूँ, पाप की तरफ खिचा चला जाता हूँ। मनुष्य इस अवस्था से कैसे पार होए? इसका एक ही इलाज है कि मनुष्य प्राणो की समता प्राप्त करे। प्राणो का सम होना ही प्राणो का (मरुतो का) आत्मा के साथ मैत्री होना है। आत्मा के साथ जुडने पर, आत्मा के समीप होने पर प्राण सम और शान्त हो जाते हैं। ये सम हुए प्राण कार्य करने के बड़े प्रबल साधन बन जाते हैं। प्राण की सम अवस्था मे जो विचार होते है, वे स्थिर और दृढ होते हैं, इस अवस्था मे किये गये सकल्प बडा विस्तृत प्रभाव रख ते हैं। आत्म-शक्ति जब प्राणो को आत्मगृहीत करके उन द्वारा प्रकट होती है तो उसके सामने कोई नही ठहर सकता, सब वासनायें दब जाती हैं, कोई भी पाप-विचार सिर ऊपर नही उठा सकता। बडे बड़े प्रलोभन, पाप की बडी बडी फौजें आत्मा के एक सकल्प के द्वारा दब जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं, आत्माग्नि की एक लपट मे भस्म हो जाती हैं, जब कि वह आत्म-सकल्प सम हुए, सखा बने हुए प्राणो द्वारा प्रकट होता है, और जब कि आत्माग्नि प्राणमाध्यम द्वारा सहस्र-गुणित होकर जल उठती है। प्राणो की इस मैत्री को, दोस्ती को पा कर आत्मा क्या नही कर सकता ? प्राण महाबली है। वह जब तक असम रहता है तब तक उसका बल वृत्रासुर के काम आता है, पर जब वह सम हो जाता है तो वह आत्मा का हो जाता है। आत्मा का सखा प्राण अजेय है।

शब्दार्थ—

(**इन्द्र**) हे आत्मन् ! (**विश्वे देवा**) सब देव, सब दिव्यभाव (**ये सखाय.**) जो कि तेरे साथी बनते हैं (**वृत्रस्य श्वसथात्**) पापासुर के साँस से, फुकार से, बल-प्रदर्शन से (**ईषमाणा**) डरकर भाग जाते हुए (**त्वा**) तुझे (**अजहु**) छोड देते हैं। हे इन्द्र ! (**ते सख्य**) तेरी मैत्री, तेरा साथ (**मरुद्भि**) प्राणो के साथ (**अस्तु**) यदि होता है या होए (**अथ**) तो तू (**इमा विश्वा पृतना.**) पाप की इस सब बडी फौज को (**जयासि**) जीत लेता है।

अकेले मत भोगो !

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १० ११७ ६॥

विनय ससार मे धनी दीखनेवाले दुर्बुद्धि (पापबुद्धि) मनुष्यो के पास जो अन्न-भण्डार और नाना भोग-सामग्री दिखाई देती है, क्या वह भोग्य सामग्री है ? अरे, वह सब भोग-विलास का सामान तो उनकी 'मौत' है । वह भोग्य वस्तुयें नही हैं किन्तु उनको खा जानेवाले ये इतने उनके भोक्ता हैं, भक्षक है । भोग्य सामग्री का मनोहर रूप धरके आया हुआ उनका काल है, उन्हे खाजाने के लिये आया हुआ काल है । मनुष्यो ! तुम्हे इस विचित्र बात पर विश्वास नही होता होगा, किन्तु मैं सच कहता हूं, सच कहता हूं और फिर सच कहता हूं कि पापी दुर्बुद्धि पुरुष के पास एकत्रित हुआ सब सासारिक-भोग का सामान उसकी मृत्यु का सामान है, केवल मृत्यु का ही सामान है; इसमे जरा भी सन्देह नही है । क्योंकि वह पुरुष अपने इस धन, ऐश्वर्य द्वारा केवल अपने देह को ही पोषित करता है । न तो वह उस द्वारा अपने अन्य मनुष्य-भाइयो को पोषित करके अपने स्वाभाविक यज्ञ-धर्म को पालता है, न ही वह अर्यमादि देवो के लिये आहुति देकर आधिदैविक् जगत् के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित रखता है । यदि वह आधिदैविक आदि जगत् को पोषित करता हुआ इसके यज्ञ-शेष से अपने को पोषित करे तब जो भोग-सामग्री उसके लिए अमृत हो सकती थी वही भोग-सामग्री उसकी 'मौत' बन जाती है । मनुष्यो ! याद रखो कि अकेला भोगनेवाला औरो को बिना खिलाये स्वयमेव अकेला भोगनेवाला मनुष्य, केवल पाप को ही भोगता है । जब कि चारो तरफ असख्यो पुरुष एक समय भी भरपेट भोजन न पा सकनेवाले, भूखे-नंगे, झोपडो मे पडे हो तो उनके बीच मे जो हलुवा पूरी खाने वाला, महल मे रहने वाला, पलग पर सोनेवाला 'अप्रचेता' पुरुष है उससे तुम क्या ईर्ष्या करते हो? तुम्हे बेशक वह मजे मे हलुवा पूरी खाता हुआ नजर आता है, पर जरा सूक्ष्मता से देखो, तो वह बिचारा तो केवल अपने पाप को भोग रहा होता है, वह केवल शुद्ध पाप का भागी होता है और इस अयज्ञ के भारी पाप-बोझ को वह अकेला ही उठाता है, इसमे उनका कोई और साथी नही होता । "केवलाघो भवति केवलादी" यह ससार का परम सत्य है । इसे कभी मत भूलो । (शरीर, मन और आत्मा तीनो को पुष्टि करने-वाले) सच्चे भोजन मे और (शीघ्र ही विनाश को पहुँचा देनेवाले) पापमय भोजन में भेद करो । पाप से सना हुआ हलुवा पूरी खाने की अपेक्षा रूखा-सूखा खाना या भूखा रहना हजारो गुणा श्रेष्ठ है । पहिले तरह का भोजन मौत है, दूसरा अमृत है ।

शब्दार्थ—(अप्रचेता.) दुर्बुद्धि मनुष्य (मोघ) व्यर्थ ही (अन्न) भोग-सामग्री को (विन्दते) पाता है । (सत्यं ब्रवीमि) सच कहता हूँ कि (स) वह भोग-सामग्री (तस्य) उस मनुष्य के लिये (वध इत्) मृत्यु रूप ही होती है—उसका नाश करने-वाली ही होती है । ऐसा दुर्बुद्धि (न अर्यमणं पुष्यति) न तो यज्ञ द्वारा अर्यमादि देवों की पुष्टि करता है (नो सखायं) और न ही मनुष्य-साथियो की पुष्टि करता है । सचमुच वह (केवलादी) अकेला खाने—भोग करने—वाला मनुष्य (केवलाघो भवति) केवल पाप को ही भोगनेवाला होता है ।

धन का प्रयोग

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसं अनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा, अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥

ऋ० १० ११७.५॥

विनय धन को जाते हुए कितनी देर लगती है? व्यापार मे घाटा हो जाता है, चोर लुटेरे धन लूट ले जाते हैं, बैंक टूट जाते हैं, घर जल जाता है आदि सैंकडो प्रकारो से लक्ष्मी मनुष्य को क्षणभर मे छोड़कर चली जाती है। वास्तव लक्ष्मीदेवी बडी चचल है। वह मनुष्य कितना मूर्ख है जो यह समझता है कि दस, यदि मैं दूसरों को धन दान नही करूँगा तो और किसी तरह मेरा धन मुझसे जुदा नही हो सकेगा। अरे, धन तो जब समय आयेगा तो एक पलभर मे तुझे कगाल बनाकर कही चला जायगा। इसलिये, हे धनी पुरुष! यदि इस समय तेरे शुभ कर्मों के भोग से तेरे पास धन संपत्ति आई हुई है तो तू इसे यथोचित दान मे देने मे कभी सकोच मत कर। जीवनमार्ग को जरा विस्तृत दृष्टि से देख और सत्पात्र को दान देने मे अपना कल्याण समझ, अपनी कमाई समझ। सच्चा दान करना, सचमुच जगत्पति भगवान् को उधार देना है जो कि बडे भारी दिव्य सूद के साथ फिर वापिस मिलता है। जो जितना त्याग करता है वह उससे न जाने कितना गुणा अधिक प्रतिफल पाता है, यह ईश्वरीय नियम है। दान तो ससार का महान् सिद्धान्त है। पर इस इतनी साफ बात को यदि लोग नही समझते हैं तो इसका कारण यह है कि वे मार्ग को दूर तक नही देखते है। जीवन-मार्ग कितना लम्बा है, यह संसार कितना विस्तृत है और इस ससार मे जीवो को उनके शुभ, अशुभ कर्मों का फल उन्हे कब का कब मिलता है, यह सब कुछ नही दिखाई देता। इसीलिये हमे ससार मे चलते हुए वे अटल नियम भी दिखाई नही देते जिनके अनुसार सब मनुष्यो को उनके शुभ, अशुभ कर्मों का फल अवश्य-म्भावितया भोगना पडता है। यदि इस ससार की गति को हम जरा भी ध्यान के साथ देखें तो पता लगेगा कि धन-सम्पत्ति इतनी अस्थिर है कि यह रथचक्र की तरह घूमती फिरती है, आज इसके पास है तो कल दूसरे के पास है। पर हम इतनी क्षुद्र दृष्टिवाले हैं और इसी लिये इस 'आज' मे ही इतने ग्रस्त है कि हम 'कल' को देखते हुए भी देखते नही हैं! ससार मे लोगो का नित्य धननाश होता हुआ देखते हुए भी अपने धननाश के समय से एक पल पहिले तक भी हम इस घटना के लिये कभी तैयार नही होते और इसीलिये जरा से धननाश होने पर इतने रोते चीखते भी है। यदि हम मार्ग को विस्तृत देखें तो इन धनागमो और धननाशो को अत्यन्त तुच्छ बात समझें। यदि ससार मे प्रतिक्षण चलायमान, घूमते हुए, इस धन-चक्र को देखें, इस बहते हुए धनप्रवाह को देखें, तो हमे धन जमा करने का जरा भी मोह न रहे।

शब्दार्थ—(तव्यान्) धन से बढे हुए समृद्ध पुरुष को चाहिये कि वह (नाधमानाय) माँगनेवाले सत्पात्र को (पृणीयात् इत्) दान देवे ही, (पन्था) सुकृत मार्ग को (द्राघीयांसं) दीर्घतम (अनुपश्येत) देखे। इस लम्बे मार्ग मे (राय) धन सम्पत्तियाँ (उ हि) निश्चय से (रथ्या. चक्रा इव) रथ-चक्रो की तरह (आ वर्तन्ते) ऊपर नीचे घूमती रहती हैं, बदलती रहती है। और (अन्यं अन्य उपतिष्ठन्ते) एक को छोड कर दूसरे के पास जाती रहती हैं।



दया कर !

अपाम सोमं अमृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

ऋ० ८.४८.३॥

विनय

मैंने अमर करनेवाले ज्ञानामृत का पान कर लिया है, मैं तृप्त हो गया हूँ, अमर हो गया हूँ। अब मैं मृत्यु से पार हो गया हूँ, क्योंकि मैंने देख लिया है कि मैं अजर अमर हूँ, नित्य हूँ, सनातन हूँ, न कभी पैदा हुआ हूँ और न कभी मर सकता हूँ। यह सब मैं ज्ञान के प्रकाश मे साफ देख रहा हूँ। मैं प्रकाश के राज्य मे पहुचा हुआ हूँ, किसी भ्रम व सशय को स्थान नही है। मैं अब मरनेवाला मनुष्य नही रहा हूँ, देव हो गया हू, मैंने देवलोक पा लिया है। अब मेरा न कोई मित्र है और न शत्रु है। मेरे लिये ससार मे विघ्न बाधा कोई वस्तु नही रही है। जो विचारे अज्ञानी मुझे अपना शत्रु समझते हैं, मुझे सहायता देना रोक कर हानि पहुँचाना चाहते हैं— वे जानते नहीं। उनके किये मे भला मेरा क्या बिगड सकता है? मुझ परितृप्त निष्काम पुरुष को वे क्या हानि पहुँचा सकते हैं? मुझ अमर को मरणशील मनुष्य की कौन सी हिंसा, कौन सा वध मार सकता है? हे मेरे अमृत परमेश्वर! वे अमृतपान को कुछ भी नही जानते। तू उन्हे भी अमृत का ज़रा मज़ा चखा दे, तो वे जान जायें कि मरणशील मनुष्य कितना तुच्छ है और उसके हाथ मे पकड़ा हुआ और भी अधिक क्षणभगुर हिंसा का हथियार कितना अधिक तुच्छ है! मनुष्य अपने मर्त्यपन की अवहेलना को अनुभव करने लगे तो वह अमर बनने के लिये, देव बनने के लिये व्याकुल हो उठे। तब मार-काट, हिंसा, द्वेष कहाँ रहे? तब किसी को बिगाड़ने की जरूरत न रहे, सब को बनाना ही काम हो जाय, किसी को मारने, नाश करने की जरूरत न रहे, सबको जीवित करने का ही काम रह जाय। अहो, अमर को मारने की इच्छा करने वाले कितना व्यर्थ प्रयास कर रहे है! परितृप्त ज्ञानी देव को नुकसान पहुँचाना चाहनेवाले कितने भ्रम मे हैं! अपनी शक्ति का कितना दुरुपयोग कर रहे है! हे परमेश्वर! तू उन पर दया कर।

शब्दार्थ—

(सोमं अपाम) मैंने सोम का पान किया है, (अमृता. अभूम) अमर हो गया हूँ। (ज्योति. अगन्म) प्रकाश पा लिया है। (देवान् अविदाम) देवों को प्राप्त हो गया हूँ, देव हो गया हूँ, मैंने दिव्यता पा ली है, सो अब (नून) निश्चय से (अरातिः) शत्रु, दान का अभाव (अस्मान् किं कृणवत्) हमारा क्या करेगा और (मर्त्यस्य धूर्तिः) मरणशील मनुष्य की हिंसा (अमृत) हे अमृत देव! (किं) मेरा क्या बिगाड़ेगी!

हम से बात करो।

**त्रातारो देवा अधिवोचता नो, मा नः निद्रा ईशत मोत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः, सुवीरासो विदथमावदेम ॥**

ऋ० ८·४८ १४॥

विनय

हे प्राकृतिक देवो! तुम हम से बात करो। तुम हमारे से इतने स्वाभाविक और नज़दीकी सम्बन्ध मे हो जाओ कि हम तुम्हारे अभिप्राय को सदा समझते रहे। हे रक्षक देवो! तुम तो हमारे इतने आत्मीय हो कि यद्यपि हम अप्राकृतिक जीवन बिताते हुए अपनी हानि करने मे कभी कुछ कसर नही छोडते हैं तो भी तुम्हारी प्रवृत्ति सदा अन्त तक हमारी रक्षा करने की ही रहती है। हमे हानि तभी पहुँचती है जब कि हम तुम्हारी बात अन्त तक नही सुनते, तुम्हारे बार बार सावधान करने पर भी हम तुम्हारी चेतावनी को नही सुनते। और तुम्हारी ज़ोरदार आवाज़ भी हमे सुनाई इसीलिये नही देती चूँकि हम तुमसे समस्वर (In tune) नही रहते, तुम्हारे यन्त्र से अपना यन्त्र मिलाये नही रखते। पर इस समता मे ही सब कुछ है। हम या तो तमोगुण मे पड़े रहते हैं या उस से उठते हैं तो रजोगुण हमे अपने चक्र पर चढा लेता है। इन दोनो की समता (सत्त्व गुण) मे हम टिक नही सकते। हममे यह सामर्थ्य नही है कि हम अपनी निद्रा को या अपनी बोलने आदि की क्रिया को अपने काबू मे रख सकें। जब 'तम' का वेग आता है तो हम आलस्य मे दब जाते हैं और जब 'रज' का वेग आता है तो हम बोलते चले जाते हैं। इस असमता को, हे देवो! अब हमसे हटा दो। अब 'निद्रा' और 'जल्पि' हम पर अपना प्रभुत्व न कर सकें। हम अब जब चाहे तभी आराम करें, अपनी निद्रा लेवे और अपने भाषण आदि कर्म पर अपना पूरा सयम रख सकें। इस समता, सयम रख सकने मे ही श्रेष्ठ वीरता है, सुवीरता है। यदि हम ऐसे हो जायेंगे तो, हे देवो! तुम सब देवो के देव उस सोम देव के भी हम प्यारे हो जायेंगे। अब हमारी यही इच्छा है कि उस सोम प्रभु के प्यारे होते हुए और समता मे रहनेवाले ऐसे 'सुवीर' होते हुए ही हम अपना जीवन बितायें। ऐसे तुम्हारे भाई बनकर तुमसे जो कुछ ज्ञान पायें उसे अपने जीवन द्वारा फैलाते रहे—तुमसे जो कुछ सुने उसे औरो को भी सुनाते रहे। इसलिये, हे देवो! तुम अब हमे सुनाओ, हमसे बात करो।

शब्दार्थ—

(त्रातार देवा·) हे रक्षक देवो! (न. अधिवोचत) हमसे बात करो, हमे बताओ। (न· निद्रा मा ईशत) हम कभी निद्रा, आलस्य के वशीभूत न होयें और (मा उत जल्पि.) और न ही बकवास, व्यर्थ बोलने की इच्छा हमे दबाये। (वयं विश्वह सोमस्य प्रियास) हम सदा सोम के प्यारे होते हुए और (सुवीरास) श्रेष्ठ वीर होते हुए (विदथ आवदेम) ज्ञान को फैलाते रहे।

सच्चा आनन्द।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया, तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

ऋ० १०.३४.१३॥

विनय

विना परिश्रम किये फल चाहने वाले भाइयो! विना पसीना वहाये सुख संपत्ति के उम्मीदवारो! तुम बडे भारी भ्रम मे हो। तुम्हारी यह इच्छा इस जगत् के महान् सिद्धान्त के विपरीत है। इस जगत् के स्वामी, सर्वान्तर्यामी प्रेरक प्रभु ने यह बात आज मुझे साफ साफ दिखला दी है, मेरे अन्तःकरण मे इसका प्रकाश हो गया है। पहिले मैंने भी सुख पा लेने के बहुत से छोटे रास्ते (Short cuts) ढूंढे, पर आज प्रभु-कृपा से मुझे साक्षात् हो गया है कि विना स्वय परिश्रम किये कोई सच्चा सुख नही मिल सकता है। यह अटल नियम है। इसलिये आज मैं ऊँचे पर खडा होकर सब संसार को कहना चाहता हूँ मनुष्यमात्र को सुना देता हूँ—"हे मनुष्य! तू जुआ मत खेल, तू खेती कर।" आज संसार के मनुष्य नाना तरह से जुआ खेल रहे हैं, भिन्न-भिन्न जातियो ने अपने अपने ढग—सभ्य या असभ्य ढंग—निकाल रखे हैं। पर इन सब ढगो मे दो मूल भूत बात रहती हैं अर्थात् (१) विना श्रम किये समृद्धि पाने का लोभ और (२) इसके लिये अपने आपको भाग्य की अनिश्चित, संशयित संभावना पर छोड देना। इस लोभ और आलस्य मे फँस कर मनुष्य जुए के पाप मे पडता है। पर लोभ और आलस्य के कारण वैयक्तिक ही नही, किन्तु सामाजिक संपत्ति का भी ह्रास होता है तथा कौटुम्बिक जीवन (जो कि मनुष्य के विकास का साधन है) का नाश होता है। मनुष्यो! तुम्हे संपत्ति का सुख (जिसका कि उपलक्षण 'गाव' है) और कौटुम्बिक सुख (जिसका कि उपलक्षण 'जाया' है) इस कृषि से ही मिलेगा, जुए से नहीं, खुद श्रम करके कमाने से मिलेगा, दूसरे को ठगने द्वारा मिली प्राप्ति से नहीं। इसलिये ऐसी थोडी कमाई को ही तू बहुत समझ। ईमानदारी और परिश्रम से ही कमाया हुआ थोडा सा धन भी बहुत है, वह वास्तव में बहुत अधिक है। किसी प्रकार के भी जुए (द्यूत) से रहित सच्ची कमाई का एक एक पैसा एक एक हीरे के बराबर है, उतना ही सुख देनेवाला है। इसलिये, हे प्यारे! तू अपनी शुद्ध कमाई की रूखी-सूखी मे अमृत खाने का आनन्द ले और अपनी शुद्ध कमाई के दो पैसों पर ही बादशाह को मात करनेवाले गर्व के साथ सच्चा आनन्द लूट।

शब्दार्थ—

(**अक्षैः मा दीव्य.**) तू कभी जुआ मत खेल किन्तु (**कृषिम् इत् कृषस्व**) खेती ही का काम परिश्रम पूर्वक कर (**वित्ते बहु मन्यमान.**) परिश्रम से मिले धन को ही बहुत मानता हुआ उसी में (**रमस्व**) आनन्दित, प्रसन्न और सन्तुष्ट रह। (**कितव**) हे जुआ खेलनेवाले! (**तत्र**) उसी परिश्रम की कमाई मे ही (**गावः**) गौ आदि सब सच्ची संपत्ति हैं और (**तत्र जाया**) इसी मे सब गृहस्थ-सुख हैं। (**तत्**) यह बात (**अर्यः अयं सविता**) सबका स्वामी इस प्रेरक प्रभु ने (**मे**) मुझे (**वि चष्टे**) अच्छी तरह दिखला दी है।

आश्चर्य !

विधुं दद्राणं समने बहूनां, युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा, अद्या ममार स ह्यः समान ॥

ऋ० १० ५५ ५॥ साम० उ० ९.१ ७॥ अथर्व० ९ १०.९॥

विनय

हे मनुष्यो ! यह आश्चर्य देखो कि जवान को बुड्ढा निगल जाता है ! उस पराक्रमी जवान को जो कि रणस्थली मे बहुतो को मार भगानेवाला है और जो कि बडे बडे विविध कर्म करनेवाला है ऐसे जवान को एक न-जाने कब का बुड्ढा, सफेद बालोवाला बुड्ढा, निगल जाता है। मनुष्यो ! तुमने बेशक बहुत से मनुष्यकृत किताबी और काल्पनिक काव्य पढे होगे, पर आज ज़रा इस जीते-जागते सामने होते हुए देव के महान् काव्य को भी देखो, जरा इस महाकाव्य के भी पन्ने पलटो और पढो जिसमे लिखा है कि "जो अभी कल जी रहा था वह आज मरा पडा है।" बस, इस दिव्य महाकाव्य मे यही लिखा हुआ है।

भाई! क्या तुमने उस जवान के निगलनेवाले बुड्ढे को पहिचाना ? क्या तुम अपनी आखों के सामने इस दिव्यकाव्य को नही देख रहे ? क्या देखते हो कि दुनियाँ मे रोज़ जो हज़ारो (एक क्षण पहिले तक दूसरो को मार भगाने की शक्ति का गर्व रखते हुए) आदमी मर रहे हैं, उन्हे कौन निगल रहा है ? यदि नही देखते, तो वेद की किताब मे यह पढ लेने पर कि आत्मा अपने मे प्राणो और इन्द्रियो को रोज़ निगलता है, आदित्य शक्ति 'चन्द्रमस्' को निगलती है और परम बुड्ढा कालरूप परमेश्वर एक दिन इस सब बडे वेग से क्रियाशील, अगम, महान्, ब्रह्माण्ड को (इस चलते फिरते नौजवान ससार को) भी निगल लेता है, तो यह पढ लेने पर भी नही देखोगे। यदि तुम्हे यह सहस्रो चतुर्युगियोवाला कल्पान्त ससार ब्रह्मा का केवल एक दिन नही नज़र आता जो कि उसके अगले ही दिन—उसके 'कल' मे ही—मरा पडा है, और यदि तुम्हें इस जगत् की एक एक घटना इसकी क्षणभगुरता को नहीं दिखाती, तो तुम्हे वह देव ही एक दिन अपना महत्त्वशाली काव्य पढायेगा और तुम्हे पदार्थ पाठ देगा—"कल जो जीता था वह आज मरा पडा है।"

भाई ! देव के इस ससार मे आकर यदि हम केवल इस 'अनित्यता' को ही सचमुच जान जायें, केवल यह पाठ पढ लेवें, और अतएव कम से कम अपने बल का, नौजवानी का, कर्मशक्ति का और दूसरो को मार भगा सकने का घमण्ड छोड दें तो बस, यह पर्याप्त है। तो हमने सब काव्य पढ लिये और पढाई का फल पा लिया।

शब्दार्थ—

(युवान सन्तं) एक ऐसे नौजवान को **(विधु)** जो कि विविध काम करनेवाला है और **(समने)** रण मे **(बहूना)** बहुतो को **(दद्राणं)** मार भगानेवाला है उसे **(पलित)** एक बुड्ढा **(जगार)** निगल जाता है **(देवस्य)** देव के **(महित्वा)** इस बडे महत्ववाले **(काव्य)** काव्य को **(पश्य)** देख कि **(ह्य सम्—आन)** कल जो जी रहा था, सांस ले रहा था, **(स.)** वही **(अद्य)** आज **(ममार)** मरा पडा है।

अमरता केन्द्र ।

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय, मा गां अनागां अदितिं वधिष्ट ॥

ऋ० ८ १०.१ १५॥

विनय हे मनुष्य ! तू गौ को कभी मत मार । इस निरपराध बिचारी गौ को कभी मत मार । तू चेतनावाला है, तुझे परमात्मा ने कुछ समझ, अक्ल बुद्धि दी है। इसलिये तुझे कहता हूँ तू गो-घात कभी मत करना । तू ज़रा सा अपनी समझ का उपयोग करेगा तो तुझे पता लग जाएगा कि यह गौ यद्यपि बडी भोली, बिचारी, बिल्कुल निर्दोष है इसलिये इसे कोई भी कभी मार सकता है, मारने से यह मर जायगी, कोई प्रतिरोध न करेगी, पर साथ ही यह इतनी महत्त्वशालिनी है, सब देवों की सम्बन्धिनी और अमरपन का एक केन्द्र है कि इसका मारना अपना नाश करना है, इसका घात करना आत्मघात है। यह गौ कही और नही, हमारे ही अन्दर है। यह 'अदिति' आत्म-शक्ति है, वाणी है, अन्तरात्मा की वाणी है, अन्दर की आवाज़ है। इसे तुम दबाओगे तो बेशक यह चुपचाप दब तो जायगी, पर इससे तुम्हारा आत्मा नष्ट हो जायगा। यह 'अदिति' वाणी (यह आदित्यो की बहिन) वसुओ—आत्मा की वासक अग्नियो—से प्रकट होती है (इनकी पुत्री है) और मनुष्य के सब रुद्रों—प्राणो—की और सब चेष्टाओ की माता है। यह ऐसी अमृत वस्तु है कि इसे मारने का यत्न करनेवाला खुद मर जाता है, और इसकी रक्षा करने वाला ही सुरक्षित रहता है। इसी अन्दर की 'गौ' की प्रतिनिधि आधिदैविक मे भूमि है, आधिभौतिक मे राष्ट्र-देवी है, और पशुओ मे गौ माता है। हे ! चेतनावाले मनुष्य ! तू समझ कि इन गौओ का भी घात कितना भयङ्कर परिणाम लानेवाला है। भूमि, राष्ट्र और गौओ की रक्षा करने मे ही मनुष्यो की, मनुष्य-जाति की रक्षा है। देखना, इस भूमि-गौ की, इस राष्ट्र-गौ की तथा इस गौ-पशु की ज़रा भी हिंसा करने वाला कर्म्म तुझसे न होये। जब कभी इन सर्वथा अप्रतिरोधिनी गौओ की हिंसा करने का प्रलोभन आये तो याद कर लेना कि ये सब अमृत की नाभियाँ हैं और अपने अपने क्षेत्र के आदित्यो, वसुओ, और रुद्रो मे सम्बन्धित दिव्य शक्तियाँ हैं। इनको मार कर तू कभी फल-फूल नही सकता। पर अन्त मे सब बाह्य गौओ की गौ तो अन्तरात्मा की वाणी है। इस गौ को तो कभी मत छेडना, इसे सदा पालना, पोसना और इसकी आज्ञा को सदा मानना। अपना सर्वस्व स्वाहा करके भी इस गौ की रक्षा करना। इसे जरा भी नही दबाना। यदि इस अमृतनाभि 'अदिति' गौ का रक्षण, पोषण और वृद्धि होती गई तो तू भी एक दिन अमृत हो जायगा, देवो का राज्य पा जायगा। देखना, इस सर्वथा अप्रतिरोधिनी परम शान्त गौ का तेरे यहाँ जरा भी तिरस्कार न होने पाये, इसे जरा भी क्षति न पहुँचने पाये।

शब्दार्थ—मैं (चिकितुषे जनाय) प्रत्येक चेतनावाले मनुष्य को (नु प्रवोचं) कहे देता हूँ कि (अनागां) निरपराध (अदितिं) अहन्तव्या (गा) गौ को (मा वधिष्ट) कभी मत मार, क्योंकि यह (रुद्राणा माता) रुद्र देवो की माता है, (वसूनां दुहिता) वसु देवो की कन्या है और (आदित्यानां स्वसा) आदित्य देवो की बहिन है तथा (अमृतस्य नाभि) अमरपन का केन्द्र है।

हे सोम !

अजीतये अहतये पवस्व, स्वस्तये सर्वतातये बृहते ।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायः, तदहं वश्मि पवमान सोम ॥

ऋ० ९.९६.४॥

विनय

हम चाहते हैं कि हम अजित रहे, कभी हार न खायें, हम अहत रहे, कभी मारे न जायें; हमारा कल्याण ही होये, कभी हमारा कोई अकल्याण न होये । परन्तु इस सब के लिये, हे सोम ! हम तुम्हारे रस के भिक्षुक है । तुम्हारा रस मिल जाये तो यह और सब कुछ हमे स्वयमेव मिल जाय । जैसे कि ग्रीष्म के बाद मेघवृष्टि उद्यान व खेत की सब वृक्ष वनस्पतियो को जिस समय सजीव करती है तो उनमे सरसता, उनमे हरियाली, उनमे नवपल्लवो का फूटना, उनमे पुष्प और फल का आना आदि सब कुछ उस एक वर्षारस के पा जाने से हो जाता है, उसी तरह यह ससार रूपी महा उद्यान भी, हे बरसनेवाले सोम! तुम्हारा रस पाकर ही नाना तरह से फलता फूलता और जीवित रहा करता है । इस ससारोद्यान का प्रत्येक जीव रूपी वृक्ष तुम से जीवन पाकर ही नाना प्रकार से आत्म-विकास पा रहा है । हम किसी भी प्रकार की उन्नति चाहे, किसी भी दिशा मे आत्म-विकास पाना चाहें, सदा हमे जिस एक वस्तु की जरूरत है, वह है तुम से मिलनेवाला जीवन-रस, सोम-रस । इसलिये, हे पवमान सोम ! ससार के ये सब मेरे मनुष्य-साथी तुमसे यह जीवन-रस माँग रहे हैं—तुमसे यही चाह रहे हैं । मैं तुमसे इसी की माँग मचा रहा हूँ । तो हे सोम ! अब तुम मेरे लिये क्षरित होओ—मेरे इन सब मनुष्य सखाओ के लिये क्षरित होओ, हमारी अजीति, अहति, स्वस्ति आदि सब कामनाओ को पूरा कर डालने के लिये क्षरित होओ । नही नही, तुम तो हे अमृत वरसाने वाले ! इस सब चर, अचर, वृहत् ससार के लिये ही अपनी अमृत-वर्षा का दान करो । ऐसा बरसो कि तुम्हारे अमृत से सीचे जाते हुए इस विशाल ब्रह्माण्ड मे सब जीवो, सब प्राणियो की सदा ठीक तरह से सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय ही होता जाये । और इस तरह सब जगत् और प्राणीमात्र का अमृत-सिचन करते हुए ही तुम मुझ इस अपने एक तुच्छ प्राणी को भी अपना यह अमृत-रस प्रदान करो । जरा देखो, यह सब ससार इस अमृत-रस पाने के लिये कैसा व्याकुल हो रहा है मैं इस के लिये कैसा तडप रहा हू ?

शब्दार्थ—

(पवमान सोम) हे क्षरित होनेवाले सोम ! **(अजीतये)** हमारे अजित होने के लिये **(अहतये)** हमारे अहत रहने के लिये **(स्वस्तये)** हमारे कल्याण के लिये तथा **(बृहते सर्वतातये)** इस महान् ससार के सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय के लिये **(पवस्व)** तुम क्षरित होओ । **(तत्)** इसे ही **(इमे विश्वे सखायः)** ये सब मनुष्य-साथी **(उशन्ति)** चाह रहे हैं, माँग रहे हैं और **(तत्)** इसे ही **(अहं)** मैं **(वश्मि)** चाह रहा हूँ—इसके लिये व्याकुल हो रहा हूँ ।

वर्षा की ऋतुचर्या

लक्षण—जब ग्रीष्म की कठोर गर्मी से वाष्प बनकर ऊपर गये हुवे पृथ्वी के रस (जल) सूर्य के दक्षिणायन मे हो जाने से फिर पृथ्वी पर जल बनकर बरसते हैं उस काल को वर्षाऋतु कहते है।

साधारणत. वर्षा के चार मास (चातुर्मास) प्रसिद्ध हैं, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, और आश्विन। इन में से वर्षाऋतु के मुख्य मास श्रावण और भाद्रपद ही समझने चाहियें।

महिमा—ग्रीष्म काल में मानो भूलोक तपस्या करता है, हमारी इस तपस्या को सफल करते हुए मानो ऊपर से इन्द्रदेव वर्षा के रूप मे हम पर अमृत बरसा कर हमे कृत-कृत्य करते हैं। वर्षामृत पाकर गर्मी से झुलसे हुए सब स्थावर और जंगम प्राणी, सब वनस्पतियां, पशु, और मनुष्य नवीन प्राण से युक्त हो जाते हैं। वर्षा द्वारा भूलोक को दूसरी प्रकार का प्राण मिलता है। इसे रयिस्थ प्राण या अपान प्राण कहा जा सकता है। अन्न जल ग्रहण करने से हमे जो प्राण मिलता है, वह वर्षा द्वारा ही आता है। अथर्ववेद के प्राण सूक्त मे इस प्राण वर्षा का सुन्दर वर्णन है। अथर्व, ११-४-२,३,४,५,६.। नवीन प्राण पाकर सब वृक्ष वनस्पतियां हरी भरी हो जाती हैं, पशुपक्षी हरियावल देखकर प्रसन्नचित्त होते हैं, मेढक जैसे मट्टी मे दवे जीव पुनर्जीवित हो जाते हैं, मयूर नाचने लगते हैं, मनुष्य तरावट पाकर हृष्ट होते हैं। जीवो का भोजन तैयार होता है। नदी जलाशय भर जाते है। प्राचीन काल मे संन्यासी लोग इस ऋतु मे भ्रमण करना छोड़कर एक स्थान पर ठहरकर स्वाध्याय किया करते थे। आश्रमो मे वेद पाठ शुरू हो जाते थे।

गुण—यह ऋतु शीतल, दाहकारक, (जठर) अग्नि को मन्द करनेवाली तथा वातकारक है। इस ऋतु मे सब प्राणियो के बल तथा जठराग्नि न्यून अवस्था मे होते हैं।

पथ्यापथ्य—चूंकि ग्रीष्मकाल की लघुता और रूक्षता के कारण सचित वात इस ऋतु मे गर्मी और ठडक पाकर सहसा प्रकुपित हो जाता है अत इस ऋतु मे वातनाशक अर्थात् मधुर, खट्टे, और नमकीन रसो का सेवन करना उचित है। इस ऋतु मे शरीर भीजा हुआ रहता है अत उसकी शान्ति के लिये तीक्ष्ण कसैले और कडवे रसों का सेवन भी करना चाहिये। चावल, जौ, गेहूं, घृत, दूध, उडद, गरम तथा स्निग्ध (वातनाशक) पदार्थों का उपयोग करना अच्छा रहता है। इसके विरुद्ध अति परिश्रम, रूक्ष तथा अति शीत पदार्थो का सेवन वातकारक होने के कारण न करना चाहियें। नदी तालाबो के (मलिन हुए) जल का भी पान नही करना चाहिये।

पर इस ऋतु मे गर्म तथा स्निग्ध चीजो का बहुत अधिक प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। इस ऋतु मे अम्लविपाकी (खट्टे) जल तथा ऐसी अन्य औषधि सेवन करने से पित्त का सचय होता है और यद्यपि वह वर्षा की नमी के कारण इस समय प्रकुपित नही हो पाता तथापि चूंकि वह शरद् मे प्रकुपित होता है अत यदि इस ऋतु मे गर्म तथा स्निग्ध पदार्थों का बहुत अधिक सेवन किया जायगा तो शरद् के प्रारम्भ मे पित्त का बहुत अधिक प्रकोप होगा।

इस ऋतु मे आकाश के मेघाच्छन्न रहने से मनुष्य का जिगर (यकृत्) अच्छी प्रकार काम नही करता है अत ऐसे गरिष्ठ भोजन न खाने चाहियें जिन से जिगर को अधिक काम करना पडे।

श्रावण (कर्क)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

हृदय पीठ और रीढ़ को स्वस्थता करनेवाला

प्रारंभिक स्थिति मे खडे हो जाइये, हाथ नीचे लटके हों और छाती आगे उभरी हुई हो। हथेलियाँ शरीर के साथ लगी हो। अब कटि प्रदेश को चूल बनाकर ऊपर के शरीर को क्रमश दायें और बायें को झुकाइये। दायी तरफ झुकाते समय बाये हाथ को यहाँ तक ऊपर उठाइये कि उसकी अगुलियाँ बगल तक पहुच जायें, और बायी तरफ झुकाते हुवे दायें हाथ को इसी तरह ऊपर उठाइये। इस व्यायाम के लिये मासपेशियाँ ढीली छोड दी जा सकती है। जब शरीर सीधा किया जा रहा हो तब श्वास अन्दर लीजिये और जब किसी तरफ झुकाया जा रहा हो तो श्वास बाहर निकालिये। इस व्यायाम को १०-१२ बार कीजिये।

इस मास के लिये दूसरा व्यायाम निम्न प्रकार किया जा सकता है—

पीठ के बल भूमि पर सीधा लेट जाइये, दोनो हाथ सिर के नीचे लगे हो। सारे शरीर की मासपेशियाँ पूरी तरह तान लीजिये। एक ऐसा पूर्णश्वास धीरे-धीरे अन्दर भरिये कि पेट और फेफड़े सब भर जायें और अधिक से अधिक फूल जाय। उसके बाद अन्दर रोके श्वास को धीरे-धीरे ऐसे बाहर निकालिये कि छाती और पेट बिल्कुल खाली हो जाय। अब मासपेशियो को ढीला छोड दीजिये और यह व्यायाम फिर कीजिये।

इन व्यायामो को करते हुए हृदय और रीढ (मेरुदण्ड) को सर्वथा स्वस्थ, नीरोग, अवस्था मे ध्यान कीजिये।

ध्यान—मेरा हृदय दृढता और पूर्णता से काम कर रहा है। यह मेरा एक एक गहरा श्वास हृदय को ऐसा चैतन्ययुक्त कर रहा है कि उससे मेरे शरीर का एक एक घटक उत्तम पुष्टि पाये बिना नही रह सकता।

इसी तरह रीढ के विषय मे ध्यान कीजिये।

इन अगो को गौणतया वैशाख, कार्त्तिक और माघ की व्यायामो से भी लाभ पहुचता है।

यज्ञमयी नौका

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥

ऋ० १०.४४.६ ॥ अथर्व० २०.९४.६ ॥

विनय

भाइयो ! इस संसार सागर से हमें तरा सकनेवाली नौका यज्ञमयी ही है। हम यदि यज्ञकर्म नही करेंगे तो हम न केवल मनुष्यत्व से ऊपर नही उठ सकेंगे किन्तु अपने मनुष्यत्व को कायम भी नही रख सकेंगे, तब हमें नीचे पशुत्व में अधःपतित होना पडेगा। देखो, बहुत से "देव-हूति" पुरुष उन देवलोक, पितृलोक, ब्रह्मलोक, आदि दुष्प्राप्य यशोमय उच्च लोको को पहुच गये हैं, वडे भारी यत्न से इस मनुष्यावस्था को तर कर देव होगये हैं। ये लोग यज्ञिय नाव पर चढ कर ही वहाँ पहुचे हैं। इन्होंने अपने में देवो का, दिव्यताओ का, आह्वान किया है और 'प्रथम' वने हैं। दूसरी तरफ देखो, वे दुर्भागे मनुष्य हैं जो कि थोडा सा स्वार्थत्याग न कर सकने के कारण, अयज्ञिय हो ऋणबद्ध रहने के कारण उस नाव का आश्रय नही पा सके हैं, अत यही वँधे पड़े रह गये हैं। ये विचारे 'केपि' कुत्सिताचरणी लोग यहा भी नीचे धँसते जा रहे हैं, पशुत्व में गिर रहे हैं। इनका फिर पवित्र बनना अब अत्यन्त कठिन होगया है। अत. आओ, मनुष्य योनि पा कर हम कुछ न कुछ तो स्वार्थत्याग करें, इतना यज्ञ कर्म तो करें कि ऋणबद्ध न बने रहे। हम पर जो माता, पिता, गुरु, समाज, राष्ट्र, मनुष्यता, प्रकृतिमाता, और परमेश्वर आदि के ऋण हैं उन्हे उतारने के लिये तो अपने स्वार्थों का नित्य हवन किया करें। हम यदि इतना करेंगे, केवल परमावश्यक पंचयज्ञो को यथाशक्ति करते रहेगे, तो भी हम इस यज्ञिय नौका पर चढ सकेंगे और देवयान लोको को नही तो कम से कम पितृयाण लोको को तो जा पहुंचेंगे, अपने मनुष्यत्व को तो नहीं खो देंगे। भाइयो ! यज्ञमयी नौका खडी है। हम चाहें तो देवहूति होकर, दिव्यस्वभाव धर्मशील होकर, इस नौका द्वारा इस दुस्तर सागर को तर कर ज्ञानैश्वर्यमय उच्च से उच्च लोकों तक पहुच सकते हैं, नही तो, फिर यदि हम इस नौका में स्थान न पा सके तो हम ऐसी खराव परिस्थिति में आ पडेंगे, और वहां ऐसे निर्लज्ज वन जायंगे कि हम कुत्सित अपवित्र कर्मों के करने में ही सुख पावेंगे और नीचे ही नीचे गिरते जायगे; फिर हमारे उद्धार का दूसरा अवसर कितने काल बाद आवेगा यह कौन जानता है ?

शब्दार्थ—

(**प्रथमाः**) जो प्रथम प्रकार के या विस्तृत ज्ञानी (**देवहूतय.**) देवो अर्थात् दिव्य गुणो का आह्वान करनेवाले मनुष्य होते हैं वे (**पृथक्**) जुदा ही (**प्रायन्**) प्रकृष्ट मार्ग से [अपने अपने लोको को] पहुंचते हैं। वे (**दुष्टरा**) वडे दुस्तर (**श्रवस्यानि**) ज्ञानैश्वर्यों को, श्रवणीय यशों को (**अकृण्वत**) प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु (**ये**) जो (**यज्ञियां नावं**) इस यज्ञमयी नाव पर (**आरुहं**) चढने में (**न शेकु.**) समर्थ नही होते (**ते**) वे ((**केपयः**) कुत्सित, अपवित्र आचरणवाले होकर (**ईर्मा एव**) यहीं इसी लोक में (**न्यविशन्त**) नीचे नीचे जाते हैं।

आत्मा का सिंह नाद

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद् धनं, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु, न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥

ऋ० १०.४८.५ ॥

विनय

मैं इन्द्र आत्मा हू। मैं कभी भी हराया नही जा सकता हूं। मेरा ऐश्वर्य कभी भी छीना नही जा सकता है। प्रकृति के साथ मेरी लडाई ठनी है। प्रकृति मेरे ऐश्वर्य छीनना चाहती है, पर मैं प्रकृति के साथ लडी गयी अपनी प्रत्येक लडाई मे विजयी होता हू और जितना जितना विजयी होता जाता हू उतना-उतना मुझ मे मेरा नया-नया ऐश्वर्य प्रकट होता जाता है। मैं कभी भी प्रकृति से हार नहीं खा सकता हूं। ऐसा क्यो न हो ? मैं तो मौत को भी खा जाने वाला हूं। सब दुनिया को खाने वाली मौत भी मेरे सामने नही ठहर सकती है। मैं अमर आत्मा हू। मृत्यु से बढकर और किस हथियार से प्रकृति मुझे जीतेगी ? हे मनुष्यो ! तुम मेरे पास खडे होकर देखो और बोलो—"मैं अमर हू," "मैं अमर हूं"। तुम कहां प्रकृति की मोहिनी मूर्ति के सामने ऐश्वर्यों के लिए गिडगिडाते फिरते हो ? यह माया तुम्हे धोखा ही दे सकती है। ऐश्वर्य नहीं दे सकती। इससे जो कुछ ऐश्वर्य मिलते तुम्हें दीखते हैं वे सब वास्तव मे मेरी शक्ति से ही मिलते हैं। इस लिए आओ, मनुष्यो ! तुम मुझ से ऐश्वर्य मागो। मैं तुम्हें सब कुछ दूगा। पर एक शर्त है। सोम का सवन करते हुए—यज्ञार्थ कर्म करते हुए—ही तुम मुझ से ऐश्वर्य मागो। ससार मे सच्चा सोम का रस आत्म-ज्ञान ही है[1]—सच्चा ज्ञान, भक्तिभरा आत्मज्ञान ही है। इस ज्ञान के निष्पादन करने मे सहायक तुम्हारे जितने कर्म हैं वे सब सोम-सवन ही हैं। ये यज्ञार्थ कर्म हैं। ये यज्ञ-कर्म तुम्हे अमर बनाते हैं, तुम्हें मुझ आत्मा के पास लाते हैं, ये 'आत्म'-विशुद्धये' होते हैं। अतः खूब यत्न उद्योग के साथ इस सोम का सवन करते हुए तुम मुझसे जो कुछ मांगोगे वह मैं तुम्हे जरूर दूगा। अरे ! तुम्हें एक के बाद एक अनमोल ऐश्वर्य मिलता जायगा। तुम कहां इस माया के पीछे पडे हुवे ठीकरिया बटोर रहे हो ! मुझ से तुम अंदर का खजाना क्यों नही मागते ? हे मनुष्यो ! तुम मुझ आत्मा से मैत्री करो तो तुम विनाश से पार हो जाओगे। इन प्रकृति के गुणो से बहुत दिन दोस्ती कर ली। मेरे से मैत्री करके देखो। यह दावा है कि मेरे मित्र का इस संसार मे कोई नाश नही कर सकता।

हे नर तन पाने वालो ! सुनो। तुम्हारे ही आत्मा का यह सिंहनाद है। तुम्हारा आत्मा गरज रहा है, सुनो ! !

शब्दार्थ—

(अहं इन्द्रः) मैं आत्मा हूं (धनं न पराजिग्ये इत्) मैं ऐश्वर्य को कभी हार नही सकता हूं। (मृत्यवे न कदाचन अवतस्थे) मृत्यु कभी भी मुझे नही आ सकती है। (हे पूरवः) हे मनुष्यो ! (सोमं सुन्वन्तः इत् मा वसु याचत) यज्ञार्थ कर्म करते हुवे ही मुझसे ऐश्वर्यों को मागो। (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मैत्री [सख्य] में रहते हुए तुम कभी नष्ट नहीं होवोगे। 

---

१. गीता ५.११

सङ्कल्प-शक्ति

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥

ऋ० १ ८९.१ ॥ यजु० २५ १४ ॥

विनय

"मनुष्य क्रतुमय (सकल्पमय) है, अत मनुष्य को क्रतु अर्थात् सकल्प व अध्यवसाय करना चाहिये" पर यह सकल्प हम किस प्रकार से करें ?

पहिले तो हमारे क्रतु (सकल्प) 'भद्रा.' होने चाहियें । हम श्रेष्ठ सकल्प ही करें—कल्याणकारी संकल्प ही करे । जो अभद्र सकल्प है उन्हे देवता स्वीकृत नहीं करते है, अतएव उनसे कुछ बनता नही । इसलिये हमारा यह आग्रह हुआ है कि हमारे पास शुभ ही सकल्प आवें, जिससे देवता अर्थात् ससार को चलाने वाली ईश्वरीय शक्तियाँ हमे उन्नत करती रहे । परन्तु सकल्पो के केवल शुभ होने से भी काम नही चलेगा, ये हमारे शुभ सकल्प बलवान् होने चाहियें । ये 'अदब्ध' होवे, किसी विरोधी शक्ति से दबने वाले न होवें । और फिर ये सकल्प उद्भेदन करने वाले हो अर्थात् मार्ग की सब विघ्न बाधाओ को उद्भेदन करते हुए, सब गुत्थियों को सुलझाते हुवे और सब बंद किवाडों को खोलते हुए सफलता तक पहुचाने वाले हो । हमारे शुभ संकल्पों मे ऐसा बल भी चाहिए । और ये सकल्प (परीत) पहिले से घिरे हुवे भी अर्थात् किसी बडी अच्छाई के विरोधी भी नहीं होने चाहियें, हमारे संकल्प किसी भी महान् सिद्धान्त में दस्तन्दाजी करने वाले भी न होने चाहिये । यदि ऐसा होगा तो भी हमारे सकल्प जगत् के देवो द्वारा प्रतिहत हो जायेंगे, मारे जायेंगे । इसलिये आजसे हममें शुभ और ऐसे बलवान् सकल्प ही आवे जिसमे कि (इन सकल्पो के ईश्वरीय नियमो के अनुकूल होने के कारण) देवता हमारी सदा उन्नति कराते जाय और दिन रात अप्रमाद होकर हमारे रक्षक बने रहे । प्रभु के ये देव तो हमारी उन्नति के लिये ही हैं और निरन्तर बिना भूल चूक के हमारी रक्षा करने को तैयार हैं । पर हम ही बड बडे अभद्र सकल्प करके या यूही निर्बल से बहुत से सकल्प करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि उन देवों की बडी भारी सहायता पाने मे अपने आपको वचित कर लेते हैं । इसलिये आज से केवल भद्र निश्चय ही हम मे आवें, तथा न दबने वाले, उद्भेदन करते हुवे चले जाने वाले और अपरीत, महान् भद्र निश्चय ही हम में आवें और चारा ओर से आवें, जिससे कि हम जगत् शासक के देवताओ की अनुकूलता में ही सदा बढते हुवे जीवन मार्ग पर चलते जाय ।

शब्दार्थ—

(न· भद्रा क्रतवः विश्वत. आयन्तु) हमारे पास श्रेष्ठ ही सकल्प सब तरफ से आवें । (अदब्धासः) जो कि कभी न दबने वाले हो (अपरीतास.) जो कि किसी से घिरे हुवे न हों (उद्भिद) और जो उद्भेदन करने वाले हो (यथा देवाः न सदमिद् वृधे असन्) जिससे कि देवता हमारे लिए सदा उन्नति के लिए होवें (दिवे दिवे अप्रायुवो रक्षितारश्च असन्) और प्रतिदिन प्रमादरहित होकर हमारे रक्षक होवें ।

सर्वप्रेरक सविता देव

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने ।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः ।।

ऋ० ६ ७१. २।।

विनय

सब जगत् की स्थिति करने वाले और सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले तुम ही हो। ये जो जगत् मे असख्याँ चेतन प्राणी दिखाई देते है—जो दो पैर वाले मनुष्य विचरते हैं या जो चार पैर पर ये 'पशु' नामक प्राणी फिरते है—इन सब की स्थिति व पालन करने वाले तुम हो, तुम ही इन सब के पैदा करने वाले भी हो। यह अखिल ब्रह्माण्ड तुम से शुरू हुवा है, और तुम्हारे ही अखड शासन मे चल रहा है। इस अपरिमेय ससार मे जो हिलना, जुलना हो रहा है, जो इसमे एक एक चेष्टा एक एक क्रिया हो रही है उसके आदि प्रवर्तक तुम हो। हवा द्वारा जो एक तिनका भी हिलता है वह तुम्हारी आज्ञा से हिलता है। इसलिए हे सर्वप्रेरक देव ! हे सवित ! हमारी तुमसे एक प्रार्थना है। हम चाहते हैं कि हम सदा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा मे होवें और तुम्हारे ऐश्वर्यो के श्रेष्ठ दान मे होवें। इस जगत् मे जो कुछ श्रेष्ठ व अश्रेष्ठ हो रहा है, वह सब कुछ तुम्हारी ही दी हुई शक्ति से हो रहा है। पर हम चाहते हैं कि हमारे शरीरो से, मनो से, वाणियो से जो कुछ भी हरकत होवे वह सब श्रेष्ठ ही होवे। हमारे शरीरो, मनो द्वारा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा का ही प्रवाह बहे। अच्छा बुरा सब प्रकार का सब ऐश्वर्य बेशक तुम द्वारा ही ससार मे बरस रहा है, पर हमे तुम्हारे ऐश्वर्य का श्रेष्ठ दान ही मिले। ससार मे बुरी कमाई से पैदा हुवा और बुरे काम मे उपयुक्त होने वाला ऐश्वर्य भी होता है तथा अच्छी कमाई का और सदुपयुक्त होने वाला श्रेष्ठ ऐश्वर्य भी होता है। हमारे पास यह दूसरा ऐश्वर्य ही होवे। यह ऊचा-नीचा, अच्छा-बुरा उत्तम-अधम जो यह नाना प्रकार का ससार है यह समग्र ही विश्व तुम्हारी विभूति है। हम चाहते हैं हम तुम्हारी ऊची विभूति के अश बनें। अपने को उच्च बनाने के लिए जिन-जिन साधनो को जानते है उन्हे हम बडे यत्न से कर रहे हैं, अपने को अधिकारी बना रहे है, इसलिये हमे तुम श्रेष्ठ प्रेरणा का पात्र बनाओ और हमे श्रेष्ठ प्रेरणा करो, हमे श्रेष्ठ ऐश्वर्य का पात्र बनाओ और श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करो।

शब्दार्थ—

(**य. विश्वस्य द्विपदः**) जो तू सब दो पैर वालो तथा (**चतुष्पदः**) जो तू चार पैर वाले जीवो का (**निवेशने असि**) आश्रय देने वाला है (**भूमनः प्रसवे च [असि]**) और बडे भारी ससार को प्रेरणा देने वाला है (**सवितुः देवस्य**) उस तुझ प्रेरक देव के (**श्रेष्ठे सवीमनि**) श्रेष्ठ प्रेरणा मे (**वयं स्याम**) हम होवें (**वसुनश्च**) तथा तेरे ऐश्वर्य के (**[श्रेष्ठे] दावने**) श्रेष्ठ दान मे हम होवें।

ज्ञानी भक्त और विषयासक्त

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह ।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ।।

ऋ० ५ ३४. ३।।

विनय

मैं इन दो प्रकार के आदमियों में से कौन सा हूं ? क्या मुझे दिन रात भगवान् के भजन में मस्त रहने मे मजा आता है ? क्या मैं उसके भजन में चौबीस घंटे रहता हू । चौबीस घंटे न सही, क्या मैं दिन रात में से एक घंटा भी भगवान् के प्रति अपना हार्दिक प्रेमरस पहुंचाने में बिताता हूं ? अथवा मैं "ततनुष्टि" हू ? दिन रात विषयों में फंसा रहता हूं ? न खतम होने वाले विषयो की तृप्ति में लगा रहता हूं ? स्वार्थ के लिये धन कमाने की फिक्र में, और धन के लिये दूसरो के क्लेशो की कुछ परवाह न करके और धोखा फरेब भी करके उनको चूसने की नाना नयी नयी तरकीबें सोचने और करने की फिक्र में तो कही मेरे दिन रात नही बीतते हैं ? क्या अपने शरीर की शोभा बढाने, सवारने, सिंगार करने मे ही जीवन के अमूल्य समय के प्रतिदिन कई घंटे मैं नही खो रहा हू ? क्या मैंने अपने अंदर के मानसिक शरीर को भी बलवान् स्वच्छ और सुन्दर (पवित्र) करने काभी कभी यत्न किया है ? इसके लिये समय दिया है ? मेरे साथी संगी कैसे लोग हैं ? कही मेरे इर्द-गिर्द बुरे आचरण वाले लोग तो नही इकट्ठे हो गये हैं? कही मैं कुत्सित कर्म करने वाले दुष्ट मनुष्यो से (जो ऊपर से आकर्षक होते हैं) मिलने जुलने में आनन्द तो नही पाता हू ? ओह, उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र के नियम अटल हैं, मैं जैसा करूंगा वैसा ही मुझे भरना पडेगा । मैं तेजस्वी बनूंगा या मेरा विनाश होगा ? भगवान् तो दिनरात सोम सवन करने वालों को तेजस्वी बना रहा है और विषय-ग्रस्त पुरुषो का नाश कर रहा है ।

शब्दार्थ—

(यः) जो (घ्रंस उत वा यः ऊधनि) दिन होवे या रात सदैव ही जो (अस्मै) इस परमेश्वर के लिए (सोमं सुनोति) ज्ञानपूर्वक भक्ति में रहता है, यजन करता है (अह द्युमान् भवति) वह निश्चय से तेजस्वी, [प्रकाशवान्] हो जाता है और इसके विपरीत (ततनुष्टि) विषयों में दिनों दिन फंसते जाने वाले को, स्वार्थरत, अयजनशील को, (तनूशुभ्रं) शरीर की सजावट बनावट में लगे रहने वाले को (यः कवासखः) और जो बुरी संगत में रहने वाला है जिसके कि यार दोस्त कुत्सित-कर्मा लोग हैं, उस पुरुष को भी (शक्रः मघवा) सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्य वाला इन्द्रदेव (अप अप ऊहति) मिटा देता है, विनाश कर देता है ।

परम देवों की महती महिमा

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किंचन, न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु ॥

यजु० १७ १४॥

विनय

क्या तुम उन पूर्ण देवो को भी जानते हो जो कि देवों मे भी और ऊँचे देव होते हैं और जिनके कि हाथ मे इस महान् ससार की वागडोर रहती है ? ये वे मुक्तात्मा हैं जो कि मुक्त होकर भी जगत् के कल्याण मे रत होते हैं। ये देवत्व का भी वन्धन छोडकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हो जाते हैं, ब्रह्माण्ड की आत्मा से अपनी आत्मा को मिलाकर देवो से भी ऊपर 'पूरे देव' हो जाते हैं। यह सव ससार जो अपनी परम आत्मा की तरफ धीरे-धीरे जा रहा है उसमे ये ही अग्रणी हैं। उस परम आत्मा के सबसे निकटस्थ साधन वनकर ये ही इस ससार का सचालन कर रहे हैं। ससार मे जो ईश्वरीय शक्तियाँ जीवो को असत् से सत् की तरफ, तम मे ज्योति की तरफ और मृत्यु से अमृत की तरफ ले जा रही हैं, एक शब्द मे जो शक्तियाँ हरदम इस ससार को पवित्र कर रही है, वे शक्तियाँ इन्ही पूर्ण देवो के आनन्दमय व विज्ञानमय आदि केन्द्रों से प्रवाहित हो रही हैं। इसका यह मतलव नही कि ये देव किसी खास स्थान पर रहते हैं, जैसे कि साधारण देव लोग द्युलोक (प्रकाशमय लोक) मे रहते हैं। ये किसी जगह भी नही रहते, पर शक्तिप्रवाह करने के लिये किसी भी जगह अपना केन्द्र वना सकते हैं। इनके विना कोई भी स्थान (धाम) पवित्र नही हो सकता, पर ये किसी स्थान पर भी रहते नहीं हैं। ये तो ब्रह्म मे रहते हैं। सव ब्रह्माण्ड में रहते हैं। अपने शक्ति प्रवाह से सव ब्रह्माण्ड को पवित्र कर रहे हैं। ये न तो द्युलोक के किन्हीं प्रान्तो मे मिलेंगे, न पृथिवी के किन्ही कोनो मे मिलेंगे। पर इस ससार का कोई भी धाम, कोई भी क्षेत्र, कोई भी लोक ऐसा नही है जिसकी कि पवित्रता इन द्वारा न हो रही हो।

इन परम देवो को हम बद्ध जीवो का वार वार नमस्कार हो, अवनतशिरा होकर वार वार नमस्कार हो।

शब्दार्थ—

(ये देवाः) जो देव **(देवेषु अधि)** देवो के वीच मे भी **(देवत्व)** और ऊँचे देवत्व को **(आयन्)** प्राप्त हुवे हैं, **(ये)** जो **(अस्य ब्रह्मण.)** इस वृहत् ससार के **(पुरः एतार.)** आगे चलनेवाले व चलाने वाले हैं, **(येभ्यः ऋते)** और जिनके विना **(किंचन धाम)** कोई भी धाम, कोई भी स्थान **(न पवते)** पवित्र नही होता। **(ते)** वे पूर्ण देव **(न दिवो स्नुषु अधि)** न तो द्युलोक के किन्ही प्रान्तो मे रहते हैं **(न पृथिव्या)** और न पृथिवी के।

अद्भुत मित्र

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

अथर्व० १ ९४ १३॥

विनय

हे प्रभो! हम चाहते हैं कि हम तेरी विस्तीर्णतम शरण मे रहने लगें। तेरी शरण इतनी फैली हुई है कि उसमे आकर मनुष्य किसी भी देश मे व किसी भी काल मे दुःख नही पा सकता। ससार की और किसी भी वस्तु का आश्रय ऐसा नही है। और सब सुख, और सब आश्रय और सब शरणें इसके सामने अत्यन्त तुच्छ हैं, क्योकि ससार के सब देवो के भी देव तुम हो। सब देवो मे देवत्व तुम्हारे द्वारा ही आया है। तुम्हारे आश्रय विना इन अग्नि आदि महान् दीखने वाले देवो मे कुछ नही है। इन सब बसाने वालो के बसाने वाले तुम हो। सब धनो के धन तुम हो। तुम्हे पाकर और सब धन बेकार हो जाते हैं। सब पुण्य यज्ञो के अन्दर तुम ही शोभायमान होते हो। यज्ञो का सौन्दर्य तुम हो। तुम्हारे बिना कोई यज्ञ यज्ञ नही रह सकता। और तुम अद्भुत मित्र हो। ओह! ऐसा मित्र और कौन हो सकता है। यदि सर्व-शक्तिमान् और तीनो कालो का जानने वाला मित्र किसी को मिल सके तो उसे और क्या चाहिये! इसीलिये अब हम तेरे सख्य मे (मैत्री मे) आना चाहते हैं। हमने तुझे देवों का देव, वसुओ का वसु समझ लिया है। अत हमे अब किसी अन्य देव व वसु की प्राप्ति की चाहना नही रही है, हमने तुझे "सब यज्ञो का सौन्दर्य" रूप मे देख लिया है, अत हमें अब किन्ही कर्मकाण्ड-मय यज्ञो के करने मे आकर्षण नही रहा है, तेरे निरन्तर ध्यान का यज्ञ ही सर्व-श्रेष्ठ लगता है। और हमने तुझे अद्भुत मित्र देखा है—ओह ऐसा अद्भुत! ऐसा विलक्षण!! तुझ सर्वज्ञ सर्वसमर्थ मित्र की अद्भुतता दूसरे न जानने वाले को कैसे समझायी जावे, ओह तुम कैसी विलक्षणता से हम सब के साथ आठो पहर, हर घडी, हर पल परम मित्रता निभा रहे हो—तुम ऐसे अद्भुत मित्र को देखकर अब हमे और किसी की मैत्री की जरूरत नही है। अरे वे अनजान लोग हैं जो ससार मे और किसी की मैत्री पाने के लिए टक्कर मारते फिरते हैं। तेरी विस्तृत शरण मे तो और सब शरणे समा जाती है। अतः हे स्वामी! हमे तू अपनी मैत्री प्रदान कर, तब हमे कोई खतरा न रह सकेगा। हे प्रभो! तू हमे अपनी अनन्त अपार शरण मे जगह दे दे तब हमे किसी विनाश का भय न रह सकेगा।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे परमेश्वर! (देवाना देवः असि) तू देवो का देव है (अद्भुतः मित्रः) तू अद्भुत मित्र है! (वसूनां वसुः असि) तू सब वसुओ का वसु, धनो का धन है! (अध्वरे चारु) यज्ञ मे तु शोभायमान है। अत हम चाहते हैं कि (वयं) हम (तव) तेरी (सप्रथस्तमे शर्मन्) विस्तीर्णतम शरण मे (स्याम) होवें, और (तव सख्ये) तेरे सख्य मे (मा रिषाम) हम नष्ट न होवें।

मानव शरीर रूपी यज्ञशाला

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ चदेवौ ॥

यजु० ३४ ५५ ॥

विनय

यह शरीर भगवान् ने तुझे यज्ञ करने के लिए दिया है। यह देह पवित्र यज्ञशाला है। इसमें बैठे हुवे सात ऋषि उस भगवान् का यजन कर रहे है। आँख देख रही है, कान सुन रहा है, नासिका सूँघ रही है, त्वचा स्पर्श कर रही हैं, जिह्वा रस ले रही है, मन मनन कर रहा है और बुद्धि निश्चय कर रही है। ये सातो ऋषि शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श का ज्ञान करते हुवे, मनन और अवधारण करते हुए अपनी इन ज्ञान क्रियाओ द्वारा भगवान् का यजन कर रहे हैं। ये ज्ञानशक्तियाँ हमारे अन्दर भगवद्यजन के लिए ही रखी गई हैं। हमारी प्रत्येक ज्ञान-प्राप्ति भगवत्प्राप्ति के लक्ष्य से ही होनी चाहिये और इन सातों ज्ञानेन्द्रियो (बाह्य और अन्दर के करणो) के साथ एक एक प्राण शक्ति भी काम कर रही है, जिन्हे सात शीर्ष प्राण कहते हैं। ये सात प्राण इस 'सद' की—इस यज्ञशाला की—रक्षा पूरी सावधानता के साथ, विना प्रमाद किये, कर रहे हैं। इस तरह इस यज्ञशाला में निरन्तर यह यज्ञ चल रहा है। हम हमेशा कुछ न कुछ ज्ञान (अनुभव) करते रहते हैं, देखते, सुनते या मनन आदि करते रहते हैं। (स्वप्नावस्था में भी यह देखना सुनना बद नही होता। पर हाँ, सुषुप्ति अवस्था में जब कि इन सात ऋषियो के 'आप' (ज्ञान प्रवाह) सुषुप्ति के लोक में लीन हो जाते है, हमें कुछ भी अनुभव नही हो रहा होता तव क्या यह यज्ञ भग हो जाता है ? नहीं, तव भी दो देव जागते हैं। ये दोनो देव कभी भी सोने वाले नही, इन्हे कभी नींद दबा नही सकती। अत ये "सत्रसदौ" तव भी यज्ञ मे बैठे हुए जागते रहते है। यह हैं (१) आत्म-चैतन्य और (२) प्राण। इन सात ऋषियो को दर्शन शक्ति देने वाला देव एक है और इन रक्षक प्राणो को प्राण शक्ति देनेवाला दूसरा है। ये दोनो देव—ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति के देव—तव भी जागते रहते हैं और ज्ञान और कर्म द्वारा चलने वाले इस यज्ञ की इन दोनो शक्तियो को निरन्तर कायम रखते हैं, बल्कि पुष्ट करते रहते हैं। इस तरह यह यज्ञ चौवीसो घटे निरन्तर चलता है, सौ वर्ष तक चलता रहता है, जब तक जीवन है तब तक चलता रहता है।

पर क्या हम इस शरीर-यज्ञशाला को यज्ञशाला की तरह पवित्र रखते हैं ? कही यज्ञ करनेवाले ये सात ऋषि ज्ञानक्रिया द्वारा भगवद्यजन करना छोडकर अपने ऋषित्व से भ्रष्ट तो नहीं हो जाते ?

शब्दार्थ—

(शरीरे सप्त ऋषय. प्रतिहिता) शरीर मे सात ऋषि स्थापित हुवे हुवे हैं **(सप्त सदं अप्रमादं रक्षन्ति)** सात हैं जो कि इस सद [स्थान, यज्ञशाला] को प्रमाद-रहित होकर रक्षा करते रहते हैं। **(स्वपत. सप्त आप. लोकं ईयु.)** सुषुप्तावस्था मे ये सात ज्ञानप्रवाह अपने लोक मे लीन हो जाते है, **(तत्र च)** तो वहाँ भी **(सत्रसदौ)**-यज्ञ मे बैठे रहनेवाले **(अस्वप्नजौ)** कभी न सोने वाले **(देवौ)** दो देव **(जागृत·)** जागते रहते हैं।

अमृत—आत्म ज्ञान—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश॥

ऋ० १ १६४.२१॥ अ. ६ ६.२२॥

विनय

मनुष्य एक कच्चे घड़े के समान है जब तक कि वह आत्म-ज्ञान की अग्नि मे पक नही जाता। मैं कच्चा घडा इस ससार सागर मे पडा हुवा घुल रहा हूं, नष्ट होता जा रहा हू। हे जगदीश्वर! यदि तुम्हारे ज्ञान की अग्नि की आच मुझे शीघ्र पका न देगी तो मैं जल्दी ही खतम हो जाऊँगा। मैं अभी तक 'पाक' हूं, पक्तव्य हू, कच्चा हूं। तुम पक्व हो, विपक्वप्रज्ञ हो। तुम शीघ्र मुझमे प्रवेश करो। तुम अमृत हो, मैं अभी तक मर्त्य हू। तुम इस भुवन के ईश्वर हो, मैं अनीश हूं। जिस दिन मुझे आत्मा का ज्ञान हो जायगा अपनी अमरता का भान हो जायगा तो मैं भी पक जाऊँगा। आत्मज्ञानी, अमर, परिपक्व होकर मैं तो ससार में पडा हुवा भी गल नहीं सकूगा। मुझमे प्रविष्ट होकर मुझे अमर कर दो, पका दो। इस कच्चे घडे मे (शरीर में) यद्यपि इन्द्रियाँ लगातार कुछ न कुछ ज्ञान लाती हुई चल रही है पर उनके लाये हुवे ज्ञान मे—जुगनू के से तुच्छ प्रकाश मे—वह अग्नि नही है जो मुझे पका सके। सच तो यह है कि वे इन्द्रियाँ जिस पूर्ण अमर ज्ञान के एक अश को अपने वेदन मे लाती हैं उसी की अभिलाषा अब मुझे लग गई है। उन्ही द्वारा पता लगा है कि कोई अमृत ज्ञान भी है जिसके द्वारा मैं पूरा पक सकता हूं। इन्द्रियो मे जो वेदन है वह तुम्हारे ही अपार ज्ञान, अनन्त चैतन्य से आता है। यह समझ आ जाने पर आज ये इन्द्रियाँ मेरे लिये जो कुछ ज्ञान लाती हैं उसमे मुझे अमरता का ही सदेश सुनाई देता है, ये जो भी कुछ वेदन करती हैं उसमे मुझे वे यही बोल रही हैं "तू अमर बन, अमर बन; अपने को पकाले, पकाले" अत. हे सब ब्रह्माण्ड के स्वामी! मुझे पक्का करने के लिये तुम मेरे इस शरीर के भी स्वामी हो जावो, हे त्रिभुवन के रक्षक! इस शरीर की भी रक्षा करो। हे धीर! ज्ञानमय! तुम्हारे प्रविष्ट हुवे बिना यह कच्चा घडा कब तक रक्षित रह सकता है।

शब्दार्थ—

(यत्र) जहाँ इस शरीर मे (सुपर्णाः) सुपतनशील इन्द्रियाँ ((अनिमेषं) निरन्तर (अमृतस्य) अमृत ज्ञान के (भागं) अपने भाग को लाकर (विदथा) वेदन के साथ (अभिस्वरन्ति) चल रही हैं, मानो बोल रही हैं (अत्र) उस इस मेरे शरीर मे (विश्वस्य भुवनस्य) सब ब्रह्माण्ड का (इनः) ईश्वर (गोपाः) और सब भुवन का रक्षक (सः धीरः) वह धीमान् ज्ञानमय (पाकं मा) मुझ पक्तव्य मे [अपरिपक्व मे] (आविवेश) प्रविष्ट होवे।

देवों और असुरों का संसार

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां, देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं, देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।।

ऋ० १.८९.२ ।। यजु० २५.१५ ।।

विनय

दो प्रकार का संसार कहा जा सकता है। एक देवो का ससार, दूसरा असुरों का संसार। देवो की मुख्य पहिचान यह है कि ये ऋजुगामी होते हैं। इनका गमन, इनका व्यवहार सरल, सीधा और सच्चा होता है। इसके विपरीत असुर वे लोग होते है जिनका व्यवहार कुटिल, टेढा और असत्यमय होता है। हमे ऋजुता प्रिय है। अत हम देवो के संसार मे रहना चाहते हैं। अपने चारो तरफ ऊपर नीचे, अदर वाहिर, हमे देव ही देव दिखाई देते है। अपने सत्य नियमो के अनुसार चलने वाले, अपने सत्य धर्मों से कभी न डिगने वाले ये सूर्य, पृथिवी, अग्नि, वायु, जल आदि वाहिर के देव हैं, सत्यनिष्ठ, सत्यज्ञानी मनुष्य भी देव है, अन्दर प्राण मन बुद्धि इन्द्रियाँ सव देव हैं। इन देवो के बीच मे रहने वाले हम चाहते है कि चूकि हमे ऋजुना प्रिय है अत ऋजुता चाहने वाले इन देवो की कल्याणी मति हम पर सदा रहे—इनसे हमे सदा सच्ची ज्ञान-प्रेरणा मिलती रहे। ये देव जो हमे सदा रक्षा, शान्ति, तेज, स्वास्थ्य, शक्ति, अन्न, पान, नाना प्रकार के सुखो का दान कर रहे हैं, ये शुभ दान हम ऋजु गामियो पर सदा वरसते रहे। हमारा इन देवो से सख्य सम्वन्ध ही स्थापित हो जाय। हम इन देवो के साथी हो जायँ। वल्कि अपने अन्दर देवो को वसा कर पूरे ऋजु होकर हमही देव वन जायें। और जव हमारे अन्दर देव वस जायेंगे, हमारे सव कार्य ठीक-ठीक सत्य नियमो से हुवा करेंगे तो इन देवो के द्वारा हम अपनी पूर्ण ठीक आयु तक जीवन को भी प्राप्त करेंगे, और यह जीवन सच्चा जीवन होगा।

आओ, हम सव इस भूमि पर रहते हुवे ही देवो के ससार के वासी हो जायँ, दिव्य सुमति और दिव्य दान पाते हुवे देव वनकर देवो की तरह परिपूर्ण आयु भर इस भूमि पर वसें।

शब्दार्थ—

(ऋजूयतां देवानां) ऋजुगामी या ऋजु लोगो को चाहने वाले देवो की **(भद्रा सुमति.)** कल्याणी सुमति **(न.)** हम पर रहे **(देवाना राति.)** ऐसे देवो का दान **(न.)** हम पर **(अभि निवर्तता)** सव तरफ से निरन्तर वरसता रहे। **(वयं देवानां)** हम इन देवो की **(सख्य उपसेदिम)** मैत्री प्राप्त करें, इनकी समानता में वैठें **(देवा)** ये देव **(जीवसे)** जीवित जीवन के लिये **(नः आयु)** हमारी आयु **(प्रतिरन्तु)** वढावें।

सच्चा रक्षक जगदीश्वर

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वं अवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

ऋ० १.८९.५ ॥ यजु० २५.१८ ॥

विनय

इस विषम संसार में हम जब किसी क्लेश में होते हैं तो रक्षा के लिये जगदीश्वर को ही पुकारते हैं। वह जगदीश्वर इस सब ब्रह्माण्ड का ईश्वर है। स्थिर, अस्थिर, चर, अचर जो भी कुछ संसार है उस सब का वही पति है, वही स्वामी है। उसके सिवाय संसार में और दूसरा कौन रक्षा कर सकता है? और वह "धियजिन्व" ईश्वर रक्षा के लिये आता भी है। वह कोई हमारे जैसा हाथ पैर वाला साकार तो है नहीं जिसे कि चलकर हमारे पास पहुंचना हो और अपने हाथों से हमारी रक्षा करनी हो। वह सर्वगत हमारी बुद्धि या कर्म के प्रीणन करने द्वारा हमारी रक्षा कर देता है। वह प्रभु जो कि "सर्वभूतों के हृद्देश में बैठा हुआ सब को घुमा रहा है" हमारी बुद्धि को ठीक ज्ञान देकर, हमसे ठीक काम करा कर हमारी रक्षा कर देता है। बुद्धि व कर्म के अधूरे रहने से ही मनुष्य सदा कष्ट में पड़ता है। जगदीश्वर उसे किसी न किसी ढंग से तृप्त करके पूरा कर देता है। अपनी या अपने किसी साथी की समझ बदल जाती है या उससे ऐसा कर्म हो जाता है कि विपत्ति कल्याण के रूप में परिणत हो जाती है। प्रभु हमें बचा लेता है।

यदि वह न बचायेगा तो और कौन बचायेगा। वह पूषा है तो वही हमारा 'रक्षिता पायु' भी होगा। उसने जैसे हमारे लिए इस जगत् में ये इतने ऐश्वर्य बढ़ाये हैं, यह शरीर मन बुद्धि आदि देकर इस ऐश्वर्य जगत् को हमारे सामने रख दिया है, वैसे ही जब कभी इस संसार में हम संकट में पड़ जायेंगे और हमारे प्राप्त ऐश्वर्यों में से कोई नष्ट हो रहा होगा तो वही (यदि इनकी रक्षा में हमारी स्वस्ति देखेगा) इनकी पूर्ण रक्षा भी करेगा। उसके दिए हुए धनों की रक्षा भी वही करेगा। हमें क्या चिन्ता? और जब वह हमारी स्वस्ति (कल्याण) के लिये हमारे प्राप्त ऐश्वर्य (धन शरीर आदि) की रक्षा करने की आवश्यकता समझता है अर्थात् इनकी रक्षा में ही हमारा वास्तविक कल्याण देखता है तो वह रक्षा करता है, जरूर रक्षा करता है और उसकी यह रक्षा पूर्ण 'अदब्ध' होती है, उसकी रक्षाओं को संसार में कौन रोक सकता है।

अतएव हम सदा उस 'धियजिन्व' को उस 'अदब्ध रक्षिता' को रक्षा के लिये पुकारते हैं।

शब्दार्थ—(तं) उस (जगतः तस्थुषः पतिं) जंगम और स्थावर संसार के पति (धियजिन्वं) बुद्धि व कर्म के प्रीणन करने वाले (ईशानं) ईश्वर को (वयं) हम (अवसे हूमहे) रक्षा के लिये पुकारते हैं। (पूषा) वह पोषक (यथा) जहां (नः) हमारे (वेदसां) धनों की (वृधे) वृद्धि के लिए (असत्) हुवा है वहां वही (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (अदब्ध रक्षिता पायुः) [हमारे धनों का] अहिंसित रक्षक और पालक भी होवे।

सच्चा अवलम्बन

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ।।

ऋ० १.५७ ४।। अथर्व० २० १५ ४।।

विनय

हे महान् ऐश्वर्य वाले प्रभु ! हमने तेरा अवलम्बन ग्रहण कर लिया है। हम ने देखा कि सब ज्ञानी तेरी ही स्तुति करते है। अत हमने भी अब और सब सहारे छोड कर एक तेरा ही सहारा ले लिया है। हम इस जगत् मे अपना एक एक व्यवहार एक एक काम काज तेरे ही भरोसे करते हैं। और कोई हमे क्या कहेगा, क्या समझेगा, हमे इस कार्य के करने से क्या दुख आयेंगे, ससार हमारी कितनी निन्दा करेगा यह हम कुछ नही देखते। बस तेरी इच्छा (आज्ञा) क्या है इसे यथाशक्ति जानकर इसे ही तेरे भरोसे करते जाते हैं। अन हे इन्द्र प्रभो ! अब हम तेरे हैं। तू हमारा है और हम तेरे हैं । संसार मे अब कोई और हमारा नही है । हमारे सब सम्बन्धी, हमारे घनष्ठि से घनिष्ठ मित्र, हमारा धन, हमारी बुद्धि, शरीर आदि किसी का भी हमे सहारा नही है। इनका जितना सहारा है वह सब तेरे द्वारा ही है। इसलिये हे हमारे स्वामी !, हे हमारे ! हमारी प्रार्थनायें तेरे सिवाय और किसके पास पहुँच सकती हैं,? ऐसा ससार मे और कौन है जिसके आगे अब हम विनती करेंगे ? विनती करने की हीनता करेंगे ? और किसी के आगे अब हम दीन नही बन सकते। इसलिए हे प्रार्थनाओ के सुननेवाले ! हे वाणियो की पूजा ग्रहण करने वाले ! हम जो प्रार्थनायें तेरे चरणो मे पहुँचा रहे हैं उन्हे तुम भी चाहो। तुम भी उन्हे अपनी तरफ इस तरह खीचो जैसे यह विशाल भूमि अपनी आकर्षण शक्ति से सब पार्थिव वस्तुओं को अपनी तरफ खीचती रहती है। हम कोई वस्तु ऊपर या इधर उधर किसी विरुद्ध दिशा मे फैंकें तो भी वह वस्तु अन्त मे खिचकर पृथिवी के ही पास पहुँच जाती है। इसी तरह हे हमारे देव ! हमारी प्रार्थनाओ मे यदि कोई त्रुटि होवे, इनमे आत्म-समर्पण की कमी होने के कारण ये प्रार्थनाएँ ठीक तुम्हारी तरफ जाने योग्य न हों तो भी हे देव ! इन्हें तुम अपनी तरफ खींच लो। जब हम तुम्हारी कामना करते हैं तो तुम हमारी नही कर रहे हो यह कैसे हो सकता है। नही, तुम भी पृथिवी की तरह हमे खीच रहे हो। हम तो तुम्हारी तरफ आ ही रहे हैं अत हमारी कामनाओ के पाने की तुम भी प्रतिकामना करो। हमारी प्रार्थनाओ को प्रतिग्रहण करो। तुम्हारे सिवाय अब हमारा और कोई नही रहा।

शब्दार्थ—

(**प्रभूवसो**) हे महान् ऐश्वर्यवाले ! (**पुरुष्टुत**) हे बहुतो से स्तुति किये जाने वाले ! (**ये**) जो हम (**त्वा**) तेरा ही (**आरभ्य**) अवलम्बन करके (**चरामसि**) चलते है (**ते इमे वयं**) वे ये हम (**इन्द्र**) हे इन्द्र ! (**ते**) तेरे हैं। (**गिर्वण.**) हे वाणियो से पूजनीय इन्द्र ! (**गिर**) हमारी वाणियो को, प्रार्थनाओ को (**त्वदन्य.**) तेरे सिवाय और कोई (**न हि सघत्**) नही प्राप्त करता, नही सुनता (**नः तद् वच.**) अतः हमारी इन प्रार्थनाओ को (**क्षोणी. इव**) पृथिवी की तरह (**प्रतिहर्य**) प्रतिकामना करो, आकर्षण करो।

दैव्य जन और जन मनुष्य

यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा न स्तस्मादेनसो देव रीरिषः ।।

ऋ० ७.८९.५।। अथर्व ६.५१ ३।।

विनय

हे वरुण ! तुम जन हो तो दैव्य जन हो—पर हम गिरते पड़ते उठने का यत्न करनेवाले मनुष्य जन हैं । हे देव ! हम मनुष्यो पर दया करो, हम तुम्हारी दया के पात्र है । हम वेशक तुम्हारा द्रोह करनेवाले बडे भारी अपराधी होते रहते हैं । तुम्हारे धर्मों का लोप करना सचमुच बडा द्रोह है । जो कुछ हमे मिल रहा है वह सब कुछ तुम्ही से मिल रहा है और वह सब इसीलिये मिल रहा है क्योकि तुम्हारे धर्म सत्य है अखण्ड है । यदि तुम्हारे धर्म कभी खण्डित हो सकें तो तुम तुम न रहो । पर इन्ही तुम्हारे सत्यधर्मों को (जिनके कारण हमे यह सब कुछ मिल रहा है) हम लोग अपने व्यवहार मे लोप कर देते है । यह कितना द्रोह है ? ये तुम्हारे सनातनधर्म हमारे व्यवहार मे धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय आदि रूपो मे प्रकट होते है । पर हम इनका परिपालन न कर तुम सर्वदाता प्रभु के द्रोही होते रहते है । पर फिर भी हे देव ! हमारी तुमसे प्रार्थना है कि हमे क्षमा करो, हमे कठोर दण्ड देकर हमारा नाश मत करो । क्योकि यह सब धर्मभग हम जानवूझ कर नही करते । जो कुछ हमसे धर्म-लोप होना है वह अज्ञान से, प्रमाद मे, असावधानी से होता है । अब हम कभी जानवूझ कर अधर्माचरण मे नही प्रवृत्त होते । पर ये अज्ञान की वेखबरी की भूले होते रहना तो हम मनुष्यो के लिये अस्वाभाविक नही है । इसलिये हम तुम्हारी दया के पात्र हैं । वरुण राजन् ! हम जानते है कि राजद्रोह वडा भारी अपराध है । तुम्हारे सच्चे पूर्ण कल्याणमय राज्य का द्रोह करना आत्मघात करना है । अतएव अब हम अपनी शक्ति भर और जानवूझ कर तुम परम प्यारे का द्रोह कैसे कर सकते है ? पर तुम भी हमारे अज्ञान मे किये अपराधो को क्षमा करो । अथवा नही, तुमसे हम क्षमा के लिये क्यो कहे ? तुम तो हमारा विनाश कर ही नही सकते, तुम जो भी कुछ करोगे हमारा कल्याण ही करोगे । यह निश्चित है । फिर तुमसे प्रार्थना तो इसलिये है कि इस द्वारा हम तुम्हारे कुछ और अधिक नजदीक हो जाये । हमारा हृदय शुद्ध हो जाय । क्योकि तुम्हारे आगे रो लेने मे हृदय की शुद्धि हो जाती है और भविष्य के लिये धर्म-भग होने की सम्भावना और और कम होती जाती है ।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे वरुण (मनुष्या) हम मनुष्य (दैव्ये जने) तुझ दिव्य जन मे (इदं यत् किंच अभिद्रोहं) यह जो कुछ द्रोह (चरामसि) किया करते हैं और (अचित्ती) अज्ञान और असावधानता से (यत् तव धर्मा युयोपिम) जो तेरे धर्मों का लोप किया करते है (देव) हे देव (तस्मात् एनस) उस पाप के कारण (नः मा रीरिष) हमारा नाश मत करो ।

सच्ची योग महिमा

युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

ऋ० ५.८१.१। यजु० ५.१४॥

विनय

विप्र लोग उस महान् विप्र के साथ अपना मन जोडते हैं। इसी का नाम योग है। ये योगी, ज्ञानी, महात्मा लोग केवल अपने मन को ही उस चिन्मय प्रभु के साथ नही जोडते किन्तु बुद्धि को भी जोडते हैं। अपने क्षुद्र मन को उसके विभु मन मे जोडने से हमारा मन एकाग्र हो जाता है, रुक जाता है, परन्तु अपनी बुद्धि के उसमे जुडने मे हमे उसके आत्मज्ञान मे से हमारे लिए उपयोगी सत्यज्ञान भी मिलने लगता है। इस प्रकार योगी सन्त पुरुष उस सर्व-प्रेरक देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने सब कर्म किया करते हैं। उनके ये सब शारीरिक वा मानसिक कर्म फिर उस परमदेव मे आहुतिरूप होते हैं। प्रभु उन सब के उन होत्रो को स्वीकार करते जाते हैं और प्रतिदान में उन्हे उनके अनुकूल अपने ज्ञान को प्रेरित करते है। इस प्रकार उस एक महान् आत्मा मे संसार के सब विप्र (सब साधु महात्मा योगी) हवन कर रहे हैं और अपना अपना अभीष्ट पा रहे हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि उस अकेले ही देवता ने अपने आपको इन सब जीवात्माओ के साथ ठीक ठीक न्याययुक्त सम्बन्ध से जोड रक्खा है। और सम्बन्ध जुडने पर उस सम्बन्ध को परिपूर्णता के साथ निभा रहा है। वह कैसा वयुनावित् है, वह अकेला ही इन सब प्राणियो के एक एक ज्ञान व कर्म को अलग अलग कैसे जान रहा है! जरा देखो कि ये ज्ञानी पुरुष ही नही, किन्तु न जानते हुए अनिच्छा से तो ससार के प्राणीमात्र ही उस एक यज्ञ पुरुष के साथ जुडे हुए है और वह अकेला ही उन सब अनगिनत जीवो के साथ न जाने कैसे परिपूर्ण न्याय कर रहा है। ऐसे अद्‌भुत देव की, उस अकेले सर्व-प्रेरक देव की हम जितनी स्तुति करें वह थोडी है, हम जितनी स्तुति करें वह थोडी है।

शब्दार्थ—

(विपश्चितः) उस चित् स्वरूप (बृहतः विप्रस्य) महान् ज्ञानी के (मनसा) मन के साथ (विप्रा) ससार के ज्ञानी लोग (मनः युंजते) अपने मन को जोडते हैं। (उत धियः युंजते) और अपनी बुद्धियो को भी सयुक्त करते हैं। (वयुनावित्) सब के ज्ञानो व कर्मों को जाननेवाला (एक इत्) वह अकेला ही (होत्रा) इन सब के सत्य-कर्मों को, यज्ञकर्मों को (वि दधे) विविध प्रकार से धारण करता है यह (सवितु देवस्य) इस सर्व-प्रेरक देव की (मही परिष्टुति) महान् स्तुति, अद्‌भुत प्रशसा की बात देखो।



दैवी नाव

सुत्रामाणं पृथिवीं द्या मनेहसं सुशर्माण मदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रा मनागसो अस्रवन्ती मारुहेमा स्वस्तये ॥

अथ० ७ ६ ३॥ ऋ० १० ६३ १०॥ यजु० २१ ५॥

विनय आओ, अब हम विकृत जीवन को छोड प्रकृति की तरफ आये, खण्डित अवस्थाओ से निकल अखण्डित की तरफ आयें, दिति के ससार को त्याग कर अदिति का अवलम्बन ग्रहण करें। अप्राकृतिक बनावटी विकारमय जीवन बिता बिता कर हमने बहुत कष्ट पाये हैं, इस भवसागर मे बहुत से गोते खाये हैं, अब तो आओ, हम अपनी प्राणरक्षा के लिये इस प्राकृतिक जीवन रूपी दैवी नाव का आश्रय लेवें। यह दैवी नाव हमे भवसागर मे डूबने से बचा लेगी। हमारी ठीक प्रकार रक्षा करेगी। जरा देखो कि इसका आश्रय बडा विस्तृत है, प्राकृतिक जीवन-बितानेवाले को इस महान् प्रकृति का सम्पूर्ण अवलम्बन मिल जाता है और उसे एक खुलेपन का आनन्ददायक अनुभव होता है। तथा ज्यो ज्यो हमारा जीवन नैसर्गिक होता है, प्राकृतिक देवो के अनुकुल होता है त्यो त्यो हममे ज्ञान प्रकाश भी बढता जाता है। और यह प्राकृतिक जीवन हमे कभी हानि कैसे पहुँचा सकता है? यही तो हमारा स्वाभाविक असली जीवन है, अत यह तो हमे बड़े प्रेम से अपनी शरण देता है। बडे उत्तम प्रकार का सुख हमे देता है। हम लोग सुख भोग के ही लिये तो विकृत जीवन को पसन्द करते हैं, पर हमे मालूम नही कि प्राकृतिक जीवन मे जो एक ऊँचा सात्त्विक उत्तम प्रकार का सच्चा सुख है उसके सामने ये बनावटी सुख तो दुख हो जाते है। ओह, देखो कि यह प्रकृति अपने मे इतनी अखण्डित परिपूर्ण है कि यदि हम केवल श्रद्धा-पूर्वक अपने आप को इस प्रकृति के हवाले कर दें, अपने जीवन को प्राकृतिक सीधे सादे नियमो मे एक बार ढाल दें, तो फिर हमे और कुछ चिन्ता करने की जरूरत नही रहती। प्रकृति माता अपनी उत्तम प्रणीतियो (मार्गों, तरीको) से शेप सब कुछ अपने आप कर लेती है। देव परमेश्वर के अपने प्राकृतिक देवो द्वारा बनायी इस दैवी नाव पर चढने की केवल एक ही शर्त है, वह यह कि हम 'अनागस्' अर्थात् निष्पाप हो, प्राकृतिक नियमो का उल्लघन न करनेवाले हो। बस हम केवल इतना करें तो हम इस नाव के सौभाग्यशाली यात्री हो जायेंगे। इतना करके हम निश्चिन्त हो जायें कि यह कभी न चू सकने वाली और सद्गुणो के उत्तम पतवारो वाली नौका हमे बैठे ही बैठे सर्वथा कुशलपूर्वक पार लगा देगी।

शब्दार्थ—

(**सुत्रामाणं**) ठीक प्रकार रक्षा करनेवाली (**पृथिवीं**) विस्तृत आश्रय देनेवाली (**द्यां**) ज्ञान-प्रकाशवाली (**अनेहसं**) कभी हानि न पहुँचाने वाली (**सुशर्माणं**) उत्तम प्रकार के सुखवाली (**सुप्रणीतिं**) श्रेष्ठ मार्ग से ले चलने वाली (**स्वरित्रां**) उत्तम पतवरो वाली (**अस्रवन्तीं**) कभी न चूने वाली, अछिद्रा (**अदितिं**) परिपूर्णा अखण्डिता प्रकृति रूपिणी (**दैवीं नावं**) दैवी [देव ईश्वर की या उसके प्राकृतिक देवों की] नाव पर हम (**अनागसः**) निष्पाप होते हुए (**स्वस्तये**) कल्याण के लिए (**आरुहेम**) चढें।

नित्य अमर पद प्राप्ति

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाणः उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ।।

ऋ० १।३१।७।।

विनय हे प्रभो ! ससार मे ऐसे भी मर्त्य हैं जिन्हे कि तुम्हारी कृपा से नित्य अमरपद मिलता है, जिन्हें कि तुम प्रतिदिन अमृत का आनन्द चखाते हो। वे कौन है ? वे वे हैं जिन्हे कि प्राणिमात्र का हित करने की प्यास लगी हुई है—जिन्हे और कोई इच्छा नही है कोई कामना नही है सिवाय इसके कि उनके द्वारा सदा प्राणिमात्र का (मनुष्यो का ही नही, किन्तु पशु जाति का भी) भला होता रहे, जो कहते हैं 'नाह कामये राज्य, न स्वर्गं, नापुनर्भव, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनां मार्तिनाशनम्,' जिन्हे दुःखितो की पीडा शमन किये बिना चैन नही मिलता, जिन्हें परदुःख शमन की उत्कट प्यास लगी हुई है। उन प्यासो को तुम नित्य अमृत पिलाकर तृप्त किया करते हो। यद्यपि वे मर्त्य हैं तो भी उन्हे तुम नित्य अमर पद देते हो। क्योकि परसेवा कर लेते ही उनकी अमृताभिलाषा तृप्त हो जाती है। उन्हे अपने अमर आत्मा से मेल हो जाता है। हम मर्त्य इसीलिये रहते हैं क्योकि हम अपने मे ही आत्मा को देखते है, स्वार्थी हैं। जब मनुष्य एक एक प्राणी मे अपना सा आत्मा देखने लगता है तो उसे आत्मा की अमरता दीखने लगती है—सब भूतो मे व्याप्त एक अमर आत्मा दीखने लगती है। तब मनुष्य सूरि (ज्ञानी) हो जाता है। तब उस ज्ञानी को सब पर-प्राणियो का क्लेश अपना क्लेश लगता है, उस पर पीडा (जो कि उसकी आत्मपीडा हो जाती है) को बिना हटाये उसे अपनी आत्मा की अमृतता भग हुई दीखती है। अतएव वह परसेवा के लिये प्यासा होता है। परसेवा कर लेने पर उसे उस पीडित प्राणी की आत्मा से एकता मिल जाने से फिर अमृतत्व मिल जाता है। हे प्रभो ! एव तुम उस धन्य पुरुष को प्रतिदिन श्रेष्ठ अमृतत्व देते हो। ससार द्वारा उसे 'श्रवम्' (यश) तो मिलता ही है, पर इस परसेवा से मिलने वाला जो अलौकिक अवर्णनीय "मय" (सुख) है वह भी तुम उसे देते हो। हम मरे रहने वाले स्वार्थियो को उस स्वार्थत्याग के परम सुख का कुछ पता नही है। हम 'मर्त्य' तो डरते रहते है कि यदि हम परसेवा मे, सर्वभूतात्मा मे, अपने आप को स्वाहा कर देंगे तो हम मर ही जायेंगे, हमे खाने को भी न मिलेगा। पर ऐसे अमृतत्व को पाने वाले मनुष्य अपने शरीर की चिन्ता छोड चुके होते हैं, वे अपने शरीर का धारण केवल परसेवा के लिये ही किये होते हैं, अत हे प्रभो ! उस अमृत भोगने वाले महात्मा के मर्त्य शरीर के लिए अन्न भी तुम दिया करते हो।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रकाशक देव **(य)** जो **(उभयाय जन्मने)** द्विपद् चतुष्पद् या मनुष्य मनुष्येतर दोनो प्रकार के जीवो के भले के लिये **(ततृषाणः)** अत्यन्त तृषित है, प्यासा है **(तं मर्त्यं)** उस मनुष्य को **(त्वं)** तू **(श्रवसे)** यश के लिये **(दिवे दिवे)** प्रतिदिन **(उत्तमे अमृतत्वे)** श्रेष्ठ अमृत पद मे **(दधासि)** पहुँचाता है **(सूरये)** और उस ज्ञानी पुरुष के लिये तू **(मयः)** सुख **(आकृणोषि)** करता है **(प्रयः च)** और अन्न भी।

त्रिविध महान् ऐश्वर्य

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥
ऋ० १ ५७ १॥ अ० २०.१५.१॥

विनय

हे परमदानी ! मैं तेरे सामने झुकता हूं। मेरा मन और बुद्धि तेरे सामने झुकते हैं। तेरे अपरिमित ऐश्वर्यों की जो हम पर अनवरत वर्षा हो रही है उसे देख कर मैं अवाक् स्तब्ध रह गया हूँ। मेरी बुद्धि तेरी महत्ता, तेरी अनन्तैश्वर्य्यता को समझ सकने से भी हार मान रही है। तू गुणों मे अनन्त है, तू आकार मे अनन्त है, तेरा धन अनन्त है और तेरा बल कभी झूठा नही हो सकता। तेरा बल जहाँ प्रयुक्त होता है वह जरूर सफल होता है। तू सच्चे बल वाला है। और फिर तू परमदानी है। अपने अनन्त ऐश्वर्य की हम पर इस लिये वर्षा कर रहा है कि उसे पाकर हम मे भी बल बढे, आत्म-शक्ति बढे, हम भी सच्चे बल वाले हो जायें। तेरा यह ऐश्वर्य हमारे लिये खुला पडा है और यह विश्व भर के लिये खुला पडा है, सबके लिये खुला पड़ा है। जो चाहे इसे यथेच्छ लेकर अपना बल बढा लेवे। ज़रा देखो, इस ब्रह्माण्ड का स्थूल ऐश्वर्य, मानसिक अद्भुत ऐश्वर्य और अलौकिक अपार शक्ति वाला आत्मिक ऐश्वर्य, ये सब एक से एक ऊंचे, एक से एक अधिक शक्ति देने वाले ऐश्वर्य हम पर बरस रहे हैं। ऐश्वर्य की कमी नही है, हमारी ग्रहण शक्ति ही की कमी है। ऐश्वर्य को लूटो और इससे अपनी शक्ति बढाओ। अरे, यह तो बेरोक-टोक हमारी तरफ बह रहा है। जैसे कि नदी का जल नीची भूमि पर स्वभावत. जाता है, उसे रोका नही जा सकता, वैसे ही परम प्रभु का ऐश्वर्य उनकी सर्वशक्तिमत्ता और उनकी बृहत् की ऊंचाई से हम नीचे खडे अल्पशक्तिवालो की तरफ स्वभावत आ रहा है। यह तो आ ही इस लिये रहा है कि हमारी कमी हमारी निर्बलतायें भर जायें। प्रभु का ऐश्वर्य-जल हमे भरपूर करने के लिये, हमे पूर्ण कर देने के लिये नीचे अनवरत खुला बह रहा है। ओह ! यह अनन्त काल से बह रहा है। और इस ऐश्वर्य का कही अन्त नही है। इसे देखकर हे परम दानी ! मैं तेरे चरणो मे गिर पडा हूँ—सर्वभाव से तेरे चरणो मे गिर पडा हूँ। बुद्धि तक मेरा सब कुछ तेरे समर्पित है। हे महादानी ! !

शब्दार्थ—

(यस्य राध.) जिस प्रभु का ऐश्वर्य (प्रवणे अपामिव) नीची भूमि पर बहते पानी की तरह (दुर्धर) दुर्धर है, रोका नही जा सकता और जिसका ऐश्वर्य (विश्वायु) सब के लिये (शवसे) सब का बल बढाने के लिये (अपावृतं) खुला पडा है उस (बृहते बृहद्रये) अनन्त गुणवाले और अनन्त धन वाले (सत्यशुष्माय) सत्य बल युक्त (मंहिष्ठाय) महादानी (तवसे) महान् प्रभु के लिये (मतिं प्रभरे) मैं अपनी बुद्धि समर्पण करता हूँ।

तपाग्नि की महती महिमा

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥

ऋ० ९.८३ १॥ साम० पू० ६ २.७ १२॥ सा उ. २.२ १६॥

विनय

हे ब्रह्माण्डपति ! मैंने जाना कि मेरा शरीर अपवित्र क्यो है ? यद्यपि तुम्हारा पवित्रताकारक सामर्थ्य जगत् मे सब कही फैला हुआ है, तुम ही उस पवित्र के साथ मेरे शरीर के रोम रोम मे रम रहे हो तो भी यह शरीर पवित्र नही है इस का कारण मैंने जाना । इसका कारण यह है कि मैंने तप की अग्नि से अपने शरीर को पकाया नहीं है । विना आग में तपाये मिट्टी के घडे मे पवित्रताकारक जल कैसे ठहर सकता हैं ? इसी तरह तपोरहित मेरे शरीर मे तुम्हारी पावनी शक्ति नहीं ठहर सकती । विना इसे शरीर मे धारण किये इससे लाभ कैसे उठाऊं ? और इसे धारण करने के लिये तो पका हुआ शरीर चाहिये । एव इसे धारण न कर सकने के कारण मैं अभी तक इसके सब आनन्द से, सब रस से वञ्चित हूँ । सचमुच तपोहीन पुरुष के लिए इस जगत् मे कुछ भी रस नहीं है, कुछ भी सुख नही है । मैंने जाना कि यदि मैं अपने अन्नमय शरीर को ब्रह्मचर्य्य, व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि तप से तपा कर इसे पका लूंगा तभी मेरा यह शरीर तेरी पावनी शक्ति को धारण करके शारीरिक सौख्य को पा सकेगा । मैंने जाना है कि यदि मैं वृत्तिनिग्रह, योग, एकाग्रता आदि तपो की अग्नि से अपने मानसिक शरीर को पका लूंगा तभी यह शरीर तुम्हारे पावन ज्ञान-रस को धारण कर सकेगा । तप की अग्नि से जब स्थूल व सूक्ष्म शरीर के स्थूल सूक्ष्म मैल निकलते हैं तो तेरी सर्वव्यापक शक्ति इनमे आने लगती है, भरने लगती है। इस तरह तप से पवित्रता और शक्ति आती है । शरीर परिपक्व होते जाते हैं । आहा, पवित्र होने से कैसा अद्भुत आह्लाद मिलता है, शक्ति भरने पर कैसा सुख अनुभव होता है। तपन करने वाले लोग इसे क्या जानें ? अतपस्वी लोगों का काम न दे सकने वाला मलिन रोगग्रस्त (स्थूल) शरीर और अतपस्वियो का इधर उधर भटकने वाला, असंयत भय, चिन्ता, क्रोध, इच्छादि से पीड़ित मन (मानसिक शरीर) किस काम का होता है ? यदि प्रभु के पवित्रताकारक सामर्थ्य के समुद्र मे बैठे हुए भी उससे वञ्चित नही रहना है तो जल्दी करो, तप करो, तप करो तपसे अपने देहो को परिपक्व बनाते रहो। तप से पके शरीरो से ही यह प्राप्त किया जाता है ।

शब्दार्थ—

(**ब्रह्मणस्पते**) हे ब्रह्माण्ड के पति (**ते पवित्रं**) तेरा पवित्रताकारक पवित्र ज्ञान सामर्थ्य (**विततं**) सब कही फैला हुआ है । (**प्रभुः**) [इस पवित्र के साथ] तुम प्रभु (**गात्राणि**) मेरे शरीरो, अवयवो मे भी (**विश्वत पर्येषि**) सब तरफ से प्राप्त हुए हुए हो । परन्तु (**अतप्ततनूः**) जिसने अपने शरीर को तप से तपाया नही है अतएव (**आमः**) जो कच्चा है वह (**तत्**) उस पवित्र को (**न अश्नुते**) नही पाता । (**शृतासः इत्**) जो पके हुए हैं वे ही (**वहन्त.**) उसे धारण करते हुए (**तत् समाशत**) उसे अच्छी तरह प्राप्त करते हैं ।

दिति और अदिति के मार्ग

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्वणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रिय नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥

अथर्व ७.७.१॥

विनय

दिति और अदिति दोनो मुझमे हैं। खण्डित होनेवाली विकृति (माया) दिति है और खण्डित न होनेवाली प्रकृति (मूलशक्ति) अदिति है। दैत्यो और आदित्यो (देवो) की ये दोनो मातायें अपने पुत्रो द्वारा मेरे हृदय मे सघर्ष किया करती हैं। दिति मेरे हृदय मे स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, भय, काम, लोभ आदि असनातन विकारी भावो को जनित करती है और अदिति से परोपकार, करुणा, प्रेम, निर्भयता, वैराग्य, निष्कामता आदि सनातन भावो के पुत्र पैदा हो रहे हैं। पर मेरे इस हृदय के सघर्ष मे मैं इन दिति के पुत्रो को, इन दैत्य भावो को, अदिति के वना देता हूँ। उन महान् सनातन देवो द्वारा इन दैत्यो को दवा देता हूँ, नीचा कर देता हूँ। वे देव बृहत् है और अपराश्रित हैं, ये दैत्य (आसुरभाव) तो इन देवो के ही आश्रित हैं। ससार मे ये देवभाव न हो, तो ये आसुरी भाव चल ही न सकें। संसार मे सत्य के आश्रय से ही झूठ चल रहा है। अत एव मैं उन सत्य सनातन दैवी भावो (अक्लिष्ट वृत्तियो) द्वारा इन आसुरी विचारो (क्लिष्ट वृत्तियो) को सदा दवा देता हूँ। यह क्यो न हो जब कि उन देवो का तेज अति गंभीर है। वे दैवभाव अपना तेज उस अखण्ड प्रकृति (परमात्मा) के अक्षय समुद्र द्वारा ग्रहण करते हैं। अतएव मेरे क्षुद्र दुर्भाव इन दैवभावो के धाम (तेज) का पार नही पा सकते। इन दुर्भावो मे अपनी कुछ शक्ति नही होती, इनका अपना कोई आधार नही होता; अत ये कुछ समय तक उछल कूद करके अपनी उत्तेजना और अशान्ति सहित स्वयमेव विनष्ट हो जाते हैं। दैव भावो की अगाध नम्रता ही इन्हे हरा देती है। दैवभावो मे यह राजसिक उछल कूद व अशान्ति नही होती, उनकी सात्विक नमस् (नम्रता) मे ही सबको नमा देने की अक्षय शक्ति होती है। देवो की इस नम्रता की अगाध शक्ति को हरा सकने वाली और कोई शक्ति ससार मे नही है। अत. सचमुच इन नम्र, गभीर, अचलप्रतिष्ठ दैवभावो की ही सदा विजय होती एव मेरी इस हृदयभूमि मे देव-दैत्यो के सग्राम मे दिति से उत्पन्न होनेवाले पुत्र अदिति (नित्यशक्ति) की अखण्डित शक्ति के आधीन हो जाते है, उनके दैवी तेज के सामने ये दव जाते हैं, वही विलीन हो जाते हैं।

शब्दार्थ—

(दिते. पुत्राणां) दिति के पुत्रो [दैत्यो] को (अदिते· अकारिषम्) मैंने अदिति का कर लिया है, (बृहतां अनर्वणां देवानां) इन्हे मैंने उन महान् अपराश्रित, देवो के (अव [अकारिषम्]) आधीन [नीचे] कर लिया है। (तेषां हि) उन देवो का (धाम) तेज (गभिषक्) वडा गभीर है क्योंकि वह (समुद्रिय) नित्य शक्ति के तेज· समुद्र मे उत्पन्न हुआ हुआ है, (नमसा) नम्रता की शक्ति से युक्त (एनान्) इन देवों से (पर· कश्चन न अस्ति) परे, वढकर और कोई नही है।

अनुव्रत और अपव्रत

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतान् आभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो विजघान संदिहः ॥

ऋ० १।५१।९ ॥

विनय परमेश्वर इस ससार को सदा नवजीवन देते हुए जीवित रख रहे है। वे ससार के सच्चे व्रतपालक मनुष्यो को स्थान देने के लिये व्रतभग करनेवालो का विनाश कर रहे हैं और सकुचित लोगो को जल्दी खतम करके व्यापक विचारवालो को स्थिरता दे रहे हैं। इस तरह ससार जीवन पा रहा है और विकसित हो रहा है। देखने वाले देखते हैं कि इस विश्व मे उच्च आदर्शवालो, व्यापक भावनाओ से प्रेरित होकर कर्म करने वालो का ही प्रभुत्व है, इस विश्व मे ससार के सत्य नियमो का अवलम्बन करनेवालो के पास ही सच्ची विजय दायिनी शक्ति है, इस विश्व मे काल सब सकुचित दृष्टि वालो को मारता हुआ चल रहा है, उसकी मार से वे ही उतनी देर तक बचते हैं जो जितने ऊँचे और व्यापक दृष्टि वाले होते हैं। पर साधारण लोगो को इस ईश्वरीय सत्य नियम मे सदेह रहता है, उन्हें तो प्राय. संसार मे नियम भग करनेवाले और सकुचित लोग ही विजय पाते दीखते हैं। ऐसे सदेह होना स्वाभाविक है। ये सदेह तो तब विनष्ट होते हैं जब द्युलोक तक व्यापक इस अद्भुत विशाल इन्द्र के दर्शन पाकर मनुष्य उस का सच्चा स्तोता "वम्र" बन जाता है, जब इस दिव्यदर्शन मे मस्त हो उसकी वाणी से स्वभावत. स्तोत्र उद्गिरण होने लगते हैं। तब उसके सामने कोई विघ्न बाधा नही ठहर सकती। उस समय वह अपने उस द्युलोकवासी ('द्या इनक्षत') तक पहुँचने की अपनी उडान मे बाधक देखकर अपने सब बडे से बडे पार्थिव उपचयो को—उन भौतिक बडे बडे संग्रहों को जिनकी कि हम लोग जी जान से रक्षा करने मे लगे रहते हैं—बन्धन की तरह तोड डालता है, उन्हे लात मार जाता है, त्याग जाता है। क्योकि वह देखता है कि उसके इन्द्र इस भूलोक मे नही है किन्तु द्युलोक तक व्यापे हुए हैं और वह द्युलोक के इस रहस्य को देखता है कि वृद्ध पुरुष की यद्यपि शारीरिक उन्नति पूरी हो चुकी होती है तो भी उसकी दैवी (आध्यात्मिक) उन्नति के लिये असीम क्षेत्र खुला होता है उस म वह और जितना चाहे उतना बढ सकता है, अर्थात् वह अध्यात्म की इस महिमा को देख लेता है कि इस विश्व मे यद्यपि भौतिक (भूलोक की) उन्नति की एक सीमा है जिससे अधिक उसमे मनुष्य वृद्ध (उन्नत) नही हो सकता तथापि विश्व मे एक ऐसा द्युलोक (ज्ञान का लोक) भी है जिसमे कि ऐसी कोई सीमा नही, जिसमे मनुष्य अनन्तरूप से बढता जा सकता है।

शब्दार्थ—(**अनुव्रताय अपव्रतान् रन्धयन्**) नियमपालको के लिये नियम भग करनेवालो का नाश करते हुए और (**आभूभिः अनाभुव. श्नथयन्**) असकुचित मनुष्यो द्वारा सकुचित मनुष्यो का नाश करते हुए (**इन्द्र.**) परमेश्वर है। उस (**वृद्धस्य चित् वर्धतः**) वृद्ध के भी बढानेवाले और (**द्यां इनक्षत**) द्युलोक तक व्यापे हुए परमेश्वर की (**स्तवानः**) स्तुति करनेवाला (**वम्र.**) स्तोता, स्तोत्र उद्गिरण करनेवाला (**संदिहः**) अपने सदेहो को या पार्थिव उपचयो को (**विजघान**) नष्ट कर देता है, समाप्त कर देता है।



त्यागपूर्वक भोग

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कं।
भूमिरिति त्वाभि प्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सर्वतः॥

अथर्व० ६. ८४॥ य० १२ ६४॥

विनय हे निर्ऋते ! हे स्थूल जगत् के देवते ! तुझमे स्थूल भोग भोगने मे मनुष्य बडा सुख मानते हैं। वे तेरी इस भूमि पर इस स्थूल जगत् मे, खाने पीने, सतान उत्पन्न करने तथा इन्द्रियो के अन्य भोग प्राप्त करने मे बडा आनन्द पाते हैं और वे इसीलिए जीते हैं। तुझको, तुझरूप इस भूमि (स्थूल जगत्) को, वे सब सुखो की भूमि, सब भोगो का आश्रय, सब आनन्दो को पैदा करनेवाली मानते हैं। परन्तु मैं तो तुझे निर्ऋति ही समझता हूँ, कृच्छ्रापत्ति ही देखता हूँ। इस स्थूल जगत् मे पडा हुआ मैं अपने आपको एक महान् गहन आपत्ति मे फँसा हुआ पाता हूँ। सब तरफ से मैं एक भारी विपत्ति मे फंसा हुआ हूँ यह स्पष्ट देखता हूँ। स्थूल जगत् के भोग मुझे सुखदायक नही लगते, ये मुझे परिणाम, ताप, सस्कार, आदि सब तरह से क्लेश रूप लगते हैं, ये मुझे फँसाने वाले, बाँधनेवाले, गला घोटनेवाले लगते हैं। आत्मा स्थूल भोग भोगने के लिए स्थूल देहो को धारण करता है, परन्तु ज्यो ज्यो वह स्थूलता की तरफ जाता है त्यो त्यो वह परिमित, बद्ध, निरुद्ध, सीमित शक्तिवाला होता जाता है। इन स्थूलतम "पार्थिव" शरीर को पाकर तो आत्मा बिल्कुल ही बँध गया है। स्थूल शरीर मे वह आत्मा इन्द्रियो की प्रणालिका से बाहिर कोई ज्ञान नहीं पा सकता और हाथ पैर आदि से जितना परिचित कर्म किया जा सकता है उससे अधिक कर्म नही कर सकता। केवल वह पशुसुलभ भोग जरूर भोगता है। ओह ! हे निर्ऋते ! मैं तो ज्ञान और शक्ति के रोकने वाले इस स्थूल बधन से घबरा गया हूँ। मनुष्य-योनि पाकर मुझे तो अपने आत्मा की बधनरहित अवस्था की कुछ स्मृति भी आ गयी है, झलक दीखने लगी है। मुझमे उच्च, विस्तृत, शान्त सुखो की चाह पैदा हो गयी है। अतएव मैं तो इन स्थूल बधनो को तोडकर उडना सा चाहता हूँ। पर ये बँधे हुए बधन यू टूटने वाले भी नहीं हैं। इन्हे इन्ही के सहारे धैर्य से तोडना होगा। अतएव मैं तेरे स्थूल भोगो को त्यागपूर्वक, हवनपूर्वक भोग रहा हूँ। खाना, पीना, देखना, सुनना आदि स्थूल भोगो को समर्पण बुद्धि से करता हुआ मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इन कर्मों को तेरे घोर भयंकर मुख मे हवन कर रहा हूँ। ये भोग मुझे रमणीय नही लगते, किन्तु घोर नरक रूप लगते हैं।

शब्दार्थ—(यस्याः ते) जिस तेरे (घोरे आसनि) घोर मुख मे (जुहोमि) मैं हवन करता हूँ कि (एषां बद्धानां) इन स्थूलता के बँधे हुए बधनो से (अवसर्जनाय कं) छुटकारा पा सकूँ, (त्वा) उस तुझको (जना) मनुष्य तो (भूमि)[1] तू भोगो की भूमि है (इति अभिप्रमन्वते) ऐसा मानते हैं परतु (अह) मैं (त्वा) तुझे (निर्ऋति.) कृच्छ्रापत्ति, भारी विपत् (इति) ऐसा (सर्वत.) सब तरफ से (परिवेद), ठीक ठीक जानता हूँ।

नोट—(१) वेद मे 'निर्ऋति' शब्द का अर्थ भूमि भी है (निरमति इति); (२) और इसका अर्थ कृच्छ्रापत्ति, बडी भारी विपत्ति या पाप भी है।

विद्यादेवी महिमा

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तद् आपृणद् घृतेन ।।

अथर्व० ७ ५७ १ ।।

विनय

सार्वजनिक जीवन विताना बडा कठिन है। विलकुल निःस्वार्थ भाव से लोकसेवा करते हुए भी वहुत वार जो कुछ सुनना पडता है और जो कुछ व्यवहार सहना पडता है उससे मन प्राय विक्षुब्ध हो जाता है, हृदय को भारी चोट पहुँचती है। कई वार तो इनसे इतना मन खिन्न हो जाता है कि लोकसेवा छोड देना ही ठीक लगता है। परन्तु हृदयवासिनी सरस्वती देवी का ध्यान करके मैं रुक जाता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि यदि मैं सचमुच सर्वथा निःस्वार्थ हूँ, सच्चा सेवक हूँ तो ऐसा भारी से भारी विक्षोभ और चोटें भी मेरे लिये क्षणिक हैं, और ये मेरी आत्मविशुद्धि करनेवाली और मुझे वलवान् वनानेवाली ही हैं। ऐसी चोटें लगने पर ज्यो ही मैं कुछ देर के लिये अपने हृदयमन्दिर मे वैठ कर आत्मचिन्तन कर लूँगा तो अन्दर की ज्ञानमयी स्नेहस्वरूपिणी सरस्वती देवी की कृपा से मेरी ये चोटें क्षण मे ठीक हो जायेंगी और मैं तव अपने को पहिले से अधिक पवित्र तथा अधिक वलवान् भी पाऊँगा। सरस्वती देवी के पास वह घृत है, ज्ञान और स्नेह का वह अद्भुत मरहम है, शान्ति और प्रफुल्लता देनेवाला वह स्निग्ध ज्ञान है जिससे कि सच्चे पुरुष के सव घाव आत्मचिन्तन करने से जादू की तरह ज़रा सी देर मे विलकुल ठीक हो जाते हैं। मनुष्य आत्मस्वरूप को सदा स्मरण न रख सकने के कारण ही विक्षुब्ध व व्याकुल हो जाता है। अतएव विचार व आत्मचिन्तन कर लेने से देखा जाता है कि मनन करनेवाले के भारी से भारी मानसिक आघातो की भी पीडा वहुत कुछ उसी समय चली जाती है। यद्यपि नाना प्रकार की मद् आशाओ से भग हो जाने से या भलाई के वदले घोर अपमान व आपत्ति मिलने से मेरा आन्तरिक मानसिक शरीर चूर चूर हो जाता है, क्षत विक्षत हो जाता है, तथापि हे सरस्वती देवी! मेरी प्रार्थना है कि तुम सदा उन सव मेरे घावो को अपनी इस स्नेह रसमयी चैतन्यकारिणी शान्तिदायिनी दिव्य मरहम से जादू की तरह भर कर ठीक करती रहो।

शब्दार्थ—

(**जनान् अनुचरतः**) मनुष्यो की सेवा करते हुए (**आशसा वदत.**) उनके साथ आशा से वोलते हुए, भाषण करते हुए, (**मे**) मेरा (**यत्**) जो कभी कभी (**विचुक्षुभे**) मन विक्षोभ को प्राप्त होता है और (**याचमानस्य**) लोगो के हित के लिये उनसे प्रार्थना करते हुए या भिक्षा करने हुए (**यत्**) जो मेरा मन विक्षोभ को प्राप्त होता है तथा (**आत्मनि तन्व·**) अपने अन्दर अन्त शरीर पर, अन्त करण पर (**मे यत् विरिष्टम्**) मुझे जो चोट पहुँचती है, घाव होते है (**तत्**) उस सव को (**सरस्वती**) विद्या देवी (**घृतेन**) अपने ज्ञान पूर्ण और स्नेहमय मरहम से (**आपृणात्**) भर दें, पूर दे।

प्रभु इन्द्र

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम, तवेत् इदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आभर, मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः ॥

ऋ० १ ५३ ३ ॥ अथर्व० २०.३.२१ ॥

विनय

हे परमैश्वर्यवाले इन्द्र ! इस ससार मे चारो तरफ दिखाई देनेवाला और नाना तरह भोगा जाता हुआ जो ऐश्वर्य है वह सब तेरा है। पहिले मैं इन ऐश्वर्यों को मनुष्य का ऐश्वर्य समझता था, पर अब खूब अच्छी तरह जान गया हूँ कि यह सब तेरा है—एक मात्र तेरा ही है। तेरे ही दिये अनन्त ऐश्वर्य को ससार भोग रहा है। ये भौतिक सुख देनेवाली सब वस्तुएँ, प्रतिष्ठा, यौवन, प्रभुत्व आदि ऐश्वर्य, अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि दैवी संपत् और बडी बड़ी आत्मिक सिद्धियाँ और विभूतियाँ इन सब प्रकार के एक से एक ऊँचे ऐश्वर्य को यह संसार तुझसे ही पाकर भोग रहा है। हे सपूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी ! हे अतिशय ज्योतिवाले ! हे सर्वशक्तिमन् ! मैं तुझे एक बार देखकर तेरा हो चुका हूँ, अपना सर्वस्व तुझे सौंपकर तेरा हो चुका हूँ। अब तू ही मेरा अपना है। इस विश्व मे मेरा अब और कोई नही है। तो फिर मैं अपनी प्रार्थना किस और के सामने करूँ ? अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए किस अन्य की तरफ देखूँ ? तुझे अपनाकर, हे सर्वैश्वर्यवाले ! हे सर्वशक्तिमय ! तुझे अपनाकर मेरी शुभ अभिलाषा कैसे अपूर्ण रह सकती है ? तू पुरुकृत् है। तूने बहुत से भक्तो के लिये बहुत कुछ किया है, इस ससार का सब कुछ तूने ही बनाया है। तू एक क्षण मे अभिलषित ऐश्वर्य की रचना करके दे सकता है। हे अभिभूते ! सब विघ्नो और आवरणो के हटा देनेवाले ! तुम अपने अपरिमित ऐश्वर्य मे से उठा कर मेरी इच्छा भर ज़रा सा ऐश्वर्य मुझे दे दो। मेरी अभिलाषा, कितनी ही कठिन, कितनी ही असंभव सी दीखती हो, पर तुम सब विघ्न बाधाओ को अभिभव कर सकते हो। हे सब विघ्नो का विनाश कर सकने वाले ! तेरे जैसे स्वामी को अपनाने वाले भक्त की प्रार्थना कैसे अधूरी रह सकती है ? हे प्रभो ! बाधा हटाकर इसे पूर्ण करदो, पूर्ण करदो ! अपने अनन्त ऐश्वर्य मे से उठा कर यह एक मुट्ठी भर ऐश्वर्य मुझे दे दो। यह मेरी इतनी बडी भारी अभिलाषा तुम्हारे लिए सचमुच मुट्ठी भर ही है।

शब्दार्थ—

(शचीव) हे सर्वशक्तिमन् ! (पुरुकृत्) बहुत कुछ करनेवाले ! (द्युमत्तम) अतिशय दीप्ति वाले ! (इन्द्र) परमेश्वर (अभित) सब तरफ जो (इद) यह (वसु) ऐश्वर्य है वह (तव) तेरा (इत्) ही है ऐसा मैं (चेकिते) खूब अच्छी तरह जानता हूं। (अतः) इसलिए इसमें से (अभिभूते) हे विघ्नविनाशक ! (सगृभ्य) मेरे योग्य धन उठाकर (आभर) मुझे दीजिए (त्वायत) तुझे अपनाने वाले (जरितु) मुझ स्तोता की (कामं) इच्छा प्रार्थना को (मा ऊनयी.) अपूर्ण मत रखिये।

जय-विजय के प्रदाता परमात्मा

स इन्महानि समिथानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः ।
अघा चन श्रद्दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम् ॥

ऋ० १ ५५-५

विनय किसी लडाई मे, किसी जीवनसघर्ष मे, जब मनुष्य को विजय मिलती है तो वह फूला नही समाता है। वह समझता है मेरे शस्त्र बल की, बुद्धि बल की या तपोबल की विजय हुई। परन्तु ससार के सब महासग्रामो के विषय मे जो सच्चा रहस्य है उसे विरले ही मनुष्य समझते है। सच तो यह है कि ससार की सब सच्ची (अन्तिम) विजयें परमात्मा की ही विजय है। हम अधिक ज्ञान प्रकाश मे होकर देखें तो हमे दीखेगा कि वह परमेश्वर ही महायोद्धा होकर हम मनुष्यो के लिए सब सग्रामो को लड रहा है। मनुष्य की स्वार्थमयी आसुरी प्रवृत्ति के कारण ससार मे सब लडाइयो के प्रसग उपस्थित हो रहे है और जगदीश्वर की दैवी शक्ति उसे अन्त मे विजित करके उसे शान्त कर रही है। मनुष्य की न्यूनता पर परमेश्वर की पूर्णता विजय पा रही है। हमे जो यह दीखता है कि बहुत से मनुष्य सत्य के पक्ष मे महा-सग्राम लड रहे हैं वह असल मे सत्यप्रेमी मनुष्यो के लिये स्वय भगवान् वह युद्ध कर रहे होते हैं और अतएव ही उसमे विजय अवश्यभावी होती है। परमात्मा का पवित्रताकारक ओज ही लडकर जगत् मे सदा विजयी हो रहा है। सत्य के लिये युद्ध करने वालो को तो सदा समझना चाहिये, स्पष्ट देखना चाहिये कि उनका योद्धा स्वयं जगदीश्वर है, जगदीश्वर ही है, (स इत्) अहकार से विमूढात्मा हुए मनुष्य यूँ ही अपने को योद्धा और विजयी समझते हैं। अन्त मे जब उनका अहकार का पर्दा हटता है और जगत् व्यापक ज्योति मिलती है तब ही उन्हे इस असली सत्य मे श्रद्धा जमती है। तब उन्हें पाप के विजयी होने का भी भ्रम नही होता, क्योकि उन्हे तब इन युद्धो का महान्पन (महानि समिथानि) स्पष्ट दिखाई देता है। अत अधूरे युद्ध मे पाप की क्षणिक विजयो से वे भ्रम मे नही आते, उनकी श्रद्धा मे जरा भी धक्का नही लगता। अपने उस निर्बाध व्यापक प्रकाश मे उन्हे सब सग्रामो का यह सच्चा रूप दृष्टिगोचर हो रहा होता है कि एक तरफ मनुष्यो के स्वार्थ दूसरो के नाना प्रकार से हिंसन (वध) करने के रूप मे उठ रहे है पर जहाँ तक उनको स्वाधीनता है वहाँ तक उठकर वे सब दूसरी तरफ महातेजस्वी इन्द्र के ओज के सामने नष्ट होने जा रहे होते है—इन्द्र का पापवर्जक, कर्मफल देनेवाला वज्र उनके वध का ही वध करता हुआ सदा समता स्थापित कर रहा है।

शब्दार्थ—

(स इत्) वह इन्द्र ही (युध्म) योद्धा होकर (मज्मना ओजसा) अपने पवित्रकारक ओज से (महानि समिथानि) बडे बडे सग्रामो को (जनेभ्य.) मनुष्यो के लिए (कृणोति) करता है। परन्तु लोग (अघा चन) अनन्तर ही, पीछे से ही (त्विषीमते इन्द्राय) उस महातेजस्वी इन्द्र मे (श्रद्दधति) श्रद्धा करते हैं, जो कि (वधं) ससार के सब वध को, सब हिंसा को (वज्र निघनिघ्नते) वज्र मारता है, अपने वज्र से हनन किया करता है।

ब्रह्मचारी महिमा

ब्रह्मचारीष्णन् चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति ॥

अ० ११—५—१.

विनय ब्रह्मचारी वह है जो कि ब्रह्म के लिए (महान् सत्यज्ञान के लिए या परमेश्वर-प्राप्ति के लिए) सब आचरण करता है, तपश्चरण करता है। वह उस सत्य की खोज के लिए कुछ उठा नही रखता है। इस स्थूल बाह्य जगत् अर्थात् पृथ्वी मे तथा सूक्ष्म अंदर के ज्ञान जगत् अर्थात् द्यौ मे वह उस परम सत्य को खोजता हुआ फिरता है। उसे जहा भी कोई ब्रह्म अर्थात् सत्य-ज्ञान मिलता है तो वह फिर उसी (ब्रह्म) के अनुसार अपना आचरण करने लगता है। घोर से घोर तपस्या करके भी वह उस ब्रह्म (सत्य ज्ञान) से विपरीत चलने से अपने को बचाता है। ऐसे सच्चे ब्रह्मचारी मे क्रमश सब देवता सब ईश्वरीय शक्तियाँ अनुकूल हो जाती हैं। जब कि वह अपना सर्वार्पण करता हुआ भी देवो के सत्य नियमो का पूर्णत पालन करता है तो वे देव उससे एक मनवाले क्यो न हो जायेंगे? बाहिर के अग्नि वायु आदित्य आदि देव उसके वाणी प्राण दर्शनेन्द्रिय आदि अदर के देवो के साथ समस्वर हो जाते है। इस प्रकार बाहिर का पृथ्वी और द्युलोक ही उसके अदर ठीक प्रकार धारित हो जाता है। सच-मुच जो कुछ ब्रह्माण्ड मे है वह सभी वास्तव मे पिण्ड मे भी है। ब्रह्मचारी अपने शारीरिक वीर्य की रक्षा द्वारा जहाँ स्थूल पृथ्वी लोक को अपने मे धारण करता है, वहाँ अपने आत्मवीर्य (तेज) की रक्षा द्वारा सब द्युलोक को भी अपने मे समाये होता है। धन्य हैं वे ब्रह्मचारी, जो अपने आत्म वीर्य को अपने मे अक्षुण्ण स्थापित रखते हुए इसे अधिक-अधिक जागृत करते जाते हैं। ऐसे ही लोगो के प्रताप से यह ससार—यह स्थूल (दृश्य) और सूक्ष्म (ज्ञानमय) ससार, यह पृथ्वी और यह द्यौ—स्थित है। परम ब्रह्मचारी भगवान् जो कि वास्तव मे सब जगत् के धर्ता है इन्ही वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारियो को साधन बनाकर जगत् का धारण कर रहे है। उस सर्वथा 'अनश्नन्,' त्रिकाल मे भोगवासना रहित, परमेश्वर से तेज को लेते हुए इन ब्रह्मचारियो मे वह आत्म-वीर्य पैदा होता है जिससे कि ये दैवी नियमो का ठीक पालन कर सकते है और अतएव जगत् मे दैवी नियमो का ठीक सचालन होता है और सब जगत् कायम है। मनुष्यो! ब्रह्मचर्य की इस परम महिमा को देखो। और अपनी परिपूर्ण शक्ति लगाकर महान् ब्रह्मचर्य की तरफ अग्रसर होओ।

शब्दार्थ—

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) दिव् और पृथ्वी दोनो लोको मे (इष्णन्) ब्रह्म को खोजता हुआ, चाहता हुआ (चरति) विचरता है (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी मे (देवा·) सब दिव्य शक्तियाँ (संमनस) अनुकूल मन वाली (भवन्ति) हो जाती है। अत (स·) वह (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक को (दाधार) अपने अदर धारण करता है, एव बाहिर के भी इस दोनो लोको को वह धारण करता है। (स.) ऐसा ब्रह्मचारी (तपसा) इस तप से (आचार्यं) अपने आचार्य को भी (पिपर्त्ति) परितृप्त करता है, पूर्ण करता है, पालन करता है।

आत्मज्ञान महिमा

विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहि र्न जूर्णामतिसर्पति त्वचं, अत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा हरिः ॥

ऋ० ९ ८६ ४४॥ सा० उ० ७ ३ ४१ ॥

विनय उस ज्ञानमय आत्मा के स्तुति गीत गाओ जो कि महा अद्भुत है। यह आत्मा समरस होकर अपने विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय विस्तारो मे नानारूप से पवमान हो रहा है। इन आन्तरिक शरीरो मे जो लोग आत्मा के इन अद्भुत कौतुकों को देख पाते है वे आवेश मे आकर अवश होकर उसकी स्तुतियाँ गाने लगते हैं। अहो ! मनुष्य अपने ही आत्मा को नही जानता ! यदि वह इसके सामर्थ्यों, कार्यों और गतियो को जान जाय तो ससार की अन्य सब बाहिरी बातो की प्रशसाये करना छोडकर आत्मा के ही स्तोत्रगान मे मग्न हो जाय। जब आध्यान द्वारा आत्मा की शक्ति विज्ञान मय शरीर मे विशेषतया प्रकट होती है तो मनुष्य मे चैतन्य (उच्च ज्ञान) की बाढ आ जाती है। जैसे कि कोई बडी जलधारा बढने पर अपने तटो को लाँघकर इधर उधर के क्षेत्र मे भी भर जाती है वैसे ही आत्मा मे ज्ञानप्रकाश होने पर वह आत्मा इस स्थूल शरीर को और इन्द्रियो को अतिक्रमण कर जाता है, शरीर से बाहिर भी उसका साक्षात् अनुभव होता है और उसे अतीन्द्रिय ज्ञान हुआ करते है। उसके विज्ञानमय आदि आन्तर शरीर परिपक्व होजाने पर उसके लिए स्थूल देह परम तुच्छ वस्तु हो जाती है। हम तो इस स्थूल देह को छोडने का ख्याल करते ही डरते हैं और जब छोडना पडता है तो रोते चीखते हुए इसे छोडते है। परन्तु वह जागृत आत्मा स्थूल शरीर को इस तरह आसानी से और स्वभावत. त्याग देता है जैसे कि साँप आन्तर नयी त्वचा के तैयार हो जाने पर जीर्ण हुई केंचुली को सहज मे छोड जाया करता है। वह जागृत आत्मा तो एक शरीर से दूसरे शरीर मे या आन्तरिक ससार मे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे इस तरह चला जाता है जैसे कि एक बलवान् और गतिशील घोडा एक स्थान को छोड कर दौडता हुआ—विहार करता हुआ—दूसरे स्थान पर जा पहुँचता है। वह बलवान् आत्मा अपने साथ प्राणो इन्द्रियो आदि का हरण करता हुआ आनन्द से नये नये स्थान पर चला जाता है। मरना जीना आदि ससार की सब घटनायें उसे लीला और खेल नज़र आती हैं। सचमुच वह खेलता हुआ ही आन्तर ससार मे विचरता है, इस स्थूल देह को तो वह सर्वथा भूला सा रहता है जिसके कारण हम मौत से डरते हैं।

शब्दार्थ—

(**विपश्चिते**) ज्ञानमय (**पवमानाय**) सोमरूप आत्मा की (**गायत**) स्तुति गान करो (**अन्ध.**) वह आध्यायनीय आत्मा (**महीधारा न**) बडी जलधारा के समान (**अति अर्षति**) अपने तटो रूप देहबधनो को तोडकर चला जाता है (**अहि. जूर्णां त्वचं न**) साप जैसे अपनी जीर्ण त्वचा को वैसे वह अपने जीर्ण शरीर को (**अतिसर्पति**) छोड कर चला जाता है। और (**अत्य. न**) घोडे के समान (**वृषा हरि.**) यह बलवान् और गतिशील आत्मा (**क्रीडन्**) खेलता हुआ (**असरत्**) एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर चला जाता है।

अद्भुत अनुपम महान् रक्षक

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापति र्मातरिश्वा प्रजाभ्यः ।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ।।

अथर्व० १९.२०.२।।

विनय

मुझे अब फिकर नही है कि यदि कोई मुझे हानि पहुँचायेंगे तो मैं उनसे कैसे अपने को बचाऊँगा । जो लोग अज्ञान से मुझे अपना शत्रु जानकर मुझे कभी विपद्ग्रस्त करना चाहेगे तो उनसे बचने के लिये अब मैं न तो जेब मे पिस्तौल रखता हूँ, न अङ्गरक्षको की तरह किन्ही साथियो से घिरा रहता हूँ । इसके लिए न तो सार्वजनिक जीवन मे किसी दल (पार्टी) बनाने की आवश्यकता समझता हूँ, न ही विरोधी समझे जाने वाले के विरुद्ध कोई प्रचार (प्रोपेगेन्डा) करने की । एव विरोधियो से बचने के लिए अब कभी मुझे कोई भी योजनायें (Schemes) बनाने और करने की चिन्ता नही होती । क्योकि मैंने देख लिया है कि प्रभु ने जो कि इस सब भुवन के पति है रक्षक हैं उन्होंने हम सब की रक्षा का स्वय ही पूरा प्रबन्ध कर रखा है । उस प्रजापति ने हम प्रजाओ की रक्षा के लिए सब स्थानो पर दिव्य वर्म (कवच) बना रखे हैं ।

इन अदृष्ट कवचो का स्वरूप क्या है ? ये हमारे व्यष्टि प्राणो मे समष्टि प्राणो द्वारा मिलने वाले हमारे शुभकर्मो के फल रूप हैं । जगत्व्यापक सूक्ष्म प्राण, मातरिश्वा या सूत्रात्मा वायु (हमारे अपने पापो से आयी विपत्तियो के अतिरिक्त अन्य) सब क्लेशो भयो से हमारी निरन्तर रक्षा कर रहे हैं । यदि हमारा भोग नही है तो संसार मे कोई भी हमारा बाल बाका नही कर सकता है । जब हम देखते हैं कि हमे गोली मारने वाले का वार चूक जाता है, हमे हानि पहुँचाने की सब योजनाओ का ऐसा प्रभाव होता है कि उलटे उनसे हमारा कल्याण हो जाता है, तब उस समय मातरिश्वा प्रजापति के इन अदृश्य कवचो की सत्ता सब को अनुभव हो जाती है । इन्हीं ईश्वरीय कवचों से सदा सुरक्षित देखते हुए ही सत्यनिष्ठ आस्तिक वीर लोग हजारो विरोधियो के बीच मे निर्भय विचरा करते हैं । ससार के सब सच्चे आस्तिक पुरुषो को सर्वथा निर्भय, निश्चिन्त बनाने वाले ये ही प्रजापति के कवच हैं । इन्हे न देखकर हम तो यूँही हजारो काल्पनिक भयो से पीडित तथा उनके प्रतिविधान के लिये सदा चिन्तित रहते हैं । हे भुवनपति ! मेरी तुमसे यही प्रार्थना है, यही याचना है कि मेरे लिए तुम्हारे दिये ये कवच सदा बहुत रहे, पर्याप्त रहें । मुझे किन्ही अन्य निरर्थक दुनियावी कवचो की, रक्षा-साधनो की, जरूरत न हो । मैं सदा तुम्हारे इन्ही महान् दुर्भेद्य, सर्व समर्थ कवचो की रक्षा मे रहूँ ।

शब्दार्थ—

(यः भुवनस्य पतिः) जो इस ससार का पति है उस (मातरिश्वा प्रजापतिः) प्राणस्वरूप, सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा ससार को चलाने वाले, प्रजाओ के रक्षक ने (प्रजाभ्यः) अपनी प्रजाओं के लिए (यानि) जिन कवचों को (चकार) बनाया है और (यानि) जिन कवचो को (प्रदिशः दिशश्च) ये दिशायें और प्रदिशायें (वसते) पहिने हुई हैं, (तानि वर्माणि) वे कवच (मे) मेरे लिये (बहुलानि सन्तु) बहुत होयें, प्रबल होयें, पर्याप्त होयें ।

आत्मानन्द रस पान

न घा त्वद्रिक् अपवेति मे मनः त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि, अस्मिन् सुसोमे अवपानमस्तु ते ।।

अथर्व० २०.१७.२।। ऋ० १० ४३.२।।

विनय

हे देव ! मैंने ससार में बहुत विहार किया, बहुत इच्छायें कामनायें पालीं, बहुत भटका; परन्तु जब से मेरा मन तेरी तरफ गया है, जब से शास्त्रश्रवण द्वारा, तेरे एक सच्चे भक्त (गुरु) द्वारा, तेरे स्वरूप की एक झाकी मुझे मिली है तब से मेरा मन मुग्ध होकर ठहर गया है। हे दर्शनीय ! तुझे देख कर मैंने सब कुछ पा लिया है। जिस प्यारे अमर तत्त्व को न पा लेने से सब व्याकुलता थी वही पा लिया है। तेरे स्वरूप ने दीखकर मुझे ऐसा मोहित कर लिया है कि अब मेरा मन हे परम-सुन्दर ! तुझसे जरा देर को भी हटना नही चाहता है। मैं अब अन्य किस वस्तु की कामना करूँ ? मेरी सब इच्छा, कामना, अभिलाषा, मनोरथ, सब का तू ही एक आश्रय हो गया है। अब मुझमे दीखने वाली कुछ स्वाभाविक कामनायें भी जिसमे अवलम्बित हैं वह एक तेरी ही कामना रह गई है। हे मेरे हृदय को सब अन्य कामनाओ से शुद्ध कर देने वाले ! देव ! अब तुम मेरे इस निष्काम हृदयान्तरिक्ष को अपने इस मुग्ध करने वाले दृश्यमान स्वरूप से परिपूर्ण करदो, मेरे अन्त करण के आसन पर आ विराजो। राजा की तरह मेरे हृदय के सिंहासन पर आरूढ हो जाओ। हे अभीष्ट देव ! तुम मेरे हृदय के शासक, नियन्त्रक, राजा, स्वामी हो जाओ। हे समस्त प्रजाओ द्वारा पुकारे गए पुरुहूत ! मेरे महाभाग्योदय से जब तुम मुझे एक बार मिल गये हो तो मैं तुम्हे क्यो गंवा दूँ। अत अब तुम मुझमे स्थिर हो जाओ, आ बैठो। हे दर्शनीय ! तुम्हे एक बार देख लेने पर अब मैं तुम्हें आँखो से क्षण भर के लिए भी ओझल नही करना चाहता। अतएव कहता हूँ कि इस मेरे हृदय कस अपना निवासस्थान बनालो। हे "रसेन तृप्त" ! तुम अपने परिपूर्ण स्वरूप के सोमर? से सदा ही तृप्त हो, मैं तुम्हें अपने हृदय मे निमन्त्रित करके क्या सुख दे सकूँगा र परन्तु नही, मेरा भक्त मन कहता है तुम्हे भी विशुद्ध हुई आत्मा को देखक, अवश्य सुख तृप्ति मिलती होगी। अत. तुम मेरे हृदय मे बैठकर मेरे शुद्ध हुए उत्तम हुए, आत्मा से स्वभावत. निकलने वाले भक्तिरस का—सुसोम का—आस्वादन करो। अपने उच्च सिंहासन से उतर कर मेरे इस तुच्छ पान को ग्रहण करो। मेरा यह कामनामल से रहित हुआ निर्लेप आत्मा तुम्हारा सोम होकर सर्वभाव से तुम्हें समर्पित है, तुम इसे ग्रहण करो, स्वीकार करो, अपना लो।

शब्दार्थ—

[हे इन्द्र] (मे) मेरा (त्वद्रिक् मन) तेरी तरफ गया मन (न घ अपवेति) अब कभी लौटता नही, तुझसे हटता नही, (पुरुहूत) हे बहुतो से पुकारे गये ! (काम) अपनी सब इच्छा मनोरथ कामना को (त्वे इत्) तुझमे ही (शिश्रिय) मैंने आश्रित कर दिया है। (दस्म) हे दर्शनीय ! हे परमसुन्दर ! तू (राजा इव) राजा की तरह (बर्हिषि अधि) मेरे हृदयासन पर (निषद.) बैठ जा (अस्मिन् सुसोमे) इस उत्तम सोम आत्मा मे अब (ते) तेरा (अवपानं अस्तु) अवपान हो, उतर कर पीना हो।



परमेश्वर नमो नमः !

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजो, अयस्मयान् विचृता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ।।

अथर्व० ६ ६३ २।।

विनय हे मुझ पर आई हुई भारी विपत्ति ! मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि इस ससार मे हम पर जो कष्ट, क्लेश दु ख दर्द आते है वे हमारे भले के लिये, हमे हलका करने के लिये ही आते हैं। अत मैं तेरा स्वागत करता हूँ। हे भारी से भारी विपत्ति ! तुम आओ, और मेरे भारी से भारी बन्धनो को, पाशो को, काट जाओ। तुम तो बंधन काटने के लिए ही आया करती हो। हमने पाप करके अपने आपको बांध लिया होता है तुम दु ख भुगा कर हमे उस उस पाप के बंधन से छुडा जाती हो। हे विपत्तियो ! तुम तो वडी कल्याणकारी मंगलकारी वस्तु हो। हम जो पहिले बडे बडे पाप कर चुके हैं उनके कारण हमारी उन्नति रुक जाती है, उनके बोझ से हम दब गये होते हैं। जब तक कि वह बोझ न उतर जाय, वह ऋण न अदा हो जाय, तब तक हम आगे बढने से वंचित हो जाते हैं। विपत्तियाँ तो हमे आगे बढने से रोकने वाली हमारी इन बेडियो को काट जाती है। इसलिये हे भारी विपत्ति ! तू मुझ पर अपने पूरे तीक्ष्ण तेज के साथ आ। तू मेरे किसी बडे भारी पाप समूह का फल दीखती है। इसीलिये तू इतने तीक्ष्ण क्लेश सताप वाली है। परन्तु तू आकर मेरी उतने ही बडे सुदृढ, उतने ही बड़े कठोर और उतने ही भारी बाधा डालने वाले पाश को काट जा। तेरा जितना ही तीक्ष्ण सताप है, उतनी भारी मेरी बेडी कटेगी यह मुझे विश्वास है। अतएव मैं, हे घोर विपत्ति ! तुझसे घबराता नही हूँ। मैं तेरा प्रसन्नता से स्वागत करता हूँ। पहिले भी मुझे कई बार घोर कष्ट आ चुके हैं! पर उस सर्वनियन्ता प्रभु ने आज फिर मेरे लिये तुझे भेजा है। पिछली विपदो से भी मैं कुछ हलका हुआ था, पर आज उस यम प्रभु ने फिर से मेरे लिये ऐसी भारी विपत्ति को दिया है कि इसकी असह्य तीक्ष्णताओ से तो मेरे वे सब लोहमय दुर्भेद्य पाश जो और किसी तरह कट नही सकते थे वे भी कट जायेंगे। अत मैं उस मृत्यु रूप प्रभु को भी आज नमस्कार करता हूँ। उसका रुद्ररूप भी शिव होता है, सहारक रूप भी कल्याणकारी होता है यह मैं जानता हूँ। उसके सुख शान्तिदाता सौम्य रूप को तो मैं सदा नमस्कार करता ही रहा हूँ, पर आज तुझ घोर विपत्ति के भेजने वाले उसके मृत्युरूप को भी नमस्कार करता हूँ। हे उसकी भेजी हुई मेरी विपत्ति ! तू आ, तेरा स्वागत है।

शब्दार्थ—

(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ते ! हे भारी विपद् ! (ते नम: अस्तु) मैं तुझे नमस्कार करता हूँ (तिग्मतेज) हे तीक्ष्ण तेजवाली ! तू मेरी (अयस्मयान् बधपाशान्) बडी सुदृढ बांधने वाली बेडियो को (विचृत) काट डाल। (यम:) नियमन करने वाला परमेश्वर (पुन: इत्) फिर भी (मह्य) मेरे लिये (त्वां) तुझे (ददाति) दे रहा है (तस्मै) उस (मृत्यवे) मृत्युरूप, महारक (यमाय) नियमन करने वाले परमेश्वर-को भी (नमो अस्तु) मेरा नमस्कार है।

विरोधियों की पराजय

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यं असपत्नमेव।
विश्वेदेवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवाः हवमायन्तु मे इमम् ॥

अ० ९.२ ७॥

विनय मैं चाहता हूँ कि मुझमे जो आत्मा का सकल्प वल निहित है उसके द्वारा मैं सपत्नरहित हो जाऊँ। हर समय जो मुझे अव अपने प्रतिद्वन्दियो से लडने मे लगा रहना पडता है वह मेरी विषम अवस्था हट जाय। इसके बिना मैं देवो के साथ कभी अपना सहज सम्बन्ध नही स्थापित कर सकता। अत मैं तो सकल्पवल द्वारा अन्य कुछ सिद्ध नही करना चाहता, केवल अपने में देवो को स्थापित कर लेना चाहता हूँ और इस प्रयोजन के लिये इससे पहिले इन देवो के सव सपत्नो को, सव प्रतिद्वन्दियो को, काम क्रोध आदि को, निर्मूल कर देना चाहता हूँ। यह हो जायगा तो वाकी सव अपने आप सिद्ध हो जायगा। ज्ञान, सत्य, प्रेम, यज्ञ, सयम, धैर्य आदि देव मुझमे सदा वसने ही चाहियें। ये मेरे आत्मा के स्वाभाविक साथी हैं। परन्तु इनके मुकाविले मे इन्हे हटाकर मेरे हृदय मे प्रभुत्व जमाने के लिये जो निरन्तर अविद्या, अस्मिता, राग (काम), द्वेष (क्रोध), लोभ आदि आते रहते है ये ही मेरे प्रतिद्वन्दी सपत्न हैं जिन्हे विना हटाये मुझ मे मेरे इन देवो का वास नही हो सकता है। अत मैं अपने प्रवल महान् सकल्प द्वारा इन अविद्या आदि व काम क्रोध आदि सपत्नो को हटा दूँगा। परन्तु सकल्प का अर्थ इच्छा नही है। केवल प्रवल इच्छा होने से ये सपत्न नही हट सकते है। इसके लिये ज्ञान जरूरी है। बिना ज्ञान हुए, काम क्रोध आदि को नही हटाया जा सकता है। यूँ ही दवाने से ये दवने वाले नही हैं, वल्कि हठात् दवाने से तो ये और जोर से उठते हैं। इसके लिये मुझे जरूरत है आत्मसकल्प की, आत्मा के सकल्प की, 'काम' की'। क्योकि आत्मसकल्प 'वाजी' होता है, ज्ञान वल से युक्त होता है और यह 'अध्यक्ष होता है, यह मेरे मूर्धा मे ब्राह्मस्थान पर ऊपर आत्मा के साथ स्थित रहता है और वही से सव क्रियाओ की अध्यक्षता करता है। यही मनुष्य मे एक आत्म वल है, यही सच्चा सकल्प है, इच्छा का नाम सकल्प नही है। इस वाजी, अध्यक्ष, आत्म-सकल्प द्वारा गहरे से गहरा वद्धमूल काम क्रोध व रागद्वेष आदि सपत्न उखड जायगा। अत मैं अपनी ज्ञानमय वलवान् अध्यक्ष आत्म-शक्ति को ऊपर से प्रेरित करता हूँ कि यह अपने अदम्य अमोघ वल से काम क्रोध आदि प्रतिद्वन्दियो को निवृत्त करके मुझे असपत्न करदे और तव सव मेरे आत्मीय देव मुझसे सहज सम्वन्ध से जुडे हुए हो जायें। असपत्न हो जाने पर मेरे सकल्प की इस पुकार से मन्त्र के सव दिव्यभाव मुझमे आ जायें। ये देव मुझमे ऐसे वस जाये, मुझमे ऐसे सम्बद्ध हो जायें, कि मैं अपने सकल्प द्वारा जव जिस दिव्यभाव को, जव जिस देव को, उद्बुद्ध करना चाहूँ उसी समय वह उद्बुद्ध हो जाय।

शब्दार्थ—(मम उग्रः काम) मेरा प्रवल सकल्प (वाजी) ज्ञान वल से युक्त है और (अध्यक्ष.) ऊपर से ठीक ठीक देखने वाला है। यह सकल्प (मह्यम्) मेरे लिये ससार को (असपत्नम् एव) सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी रहित (कृणोतु) कर देवे। (विश्वेदेवा.) सव देव (मम नाथं) मेरे सम्बन्ध मे (भवन्तु) हो जायें, (सर्वे देवाः) और ये सव देव (मे इमं हवम्) मेरी इस पुकार पर (आयन्तु) आ जायें।

सङ्कल्प बल की महती महिमा

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्त्रो मह्यं षडुर्वी घृतमावहन्तु ॥

अथर्व० ९ २ ११॥

विनय

मेरा सकल्प वल जाग गया है। मनुष्य के संकल्प मे वडा वल छिपा हुआ है, भगवान् जिस अपने 'काम' से-- ईशण-शक्ति से—सव जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं वह ससार की असीम शक्ति मनुष्य के सकल्प मे आयी हुई है यह बात अव मुझे अपनी सकल्पशक्ति के जागने पर अनुभव हो रही है। मेरे जागे हुए सकल्प वल ने, उस काम ने, सव से पहिले मेरी वाधाओ को, रुकावटो को हटाने मे अपनी शक्ति लगाई है। मेरे सकल्प ने काम क्रोध लोभ आदि सपत्नो को, रिपुओं को मार गिराया है। इच्छामूलक (वासनामूलक) काम क्रोधादि दुर्भाव ही मेरे एक मात्र सपत्न थे जो कि मेरे आत्म-मूलक देवभावों के मुकाविले मे आते थे और उन्हे दवाये रखते थे। पर मेरे दृढ सकल्प ने इन्हें वडे यत्न से अव मार दिया है, वेजान कर दिया है। इन वाधाओ को हटा कर मेरे सकल्प ने मुझे एक विस्तृत निर्वाध खुले लोक मे पहुँचा दिया है। मेरे लिये एक नया अमित क्षेत्र खुल गया है। मैं वढ गया हूँ, इस विस्तृत क्षेत्र भर मे फैला हुआ मैं अपने को अनुभव करता हूँ। अव मैं जो सकल्प करता हूँ वह सीधा वेग से वेरोक-टोक अपने दूर से दूर स्थित लक्ष्य पर जा पहुँचता है और उस पर अपना प्रभाव करने लगता है। जव मैं तृष्णाओ का मारा काम क्रोधादि सपत्नो से आक्रान्त रहता था तव मैं जो कोई सकल्प किया करता था उनका शीघ्र ही व्याघात हो जाता था, इधर एक निश्चय करता था तो उधर दूसरी तरफ का ध्यान न रहने से उधर से मुझे चोट पहुँचती थी, इस तरह वडी मुश्किल मे रहता था। पर अव मेरे आत्म-सकल्प ने मुझे इनसे ऊपर उठा दिया है और मुझे एक खुले लोक मे पहुँचा दिया है। अव मेरे वढते जाते हुए सकल्प वल के सामने कौन ठहर सकता है? इस विस्तृत लोक में प्रतिष्ठित होकर मैं अव जो सकल्प करूँगा उसे प्रकृति को, सव संसार को पूरा करना होगा। ये विस्तृत छहो दिशायें और चारो उपदिशायें मेरे सामने झुक जावें, इन सव दिशाओं का संसार मेरी संकल्पित वस्तु को क्षरित करने के लिये तैयार रहे। पूर्व मे, पश्चिम में, उत्तर मे, दक्षिण मे, नीचे या ऊपर जहाँ भी मैं अपने आत्म-सकल्प को चलाऊँ, भेजूं, वहाँ का संसार मेरे संकल्प से क्षरित हुए उस अभीष्ट फल को (घृत को) मेरे लिये उपस्थित कर देवे। संसार मे अव ऐसी कौन सी दिशा या स्थान रहा है जहाँ से कि मेरा महान् संकल्प आत्म सकल्पित वस्तु को क्षरित नहीं कर सकता।

शब्दार्थ—

(कामः) मेरे सकल्प वल ने (मम ये सपत्नाः) मेरे जो प्रतिद्वन्द्वी वाधक हैं उन्हे (अवधीत्) नष्ट कर दिया है, (मह्यं) मेरे लिये (उरुलोकं) विस्तृत खुला हुआ लोक (अकरत्) कर दिया है, (एधतुं) [अकरत्]) मेरे लिए वृद्धि व विस्तार कर दिया है। अव (मह्य) मेरे लिये (चतस्रः प्रदिशः) चारो उपदिशायें (नमन्तां) झुक जायें और (षट् उर्वीः) छहो विस्तृत दिशायें (मह्यं) मेरे लिये (घृतं) क्षरित हुए इष्ट फल को (आवहन्तु) ले आयें।

भाद्रपद मास

याद रखना

कि

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्

यजुर्वेद ४०—१७

सत्य का स्वरूप सुनहरे

चमकीले ढकने से

ढका हुआ

है

भाद्रपद (सिंह) मास

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

पेट और अन्तड़ियो को

स्वस्थ करने वाला

पूर्ववर्णित स्थिति के अनुसार भुजाओ को नीचे लटकाये हुए तथा मुट्ठी बाध कर खडे हो जाइये। हथेलियाँ बाहिर की तरफ हो। दोनो हाथ तथा पैर तने हुए हो। पेट तक पहुँचने वाला पूर्ण श्वास लीजिये और इसको अन्दर ही रोके रखिये। अब पेट को क्रमश अन्दर सुकोडिये और फुलाइये, सुकोडने के लिये पेट से वायु को छाती मे पहुँचाइये और फुलाने के लिये छाती मे वायु को पेट मे लाइये।

इस तरह श्वास को अन्दर रोके हुए इस सुकोडने तथा फैलाने की क्रिया द्वारा पेट अन्दर और बाहर की तरफ गति करेगा, पिचकेगा और उभरेगा।

श्वास निकालने से पूर्व ८ या १० वार तक कीजिये। श्वास निकालने के बाद शरीर को ढीला छोड दीजिये; और फिर दुबारा तिबारा इसी तरह व्यायाम कीजिये।

ध्यान—यह व्यायाम मेरे पाचक अंगो को शक्ति दे रही है, मेरे सारे शरीर को बडा लाभ पहुँचाती हुई प्रभावित कर रही है।

इन पेट और अतडियो को गौणतया ज्येष्ठ मार्गशीर्ष और फाल्गुन की व्यायाम द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

षड्रिपुदमनपूर्वक इन्द्र

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुं उत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

अथर्व० ८।४।२२॥ ऋ० ७।१०४।२२॥

विनय

हे जीव ! तूने दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर भी अभी तक अपने मे से पशुताओ को नही निकाला है। तुझमे छ प्रकार के पशुत्व अब तक बसे हुए हैं। मनुष्य योनि ही वह उच्च योनि है जिसमे आत्मशक्ति जागृत की जा सकती है। अत तू अब अपने इन्द्रत्व को पहिचान और अपनी आत्म-शक्ति से इन 'षड्रिपुओ' को, छह राक्षसो को, अपने मे से विनष्ट करदे। इनसे अपनी रक्षा करनी चाहिये। अत ये ही तो असली राक्षस हैं जो तेरे नश्य हैं। तुझमें जो कभी कोकपक्षी की तरह अत्यन्त **काम-विकार** का राक्षस आता है उसे तू मार टाल। तू तो 'सयम कर सकने वाला मनुष्य है। तू जो कभी **क्रोधाविष्ट** होकर अपने भाइयो पर निर्दय अत्याचार कर डालता है यह तुझमे भेडियापन है। जो भी कुछ द्वेष व हिंसा तू करता है वह सब तुझ मनुष्य में जीवो को मार कर खा डालनेवाले भेडिये का सा आचरण है। और जिस तरह गिद्ध मरते सिसकते प्राणियो के भी मास पर ही दृष्टि रखता है उस तरह तुझमे जो दूसरो के नाश पर पुष्ट होने की घृणित, **लोभमयी** वृत्ति उठती है यह भी एक बडा दुष्ट राक्षस है, तू इसे भी नष्ट कर दे। एव तू उल्लू के आचरण को भी छोड दे। जैसे उल्लू को प्रकाश से घृणा होती है उसी तरह जो तुझमे तमोमयावस्था मे पडे रहने की प्रवृत्ति है और जहाँ सात्त्विक भाव तथा ज्ञानप्रकाश की चर्चा देखता है वहाँ से जो तू दूर भागा करता है यह प्रवृत्ति है, इसे तू त्याग दे। इसी तरह 'अहकार' बड़ा बुरा राक्षस है, बाज़ (गरुड) के समान गर्व घमड के भाव को भी अब तुझे सर्वथा निकाल देना होगा। और तू अब कुत्तापन कब तक करता रहेगा ? कुत्तो की तरह आपस मे लडना और पराये के सामने दुम हिलाना या जैसे कुत्ता अपने वमन किये को भी चाट लेता है वैसे व्रत करके त्यागी हुई चीज़ को भी फिर ग्रहण कर लेना इस तरह की पशुतायें तू कब तक करता रहेगा ? तू तो इन्द्र आत्म है, तेरी आत्मशक्ति के सामने ये विकार कैसे ठहर सकते हैं ? जैसे दृषत् अर्थात् शिला पर टकरा कर मिट्टी का ढेला चूर चूर हो जाता है वैसे ही, हे आत्मा, हे इन्द्र ! तेरी भी एक 'मही दृषत्' दारणशक्ति है, तू इसे पहिचान।

शब्दार्थ—

[हे जीव] (**उलूकयातुं**) उल्लू के समान आचरण [मोह] को (**शुशुलूकयातुं**) भेडिये के चलन [**क्रोध**] को (**श्वयातुं**) कुत्ते जैसे व्यवहार [**मत्सर**] को (**उत**) और (**कोकयातुं**) कोक चिडिया के आचरण [**काम**] को (**जहि**) नष्ट करदे। (**सुपर्णयातुं**) बाज की चाल [**मद**] को (**उत**) तथा (**गृध्रयातुं**) गिद्ध जैसे वर्ताव [**लोभ**] को भी (**रक्ष**) इन छहो मे से एक एक राक्षस को (**इन्द्र**) हे आत्मन् ! तू (**दृषदा इव प्रमृण**) अपनी दारणशक्ति द्वारा इस तरह विनष्ट कर दे जैसे शिला से मिट्टी का ढेला या मिट्टी का वर्तन फूट जाता है।



अमोघशक्तियुक्त सङ्कल्पबलधारी महात्मा

अहमेतान् शाश्वसतो द्वा द्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत ।
आह्वयमानाँ अव हन्मना हनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः ॥

ऋ० १०.४७.६॥

विनय

मैं आत्मा अपरिमित बल वाला हूँ । पर फिर भी संसार के द्वन्द्व मुझ से युद्ध करने के लिये आते हैं। ये मुझे दबाना चाहते हैं। ये नही जानते कि मैं वज्रवाला हूँ, अमोघशक्तियुक्त सकल्प बल रखता हूँ । ये द्वन्द्व बडे शक्तिशाली दीखते है और वास्तव मे सब ससार इन्होंने दबा भी रखा है । सब प्राणी गर्मी-सर्दी, भूख प्यास, प्रिय अप्रिय आदि द्वन्द्व से सताये हुए हे, सुख दु.ख के द्वन्द्व के चक्र मे सब ससार घूम रहा है । सूक्ष्म राग द्वेष रूप मे रहता हुआ यह द्वन्द्व बडे उच्च पुरुषो का भी पीछा नहीं छोडता। पर द्वन्द्वो का यह सब बल तभी तक है जब तक कि इनका सान्मुख्य मुझ आत्मा से नही होता। यद्यपि दो दो (युगल) का नया नया रूप धरकर सब ससार मे व्यापा हुआ यह महाबली द्वन्द्व मुझ आत्मा के सामने भी बडा बल दिखाता हुआ और ललकरता हुआ आता है पर मेरे सामने उसे सम होना पडता है। गर्मी सर्दी, सुख दु ख, जय पराजय, मान अपमान, इन सब द्वन्द्वो को, इसकी जगह कि ये अपनी द्वन्द्वता मे मुझे बाधें, स्वय अपनी द्वन्द्वता छोडकर एक होकर सम हो जाना अर्थात् समाप्त होना पडता है। ये चाहे कितने बली हो, पर अन्तत ये परिणामी अनित्य प्रकृति के बने हुए हैं। इनमे परिणाम व परिवर्तन आ जाना, इनका झुक जाना स्वाभाविक है। मैं नित्य, अपरिणामी, कभी न झुकने वाला आत्मा हूँ। मैं कैसे दब सकता हूँ? मेरे तेज, वाग्वज्र, सकल्प बल के सामने इन्हें ही दबना होता है। क्या मनुष्य शीतोष्ण, लाभ हानि, हर्ष शोक, को सह नही सकता? जिस जिस शरीर मे आत्मा इन सब को सहना चाहता है, वहा वहा आत्मा की दृढ सकल्पमय सहनशक्ति के सामने ये ठहर नही सकते। मैं आत्मा जब दृढता से कहता हूँ कि "मुझे गर्मी सर्दी, नुकसान नही पहुँचा सकती" "मैं सुख से सुखी और दु ख से दु खी नही होऊँगा" "मैं सिद्धि और असिद्धि मे सम रहूँगा" तो मेरे इन दृढ वचनों के उच्चारण के साथ चलाए गये मेरे महान् वाक्-वज्र, सकल्पवज्र के सामने ये महाबली द्वन्द्व मर जाते हैं। मेरा यह वज्र अमोघ है। इस वज्र से मैं द्वन्द्व—बलिष्ठ से बलिष्ठ रूप मे विद्यमान द्वन्द्व को—मार डालता हूँ। अत मे मैं सूक्ष्म राग द्वेष की भी समाप्ति कर पूर्ण विजयी हो जाता हूँ।

शब्दार्थ—

(ये द्वा द्वा) जो ये दो दो करके आने वाले द्वन्द्व (वज्रं इन्द्रं) मुझ वज्र वाले इन्द्र को (युधये अकृण्वत) युद्ध के लिये बाधित करते हैं, (एतान् शाश्वसत. आह्वयमानान् नमस्विन) उन इन बडे बलवान् दिखाई देनेवाले और ललकारने वाले किन्तु अन्त मे झुक जानेवाले द्वन्द्वो को (अहं अनमस्युः) मैं कभी न झुकनेवाला (दृळ्हा वदन्) दृढ वाणियां बोलता हुए मैं आत्मा (हन्मना) अपने हथियार से, अपनी वाक् शक्ति से या सकल्पबल से (अव अहनं) मार गिराता हूँ। 

शुभ एवं बलवान् सङ्कल्प

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
या माशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥

अथर्व० १९.४.२॥

विनय

बहुत बार मैं स्वयं नही जानता होता कि मेरा अभिप्राय क्या है। उस अपने आन्तरिक अभिप्राय को स्पष्ट सामने नही ला सकता होता। असत्यभाषण असत्य-चिन्तन करते करते, नाना भयो या रागो के वशीभूत होते रहते मेरा मानसिक व्यापार इतना कलुषित और कृत्रिम हो गया है कि मैं उसकी गडवड मे अपने वास्तविक अभिप्राय को ही खो देता हूँ। अपने सच्चे आशय को दूसरो से छिपाते छिपाते, वह मुझमे भी छिप जाता है। परन्तु मैं अब इस आत्मवञ्चना की अवस्था को त्यागता हूँ और आज से सदा अपनी आकूति (अभिप्राय) को स्पष्ट सामने लाकर रखा करूँगा। मन की इच्छायें, अभिलाषायें जब बुरी होती हैं, दुर्भगा तथा आसुरी होती है, तभी हम प्राय इन्हें छिपाते हैं। जब ये सुभगा और दैवी होती हैं, जब उत्तम ऐश्वर्यों की इच्छा या सबके भले की कल्याणी इच्छा होती हैं तब भी यदि हम इन्हे छिपाते हैं तो केवल निर्बलता के कारण या किन्ही झूठे भय व लज्जा के कारण ही ऐसा करते हैं। अत जब कि मेरी आकूति सुभगा और देवी है तो मैं क्यो डरू ? क्यो छिपूं ? मैं तो अब इसे सामने स्पष्ट रखता हूँ। मैं आज से अपने जीवन को इतना सच्चा बनाता हूँ अपने मानसिक क्षेत्र को सत्यज्ञान के प्रकाश से ऐसा प्रकाशित रखता हूँ कि अब मैं मन मे घुसी हुई अपनी इस अभिप्राय देवता को हे प्रभो! जब चाहूँ तब तुरन्त जान सकूं, पा सकूं, निकाल सकूं। मन (अन्त करण) का जो निचला 'चित्त' नामक भाग है जहाँ कि विचार अभिप्राय सुप्त रूप मे पडे रहते हैं या यूं कहना चाहिये कि जो चित्त इनका बना हुआ है (जिस चित्त की अभिप्राय माता है) उस स्थान से जब मैं चाहू तभी अपने अभिप्राय को पुकार कर ला सकू। आकूति मेरे लिये सदा सुहवा होये, सुगमता से पुकारने योग्य होये। जब आवश्यकता हो तब मैं उसे पुकार कर वैखरी वाणी के रूप मे लाकर खडा कर सकूं। हे प्रभो! अब मेरी मनोराज्य की सब अव्यवस्था गडबड दूर कर दो। मैं जब जिस आशा व इच्छा को लेकर चलूं, जिस दिशा मे चलूं तब वही केवल अकेली आशा (इच्छा) मेरे सामने रहे, शुद्धरूप मे वही प्रकाशमान रहे, और सब गौण विचार (इच्छायें) गडबड न मचाते हुए यथास्थान पीछे रहें। यदि ऐसी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी तो मेरी सब आकूतियां (अभिप्राय) सकल्पशक्ति बन जायेंगी और वे पूर्ण व सफल हुआ करेंगी।

शब्दार्थ—

(सुभगां) उत्तम ऐश्वर्य विषयक **(आकूतिं देवीं)** अभिप्राय देवता को **(पुरो दधे)** मैं सामने रखता हूँ, वह **(चित्तस्य माता)** चित्तभाग की माता, निर्मात्री, बनानेवाली, आकूति **(न सुहवा अस्तु)** मेरे लिये सुगमता से बुलाने योग्य होवे। **(यां आशा एमि)** मैं जिस आशा को करूँ, जिस दिशा मे आऊँ **(सा मे केवली अस्तु)** वही केवल शुद्धरूप मे मेरे सामने होये। **(मनसि प्रविष्टा)** अन्त करण मे घुसी हुई **(एनां)** इस अभिप्राय देवता को **(विदेय)** मैं सदा जान सकूं, पा सकूं।



कुशल सारथि की महिमा

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥

ऋ० ६.७५.६॥ यजु० २९.४३॥

विनय

रथ में पीछे बैठा हुआ भी सारथि आगे आगे चलनेवाले घोडों को ऐसा काबू रखता है, अपने वस में रखता है कि उन्हें जिधर चाहता है उधर ही ले जाता है। यह कुशल सारथि की महिमा है। पर पीछे बैठा सारथि आगे लगे हुए घोडों से जिस साधन द्वारा अपना सम्बन्ध जोडे रखता है, जिस साधन द्वारा दूर से ही उन्हें काबू रखता है, असल में तो उस साधन की अर्थात् अभीशुओं (वागडोर) की स्तुति करनी चाहिये। ये रश्मियां (रासें) ही हैं जो कि घोडों को सारथि की इच्छा अनुकूल सयत रखती हैं, घोडों को लगाम लगाये रखती हैं। क्या तुमने इन (अभीशुओं) वागडोरों के महत्त्व को समझा? पर ये तो बाहरी अभीशु या रश्मियां हैं। असली रश्मियां तो वे हैं जो कि मन नामक आन्तर ज्योति की वृत्ति रूप किरणें हैं। अन्तरात्मा रूपी सूर्य की किरणें ही वास्तविक अभीशु या रश्मियां हैं जिनके द्वारा वह अन्दर का देव बाहर के साथ सम्बन्ध जोडे हुए है और अपने सब बाह्य जगत् को वश में रख रहा है। वेद ने तो कहा है कि यह मन देव ही है जो कि कुशल सारथि की तरह सब मनुष्यों को घोड़ों की तरह इधर उधर लिये फिरता है (यजु० ३४.६)। वास्तव में यह पीछे बैठा हुआ अन्तरात्मा (मनोदेव) अपनी रश्मियों द्वारा ही अपनी वृत्तियों व सकल्पों द्वारा ही आगे बैठे हुए और स्वतन्त्र दीखनेवाले सब बाह्य जगत् को चला रहा है। हे मनुष्यो! इन मनोवृत्तियों, मन-सकल्पों की महिमा को अनुभव करो। इन रश्मियों को, इन वागडोरों को दृढता से अपने हाथों में पकड कर कुशल सारथि की तरह अपने आप को चलाओ, अपने आप पर शासन करो; अपने शरीर को, अपने हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियों और अपनी ज्ञानेन्द्रियों को जुड़े हुए अपने घोडों की तरह अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो वहाँ ले जाओ और जहाँ न चाहो वहाँ न ले जाओ। वास्तव में इन रश्मियों को हाथ में रखकर तुम जो चाहो वह कर सकते हो। बस केवल इन मनोवृत्तियों, मन-सकल्पों को दृढता से पकड लेने की देर है। फिर तुम अपने आपको जहाँ जैसा चलाना चाहोगे वैसे ही तुम्हारी इन्द्रिय आदि सबको चलना होगा। तुम आत्मवशी हो जाओगे। और तब तुम देखोगे कि तुम जहाँ अपने आप को जैसा चाहते हो वैसा हिलाते हो वहाँ अपने सब बाह्य ससार को भी जैसा चाहते हो वैसा हिला रहे हो। यह सब अभीशुओं की, रश्मियों की महिमा है।

शब्दार्थ—

(रथे तिष्ठन्) रथ पर पीछे बैठा हुआ (सुषारथिः) अच्छा सारथि (पुरः) आगे लगे हुए, आगे आगे चलनेवाले (वाजिनः) घोडों को (यत्र यत्र कामयते) जहाँ जहाँ चाहता है वहाँ (नयति) ले जाता है। (अभीशूनां) वागडोरों की या मन की वृत्ति रूप किरणों की (महिमानं) महिमा की (पनायत) स्तुति करो। क्योंकि (पश्चात्) पीछे लगी हुई भी ये (मनः) मन [सारथि] की (रश्मयः) रश्मियाँ, रासें, आगे लगे हुए घोडों को (अनुयच्छन्ति) अपने अनुकूल सयत रखती हैं।

मन्युदेव की महती महिमा

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥

ऋ० १०.८४.५॥ अथर्व ४.३१.५॥

विनय

हे मन्यु ! हम चाहते है कि तू हमारे अन्दर रहे, हमारे अन्दर उत्पन्न हुवा करे। हे मन्यु ! तू देव है। तू हममे निवास कर। यद्यपि क्रोध भी तुझ मन्यु से मिलती जुलती सी चीज़ है, पर असल मे क्रोध मे और तुममे आकाश पाताल का फर्क है। हे मन्यु ! तुम देव हो, पर क्रोध असुर है। तुम दोनो का उद्भव स्थान ही बिल्कुल उलटा है। हे मन्यु ! हम तेरे उद्भवस्थान को जानते हैं, उस स्रोत को जानते हैं जहाँ मे कि तू निकलता है। निर्मल मन के मूल मे विद्यमान जो विशुद्ध आत्मा है वह तेरा स्रोत है। वहा से तेरा उद्भव होता है। इसलिये तू देव है। क्रोध का उद्भव तो विकार युक्त मन से होता है, द्वेपदूषित मन से होता है, दूसरे को हानि पहुंचाने की भावना से होता है। क्रोध मे मनुष्य स्वय पागल हो जाता है, विवेकहीन हो जाता है। दूसरे को हानि-लाभ पहुचाने की वास्तविक शक्ति क्रोध मे नही होती। क्रोध निर्वीर्य होता है। पर हे मन्यो ! तुम तो एक वडी प्रवल शक्ति हो तुम विजय लानेवाली दैवी शक्ति हो। विशुद्ध आत्मा के स्रोत से जो एक इच्छा-सी उठती है, जो एक राग द्वेप से शून्य इच्छा होती है, जो पाप को हटाने के लिये एक शान्त गम्भीर प्रवल प्रेरणा होती है, वह एक अदभुत शक्ति होती है। और वही हे मन्यो ! तुम्हारा स्वरूप है। उस रूप मे तुम जो चाहते हो उसे कोई रोक नही सकता। तुम जो वोलते हो उसे कोई दवा नही सकता, नीचा नही कर सकता। इन्द्र (आत्मा) ही की तरह तुम्हारी आवाज भी अदम्य है। तुम्हारे आगे कोई ठहर नही सकता। तुम पाप को जड मे उखाड फेकते हो। इसलिये हे मन्यो ! इस ससार मे इस जीवन-सग्राम मे तुम मेरे अधिष्ठाता होकर मेरी रक्षा करते रहो। तुम 'सहुरि' हो, तुममे असीम सहनशीलता है। तुम्हें 'सहुरि' इस नाम से पुकारना मुझे वडा प्रिय है। जहा क्रोध जरा भी सहन नही कर सकता वहा तुममे अनन्त सहनशक्ति होती है; इसी कारण से तुम अजेय हो, अन्त मे अवश्य ही विजय लाने वाली अखण्डनीय शक्ति हो। हम तुम्हें पुकारते हैं। जव जव ससार मे पाप अत्याचार के विनाश के लिए तुम्हारी जरूरत हो तव तव तुम मेरे विशुद्ध आत्मा मे से आ प्रकट होती रहो।

शब्दार्थ

(मन्यो) हे मन्यो ! **(तं उत्सं विद्म)** हम उस स्रोत को जानते हैं **(यत आबभूथ)** जहा से तुम उत्पन्न होते हो। तुम **(विजेषकृत्)** विजय करने वाले हो और **(इन्द्र इव अनवब्रव)** इन्द्र 'आत्मा' की तरह तुम भी कभी न दबायी जा सकनेवाली आवाज वाले हो। **(इह अस्माकं अधिपा भव)** तुम इस ससार मे हमारे अधिष्ठाता पालक होओ। **(सहुरे)** हे सहुरि ! हे सहनशील ! **(ते प्रिय नाम गृणीमसि)** हम इस तेरे प्यारे नाम से तेरी स्तुति करते हैं।

दान प्रशंसा

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुः, उताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति, उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ।।

ऋ० १०.११७.१ ।।

विनय

देवो ने मनुष्य को भूख क्या दी है, एक मौत दे दी है। दुनिया भूख के मारे, बेरोजगारी गरीबी के मारे मरी जा रही है। इसलिये दूसरे को खिलाकर खाना, गरीबो के पेट के सवाल को हल करना वास्तव मे बडा भारी पुण्य है, बडा भारी कर्त्तव्य है। यह मरने से बचाना है। पर इसका यह मतलब नही कि भूख और गरीबी का ही कोई मरने से सम्बन्ध है। परमेश्वर ने केवल भूख रूप मे ही मौत नही दी है किन्तु जो खूब खाते पीते अमीर लोग है उन पर भी उनकी मौत नाना प्रकार से पहुचती है। ऐसा अमीर से अमीर कौन मनुष्य है जो मरेगा नही ? अतः दूसरे बेशक कहीं भूखे मरते हो मेरा तो पेट भर रहा है इस तरह निश्चिन्त हो जाना मूर्खता है। जिसके पास है उसे जरूरतवाले को देना ही चाहिये। हम अकेले नही हैं किन्तु हमारा जीवन सम्पूर्ण जनसमाज के साथ जुडा हुआ है। यदि हम इतना समझते हो तो हमारा यह डर हट जावे कि दूसरे को दान देने से हमारा धन घट जायेगा। हम जिस पात्र को धन देते है वह हम ही है और उस दान से जो एक आवश्यकता पूरी होती है उससे हमारी उन्नति होती है और अन्त मे हमारा वैयक्तिक सुख और धन भी बढता है। हम रोज देखते है कि जो जरूरत पर देता है उसे जरूरत पर उदारतापूर्वक मिलता है। जो न देने वाले होते है वे समाज से कटे हुवे से रहते है, उनका न कोई मित्र होता है न उन्हे कोई सुख सहायता पहुचाने की आवश्यकता समझता है। मनुष्य धन से नहीं जीता है। जिनके बिना वह रह नहीं सकता है वह तो ज्ञान, बल, सुख, सौहार्द, प्रेम आदि अत्यन्त मूल्यवान् वस्तुएँ हैं। इसलिये यद्यपि इतना ठीक है कि ससार मे भूखे के साथ पेट भरे भी मरते ही हैं और दान देने वाले और न देने वाले दोनो प्रकार के पेट भरे मरते हैं, तो भी भेद यह है कि देने वाले को तो ये अमूल्य जीवनदायी सम्पत्तिया मिलती है और उसका धन भी घटता नही, पर न देने वाला पुरुष इनसे वञ्चित होकर अपना सुखहीन सकुचित मुर्दा सा ही जीवन विताता है।

शब्दार्थ

(देवाः) देवो ने (न वै उ) न केवल (क्षुधं इत्) भूख ही भूख के रूप मे ही (वधं) मौत (ददु) दी है (उत) अपितु (आशितं) खाते-पीते अमीर को भी (मृत्यवः) नाना तरह से मौत (उपगच्छन्ति) आती हैं। (उत उ) और (पृणतः) देने वाले की (रयि) धन सपत्ति (न) नही (उपदस्यति) क्षीण होती, कम होती (उत) अपितु (अपृणन्) जो दान न देने वाला है वह कभी (मर्डितारं) अपने किसी सुख देने वाले को (न विन्दते) नही पाता, नही प्राप्त करता।

देव का शासन

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद्, व्रतानि देवः सविताभिरक्षते ।
प्रास्राग् बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो, धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति ।।

ऋ० ४.५३.४।।

विनय

सविता देव के परम शासन को देखो ! यह धृतव्रत देव इस महान् ब्रह्माण्ड पर कैसे हुकूमत कर रहा है यह देखो ! इस 'अदाभ्य' सच्ची सरकार के कुछ सच्चे कानून हैं, व्रत हैं, जिन्हे कि कभी दवाया नही जा सकता । ये व्रत, कानून इस ससार मे अखण्ड, अटल, परिपूर्ण रूप से चल रहे है, वह अपने इन व्रतो की सब तरह सतत रक्षा कर रहा है, इसलिये उसकी यह सरकार परिपूर्ण और अखण्ड चल रही है । इन व्रतो की सतत रक्षा के लिये उसने इस विश्व के सव भुवनो को, सव क्षेत्रो को प्रकाशित किया है, ज्ञान-प्रकाश से युक्त किया है । विना ज्ञानप्रसार किये, विना सत्य ज्ञान को आधार बनाये कोई भी कानून नही रक्षा पा सकता, नही चलाया जा सकता और फिर उसका यह ज्ञानप्रसार भी इतना परिपूर्ण है तथा इतना प्रेममय और सर्वगत है कि उसने अपने इस ब्रह्माण्ड के राज्य की एक एक प्रजा तक—एक एक जीव तक अपनी ज्ञानकिरणो की प्रेममय वाहुओ को फैला रखा है और इन्ही प्रेममय वाहुओ द्वारा वह प्रत्येक प्रजाजन के अन्दर घुस कर अपने कानून का पालन करवा रहा है । पर उसके ये व्रत जो इतने परिपूर्ण अखण्ड रूप से चल रहे है इसका सबसे बडा और मूल कारण तो यह है कि उसने स्वय इन व्रतो को अपने मे परिपूर्णतया धारा हुआ है, वह स्वय धृतव्रत है । वह व्रतमय है । वह इन व्रतो का धारक महासूर्य है । हमें इस ससार मे जो सत्य नियमो के रूप मे ये व्रत दिखाई देते हैं वे तो उसी की किरणें मात्र है जो कि उस व्रत-महासूर्य से कोटि कोटि प्रलयों तक अनन्त काल तक हम पर आती रहेगी और हम जीवो को नित्य नया जीवन ज्ञान और बल देती रहेगी ।

आओ, हम उसकी फैली हुई इन प्रकाशयुक्त प्रेममय वाहुओ का सस्पर्श सदा अनुभव करते रहें और उसकी प्यारी प्रजा वनी रहे ।

शब्दार्थ

(**सविता देवः**) सर्वप्रेरक देव (**भुवनानि प्रचाकशत्**) भुवनो को ज्ञान से प्रकाशित करता हुवा (**अदाभ्य**) अदम्य, न दवने वाला होकर (**व्रतानि**) ससार मे अपने सत्यनियमो को, कानूनो को (**अभिरक्षते**) पूरी तरह रक्षा कर रहा है । उसने (**भुवनस्य**) ससार की (**प्रजाभ्य**) सव प्रजाओ के लिये (**बाहू**) अपने बाहू (**प्रास्राक्**) फैलाये हुए हैं, इस तरह वह (**धृतव्रत**) धृतव्रत होकर (**मह अज्मस्य**) इस महान् जगत् पर (**राजति**) राज्य कर रहा है ।



प्रकृति माता का अद्भुत चमत्कार

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः तं माता रेळि स उ रेळि मातरम् ॥

ऋ० १० ११४ ४॥

विनय

संसार मे आया हुवा जीव क्या है ? यह एक सुपर्ण पक्षी है जो कि अन्तरिक्ष समुद्र मे विहार करने आया हुवा है। यह अपने ज्ञान और कर्म के पंखो से इधर-उधर उडता हुआ इस सब भुवन को विविध प्रकार से देखने का मज़ा ले रहा है। ससार सागर मे मनोमयादि सूक्ष्म ससारान्तरिक्ष मे एक योनि से दूसरी योनि मे भोग भोगने के लिये फिरता हुआ और वहा विविध प्रकार के भोगो को प्राप्त करता हुआ यह जीव गति कर रहा है, उड रहा है। अभी तक जीव को मैं इसी ससाराकाश के विहारी सुपर्ण के रूप मे देखता रहा हूँ, पर आज समीपता से देखा है, ज्ञानपरिपक्व हुए मन से इसे समीपता से देख रहा हूँ तो इस जीवप्रकृति-सयोग को मैं और ही रूप मे देख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि उसे माता चूम रही है और वह माता को चाट रहा है। प्रकृति माता—मैं कहूँगा परमेश्वरी प्रकृति- जीव से प्रेम कर रही है और जीव इस माता से सुख पा रहा है। जीव के प्रकृति से जुडने का, जीव के ससार मे आने का यही रहस्य है। कई ऋषि कहते हैं कि जीव और प्रकृति का सयोग लूले और अन्धे का सयोग है, पर यह बात शायद परमेश्वरहीन प्रकृति के विषय मे होगी। परमेश्वरी प्रकृति तो अन्धी नही है। मुझे तो यह सम्बन्ध माता और पुत्र का लगता है। इसलिये यह सम्बन्ध केवल भोग मे नही किन्तु अपवर्ग मे (अपवर्ग के भोग मे) भी बना रहता है। पुत्र माता के बिना नही रह सकता, और माता पुत्र को चाहती है। ऋषि ने ठीक कहा है "पृथ्वी सब भूतो को मधु है और सब भूत पृथ्वी को मधु हैं"* वास्तव मे दोनो एक दूसरे से सुख पा रहे हैं और एक दूसरे को सुख दे रहे है। क्या हम ही प्रकृति से सुख पाते हैं और प्रकृति हमसे सुख नही पाती ? नही। जरा प्रकृति को बेजान मत समझो, प्रकृति को "परमेश्वर की प्रकृति" के रूप मे देखो।

शब्दार्थ

एकः सुपर्ण) एक सुपर्ण पक्षी है (स.) वह (समुद्रं) इस ससारान्तरिक्ष के समुद्र मे (आविवेश) आया है (स) वह [अन्तरिक्ष मे विहार करता हुआ] (इदं विश्वं भुवनं) इस सम्पूर्ण ससार को (विचष्टे) विविध प्रकार से देखता है, इसका मजा लेता है। परन्तु (तं) उसे (पाकेन मनसा) परिपक्क ज्ञानवाले मन से (अन्तितः) समीपता मे (अपश्यं) देखा है तो मैं देखता हूँ कि (तं) उसे (माता) माता (रेळि) चूम रही है (स उ) और वह (मातरं) माता को (रेळि) चाट रहा है।

---

* प्रसिद्ध मधुविद्या के ऋषि दध्यङ् आथर्वण के ये वचन हैं, देखो बृह० उ० २ अध्याय का पञ्चम ब्राह्मण

यज्ञपरायणा बुद्धि की महिमा

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह ।
सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥

ऋ० १०।१०१।९॥

विनय

हे देवो ! मैंने तुम्हारी कामधेनु को जान लिया है । मैंने देख लिया है कि सचमुच इस धेनु से मैं अपनी सब कामनायें दुह सकता हूँ । वह कामधेनु 'यज्ञिया धी' है, यज्ञपरायणा बुद्धि है । इस यज्ञबुद्धि को पाकर—इस दिव्य, सर्वपूजित यज्ञपरायणा बुद्धि को पाकर—मैं क्या नही पा सकता ! क्या कृष्ण भगवान् ने भी अर्जुन को नही सुनाया था कि प्रजापति ने हम प्रजाओं के साथ ही यज्ञ-भावना को पैदा करके हमे कह दिया है 'अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' । हममे यज्ञ भावना को पैदा करने वाले उस प्रजापति परमदेव की यह आवाज़ मैं तो आज भी सुन रहा हूँ "इस यज्ञबुद्धि द्वारा तुम सब कुछ उत्पन्न करो, यह तुम्हारी सब इष्ट कामनाओ को दुहने वाली होवे ।" परन्तु मुश्किल यह है कि यज्ञभावना मुझमे स्थिर नही रहती, बहुत बार स्वार्थभावना इसे दबा देती है । इसलिये मैं इसे फिर-फिर अपने अन्दर लाता हूँ, यज्ञ के सर्वहितकारी, स्वार्थसहारी, संगमनकारी स्वरूप को बार बार हृदय मे स्थापित करता हूँ । इस भाव का सतत चिन्तन व जप करता हूँ ।

सचमुच इसके बिना हम मनुष्यो का रक्षण व पालन नही हो सकता । यही देखकर हम लोग इस धेनु को अपने अन्दर लाना चाहते हैं । हमारी सासारिकता, स्वार्थबुद्धि बहुत बार इसे बिदका कर भगा देती है तब हम सर्वहित चिन्तन द्वारा इसे फिर लाते रहते हैं । हे देवो ! अब तो यह 'यज्ञिया धीः' रूपी धेनु हममे स्थिर हो जावे और जौ के हरे खेत खाकर आयी बडी गौ की तरह हमे अपने दूध की सहस्रो धाराओ से परिपूर्ण कर देवे, परिपूर्ण कर देवे ।

शब्दार्थ

(**देवा**) हे देवो ! मैं (**व**) तुम्हारी (**देवीं**) दिव्य (**यजतां**) पूज्य (**यज्ञिया**) यज्ञ परायण (**यज्ञियां धियं**) यज्ञिय बुद्धि को, यज्ञ भावना को, (**ऊतये**) अपने रक्षण पालन के लिये (**इह**) अपने जीवन मे (**आवर्ते**) फिर फिर लाता हूँ, स्थापित करना चाहता हूँ । (**सा**) वह यज्ञिय बुद्धि (**यवसा गत्वी इव**) जैसे जौ के खेत मे जाकर आई हुई (**सहस्रधारा मही गौ**) दूध की सहस्रो धारा देने वाली बडी भारी गौ (**पयसा**) हमे दूध से भर देती है वैसे (**न.**) हमे (**दुहीयत्**)प्रपूरण कर देवे, हमारी सब कामनाओ को पूरण कर देवे ।



अग्निदेव की महती महिमा

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव।
जनंजनं जन्यो नातिमन्यते विश आक्षेति विश्यो विशंविशम् ॥

ऋ० १०, ९१,२॥

विनय

अग्निदेव की विभूति देखो ! अग्नि घर घर मे जल रहा है, अग्निहोत्री पुरुष अतिथि की तरह प्रात सायं इस अग्नि को अपने घर मे उद्बुद्ध और सत्कृत कर रहे हैं तथा दिव्य लाभ पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रदीप्त इस स्थूल अग्नि से जो अन्य अनगिनत सासारिक कार्य्य और उपकार हो रहे हैं उन्हे भी हम सब जानते हैं। पर यह अग्नि अपने सूक्ष्म अप्रदीप्त रूप मे तो प्रत्येक जगल मे, प्रत्येक वृक्ष मे, प्रत्येक समिधा मे भी चोर की तरह छिपा बैठा है। प्रत्येक लकडी मे ही नही किन्तु पानी मे, किरण मे, प्रत्येक सेवनीय पदार्थ मे छिपा हुआ है। और वैज्ञानिक लोग इस प्रत्येक वस्तु मे व्यापक भौतिक अग्नि का असख्यो प्रकार से उपयोग ले रहे हैं। पर भौतिकी के वैज्ञानिक भी जिस सूक्ष्मता मे नही घुस पाते उसमे घुस कर देखें तो हमे दीखता है कि ये अग्निदेव प्रत्येक जीवित प्राणी मे भी उसका जीवन (Life) और आत्मा होकर विराजमान है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाता हुआ यह अग्नि जन-जन मे बैठा हुआ है। इसी के कारण प्रत्येक जन अपने व्यक्तित्व में बँधा हुआ है, अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण नही कर सकता है। इस आत्माग्नि की ही अनन्तप्रकारता को हम देखने लगें और इस अग्नि की विविध किरणो और रूपो को देखने लगें तो इसका ही हम पार न पा सकें। परन्तु इस जन्य (जन हितकारी) अग्नि के अतिरिक्त अन्य भी रूप यह अग्नि धारण करती है। यह अग्नि एक विश में, एक प्रजा मे, एक जनसमूह में भी निवास करती है। एक एक प्रजाजन मे बस कर भी उसका अतिक्रमण करके यह अग्नि सम्पूर्ण प्रजा की हितकारी, विश्य, अग्नि होकर सम्पूर्ण प्रजा का जीवन व आत्मा भी बनती है। यही विश्य अग्नि समाजाग्नि व राष्ट्राग्नि के रूप में प्रकट होती है, जिसमें कि बडे बडे जनसमूह भी समय आने पर आत्महवन किया करते हैं। इस तरह इस अग्निदेवता की विभूति अनन्त प्रकार से दर्शनीय है, इसका पार वाणी नही पा सकती।

शब्दार्थ

(दर्शतश्री) दर्शनीय विभूतिवाला (स) वह अग्निदेव (गृहे-गृहे) घर-घर मे (अतिथिः) अतिथि बना हुआ है और (वने-वने) वन-वन में, हरेक वस्तु मे (तक्ववी इव) चोर की तरह (शिश्रिये) छिपा पडा है। (जन्यः) जन-हितकारी रूप मे वह अग्नि (जन-जनं) व्यक्ति-व्यक्ति मे ठहरा हुआ (न अतिमन्यते) व्यक्तित्व का अतिक्रमण नही करता और (विश्यः) सम्पूर्ण प्रजा के हितकारी रूप मे यह अग्नि (विशं विशं) एक-एक प्रजाजन मे वसता हुआ (विशः) सम्पूर्ण प्रजा मे (आक्षेति) निवास करता है।

विविध अग्नियों का महान् विस्तार

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुः, अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् ।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इत् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ॥

ऋ० १०, ९१, ३ ॥

विनय

हे परम अग्ने, हे परमेश्वर ! इस जगत् की नानाविध अग्नियो से जो नाना प्रकार के बल प्रकट हो रहे हैं, वे सब असल मे तेरे ही बल हैं। भेद इतना है कि इनके ये अपूर्ण बल तो बहुत बार दूषित बल होते हैं पर इनके मूल मे रहने वाला तू सदा परिपूर्ण बली और शोभन बली है। इसी तरह जगत् की भौतिक अभौतिक अग्नियो द्वारा जो निरन्तर अनगिनत क्रियायें और चेष्टाये की जा रही हैं वे भी असल मे तुझ सुक्रतु से, तुझ शोभनकर्मा से, ही प्रवाहित हो रही हैं। तुझ से तो ये सब कर्मप्रवाह निर्मल रूप से ही निकल रहे हैं किन्तु आगे चलकर ये नाना प्रकार से मलिन और दूषित हो जाते हैं और जगत् मे जो बहुत सी आत्माग्निया, जनाग्निया अपने थोडे बहुत ज्ञान से, क्रान्तदर्शी ज्ञान से, कवित्व से प्रकाशित हो रही हैं उनका भी कारण तू ही परिपूर्ण और सर्वज्ञ कवि है। ससार के ऊँचे से ऊँचे कवि ज्ञानी तेरे ही अक्षय नित्य काव्य से, तेरे ही ज्ञान महाग्नि से चिनगारिया प्राप्त करके चमक रहे हैं। यही नही, किन्तु सब वसुओ का वसु, सब धनो का धन तू ही है। इस सम्पूर्ण द्यावापृथिवी में जो वसु जो ऐश्वर्य उपजते हैं—द्युलोक के ऊँचे से ऊँचे अकल्पनीय आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा भूलोक के सब भौतिक ऐश्वर्य—ये सब तुझमे ही निवास करते है। इन वसुओं का वासक—एकमात्र वासक—तू ही है। हम नासमझी से समझते है कि ऐश्वर्य उस उस लोक के हैं, किसी और के हैं। इसलिये, हे सब बलो से सुबली ! हे सब कर्मो के शोभन आधार ! हे परमकवि ! हे सब रत्नो के भण्डार ! तुम्हे हमारा बार बार नमस्कार है।

शब्दार्थ

(अग्ने) हे अग्ने ! तू (दक्षै.) बलों से (सुदक्ष.) शुभ बल वाला, (क्रतुना) कर्म से (सुक्रतु) शोभन कर्म वाला (असि) है और (काव्येन) अपने काव्य से (विश्ववित् कवि) सर्वज्ञ कवि (असि) है। (वसूनां वसु) वसुओ का भी वसु, [वासक,] धनो का धन होकर, (यानि) जिन ऐश्वर्यो को (द्यावा च पृथिवी च) सम्पूर्ण द्युलोक और पृथिवी लोक (पुष्यत.) उपजाते है, बढाते हैं उन सब ऐश्वर्यों को (त्वं) तू (एक इत्) अकेला ही (क्षयसि) अपने मे बसाता है। 

पवित्र संग्राम और उसके अधिकारी

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहः, अपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ॥

ऋ० १० ६६ ८॥

विनय

असल मे प्रत्येक सग्राम पाप का विनाश करने के लिये ही लड़ा जाना चाहिये। इसीलिये सग्राम का वैदिक नाम 'वृत्रतूर्य' होता है । पर ऐसे पवित्र सग्राम को लडने का अधिकारी हर कोई नही हो सकता है । क्या तुम भी चाहते हो कि तुम किसी 'वृत्रतूर्य'* मे सैनिक बन सको ? तो तुम्हें अपने आपको निम्नप्रकार आठ गुणो से विशिष्ट बनाना होगा ।

[१] सब से पहिले इस पवित्र कार्य के लिये व्रत को या व्रतो को धारण करो और उन पर अडिग रहो, धृतव्रत होओ [२] सच्चे क्षत्रिय अर्थात् क्षत से त्राण करने वाले होओ । पीडित लोगो की रक्षा करने के भाव मे ही युद्ध मे प्रवृत्त होओ [३] यज्ञ के, स्वार्थत्यागमय और सर्वहितकारी कर्म के करने ... , सर्वोत्तमभाव से करने वाले बनो, अपने पवित्र सग्राम को भी यज्ञ ही समझ कर करो। [४] बडे दीप्तिमान् बनो, तप ब्रह्मचर्य आदि द्वारा महान् तेज का अपने मे सग्रह करो (५) तुम्हारी शोभा तुम्हारा अहिंसामय व्यवहार होवे । तुम सर्वथा अहिंसामय, यज्ञिय, प्रेमभरे कर्मो के सेवन करने वाले होओ और इसके लिये प्रसिद्ध होओ । [६] अग्निहोत्र करने वाले, अग्निदेव को अपने मे आह्वान करने वाले बनो [७] पूरे सत्यनिष्ठ होओ, ऋत के साथ सत्यनियम के साथ अपने आपको एक करदो । सर्वथा सत्य का ही सेवन करो (८) और अद्रोही होवो । तुम्हारे व्यवहार से कभी किसी को धोखा न पहुँचे, तुम्हारा मन कभी किसी का बुरा न चाहे । जो इस प्रकार के वीर महानुभाव होते हैं वे ही पवित्र 'वृत्रतूर्य' सग्रामो मे चल सकते हैं, वे ही इन दिव्य युद्धो मे इनके अनुकूल ठीक-ठीक काम कर सकते हैं ।

शब्दार्थ

(धृतव्रता.) व्रत धारण किये हुए (क्षत्रिया) सच्चे अर्थो में क्षत्रिय (यज्ञनिष्कृत·) यज्ञकर्मो को नि शेषेण करने वाले (बृहद्दिवा) महातेजस्वी (अध्वराणा अभिश्रिय) अहिंसामय कृतियो के सेवन करने वाले, उनसे शोभनेवाले (अग्निहोतार) अग्नि का हवन या आह्वान करने वाले (ऋतसाप.) सत्य से समवेत हुए-हुए (अद्रुह) कभी द्रोह न करने वाले पुरुष ही (वृत्रतूर्ये) पापनाशक सग्राम मे (अनु) तदनुकूल (अपः) कर्मो को (असृजन्) करते हैं ।

* वृत्र अर्थात् पापबाधा या पाप के अन्धकारमय विस्तार को तूर्य अर्थात् विनाश करने वाला ।

देवों की महती महिमा

**ऋतूयन्ति ऋतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः ।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत ॥**

ऋ० १०.६४.२॥

विनय

देवो की शरण मे जाये विना अव मुझे चैन नही मिल सकता। ज्ञान और प्रकाश की इस दैवी अवस्था मे ही सुख है। ससार मे और कही सुख नही है। लोग भले ही मोह आलस्य और निष्क्रियता मे भी सुख मानते हो पर मुझे तो यह तामसिक अवस्था सह्य नही है। और जो दूसरे रज-प्रवृत्त लोग सुख पाने के लिये दिनरात विषयो मे दौडधूप कर रहे हैं उनकी उस आसुरी अवस्था से भी मेरा जी घबराता है, उनका यह उत्तेजनापूर्ण 'सुख' मुझे काटता है, दुःखरूप लगता है। सचमुच सुख तो दैवी भाव मे रहने मे ही है। सुख 'सत्त्व' का ही धर्म है और देव लोक (द्युलोक) की ही वस्तु है। तो देवो के विना और कहाँ से हमे सुख मिल सकता है। इसलिये अव मै सदा दैवी भाव मे, सदा देवसंसार मे ही रहना चाहता हूँ। यद्यपि मेरे हृदय मे धरे हुए नाना सकल्प सकल्पित हुआ करते हैं, उठा करते हैं, नाना प्रेममय कामनायें अपने विषय को चाहती हुई उदय होती हैं और नाना निर्देश व प्रेरणायें इधर-उधर से आती रहती हैं, परन्तु अव मै अपने इन सव सकल्पो, कामो और प्रेरणाओं को देवो मे ही नियमन करता हूँ। नियम और संयम द्वारा अपनी सब कामनाओ को देवससार से वाहर नही जाने देता। मेरे अन्दर जो इन्द्रिय आदि देव, मन की सात्त्विक उत्कृष्टवृत्ति रूप देव तथा सूक्ष्म ससार के देव हैं एव वाहर के सच्चे सरल ज्ञानप्रकाश वाले पुरुष-देव तथा सत्य नियमो से चलने वाले अग्नि आदि प्राकृतिक देव हैं, इन्ही के विषय मे अव मेरे सव हृदयस्थ सकल्प सकल्पन कर रहे हैं, उन्हे ही ये मेरी सव प्रेममय अभिलाषाये चाह रही हैं और उन्ही के सम्बन्ध मे अब मुझ मे तरह-तरह के निर्देश व प्रेरणायें आती व उठती रहती हैं। मै और क्या करूँ? इन देवो के सिवाय और कोई इस ससार मे सुख दे सकने वाला नही है।

शब्दार्थ

(हृत्सु धीतयः) हृदय में धरे हुए (ऋतव) सकल्प (ऋतूयन्ति) [देवो का] सकल्पन कर रहे हैं, (वेना.) प्रेममय कामनायें इच्छायें (वेनन्ति) [देवो की] कामना कर रही हैं, चाह रही है, और (दिश) [देवो के सम्बन्ध मे] निर्देश प्रेरणायें (आपतयन्ति) इधर उधर से आ रही हैं, पहुच रही हैं। नि सन्देह (एभ्यः) इन देवो के (अन्य) सिवाय और कोई (मर्डिता) सुख दे सकने वाला (न) नही (विद्यते) है, अत (मे) मेरी (कामा) सव कामनायें, सब सकल्प अभिलाषा तथा प्रेरणायें (देवेषु अधि) देवो में ही (अयंसत) नियमित हो गयी हैं।

देवों की महिमा

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥

ऋ० १०.६३.४॥

विनय

देव लोग कैसे होते हैं वे कहाँ रहते हैं ?

देव स्वयं अमरपन को पाकर भी लोककल्याण के लिये अपना जीवन धारण करते हैं। ये सदा अपने दैवी भाव में रहते हैं।

ये अपने ज्ञानप्रकाश द्वारा मनुष्यों को ठीक ठीक देखते हैं, प्रत्येक मनुष्य के असली रूप को पहिचान लेते हैं। ये कभी अपनी आँखें नही बन्द करते, सदा जागरूक रहते हैं, तमोगुण के कभी वशीभूत नही होते हैं। ऐसे ये पूज्यदेव, सम्पूर्ण लोक के कल्याण मे रत होने के कारण सम्पूर्ण लोक के पूज्य ये देव, महान् अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। सापेक्षिक और स्वल्पकालिक अमरपन तो हमें भी प्राप्त हुआ करता है, पर ये देव उस महान् ऊँचे अमरपन को पहुँचे होते हैं जहाँ मृत्यु कोई चीज नहीं रहती है, मरना जीना एक हो जाता है।

ज्योति, प्रज्ञालोक,* ही इनका रथ होता है। अपने प्रज्ञालोक पर चढ़ कर ये जहा चाहते हैं वहा विचरते हैं। इनकी इस प्रकाशमयी प्रज्ञा (माया) को कोई दबा नही सकता, इनकी प्रज्ञा को धोखे मे नही डाला जा सकता। ऐसे ये निष्पाप देव सदा द्युलोक के शरीर मे रहते हैं। भौतिक तौर पर ये कही न रहते हुए आध्यात्मिक तौर पर सदा अपनी दैवी समावस्था मे बसते हैं। मानो द्युलोक के सत्त्व को सदा ओढे रहते हैं, इस दिव्य वस्त्र से अपने को आच्छादित किये फिरते हैं और इस दिव्य जीवन को ये "स्वस्ति" के लिये, सब जगत् के कल्याण के लिये धारण किये होते हैं।

शब्दार्थ

(नृचक्षसः) मनुष्यो को ठीक ठीक देखने वाले (अनिमिषन्तः) कभी न सोने वाले (अर्हणा) सर्वपूज्य (देवासः) देवलोग (बृहत् अमृतत्वं) महान् अमरपन को (आनशुः) प्राप्त हुए हैं। (ज्योतीरथा) ज्योति ही जिनका रथ है और (अहिमाया) जिनकी प्रज्ञा का घात नही किया जा सकता है (अनागसः) ऐसे ये निष्पाप देव (दिवः वर्ष्माणं वसते) द्युलोक के शरीर मे रहते हैं, दिव् के श्रेष्ठ सत्त्व से अपने को आच्छादित किये रखते हैं।

* योगदर्शन १ पा० ५-६ सूत्र

तू बुन ।

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि, ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धियाकृतान् ।
अनुल्वणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥

ऋ० १६.५३.६॥

विनय

हे जुलाहे, तू बुन, तू दिव्य खद्दर बुन ।

हे जीव ! तू हमेशा कुछ न कुछ बुनता रहता है। अपने भाग्य को, अपने भविष्य को, अपने जीवन को बुनता रहता है । जीवन इसके सिवाय और क्या है कि मनुष्य अपने ज्ञान (समझ) के अनुसार कुछ दूर तक देखता है और फिर उसके अनुसार कर्म करता जाता है । इस तरह जीव अपने ज्ञान के ताने में कर्म का बाना डालता हुआ निरन्तर अपने जीवन-पट को बनाया करता है। किन्तु हे जीव-जुलाहे ! अब तू अपना यह मामूली रद्दी कपड़ा बुनना छोडकर दिव्य जीवन का खद्दर बुन, "दैव्यजन" को उत्पन्न कर । इसके लिये तुझे वडी सुन्दर और वडी लम्बी तानी करनी पडेगी । तू अपने रज के, ज्योति के, ज्ञानप्रकाश के चमकीले ताने को तनता हुआ भानु तक, द्युलोक तक चला जा। द्युलोक तक विस्तृत प्रकाशमान ताना तन। दिव्य पट के लिए यह जरूरी है । ऐसे दिव्य वस्त्र बनाने की लुप्त हुई कला की रक्षा इसी तरह हो सकती है । अतः इस उद्योग में पड़ कर तू उन ज्ञानप्रकाशमय प्रणालियों की रक्षा कर जिन्हें कि कलाविदों ने अपनी कुशल बुद्धि द्वारा बड़े यत्न से आविष्कृत किया था। दिव्य-जीवन बनाने में पडकर उन देवयानादि प्रकाशमान मार्गों की रक्षा कर जिन्हें कि इनके ज्ञानी यात्रियों ने चलाया था । अस्तु, ज्ञान के इस दिव्य ताने को तू फिर भक्तों के कर्म द्वारा बुन, इस ताने में भक्ति रस से भिगोया हुआ अपने व्यापक कर्म का बाना डालता जा। और ध्यान रख तेरी बुनावट एकसार होवे, कभी ऊँची-नीची या गठीली न होवे । सावधान रह, कि सदा उस ज्ञान के अनुसार ही तेरा ठीक ठीक कर्म चले, और वह कर्म सदा प्रभु भक्ति से ही प्रेरित हो । इस सावधानी के लिये तुझे पूरा मननशील होना पड़ेगा, सतत विचारतत्पर होना होगा । तभी यह दिव्य जीवन का सुन्दर पट तैयार हो सकेगा । अतः हे जुलाहे ! तू अब दिव्य जीवन बुनने के लिये उठ और इस लुप्त होती जाती अमूल्य दिव्य कला की रक्षा कर ।

शब्दार्थ

(रजसः) अपने ज्योति के, ज्ञानप्रकाश के (तन्तुं) ताने को (तन्वन्) तनता हुआ तू (भानुं) द्युलोक तक (अनु इहि) अनुसरण करता जा, चला जा । इस तरह (धिया कृतान्) [कलाविदों या ज्ञानियों के] बुद्धि कौशल से बनाये गये (ज्योतिष्मतः पथ) ज्ञानप्रकाशमय तरीकों की, प्रणालियों की, मार्गों की (रक्ष) तू रक्षा कर । इस ताने मे (जोगुवां) भक्तों के (अपः) व्यापक कर्मों को (अनुल्वणं) एकसार (वयत) बुन, (मनुःभव) मननशील हो और एवं (दैव्यं जन) दिव्य जन [के जीवन] को, इस 'दैव्यजन' रूपी वस्त्र को (जनय) पैदाकर, बना ।

परमैश्वर्यवान् ईश्वर

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥

ऋ० १०.४३.६॥

विनय

इन्द्र नारायण हरेक मनुष्य के हृदयकुटीर मे आकर लेटे हुए हैं। हम इसे जानते हो या न जानते हो। और सब मे चुपके से लेटे हुए ये नारायण प्रत्येक मनुष्य की ज्ञानक्रियाओ को भी साक्षात् देख रहे हैं, बल्कि उन ज्ञानक्रियाओ को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। ये नारायण हममे जागते तब हैं जब कि इन्हे अपने इस ज्ञान की, अपने श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ज्ञान की, भेंट चढायी जावे, जब यह सोमरस इन्हें पिलाया जावे। सर्वश्रेष्ठ भक्ति और सर्वश्रेष्ठ सोमसवन, तत्त्वज्ञान का निष्पादन ही हैं। भगवान् इसी के भूखे हैं। इसी के लिये प्रत्येक के अन्दर बैठे उसकी ज्ञानक्रियाओं को निहार रहे हैं। हरेक ही मनुष्य कुछ न कुछ अपना सोमसवन कर रहा है, हरेक मनुष्य कभी न कभी विवेक करने, तत्त्वज्ञान के खोजने और ज्ञान का निष्कर्ष निकालने के लिये बाधित होते हैं; अत. वे सबके अन्दर बैठे धैर्य से प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह सच है कि जिसके अन्दर यथेच्छ सोमरस को पाकर वे भगवान् जाग उठते हैं वह निहाल हो जाता है। उसमे ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि उसके सामने ससार की कोई भी शक्ति ठहर नही सकती। बस देर यही है कि वे किसी के सोमसवन को स्वीकार कर लेवें, किसी को अपना लेवें। जिसे वे अपना लेते हैं, वर लेते हैं उसके सामने तो वे अपने सम्पूर्ण सर्वसमर्थ रूप मे, अपने सम्पूर्ण 'शक्र' और 'वृषा' रूप में प्रकट हो जाते हैं। सचमुच ज्ञान ही सर्वोच्च शक्ति है। ज्ञानी ही संसार के विकट से से विकट पाप आक्रमणो को सह सकता है। ज्ञान के बिना शैतान की फौजो के सामने कोई नही ठहर सकता; 'प्रसख्यान' के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के भी प्रभु-अर्पण कर देने पर भक्त योगी को अपनी धर्ममेघ समाधि मे जो सोम की वर्षा[1] मिलती है उन तीव्र सोमो (उच्च ज्ञानों) के सामने शैतान की सैकडों आक्रमणकारी फौजें भी एक क्षण मे परास्त हो जाती हैं; सब पाप और क्लेश खतम हो जाते है।

शब्दार्थ—

(**मघवा**) परमैश्वर्यवान् ईश्वर (**विशं विशं**) प्रत्येक मनुष्य मे (**परि अशायत**) लेटे हुए हैं, चुपके से व्यापे हुए हैं और (**वृषा**) वे सुखवर्षक ईश्वर (**जनानां**) सब मनुष्यो की (**धेना**) ज्ञानक्रियाओ को (**अवचाकशत्**) देख रहे है या प्रकाशित कर रहे हैं। (**अह**) परन्तु (**शक्र.**) ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर (**यस्य**) जिसके (**सवनेषु**) सपनों मे, ज्ञान निष्पादनो मे (**रण्यति**) रम जाते हैं, इन्हें स्वीकार कर लेते हैं (**स.**) वह पुरुष (**तीव्रै सोमै**) अपने इन तीव्र सोमो द्वारा, महाबली उच्च ज्ञानो द्वारा (**पृतन्यत**) सब आक्रमणकारियों को, बडे से बडे हमलों को (**सहते**) सहता है, जीत लेता है।

---

१. योगदर्शन पाद ४,—सूत्र २९—३०

सत्य का सूर्य

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च ।
विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥

ऋ० १०.३७ २॥

विनय

हे भगवन् ! मैं सत्य ही भाषण करने का व्रत ग्रहण करता हूं। यह महाव्रत मेरी रक्षा करे, सब तरफ से रक्षा करे। दुनिया तो कहती है कि झूठ के बिना काम नही चल सकता, कि असत्य द्वारा ही बहुत बार रक्षा मिलती है। परन्तु मैं देखता हूं कि एकमात्र रक्षा कर सकने वाले, हे सत्यस्वरूप! तुम ही हो, तुम्हारा सत्य ही है। सत्य वह महान् प्रकाशरूप वस्तु है जिसके प्रकाश से ससार के सब द्युलोक जगमगा रहे हैं और जिसके आंशिक प्रकाश को पाकर ये हमारे दिन अनन्तकाल से प्रकाशित होते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक प्रकाशित होते रहेगे। सत्य प्रकाश है और असत्य अन्धकार है। सत्य सनातन है, असत्य क्षणभगुर है। भला अन्धकार हमारी कैसे रक्षा कर सकता है ? भगुर वस्तु का आश्रय हमे कब तक बचा सकता है ? जो इसे समझते हैं वे सत्य के कारण आयी विपत्तियो को देखकर कभी घबराते नहीं और दीन होकर कभी असत्य का आश्रय नही पकडते। क्योकि वे देखते हैं कि सत्य के अतिरिक्त संसार मे जो भी कुछ है वह सब विनश्वर है। वह असत्य चाहे कितना जीता जागता दीखता हो—चाहे कितने बडे आकार वाला, चाहे कितना शक्तिशाली, चाहे कितना कीमती दीखता हो—पर वह सब थोडी देर मे विलीन हो जाने वाला है, राख हो जाने वाला है, मिट जाने वाला है। सत्य ही अचल है। झूठ कपट की आलीशान दीखने वाली विजयें भी ससार मे बेशक आती है पर वे क्षण मे चली जाती और हमे वही का वही गिराकर छोड जाती हैं। देर तक ईश्वरीय सत्यनियमों को दबाया नही जा सकता है। घोर से घोर रात्रिया आवेंगी, पर फिर सूर्योदय होना निश्चित है। सदा प्रकाशमान सूर्य को केवल थोडी देर के लिए ही किसी आवरण द्वारा ओझल रखा जा सकता है। जरा देखो, जो अप्रतिहत रूप से बह रहा है वह तो ईश्वरीय व्यापक सत्यनियमो का प्रवाह ही है और जो प्रतिदिन उदय हो रहा है और असल मे सदा उदित रहता है वह [महान् सत्य का] सूर्य ही है।

शब्दार्थ—

(यत्र) जिस [सत्यप्रकाश] में (द्यावा च) द्युलोक भी (अहानि च) और सब दिन भी (ततनन्) विस्तृत हुए हैं, विस्तार को प्राप्त हुए हुए हैं (सा) वह (सत्योक्तिः) सत्यभाषण का व्रत (मा) मुझे, मेरी (विश्वत) सब तरफ से (परिपातु) रक्षा करे। (अन्यत्) सत्य के अतिरिक्त (विश्वं) और सब कुछ (यत् एजति) जो हिल रहा है, आकार, बल व जीवनयुक्त दीखता है वह (निविशते) लीन हो जाता है, मिट जाता है, (विश्वाहा) सदैव तो (आप) व्यापक सत्यनियमो का प्रवाह [चल रहा है] और (विश्वाहा) सदा तो (सूर्य उदेति) सूर्य उदय हुआ हुआ है।

दिव्य गौएं

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

ऋ० ६.२८.३॥ अथर्व० ४.२१.३॥

विनय

हे गौओ वालो ! हे गोपतिओ ! क्या तुम ऐसी गौओं को भी जानते हो जो न तो कभी भाग खड़ी होती हैं, न जिन्हें चोर उड़ा ले जा सकते हैं और न जिन्हें हमारे शत्रु सता सकते हैं या आघात पहुचा सकते हैं ? ये गौएं 'इन्द्र' की दी हुई हैं, इनसे देवों का यजन होता है और ये अपने गोपति के साथ सदा रहती हैं, कभी बिछुड़ती नही । ये गौए हम मे से हर एक को मिली हुई हैं । क्या अब भी समझे कि ये गौएं कौन सी हैं ?

ये हमारी इन्द्रिय-गौएं हैं । इनका गोपति हमारा मन व मनोमय आत्मा है । इस आत्मा के साथ ये सदा जुडी रहती हैं । ये तो शक्ति रूप से मोक्ष सुख की अवस्था मे भी आत्मा के साथ रहती हैं, एक शरीर से दूसरे शरीर मे तो आत्मा के साथ जाती ही हैं । इनके गोपति से इन्हें कोई छीन नही सकता है । ये इन्द्र परमेश्वर की दी हुई दिव्य अमर गौए हैं । प्रभु ने ये गौए अपने देवों के यजन के लिए ही प्रत्येक जीव को दी हैं, बल्कि इन देवो को दे देने के लिए, अर्पण कर देने, सौंप देने के लिये दी हैं । इन गौओ को हमे शुभ कार्य में लगाने के लिए किए गए पवित्र निक्षेप की वस्तुओं की तरह रखना चाहिए । यदि हम इन चक्षु आदि गौओ से सदा यज्ञिय पवित्र कर्म ही करेंगे और इन चक्षु आदि को बाह्य आदित्य आदि देवो को समर्पित किये रखेंगे तो जहा ये हमारी स्थूल इन्द्रियां भी सर्वथा स्वस्थ, समुन्नत, अविकृत और शत-वर्ष तक अविकल बनी रहेंगी वहा असली सूक्ष्म इन्द्रिया भी ऐश्वर्ययुक्त बड़ी-बड़ी योग विभूतियो को ला सकनेवाली हो जायेंगी। क्या तुमने प्रभु से मिली हुई अपनी इन दिव्य गौओं की अमूल्य सम्पत्ति को पहिचान लिया ? तो तुम बाहर की लाखो गौओ के स्वामी बनने की जगह अब इन दस दिव्य गौओं के स्वामी—सच्चे अर्थों मे स्वामी—बनना पसन्द करोगे ।

शब्दार्थ—

(ताः) वे गौएं (न नशन्ति) न नष्ट होती हैं, न भाग जाती हैं, (न) न इन्हें (तस्कर.) चोर (दभाति) सताता है (न) और न ही (आसा) इनको (अमित्रः व्यथि) शत्रुकृत आघात (आदधर्षति) पीडित करता है । वह (याभि) जिन इन गौओं से (देवान् यजति) देवों का यजन करता है (ददाति च) बल्कि देवो को अर्पण कर देता है (ताभि) उन इन गौओं के (सह) साथ (गोपतिः) इनका गोस्वामी जीवात्मा (ज्योक् इत्) चिरकाल तक, सदैव ही (सचते) सयुक्त रहता है ।

दुष्कर्मी सन्मार्ग को नहीं तर सकते

प्रत्नान्मानाद् अध्या ये समस्वरन् श्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः ।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ।।

ऋ० ६.७३.६।।

विनय

देखो, स्वर्गीय गान की स्वरें सुनाई दे रही हैं, दिव्यप्रकाश की किरणें दृष्टिगोचर हो रही हैं। ये और कुछ नहीं हैं, सत्यनियम (ऋत) ही मिलकर ठीक धुन मे ताल स्वर के साथ बज रहे हैं। सत्यनियम ही हमारे अनुकूल रूप धारण करके दीख रहे हैं। ये दिव्य शब्द व प्रकाश की किरणें ऊपर से आ रही हैं, द्युलोक से आ रही है । वहीं हम सब का पुराना सनातन उत्पत्तिस्थान है, निर्माणस्थान है। वही से इस अनादि ब्रह्माण्ड-वीणा के सब स्वर निकल रहे हैं, सदा से निकलते रहे हैं और सदा निकलते रहेंगे। ये जिस वीणायन्त्र से निकल रहे हैं वह प्रभुवाणी की वीणा है, उसकी श्लोक, ईक्षण-शक्ति रूपी वीणा है। इसीलिये उसकी ये रश्मियें इस सब वेगवान् महान् ससार को जानती हुई चल रही हैं, अपने प्रभु के सर्वगत चैतन्य के स्पर्श से कभी वियुक्त नहीं होती हैं। इन किरणों और इन स्वरों के अनुसार जो लोग अपने आपको चलाते हैं, इनकी ताल पर ताल देते हुए इनके अनुसार अपने शरीर मन बुद्धि को हिलाते नचाते और ठीक करते जाते हैं वे तो बड़ी आसानी से ऊपर-ऊपर चढते जाते हैं। पर दु ख है कि यह अन्धा और बहिरा ससार न उन्हे देख रहा है और न सुन रहा है। हम लोग बडी बेपरवाही के साथ सब कुछ अनसुना करते हुए अन्धाधुन्ध अपनी हांकते जा रहे हैं, तभी दु ख पा रहे हैं और जहा के तहा पडे हुए है। उन्नति पथ पर आगे नही बढ़ सकते । सचमुच अपने इन दु खदायी प्रतिकूल कर्मों को, दुष्कर्मों को हम इसीलिये करते हैं—करने मे प्रवृत्त होते हैं—चूकि हम इन स्वर्गीय लहरों को सुन व देख नही रहे हैं। अत आओ, भाइयो ! हम अब अपने उन कानों और आखो को खोल लेवें जिनसे कि प्रभुधाम से अनवरत आने वाली ये दिव्य स्वरें सुनायी और दिखायी देती हैं। ऐसे कान और आख तो हम सब के पास हैं।

शब्दार्थ—

(श्लोकयन्त्रासः) श्लोक यंत्र वाली, ईश्वरीय वाणी से निकलने वाली **(रभसस्य मन्तव)** और इस वेगवान् महान् संसार को जानने वाली **(ये)** जो [दिव्यप्रकाश और दिव्यशब्द की किरणें] **(प्रत्नात् मानात् अधि)** पुराने निर्माणस्थान, उत्पत्तिस्थान से **(आ)** आकर **(स अस्वरन्)** मिलकर के बज रही हैं या प्रकाशित हो रही हैं उन्हें **(अनक्षास.)** न आखों वाले तथा **(बधिराः)** बहिरे, न सुन सकने वाले [ससारी पापी] लोग **(अप अहासत)** छोड़ देते हैं, उन्हे देखते सुनते नहीं, इनका लाभ नहीं उठाते। इसीलिए **(दुष्कृत)** दुष्कर्म करने वाले **(ऋतस्य पन्थां)** सत्य के मार्ग को **(न तरन्ति)** तर नही सकते ।

वाणी की पवित्रता

सहस्रधारे वितते पवित्र, आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।
रुद्रास एषां इषिरास अद्रुहः स्पशः स्वंचः सुदृशो नृचक्षसः ।।
ऋ० ९.७३.७।।

विनय

ऊपर द्युलोक से सहस्रों धाराओं मे सोम की वर्षा हो रही है । जहाँ केवल शुद्ध धर्म की—अशुक्ल, अकृष्ण धर्म की वर्षा होती है उस धर्ममेघ समाधि की अवस्था आने पर ध्यानी लोग इसे अनुभव भी करते हैं । यह शिर के ऊर्ध्व भाग मे अनुभूत होती है जहाँ कि हठयोगी लोग 'सहस्रार कमल' को देखते हैं । वहाँ अनन्त अपार ज्ञानसमुद्र है 'सर्वावरणमलापेत'* शुद्ध ज्ञान का समुद्र है । उसमे क्रान्तदर्शी और क्रान्तकर्मा ज्ञानी महापुरुष अपनी वाणी को पवित्र करते हैं, उसमे गोता देकर सर्वथा शुद्ध हुई वाणी को बोलते हैं । तब उनकी यह वाणी बड़ी चमत्कारिणी शक्ति रखती है । वहाँ से निकली वाणी द्वारा जो आज्ञा की जाती है वह अमोघ होती है । इसी लिये हम देखते हैं कि महात्मा दिव्य पुरुषो की वाणी व चिन्तना (माध्यमिक वाणी) विशेष प्रभाव रखती है । वे अपने भाषण व चिन्तन से अपने दूत का, अपने वशवर्ती नौकर का, काम ले सकते हैं । दूर-दूर के विषय मे वे जो सोचते हैं या बोलते हैं वह वहाँ पूरा हो जाता है । पर यह तो दूर की बात है । क्या हम अपेक्षया उन्नत श्रेष्ठ पुरुषो को नित्य नही देखते कि उनका भाषण व विचार दूर तक प्रभाव पहुँचाने वाला होता है, कभी किसी को भी हानि न पहुँचाने वाला होता है, उत्तम व्यवहार युक्त होता है, उत्तम दिव्य दूरदृष्टि से देखकर बोला हुआ होता है और मनुष्य को ठीक-ठीक देखकर पहिचान कर बोला हुआ होता है ? यदि किन्ही के भाषण व विचार में ये उक्त गुण दिखलाई देते हैं तो यह इस बात का लक्षण है कि उनकी वाणी पवित्र हो रही है, पवित्रताकारक सोमधारा का स्पर्श प्राप्त कर रही है, 'वितत सहस्रधार पवित्र' की तरफ बढ रही है ।

शब्दार्थ—

(कवय. मनीषिणः) क्रान्तदर्शी क्रान्तकर्मा ज्ञानी लोग (वाचं) अपनी वाणी को (सहस्रधारे वितते पवित्रे) हजारो धाराओ वाले विस्तृत पवित्रताकारक स्रोत मे [सोम-स्रोत मे] (आपुनन्ति) पूरी तरह पवित्र करते हैं। अत (एषां) इन मनीषियों के (रुद्रास·) प्राण, प्राणरूप माध्यमिक वाणिया (इषिरासः) दूर तक पहुँचने वाले, बडे प्रभावशाली (अद्रुह) किन्तु कभी किसी का द्रोह व घात न करने वाले (स्वचः) उत्तम व्यवहार करने वाले (सुदृशः) उत्तम दिव्य दृष्टि वाले और (नृचक्षसः) मनुष्यों को ठीक-ठीक पहिचान लेने वाले (स्पशः) दूत की तरह हो जाते हैं । □

---

*यो० द० ४—३१

संगठन=संघटन का महान् आधार

समेत विश्वे वचसा पतिं दिवः, एको विभूः अतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्, तं वर्त्तनिः अनुवावृत एकमित् पुरु ।।

अथर्व० ७.२१ १।।

विनय

आओ, तुम सब आओ, हे मनुष्यो ! तुम सब इकट्ठे होकर आओ और एक वाणी से उस "दिव. पति" के स्तोत्र गाओ । वही हम सब को इकट्ठा कर सकता है । वही एक सूत्र की तरह हम सब को जोडने वाला है । क्योकि वह एक विभु, वह एक सर्वव्यापक, हम सब मनुष्यो मे सततरूप से गया हुआ है । हम सब जनो मे अतिथि है । हम सभी का समान रूप से वह मेहमान हुआ हुआ है । अत॰ हम सबो के उस एक पूज्य द्वारा, हम सबो के उस एक उपास्य द्वारा, हम सब मनुष्य परस्पर जुड सकते हैं और असल में जुडे हुए हैं भी । वह एकरस पुराण है और यह बदलता हुआ ससार नित्य नया होता रहता है । पर वह पुराण इस नित्य नये ससार का नित्य नये रूप से सेवन कर रहा है, इसमे नित्य नये रूप से व्यापा हुआ है । इसलिये उसे प्राप्त करना चाहता हुआ यह ससार अपने अपने नये ढग से ही उसकी तरफ जा सकता है । अत॰ यह सच है कि जो मार्ग हमे उस की तरफ ले जाता है वह बेशक हम सबको केवल उस एक की तरफ ले जाता है परन्तु वह हमे विविध प्रकार से—हरेक व्यक्ति के अनुसार उसके अपने अपने निराले प्रकार से—ले जाता है । हम सब यद्यपि अपने-अपने ढग से उस एक उपास्य देव की उपासना करेंगे पर अपने अपने ढग से उपासना करते हुए भी हम सभी का उपास्य देव वह एक ही है । अत आओ, उस अपने एक देव के नाम पर हम सब—हम सब के सब मनुष्य—एक हो जायें, मिल जायें, उस एक प्रभु के झडे के नीचे इकट्ठे हो जायें और हम सब के सब एक वाणी से उसके यश. गीत गायें ।

शब्दार्थ—

(**विश्वे**) हे सब लोगो, सब भाइयो ! (**दिवः पतिं**) प्रकाशपति परमेश्वर के प्रति (**वचसा**) एक वाणी से (**समेत**) एकत्रित हो जाओ; चूंकि (**एकः विभूः**) वह एक ही सर्वव्यापक (**जनानां**) सर्व जनो का (**अतिथि**) अतिथि हुआ हुआ है । (**सः पूर्व्यः**) वह पुराना (**नूतन**) इस नये [ससार] को (**आविवासत्**) सेवन कर रहा है, व्याप्त कर रहा है । अत (**तं**) उसके प्रति (**वर्त्तनि**) जो मार्ग (**अनुवावृते**) जाता है वह (**एकं इत्**) उस एक के प्रति ही किन्तु (**पुरु**) बहुत प्रकार से, नाना प्रकार से जाता है । □

मिलकर कर्त्तव्य पालन

सं जानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत्स्थु र्बहुले विनिर्हते, मेषुः पप्तत् इन्द्रस्य अहन्यागते ॥

अथर्व० ७.५२ २॥

विनय

हमें अपना सब सामूहिक सोचना समझना मिलकर ही करना चाहिये। हम एक होकर एकमत से ही किसी कार्य को प्रारम्भ करें। हम जो बहुत बार एकमत नही हो पाते है उसका कारण यह होता है कि हम "दैव्य-मन" से सोचना छोडकर आसुर मन से विचारने लगते हैं। आसुरी वृत्ति से, स्वार्थप्रेरित होकर, एक दूसरे पर अविश्वास करते हुए, एक दूसरे को तिरस्कृत करते हुए हम चलेंगे तो हम कभी भी ऐकमत्य नहीं पा सकेंगे। अत हमे नि स्वार्थ प्रेम से युक्त दैव्य-मन को कभी न त्यागना चाहिये और एक मत हो एक निश्चय के साथ सर्वहितकारी बड़े से बड़े काम को उठा लेना चाहिये तथा उसे एकभाव से ही प्रेरित हो चलाते जाना चाहिये। फिर बडी से बडी भयंकर विपत्तिया आने पर भी विह्वल नहीं होना चाहिये। असफलतायें और विघ्नो की रात्रियाँ तो प्रत्येक महान् कार्य मे आया ही करती हैं। इन क्षुद्र असफलताओ पर हाहाकार मचाना तो क्या, यदि महादारुण प्रलय की रात्रि भी आजाये और ये विशाल द्यौ और पृथिवी भी नष्ट होने लगें तो भी हमे विचलित नही होना चाहिये और अटल निष्ठा से अपनी साधना मे लगे रहना चाहिये। और फिर इस रात्रि के बाद दिन आजाने पर भी, सब अनुकूल अवस्थायें हो जाने पर भी, हमे मौज लूटने मे नहीं ग्रस्त हो जाना चाहिये। अपने अन्तिम लक्ष्य को भूल विषय भोगो, विजयोत्सवो मे नहीं पड़ जाना चाहिये। क्योकि ऐसे ही समय मे 'इन्द्र का इषु' गिरा करता है, वज्रपात हुआ करता है, ईश्वरीय मार पडा करती है। यह दैवी मार बहुत बुरी होती है। वे बडे बडे साम्राज्य जो कि अपने बडे दुर्दान्त शत्रुओ के घोर आक्रमणो को भी सह गये, पीछे से विषय भोगो मे ग्रस्त होकर स्वयमेव नष्ट हो गये, 'इन्द्र के इषु' से मारे गये। अत. आओ, अपने अन्धकार के समय मे भी और प्रकाशकाल मे भी, हम कभी दैव मन को न छोडते हुए सदा मिलकर खूब सोच समझ कर एकमत से अपने सर्वोदय के महान् कार्य्यों को चलाते जायें।

शब्दार्थ—

हम (मनसा) मन द्वारा (स) मिल करके (जानामहे) विचारें और (चिकित्वा) सोचना समझना (स) मिलकर करें; (दैव्येन मनसा) दैव मन से (मा युष्महि) कभी वियुक्त न होयें, बिछुडें नहीं। (बहुले विनिर्हते) अन्धकार आजाने पर या विशाल द्यावापृथिवी के टूटने पर भी (घोषा मा उत्स्थुः) हमारे अन्दर हाहाकार के शब्द न उठें और (अहनि आगते) दिन आजाने पर, अनुकूल स्थिति पा जाने पर (इन्द्रस्य इषु.) इन्द्र का इषु, ईश्वरीय मार (मा पप्तत्) हम पर न पडे। □

अग्निदेव की महती महिमा

तं पृच्छता स जगामा स वेद स चिकित्वाँ ईयते स न्वीयते।
तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः ।।
ऋ० १.१४५.१.।।

विनय

हे मनुष्यो ! तुम जो कुछ जानना चाहते हो पूछना चाहते हो वह अपने अग्निदेव से पूछो। इसके सिवाय ससार मे और कोई तुम्हारे सब प्रश्नो का ठीक ठीक उत्तर दे सकने वाला नही है। संसार के बड़े से बड़े विद्वान् तुम्हें जो कुछ उत्तर देंगे उससे भी तुम्हे तभी सतुष्टि मिलेगी जब कि तुम्हारा (अन्दर का) अग्नि, अन्तरात्मा उस पर अपनी स्वीकृति की छाप लगा देगा। अत तुम्हारी सब जिज्ञासायें, सब समस्यायें, अन्त मे इस अन्तरात्म-देव की शरण मे जाने से ही हल होंगी। क्या तुम सन्देह करते हो कि इस अन्दर के आत्मा की सब जगहों मे और सब विषयो मे गति नहीं है ? नही, यह आत्मा तो सदा अपने परम आत्मा मे बसता है और अपनी चिन्मय वृत्ति को जहाँ चाहे वहाँ भेज सकता है। एव यह अग्नि सब जगह जाता है और वहाँ सब कुछ जानता है। अरे देखो, यह चित्स्वरूप आत्मा सब कुछ जानता हुआ सब कही जा रहा है; पलक मारने मे, सकल्पमात्र से करोडो मीलो तक करोड़ो युगों तक पहुँच रहा है। यो कहना चाहिये कि यह ज्ञानमय अग्नि सब जगह सब विषयो में पहिले ही पहुँचा हुआ है। और ससार के महापुरुषों को जो जगत् मे कुछ महान् कार्य करने की आज्ञायें प्रेरणायें मिला करती हैं ये भी उनकी इस अन्तरग्नि से ही प्रकट होती हैं। सब प्रशासन, सब ईश्वरीय हुक्म इसी में हैं। एव ऋषि महात्माओं को समय समय पर जो तत्कालीन विपत्ति के हटाने के लिये किन्ही यज्ञों का, इष्टियो का, दर्शन हुआ करता है वह भी उनकी अन्तरात्मा मे ही होता है। सचमुच सब यज्ञ भी इसी मे निहित हैं। एव समस्त ज्ञान और बल का यही पति है। बल ही क्यो, सब बलियो का—ससार के बडी से बडी फौज रखने वाले राजा आदि सब बलियों का—यही पति है। अहो, अपने इस अग्निदेव के इस परम माहात्म्य को अनुभव करो और अब से अपने सब प्रश्न इसी ज्ञानमय देव के सामने रक्खो। और कही क्यों भटकते हो ?

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (तं) उस अग्निदेव से (पृच्छत) पूछो। क्योकि (स) वह (जगाम) सर्वत्र जाता है, (स वेद) वह सब कुछ जानता है, (स) वह (चिकित्वान् ईयते) सब जानता हुआ जाता है, (स) वह (नु) बडी जल्दी (ईयते) जाता है। (तस्मिन्) उसी मे (इष्टयः) सब यज्ञ व इष्टिया हैं, (स) वह (वाजस्य) ज्ञान का (शवसः) बल का (शुष्मिणः) और बली का (पतिः) पति है। ☐

निरभिमान पुरुष

तमित्पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत् ।
न मृष्यते प्रथमं नापरं वचो ऽस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः ॥
ऋ० १.१४५.२॥

विनय

और सब मनुष्य अपने अन्तरात्मा से ही पूछा करते हैं। यह और बात है कि हर कोई उससे पूरी तरह पूछ न सकता हो, किन्तु यह ठीक है कि सब कोई अपने मन (अन्तरात्मा) से ही सोचता है और अपनी मनमानी ही करता है। अन्तरात्मा से विशेष तौर पर (पूरी तरह) पूछ सकने वाले तो विरले ही होते हैं, सब नही। बात यह है कि सब कोई अपनी शक्ति के अनुसार पूछ सकता है। जिसका बुद्धि मन जितना शुद्ध और विकसित होगा अतएव जितना ग्रहण कर सकता होगा उतना ही ज्ञान वह अपनी अन्तरात्मा की अग्नि से प्राप्त कर सकेगा। एक बुद्धिमान् पुरुष पूरे धैर्यपूर्वक पूछने का प्रयत्न करता हुआ भी अपने निजी मन से जितना ग्रहण कर सकेगा उतना ही अपने प्रश्नो का उत्तर अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त करेगा।

पर एक बात सदा याद रखनी चाहिये। वह यह है कि हमे इस अग्निदेव के समीप सर्वथा निरभिमान होकर ही पहुच करनी चाहिये। जो मनुष्य अपने बड़े भारी ज्ञानी पण्डित होने के सब दर्प को और सब पाण्डित्य को भुलाकर अपने आपको खाली करके अबोध बालक होकर पूछता है वही उस अग्नि के प्रज्ञा और कर्म से अपने को संयुक्त करता है, उससे ठीक ज्ञान और प्रेरणाओ को प्राप्त करता है। जब अग्निदेव बोलता है तो उस अपने बोलने से पहिले और पीछे के किसी दूसरे के बोलने को नही सह सकता है। उसका उत्तर सुनने के लिये हमे जहां अपने सब पूर्वग्रह, प्रथमनिश्चय तथा पक्षपात को बिल्कुल छोड कर ही उसे सुनना चाहिये, वहां उस का उत्तर सुन लेने के बाद भी उसमे अपना बोल मिला देने से सावधान रहना चाहिये अर्थात् उस उत्तर के किसी अश को अपनी कल्पना द्वारा पूरा करने का यत्न न करना चाहिये और न अपने विचारो का रंग उस उत्तर मे आने देना चाहिये। बस यही अपने आत्मदेव से बिल्कुल ठीक ठीक उत्तर प्राप्त करने का रहस्य है।

शब्दार्थ—

(तं इत्) उस अन्तरात्मा से ही (पृच्छन्ति) सब पूछते हैं, पर (सिम) सब कोई (विपृच्छति न) विशेष तौर पर [पूरी तरह] नही पूछता है; (धीर) बुद्धिमान् व धैर्यवान् पुरुष भी [उतना ही पूछ सकता है] (यत्) जितना कि वह (स्वेन इव) अपने ही (मनसा) मन से (अग्रभीत्) ग्रहण कर सकता है। वह अग्नि (प्रथम वच) अपने बोलने मे न तो पहिले के किसी बोल को (न अपरं) और न ही बाद के किसी बोल को (मृष्यते) सहता है, (अप्रदृपित) निरभिमान होकर आया पुरुष ही (अस्य) इस अग्नि के (क्रत्वा) कर्म व प्रज्ञा से (सचते) अपने आपको सयुक्त करता है। □

विश्वानरदेव का महान् बल

प्र वो महे मन्दमानाय अन्धसो अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ॥

ऋ० १० ५०.१॥ यजु० ३३ २३॥

विनय

क्या तुम अपने विश्वानर देव को भी जानते हो ? यह वह देव है जिसमे हम विश्व नर, हम सब मनुष्य, समाये हुए हैं, यह वह नर है वह पुरुष है जिसका कि यह विश्व (यह ब्रह्माण्ड) शरीर है। अत हे नरो, हे मनुष्यो ! तुम इस अपने महान् विश्वानर देव का पूजन करो। यह सब विश्व मे समाया हुआ विश्वव्यापी देव सदा मोदमान है, आनन्दमय है। हमे अपना सब आनन्द, सब अन्न आदि भोग इसी से मिल रहा है। 'अन्धस्' वाला यही है। और यह वह इन्द्र (परमेश्वर) है जिसका कि सुपूजित बल, सर्व वदित तेज, अत्यन्त महान् है। इसी के महान् 'सहस्' के कारण सब लोक, सब भुवन, सब ब्रह्माण्ड ठीक-ठीक चल रहा है। और इसी के मनुष्योपयोगी आत्मिक यश और बल को सब संसार के मनुष्य सेवन कर रहे हैं। आ., क्या तुम देखते नही कि ये रोदसी, ये विशाल द्यौ और यह पृथिवी, उसी देव की परिचर्या कर रहे हैं, अहर्निश उसी देव का पूजन कर रहे हैं, तो आओ, हम भी उस अपने महान् विश्वानर देव के गीत गायें, अपने सम्पूर्ण जीवन द्वारा उसकी वन्दना करें।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (व) तुम उस (महे) महान् (मन्दमानाय) सदा मोदमान, आनन्दमय (अन्धस.) सुख भोग के [देनेवाले] (विश्वा भुवे) विश्व मे समाये हुए, विश्वव्यापी (विश्वानराय) विश्वानर देव का (प्रअर्चा) पूजन करो (यस्य इन्द्रस्य) जिस ईश्वर-का (सुमखं) सुपूजित (सह) बल व तेज (महि) महान् है और जिसके (श्रव) यश (नृम्णं च) तथा बल को (रोदसी) यह द्यौ और पृथिवी, दोनो ससार (सपर्यत) पूजन कर रहे हैं, वन्दन कर रहे हैं। □

भूमि-माता की महती महिमा

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीं अदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्यां इदं विश्वं भुवनमाविवेश, तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्
यजु० १८ ३०॥

विनय

भूमि-माता कोई काल्पनिक वस्तु नही है। यह 'राज्यवान् आत्मा' है, राष्ट्र है। यह माता राष्ट्र के, भूमि के, सब व्यक्तियो की सामूहिक आत्मा है। इसका देह राष्ट्र-शरीर है। ज़रा अनन्त व्यक्तिभेदों को भूलकर हम अपनी दृष्टि को विशाल बनाकर देखें, सम्पूर्ण भूमि को एक अ-खण्डित (अ-दिति), समष्टि रूप मे देखें तो हमे यह 'अदिति' नाम अपनी माता दीख जायगी। तब हमे दीखेगा कि भूमि भर की सव मनुष्य, पशु वृक्ष आदि व्यक्तियां, भूमि भर की सब सम्पत्तियां, सव वस्तुएं इसी अदिति में समायी हुई हैं। इस से बाहर कुछ नहीं है। इसलिये हम व्यक्तियों के सव वैयक्तिक सुख भी, सब 'वाज', सब अन्न जल बल ज्ञान आदि वस्तुएं भी, हमें उस समष्टिरूपिणी एकात्मा अदिति माता की उपासना के बिना नहीं मिल सकती हैं। अत. आओ, हम उस महती अदिति माता को अपने अभिमुख करें, उसे एक वाणी से अपनी माता करके पुकारें, परस्पर चर्चा और प्रचार से उसकी भावना अपने मे जगायें। तभी हम अपने वैयक्तिक बल, ज्ञान आदि की उन्नति पा सकेंगे। सर्वप्रेरक प्रभु भी हममें उसी समष्टिरूप अदिति में हमारी धारणा को उत्पन्न करें और उसके प्रति जो हमारा धर्म है उसकी हममे प्रेरणा करते रहें, उस समष्टि में एक होकर जो हमारा कर्त्तव्य है जो हमारा धर्म है उसे सदैव सुझाते रहे। यदि प्रभु हम में इस धर्म की प्रेरणा न करेंगे या हम किसी अन्य कारण इस महान् अदिति माता की उपासना न कर सकेंगे तो हम अपने अन्न बल ज्ञान सम्पत्ति को भी कभी प्राप्त न कर सकेंगे। इस लिये हे सवित', तुम हमें उस अपनी मही माता के प्रति हमारे धर्म की सदा प्रेरणा करते रहो।

शब्दार्थ—

(**अदितिं नाम**) अदिति नाम (**महीं मातरं**) महान् भूमि माता को (**वाजस्य प्रसवे नु**) अन्न, बल, ज्ञान आदि की उत्पत्ति के लिये ही हम (**वचसा**) वाणी द्वारा (**करामहे**) अभिमुख करते हैं, माता बनाते हैं। (**यस्यां**) जिस अदिति मे (**इदं विश्वं भुवनं**) यह सब की सब व्यक्तियें और वस्तुएं (**आविवेश**) समाई हुई हैं, (**तस्यां**) उसी मे, उसी के प्रति (**सविता देव**) प्रेरक प्रभु (**न धर्म**) हमारे धर्म, कर्त्तव्य की (**साविषत्**) सदा प्रेरणा करें। □

आत्मा के दो अजर पक्ष

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ, याभ्यां रक्षांसि अपहंस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं, यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः

यजु० १८.५२॥

विनय

हे अग्ने ! हे आत्मन् ! तू अपने दोनो पक्षों द्वारा सब बाधाओं को हटाता हुआ निरन्तर गति करता जाता है। तुझमे 'शवस्' और 'घृत' की, बल और दीप्ति की, कर्म और ज्ञान की, कार्य और कारण की, स्थूल और सूक्ष्म की व पृथिवी और दिव् की जो दो विभिन्न शक्तियाँ निहित हैं वे ही तेरे दो अजर पक्ष हैं, कभी जीर्ण न होने वाले तेरे दो पंख हैं, जो कि पतत्र वाले हैं तुझे ऊपर उडाने वाले हैं, उठाने वाले हैं। इनसे तू उड़ता है, सब बाधाओ को दूर करता हुआ उड़ता है, उन्नत होता है। उन्नति को रोके रखने वाले ही 'रक्षस्' होते हैं। इन सब राक्षसो को, रुकावटो को, विघ्नों और बन्धनो को तू अपने इन दोनों पक्षों की समतोल क्रिया द्वारा और सम्मिलित यत्न द्वारा काटता हुआ चलता जाता है। हे अग्ने ! हम भी तेरे इन दिव्य पंखों का सहारा लेकर उड़ना चाहते हैं। हम अब अपने जीवन में कर्म और ज्ञान की ऐसी समतोलता रखते हुए बढ़ें कि इससे हमारे आगे चलने मे कभी कोई रुकावट न पडे। जब कभी हम किसी एक पार्श्व मे कमी या अति करते हैं अर्थात् ज्ञान मे ग्रस्त हो कर्म छोड देते हैं या ज्ञान को भूल कर्म मे बह जाते हैं अथवा जब कभी हम इन दोनो को परस्पर सम्बद्ध नहीं रखते अर्थात् ज्ञान के अनुसार कर्म नही करते या कर्म से अगला ज्ञान नहीं प्राप्त करते तभी रुकावट होती है, तभी राक्षसों की जीत हो जाती है। अतः हे अग्ने ! यदि हम तुम्हारे इन दिव्य अजर पतत्री पखो को पा सकेंगे तभी हम विना रुकावट उन्नत हो सकेंगे और उस लोक को पहुँच सकेंगे जहाँ कि उत्तम कर्म और उत्तम ज्ञान अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं; उस 'सुकृतां लोक' को, श्रेष्ठ कर्मवाले पुरुषों के लोक को, पहुँच सकेंगे जहाँ कि पुराने प्रख्यात महाज्ञानी पहुँचते रहे हैं।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तेरे (इमौ) ये (अजरौ) अजर (पतत्रिणौ) ऊपर उड़ाने वाले (पक्षौ) दो पक्ष, दो पंख हैं (याभ्यां) जिनसे कि तू (रक्षांसि) राक्षसो को (अपहंसि) हटा देता है, मार भगाता है, (ताभ्या) उन्हीं पखों से (उ) ही हम भी (सुकृतां लोकं) उस श्रेष्ठ कर्मों वालो के लोक को (यत्र) जहाँ (प्रथमजाः) हम से पहिले पैदा हुए हुए (पुराणाः) पुराने (ऋषय) ज्ञानी लोग (जग्मु) पहुँचते रहे हैं (पतेम) हम भी उड़ें, उन्नत होते हुए पहुँचें। □

ईश्वरीय शक्ति

यदाकूतात् समसुस्रोत् हृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा ।
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥
यजु० १८.५८॥

विनय

उस लोक को उडने का, उस लोक मे पहुचने का मार्ग बडा सहज हो जाता है, यदि किसी तरह हमारी वैयक्तिक प्रकृति उस तरफ झुक जाय, उस तरफ प्रवृत्त हो जाय, उधर चलने लगे, हठयोग की भाषा मे, यदि किसी तरह हमारी कु डलिनी शक्ति का जागरण हो जाय। क्योकि उस अवस्था मे हम वरसती हुई ईश्वरीय-शक्ति के धारण करने के योग्य हो जाते हैं। और तब तो हमे ईश्वरीय-शक्ति का एक विन्दु मिल जाना पर्याप्त होता है, उस एक शक्ति-विन्दु को ही लेकर हमारी वैयक्तिक प्रकृति (शक्ति) चल पडती है और हमे वडी आसानी से हमारे ध्येय तक पहुचा देती है। प्रभु की दया होने पर यह शक्ति-विन्दु 'आकूत' से, आत्मिक ईक्षण व आत्मिक सकल्प से, चूता है, गिरता है। इस शक्ति-विन्दु का निपात अपनी आत्मा के आकूत से या वहुधा दूसरी किसी वलवान् महान् आत्मा (गुरु) के आकूत से हुआ करता है। यह शक्ति-निपात आकूत से आकर गुरु के हृदय से या मन से या आँख से प्रकट होता है। गुरु इस शक्ति को या तो अपने हृदय से शिष्य के हृदय मे डालते हैं, या अपने मन से शिष्य के मन मे, या कभी अपनी आँख से ही शिष्य की आँख मे इसका सचार कर देते हैं। ऋषियो ने वताया है, आत्मा का निवास सुषुप्ति मे हृदय मे होता है, स्वप्न मे मन मे और जागृत मे दक्षिणाक्षि मे होता है। जो हो, परमगुरु परमेश्वर की कृपा होने पर 'आकूत' द्वारा नाना प्रकार से शक्ति का विनिपात हुआ करता है और अधिकारी आत्मा (शिष्य) इसे अपने मे अच्छी तरह धारण, सभृत, कर लेता है। धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें कि भगवान् का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त होता है। भाइयो! यदि तुम्हें कभी कोई शक्ति-निपात प्राप्त हुआ है और तुमने उसे संभृत कर लिया है तो तुम उसे ही लेकर चल पडो, नि शंक होकर चल पडो। तव तुम्हें साफ सीधा चौडा मार्ग मिल गया है। निश्चय से तुम अपने अभीष्ट लोक को पहुच जाओगे, उस सुकृतो के लोक को, श्रेष्ठ कर्म वालो के लोक को पहुच जाओगे जहा कि तुम से पहिले पैदा हुए पुराने सब ज्ञानी ऋषि लोग पहुचते रहे हैं।

शब्दार्थ—

(यत्) जो शक्ति-विन्दु (आकूतात्) आत्मिक ईक्षण से, आत्मिक सकल्प से (सं असुस्रोत्) अच्छी तरह चुआ है, विनिपतित हुआ है, और (हृदः वा) या तो हृदय से, बुद्धि मे (मनसः वा) या मन से (चक्षुषः वा) या आख [आदि इन्द्रिय] से चुए हुए इसे (सं भृतं) तुमने सम्यक्तया धारण कर लिया है तो तुम (तत् उ) इसे ही लेकर (अनुप्रेत) चल पडो, पीछे होलो, इस तरह तुम (सुकृतां लोक) उस श्रेष्ठ कर्मों वालो के लोक को पहुंच जाओगे (यत्र) जहां, जिस लोक को (प्रथमजाः) तुम से पहिले उत्पन्न हुए (पुराणाः) पुराने (ऋषयः) ऋषि लोग (जग्मुः) पहुचते रहे हैं। □

आत्मिक शक्तियों द्वारा अतिदीर्घ आयु

प्रजापते रावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥
अथ० १७.१.२७॥

विनय

हे प्रभो ! मेरी महत्त्वाकाक्षा यह है कि मैं पुण्य कर्म करता हुआ हजार वर्ष तक जीवन धारण करूँ । ऐसे दिव्य जीवन विताने वाले सिद्ध पुरुष संसार मे हुआ करते हैं । मैं वैसा ही विभूतिसम्पन्न होना चाहता हू । मेरी अमर आत्मा अपने अमरत्व को लगभग स्थूल शरीर तक पहुचा देगी । सर्व साधारण लोगों के तो आत्मा मन का शरीर पर असर नही होता है किन्तु उनके शरीर का मन आत्मा पर असर होता है । इसीलिये वे स्थूल भौतिक ससार के वृद्धि-क्षय आदि नियमो के वशीभूत होते हैं और उन्हे इतनी जल्दी जल्दी चोले बदलने पडते हैं । परन्तु मैं अपने आपको ऐसे दिव्य कवचो मे सुरक्षित करूँगा कि मेरे आत्मा का ही प्रभाव वे रोक-टोक स्थूल शरीर और स्थूल जगत् तक पडेगा । मैं अपने आत्मा को, कारण शरीर को, 'प्रजापति के ब्रह्म' से ईश्वर की प्राज्ञावस्था के कवच से ढक लू गा और अपने बुद्धि मन आदि सूक्ष्म शरीर को 'कश्यप' की, पच्यक हिरण्य-गर्भ की ज्योति से ढक लूंगा तथा अपने प्राणशरीर को उसके वर्चस् से, प्राणमय तेज से ढक लूंगा । एव मुझ मे पूरा आत्मिक वीर्य्य तथा मानसिक व शारीरिक वीर्य भी सञ्चित, रक्षित रहेगा । अत. मैं इतनी लम्बी जीर्णता की अवस्था तक भी सर्वथा समर्थ रहूँगा । मुझ मे सर्वत्र गमन कर सकने की सिद्धिया प्राप्त होंगी और मैं हजार वर्ष तक जीता हुआ सर्व-कल्याण के सुकृत कर्म करता रहूगा । हे जगदीश्वर ! मेरी इस महत्त्वकाक्षा को पूर्ण करो ।

शब्दार्थ—

(प्रजापते.) प्रजापालक 'ईश्वर' के (ब्रह्मणा) महान् ज्ञानरूपी 'प्राज्ञतारूपी' (वर्मणा) कवच से (आवृत·) ढका हुआ और (कश्यपस्य) महासूर्य 'हिरण्यगर्भ' के (ज्योतिषा) प्रकाश से (वर्चसा) तथा तेज से ढका हुआ मैं (जरदष्टि) वडी वृद्धावस्था मे भी सव कर्म-सामर्थ्य रखने वाला (कृतवीर्य.) सव प्रकार के वीर्य को सञ्चित किये हुए (विहाया.) विविध गमन की सिद्धि रखने वाला (सहस्रायुः) हजार वर्ष की उमर वाला होकर (सुकृत) सुकृत कर्म करता हुआ (चरेयम्) विचरता रहू, जीवित रहूँ । □

परमात्मा द्वारा अर्थ प्राप्ति

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं, अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः॥
यजु० ४०.८॥

विनय

वह परमेश्वर तो सर्वत्र फैला हुआ है, व्यापा हुआ है। वह अपने दीप्यमान शुक्र रूप से, सब प्रकार के शरीरों से रहित होकर, अतएव शारीरिक व्रणादि दोषों तथा स्नायु आदि बन्धनों से रहित होकर, सर्वथा शुद्ध, सूक्ष्ममल-रूप पापों से भी सर्वथा रहित विकारों से रहित सदा सर्वदा मुक्त रूप होकर सर्वत्र फैला हुआ है, सर्वत्र रमा हुआ है। एवं सर्वव्यापक सर्वगत होकर वह परमेश्वर इस सब जगत् को चला रहा है। इसकी ठीक ठीक परिपूर्ण व्यवस्था कर रहा है। शाश्वत काल से अपनी सनातन प्रजा के लिये, प्राणिमात्र के लिये, सब अर्थों को रच रहा है, ज्ञान ऐश्वर्य आनन्द आदि सब पदार्थों को यथावत् परिपूर्ण न्याय से सब को दे रहा है और अनन्त काल तक देता रहेगा। क्योंकि वह क्रान्तदर्शी कवि सर्वज्ञ है, सब के मनों को जानने और प्रेरणेवाला मनीषी है, सब वस्तुओं का परिभव करने वाला सबका स्वामी तथा परिभू है और स्वयमेव विद्यमान स्वाधार आत्माश्रय अजन्मा स्वयम्भू है। यही हमारे परम ईश्वर का स्वरूप है। हे मनुष्यो! इस स्वरूप को अपने हृदय में जमा लो, अपने अन्तःकरण में रमा लो।

शब्दार्थ—

प्राणों द्वारा आत्मशक्ति-जागृति

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः, सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिः, तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे॥

ऋ० ४.३ २१॥

विनय

हे प्राणो ! तुम इन्द्रवन्त हो। आत्मशक्ति या आत्मैश्वर्य तुम्हारे साथ रहता है। शरीर मे जितने प्राण भरे रहेगे उतनी ही इसमे आत्मशक्ति जागृत होगी। और चूकि तुम मिल करके शरीर का सेवन करने वाले, प्राण अपान आदि रूप से शरीर के अगो मे विभक्त होकर सारे शरीर को अपने सम्मिलित यत्न से धारने वाले हो, अत तुम्हारी वृद्धि से हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति होती है। और हम यह भी जानते हैं कि तुम्हारा रहण (सचार) हित और रमणीय दोनो है। यद्यपि संसार मे प्राय. हितकर वस्तुए आनन्ददायक नही होती, किन्तु तुम्हारे पूरण से जहाँ वडा भारी हित होता है वहाँ तुम्हारे सचार से शरीर मे वडा ही आनन्द भी अनुभूत होता है। शरीर मे प्राणो के वढ जाने से जो एक शक्ति का, यौवन का, उत्साह का, एक हितकारी नशे का सा आनन्द अनुभूत होता है उसे प्राण साधना करने वाले ही जानते हैं। इसलिये हे प्राणो[1] मेरा यह शरीर तुम्हे चाह रहा है। जब से मुझे तुम्हारे इस माहात्म्य का कुछ पता लगा है, और कुछ अनुभव मिला है तव से मेरा ध्यान और सव वातो की तरफ़ से हटकर केवल इसमे लगा हुआ है कि मेरे शरीर मे प्राणो का आगमन, प्राणो का पूरण कव होगा। तव से मेरी मति, मेरी कामना तुम्हारी तरफ ही दौड रही है। मैं देखता हूँ कि शरीर मे तुम्हारे आगमन विना मेरा 'सुवित', मेरी उत्तम गति नही हो सकती है। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी कमी के कारण—प्राणसाधना द्वारा शरीर मे तुम्हारा पूरण न हो जाने के कारण मेरी वडी हानि हो रही है। इसलिये हे प्राणदेवो[1] मैं तुम्हारे पाने का प्यासा हो गया हूँ। जैसे कि चातक आकाश की दिव्यधाराओ का प्यासा होता है या जैसे कि गर्मी के दिनो मे पिपासाकुल मनुष्य 'पानी' पानी' चिल्लाता है उसी तरह मुझे भी अव तुम्हारे आपूरण विना चैन नही मिल सकता। इसलिये, हे प्राणरूपी दिव्य जलो[1] तुम मेरे उत्तम कल्याण के लिये आओ और मेरी पिपासा वुझा जाओ। यह शरद् ऋतु तुम्हारे आगमन के लिये वहुत अनुकूल है, अत. इस समय तो आओ, अवश्य आओ।

शब्दार्थ—

(रुद्रास) हे प्राणो ! (इन्द्रवन्तः) आत्मैश्वर्य वाले (सजोषसः) साथ मिल कर सेवन करने वाले (हिरण्यरथा.) हितरमणीय रहण वाले तुम (सुविताय) हमारी उत्तम गति के लिये (आ गन्तन) आओ, हममे आओ। (इयं) यह (अस्मत्) मेरी (मति) मति, इच्छा (व) तुमको (प्रति हर्यते) चाह रही है, कामना कर रही है. अत· (तृष्णजे न उदन्यवे) जैसे कि प्यासे चातक के लिये (दिव· उत्सा.) आकाश से वर्षाधाराए आती हैं, वैसे तुम्हारे पाने के प्यासे मुझे तुम प्राप्त होओ, आओ। □

१—'आपोमयः प्राणः' अर्थात् प्राण जलमय है। छा०उ० ६-५-४॥

शरद् की ऋतुचर्या

लक्षण—जब वर्षा समाप्त हो जाती है, आकाश बादलों से निर्मल हो जाता है तो यह वर्षा और सर्दी (हेमन्त) के मिलाने वाली बीच की ऋतु शरद् ऋतु कहलाती है। इसके महीने आश्विन और कार्त्तिक हैं।

महिमा—यह ऋतु वसन्त ऋतु के मुकाबिले की और उस के समान है। वसन्त मे गर्मी की छमाही शुरू होती है तो इस शरद् से सर्दी की छमाही का प्रारम्भ होता है। अत इसमे भी न तो ऋतु अतिगर्म होती है और न अतिशीत। बडा सुहावना मौसम होता है। मीठा-मीठा शीत पडना प्रारम्भ होता है। सब वृक्ष वनस्पतियाँ वसत मे नवाकुर से पल्लवित और पुष्पित होती हैं तो शरद् मे ये वनस्पतियाँ पकती हैं, फलयुक्त हो परिपक्वावस्था मे आ जाती हैं। वसन्त मे कफ कुपित होता है तो इसमे पित्त कुपित होता है। हठयोगी लोग इस ऋतु मे, इस शीत छमाही के प्रारम्भ मे भी षट्कर्मो द्वारा शरीर शुद्धि किया करते हैं, विशेषतया इस मे पित्त की अधिकता का निवारण करते हैं, जैसे कि वसन्त मे कफ का निवारण। एवं वसन्त के समान यह ऋतु भी प्राणसम्बन्धी क्रियाओ के अभ्यास करने के लिये अति उत्तम है। प्राणायाम का नया प्रारम्भ तथा प्राणोत्थान के अभ्यास इस ऋतु मे करना बहुत लाभदायक होता है।

वर्षा ऋतु के उपद्रवो के हट जाने के कारण इस ऋतु का लोग बडे उत्साह से प्रारम्भ मनाते हैं, स्वागत करते हैं। प्राचीन समय में लोग इस शरद् ऋतु से यात्रा का, राजा लोग चढाई आदि का, प्रारंभ किया करते थे। वर्षा ऋतु से सीले हुए या जंग लगे हुए या अन्य प्रकार से खराब हुए अपने हथियार औज़ार आदि सब वस्तुओ को तथा अपने घर को ठीक ठाक और संस्कृत किया करते थे। हमारे देश के प्रसिद्ध दशहरा और दीपावली त्योहार भी इस ऋतु मे आते हैं।

गुण—शरद् ऋतु उष्ण पित्तकारक तथा मनुष्यो मे बल उत्पन्न करने वाली है। इस ऋतु मे जठराग्नि और बल मध्यम अवस्था मे होते हैं।

पथ्यापथ्य—वर्षा मे कुपित होने वाला वायु यद्यपि इस शरद् ऋतु के आने पर शान्त हो जाता है, किन्तु वर्षा ऋतु के जल तथा वनस्पतियों के प्रयोग से शरीर मे संचित हुआ पित्त इस ऋतु मे आकर प्रकुपित हो जाता है। इसलिये इस ऋतु मे पित्तनिवारक उपाय करने चाहियें। इस समय की धूप सेकना भी अच्छा नही है। इससे भी पित्त प्रकोप की संभावना होती है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब तक जाडा अच्छे रूप मे न पड़ने लग जाय तब तक भोजन भी अल्पमात्रा मे करना चाहिये। पित्त प्रकुपित होकर विषम ज्वर (मलेरिया) इस ऋतु मे होता है। इसके लिये निम्बू की शिकजबी, तुलसी की चाय, आदि का सेवन करना चाहिये। पित्त निकालने के लिये पित्त विरेचन लेने चाहिये (जैसी आमलकी चूर्ण मधु के साथ या चिरायता आदि तिक्त पदार्थ का क्वाथ लेवें)। पित्त विरेचन के लिये यह ऋतु बहुत अच्छी है।

पित्तकारक भोजन अर्थात् खट्टे तीक्ष्ण गरम पदार्थ, यथा मिर्च मसाला तैल तथा दही आदि के सेवन से बचना चाहिये। पित्तहर मधुर कसैले कड़वे रस तथा हल्के शीतल भोजन खाने चाहियें। घी और साठी के चावल विशेष हितकारी होते हैं। दूध, गेहूँ, जौ, मूग, ईख एवं मिश्री कपूर आदि का सेवन, जलाशय व चाँदनी का सेवन इस ऋतु मे हितकर है।

आश्विन (कन्या)

का

प्राणदायक व्यायाम

गुर्दों और कटिप्रदेश को स्वस्थता प्रदान करने वाला

प्रारम्भिक स्थिति में खडे हो जाइये, भुजायें नीचे लटकी हों और हाथ खुले हुए हो। टांगो की मासपेशियां तान लीजिये और इस सारी व्यायाम में गोडे व टाँगों को कभी झुकने मत दीजिये। दोनो भुजाओ को सामने लाइये और इन्हे सिर के ऊपर पूरी लंवाई मे खडा कर लीजिये। अब इसी स्थिति मे सिर को हाथो के बीच मे रखते हुए अपने को इस तरह आगे झुकाइये कि आप के हाथ नीचे आकर पैर के अगूठो को छू लेवें। प्रारम्भिक स्थिति मे लौट आइये, अंगो को ढीला छोड़ दीजिये और इस व्यायाम को फिर कीजिये। जब भुजाओ को सिर के ऊपर खड़ा कर रहे हो तो अन्दर पूर्ण दीर्घ श्वास लीजिए और जब पैरो को छूने के लिए सामने झुक रहे हो तो श्वास को बाहर छोडिए।

इस व्यायाम को करते हुए अपना मन गुर्दों और कटिप्रदेश पर केन्द्रित कीजिये और आप के गहरे और दीर्घ श्वास से इन अगो को जीवन मिल रहा है ऐसा चित्रित कीजिए। इसी के अनुसार ध्यान के शब्द निश्चित कर लीजिये। मेरे गुर्दे ठीक काम कर रहे हैं यह ध्यान कीजिए।

इन अंगो को गौणतया चैत्र, आषाढ़ तथा पौष की व्यायामो से भी लाभ पहुचता है। □

अन्धकारमय अवस्था से परमज्योति प्राप्ति

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

ऋ० १.५०.१०॥ अथर्व० ७ ५.५३॥

विनय

हमे ऊपर-ऊपर, अधिक-अधिक प्रकाश मे उठना है। इस अन्धकारमय अवस्था से निकल परमज्योति तक पहुचना है। हमे अपनी यह वर्तमान अवस्था अन्धकार मय इसलिये नही प्रतीत होती है चूँकि हमे उसके अतिरिक्त अभी और किसी प्रकाश का पता ही नही है। यदि हमे इससे अगला ही प्रकाश दीखने लगे तो कम-से-कम इस वर्त्तमान अधेरी दशा से वाहर निकलने को हमारा जी अवश्य छटपटाने लगे। हाँ, उस अन्तिम ज्योति तक वेशक हम धीरे-धीरे ही पहुचेगे। एक दम उस परम-ज्योति को तो हमारी आँख सह ही नही सकेगी, अभी उस चकाचौंध करनेवाले महाप्रकाश के दृष्टिगोचर हो जाने पर तो शायद हमारी अनभ्यस्त निर्बल दृष्टि अन्धी हो जाय या हम पगला जाये। अत हमे क्रमश एक के वाद एक उच्चतर प्रकाश को देखते हुए ऊपर जाना होगा। हम इस तामसिक दशा को छोड राजसिक अवस्थाओ मे गुजरते हुए सत्त्व के प्रकाश मे पहुँचेंगे। इस जड (नास्तिकता) वाद और भोगवाद के अन्धकार से उठ देववाद और यज्ञवाद के विविध प्रकाशो को देखते हुए उस सर्वोच्च प्रकाश मे जा पहुँचेंगे जहाँ एकेश्वरवाद और सर्वोदयवाद का अखण्ड राज्य है। जडता, स्थूलता के पार्थिव अन्धकार से उठकर सूर्य किरणो से प्रकाशित सूक्ष्मतर विस्तृत अन्तरिक्ष की सैर करते हुए उस सूर्य ही को पालेंगे जिसकी कि ज्योतिर्मय किरणो ने अन्य सब लोक प्रकाश पा रहे है। हे प्रभो ! हम पर ऐसी कृपा करो कि हम इस अन्धकारमय प्रकृतिग्रस्त अवस्था से उठकर नाना देवो को दिखलाने वाली अपनी आत्मिक ज्योति को विविध प्रकार से देखते हुए अन्त मे तुम्हारी उस परमात्म-ज्योति को पा लेवें, जिसमे कि तुम सब देवो के देव और सब ब्रह्माण्ड के प्रेरक महान् सूर्य होकर अपने अनन्त अपार अखण्ड प्रकाश मे सदैव जगमगा रहे हो, सदैव देदीप्यमान हो रहे हो।

शब्दार्थ—

(वय) हम (तमस परि) अन्धकार से ऊपर (उत्) ऊँचे उठकर (उत्तरं ज्योति) अधिक उच्च, उच्चतर, प्रकाश को (पश्यन्त.) देखते हुए उस (देवत्रा देव) सब देवो के देव, सब प्रकाशो के प्रकाशक (सूर्य) सर्व प्रेरक, महासूर्य को (उत्तमं ज्योति) उस सबसे उत्तम, उच्चतम ज्योति को (अगन्म) प्राप्त करें। □

दो प्रकार की वायुएं

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।

दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥ ऋ० १० १३७ २

विनय

हे मनुष्य ! तुझ मे दो वायु चल रही है । तुझ मे श्वास और प्रश्वास के रूप मे प्राण की दो तरह की गति हो रही है । श्वास द्वारा बाहर का शुद्ध वायु तेरे अन्दर के सिन्धु, स्यन्दनशील हृदय, तक आता है और प्रश्वास द्वारा अन्दर का दूषित वायु बाहर 'परावत्' तक पहुचता है । हमारे अन्दर हृदय वह 'सिन्धु' स्थान है जहाँ कि सैकडो रुधिरवाहिनी नाडी रूपी नदियाँ आ आकर मिलती है, और बाहर 'परावत्' वह वायुमण्डल नामक स्थान है जो कि वायु का अपार अटूट भण्डार है । एव ये जो परावत् से सिन्धु तक और सिन्धु से परावत् तक दो वायु हम मे निरन्तर चल रही है ये ही हमारे जीवन का आधार है । क्योकि इनमे से पहिली वायु, श्वास, हमारे सिन्धु मे बाहर से प्राण और नवजीवन को लाती है और हमारे रुधिर के एक-एक कण को नव बल मे सयुक्त कर देती है और दूसरी वायु हमारे रुधिर मे से सारे शरीर मे से, सब मल, दोष, विकार को बहा ले जाती है और बाहर परावत् मे फेंक देती है । एव हमारा जीवन बढ रहा है, हम नित्य अधिक अधिक बलवान् और अधिक अधिक नीरोग होते जा रहे है । पर हे मनुष्य ! यह द्विविध प्राणक्रिया केवल तेरे भौतिक जीवन का सिद्धान्त नही है किन्तु तेरे मानसिक और आत्मिक जीवन का रहस्य भी इसी मे है । तू जानता नही है कि सब महामना महापुरुष अपने श्वास द्वारा केवल शारीरिक शक्ति को नही किन्तु उत्साह, धैर्य बल, सत्य, प्रेम आदि सब मानसिक और आत्मिक सद्भावो को अन्दर ले रहे है तथा प्रश्वास द्वारा सब मन्दता, कायरता, अशक्ति झूठ, घृणा आदि सभी असद्भावो को बाहर निकाल रहे है और इसीलिये वे महान् हुए है । प्राण के साथ मन ऐसा जुडा हुआ है कि तू श्वास के साथ जो सोचेगा वह तुझ मे आ बसेगा और जिसे प्रश्वास के साथ ध्यान करेगा वह बाहर निकल जायेगा । जरा अपनी प्रार्थना मे तू इस सिद्धान्त का उपयोग करके देख । जिसे बसाना चाहता है उसे श्वास के साथ चित्रित करके देख और जो अशुभ विचार टलता ही नही है उसे उसके आने पर बार-बार प्रश्वास के साथ बाहर करके देख, तो तुझे निस्सदेह अद्भुत सफलता मिलेगी । एव अपनी व्यायाम मे, प्राणायाम मे और प्रार्थना मे तू इस जगत्व्यापक जीवन-सिद्धान्त का सदा उपयोग कर । तू देख कि तू अपनी इस द्विविध प्राणक्रिया द्वारा अनन्त शक्ति भण्डार से जुडा हुआ है और तू इस भण्डार से अपने प्रत्येक श्वास द्वारा यथेच्छ बल पा सकता है और अपने प्रत्येक प्रश्वास द्वारा उस पवित्रताकारक महापारावार मे अपनी तुच्छ मलिनतायें फैंक कर सदा पवित्र होता रह सकता है । अत हे मनुष्य ! तू उठ और अब अपने प्रत्येक श्वास और प्रश्वास के साथ नित्य उन्नत और नवजीवन-सपन्न होता जा ।

शब्दार्थ—

(इमौ द्वौ) ये दो प्रकार की (वातौ) वायुए (वात.) बहती है, एक वायु (आ सिन्धो) हृदय तक चलती है और दूसरी (आ परावत) बाहर के वायुमण्डल तक चलती है । (अन्य) उनमे एक (ते) तेरे लिये (दक्ष) बल (आवातु) अन्दर बहा लाये और (अन्य.) दूसरा (यद्रप.) जो दोष बुराई है उसे (परावातु) बाहर बहा ले जाये । □

सर्व औषधरूप प्राण

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥

ऋ० १०.१३७ ३.

विनय

हे वायु ! हे प्राण ! तुम सर्व औषध रूप हो, तुम मे सब की सब दवाइया मौजूद है। मैं तो यूँही इन बाहिर की नाना प्रकार की दवाइयो के खाने पीने के चक्कर मे पडा हुआ हूँ। यदि मैं, हे तात ! तुम्हारा ठीक तरह सेवन करूँ, तुम्हारी शक्ति का उपयोग करूँ, तो मुझे कभी किसी दवा की जरूरत न हो। ससार के ९० प्रतिशतक रोगी इसीलिये रोगग्रस्त है चूँकि वे ठीक तरह श्वास लेना नही जानते तथा सर्वौषधमय तुम्हारा लाभ उठाना नही जानते। यदि हम ठीक प्रकार श्वास लेवें तो अन्दर आता हुआ श्वास ही हमारा दिव्य औषधपान होवे और बाहर जाता हुआ प्रश्वास हमारे सब रोग-मल निकालने वाला होता रहे। यह जो कहा जाता है कि देवताओ के वैद्य अश्विनीकुमार है वे और कोई नही है, वे नासत्यौ (नाक से पैदा होने वाले) अश्विनौ ये श्वासप्रश्वास या प्राणापान ही हैं जिन्हे इड़ा, पिंगला, चन्द्रप्राण, सूर्यप्राण आदि अन्य रूपो मे भी देखा जाता है। इस प्राणापान के नियमन द्वारा ससार के सब रोगो की दिव्य और अमोघ चिकित्सा हो जाती है। मैं यूँही बाहर के वैद्यों को खोजता फिरता हूँ, जब कि असली दिव्य वैद्य मेरे अन्दर ही बैठे हुए हैं। सब औषध मेरे अन्दर मौजूद हैं, मैं इन्हे बाहर कहाँ ढूँढता हूँ ?

और हे प्राणो ! तुम तो देवदूत हो; हमारे अन्दर देवदूत होकर चल रहे हो, हमारे अन्दर सब देवों के सन्देशो को लाकर सुनाते हुए सदा चल रहे हो। हम प्राणोपासना से रहित, स्थूलरत लोग बेशक तुम्हारे इन सूक्ष्म देव-सदेशो को न सुनते हो अतएव तुम्हारी दिव्य चिकित्सा से वचित रहते हो, परन्तु जो तुम्हारे उपासक हैं वे तो अपने प्राण मे सूक्ष्म रूप से चलने वाले सब पृथिवी, अप, तेज आदि देवो के सन्देशो को सुनते हैं। शरीर की सब हरकतो व चेष्टाओ के प्रेरक और नियामक वात ! हे प्राण ! शरीर मे दोष उत्पन्न होते ही तुम तो हम मे दिव्य प्रेरणायें करते हो, शरीर को विशेष प्रकार से हिलाने डुलाने व चेष्टा करने की प्रेरणा तथा विशेष प्रकार के भोजन पान आच्छादन की प्रेरणा पैदा करते हो, यदि हम उन्हे सुना करें, तुम द्वारा आये उन देवो के सदेशो को सुन लिया करें और उनके अनुसार आचरण कर लिया करें तो हमारे सब रोगो की चिकित्सा हो जाया करे या बहुत अवस्थाओ मे तो हम रोग के उत्पन्न होने मे ही बच जाया करें। पर हम उन्हे सुनते नही हैं। दूसरी तरफ जो सुनने वाले है वे अपनी नासिकाओं मे चलने वाले तुम्हारे 'स्वरों' को भी सुनते हैं;

शब्दार्थ—

(वात) हे प्राण ! (भेषजं आवाहि) मुझ मे औषध को बहा लाओ और (वात) हे प्राण ! (यद् रप.) मुझ में जो दोष मल है उसे (वि वाहि) मुझ से बाहर बहा ले जाओ। (त्वं) तुम (हि) निश्चय रूप से (विश्वभेषजः) सर्व औषध रूप हो, (देवानां दूत ईयसे) तुम देवताओ के दूत होकर चल रहे हो।

सच्चा पूर्ण आस्तिक ही अहिंसक

उद्गादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्, मो अहं द्विषते रधम्॥
ऋ० १ ५० १३॥

विनय

मनुष्य कभी अहिंसक नही हो सकता है, जव तक कि वह आस्तिक न होये, जव तक कि उसे परमात्मा के परिपूर्ण और अटल न्याय मे विश्वास न होये। दुष्ट पापी अत्याचारी का मैं क्यो न विनाश कर डालूँगा जव कि मैं देखता हूँ इसके सिवाय और कोई इलाज नहीं है। परन्तु आत्म-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इस तरह नही सोच सकता। परमात्म-सूर्य उदय होजाने पर सव दृश्य पलट जाता है। तव दीखता है कि किसी की हिंसा करना उसके वशगत हो जाना है उसके कावू चढ जाना है। शत्रु को अपने कावू करने का एकमात्र उपाय तो उसे अपनाना, उस तक अपनी आत्मा को फैला लेना ही है। आत्मप्रकाश फैल जाने पर ससार मे कोई अनात्म नही रहता, कोई शत्रु या द्वेष नही रहता। देखते क्यो नही, अपने परिपूर्ण तेज और वल के साथ वह "आदित्य" इस विश्व मे उदित हुआ हुआ है, अपनी परिपूर्ण सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के साथ वह अखण्ड राजा इस विश्व का शासन कर रहा है। वह तो अपने उदित होने, जागृत रहने, मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की ठीक ठीक व्यवस्था कर रहा है। उस का सर्वज्ञ तेजस्वी कानून स्वयमेव स्वभावत. सव दण्डनीयो को दण्ड देता हुआ, मव हिंसनीयो का हिंसन करता हुआ निरन्तर चल रहा है। तो फिर महाअज्ञानी और मूर्ख मैं इस ससार मे किसी को मारनेवाला कौन होता हूँ? सचमुच किसी की हिंसा करना ईश्वरीय "कानून को अपने हाथ मे लेना है।" हिंसा करना केवल ईश्वरीय व्यवस्था मे दखल डालना नही है किन्तु उस व्यवस्था (कानून) का अपराधी वनना भी है। इसलिये उसे उदय हुआ देख लेने पर, उसे सव दण्डनीयो का ठीक ठीक निरन्तर दण्डविधान करता हुआ देख लेने पर, मैं तो अव निश्चिन्त और शात हो गया हूँ। मैं अव किसी की हिंसा करने की मूर्खता नही कर सकता। मैं देखता हूँ कि मैं उसके सच्चे शासन मे यदि कुछ सहायता कर सकता हूँ, उस की दुष्टो पापियो अत्याचारियो के इलाज मे कुछ सहायता कर सकता हूँ, तो वह मैं अहिंसा द्वारा, प्रेम द्वारा, अपने आत्मा के विस्तार द्वारा ही कर सकता हूँ। और इस तरह अहिंसा की शरण में पहुँच कर मैं यह भी देखता हूँ कि अव मैं कभी किसी का वशगत, अधीन व गुलाम भी नही वन सकता हूँ। सचमुच किसी का 'रधन', हिंसा करना उसके वशगत होना है।

शब्दार्थ—

देखो, (अयम्) यह (आदित्य.) आदित्य, परम आत्मसूर्य (मह्यं) मेरे लिये (द्विषन्तं) शत्रु को, दुष्ट अत्याचारी शत्रु को (रधयन्) नाश करता हुआ, वशवर्ती करता हुआ (विश्वेन सहसा सह) अपने सम्पूर्ण तेज व वल के साथ (उद् अगात्) उदित हुआ हुआ है, इसलिये (अहम्) मैं (द्विषते) शत्रु की (मो) मत (रधं) हिंसा करूँ, शत्रु के वशवर्ती न होऊँ।

मधु-शास्त्र विद्या की महिमा

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

अथर्व० १ ३४ २ ॥

विनय

मैं माधुर्य-प्राप्ति की साधना मे लगा हूँ । ससार की प्रत्येक वस्तु के सेवन द्वारा मैं अपने मे मधुरता बसाना चाहता हूँ । हे माधुर्य ! तुम मेरे सम्पूर्ण जीवन मे घुल जाओ और मेरे सम्पूर्ण जीवन को माधुर्यमय करदो । मैं वाणी से मीठा ही बोलूँ । मेरी जीभ के अग्रभाग मे मधु हो और मेरे जीभ का मूल और भी अधिक मधुभरा हो । हे मधुमय प्रभो ! माधुर्य को न समझने वाले मनुष्य केवल काम निकालने के लिये भी मधुरता का आश्रय लेते है । अत वे ऊपर के व्यवहार में, दिखावट मे, मधुरता ले आना काफी समझते है । वे जिह्वा मूल मे अन्दर अन्दर द्वेष रखते हुए भी जिह्वाग्र मे प्रेम और माधुर्य ही प्रकट करते है । पर उन्हे मालूम नही कि ऐसे धोखे के माधुर्य से तो कटुता ही लाख दर्जे अच्छी है । ऐसे झूठे माधुर्य से वास्तव मे कोई काम भी सिद्ध नही होता है । वे विचारे माधुर्य की असली अपार शक्ति को, मैत्री के महाव्रत[1] को, नही समझते । अत मेरी वाणी से तो जो प्रेममय मधु झरा करता है वह सदा मेरे वाणी-मूल से, मेरे हृदय से मेरे प्रेमभरे मानमस्रोत से ही आकर झरता है । मेरा एक एक कर्म भी मधुमय पुष्पो को बरसाता है । हे माधुर्य ! तुम मेरी प्रत्येक चेष्टा मे, प्रत्येक हरकत मे, प्रत्येक व्यवहार मे ही केवल समाये हुए न होओ किन्तु मेरी प्रत्येक बुद्धि मे, प्रत्येक विचार मे, प्रत्येक निश्चय मे तुम्हारा वास हो । मेरे अहर्निश का एक एक सकल्प भी मधुमय होवे । हे मधु ! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्त करण मे ऐसे रम जाओ कि मेरा चित्तप्रदेश भी इससे अव्याप्त न रहे अर्थात् मेरी एक एक वासना भी माधुर्य से वासित हो जाय और मैं अपनी स्मृति व स्वप्न मे भी कभी कोई द्वेष, अमैत्री व कटुता का स्वप्न तक न ले सकूँ । हे मेरे प्रेम व आनन्दरूप प्रभो ! मैं तुम्हारे मधुरूप का उपासक हुआ हूँ ।

— ० —

शब्दार्थ—

(मे) मेरी (जिह्वाया अग्रे) जिह्वा के अग्रभाग मे (मधु) मिठास होवे, और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल मे (मधूलकम्) और भी अधिक मिठास, मिठास का झरना होवे । हे मधु ! तू (इत् अह) अवश्य ही (मम) मेरे (क्रतौ) प्रत्येक कर्म मे, प्रत्येक बुद्धि मे (असः) विद्यमान रह और तू (मम) मेरे (चित्त) अन्त करण के चित्त प्रदेश तक (उपायसि) पहुँच जा, व्याप्त होजा ।

1—'मैत्र्यादिषु बलानि' यो ३-२३

वरेण्य धन की प्राप्ति अच्छी

यन्मन्यसे वरेण्यं इन्द्र द्युक्षं तदाभर ।
विद्याम तस्य ते वयं अकूपारस्य दावने ॥

ऋ० ५ ३६ २ ॥

विनय

संसार मे मनुष्यो के पास अन्नभण्डार, पशु, पुत्र, यान, सामान, मुद्राये (रुपया पैसा), प्रतिष्ठा, प्रभाव, साख आदि नाना प्रकार के ऐश्वर्य होते है और यह भी ठीक है कि इस धन ऐश्वर्य द्वारा ससार के बडे काम चल रहे हैं, सुख भोगे और भुगाये जा रहे हैं । पर ऐसे लोग भी बहुत है जिनके पास का यह धन उन्हे सुखी और अच्छा बनाने की जगह उन्हे दुखी और अवनत कर रहा है । धन के कारण उनके शरीर मन और आत्मा निर्बल होते जा रहे है । ऐसे भी है जिनका धन उनके ही नही किन्तु अन्यो के भी विनाश का कारण हो रहा है । ऐसे धन को पाकर हम क्या करेंगे ? यह वरेण्य धन नही है । इसका तो न होना अच्छा है । एव कइयो का धन इतना निस्तेज होता है कि यदि वह उन्हे हानि नही पहुँचाता है तो कम से कम उन्हे लाभ भी नही पहुँचाता । उनके धन मे शक्ति नही होती, वह उनके उपयोग मे नही आता या नही आ सकता । वह ऐसा ही है जैसा कि उतना ही मट्टी का ढेर । इस धन को भी प्राप्त करके हम क्या करेंगे? अत हमे तो अपने वरेण्य और द्युतिवाले धन का ही दान करो ।

पर इस जटिल संसार मे इस सच्चे धन का पता पाना हमारे लिये लगभग असभव है । परिमित ज्ञानवाला मनुष्य इसे कहा तक जान सकता है कि यह धन कैसा है । इसीलिये हे परमेश्वर ! तुम्ही कुछ ऐसा करो कि हमारे पास वरनेयोग्य और तेजस्वी धन का ही आगम हो । तेरी समझ ही निर्भ्रान्त है, पक्की है । अत हम तो कहते है कि तू जिसे सच्चा धन समझता है उसे ही हमारे पास आने दे । जो धन वरणीय नही है, जो तेजोरहित है उस कुत्सित धन से हम अपने को भरना नही चाहते । ऐसा धन चाहे कितनी मात्रा मे हमारे सामने आये, चाहे कितने प्रलोभक सुन्दर रूप मे हमारे सामने आये, उसे हम कभी पाना नही चाहते है । उससे हम बचना चाहते है । ऐसा कुत्सित धन हमारे पास न जमा हो । अत तुमही ऐसा करो कि हमारे पास वही धन खिच कर आये, वही धन सचित होये जो कि वरनेयोग्य है जिससे हमारी वास्तविक शरीर मन आत्मा की उन्नति हो, जिससे सब लोगो का कल्याण हो और वह धन आये जो कि कभी निस्तेज, निरर्थक और भार रूप न हो । हे परमैश्वर्यवाले ! तुझ द्वारा हम सदा ऐसे ही धन को प्राप्त करना चाहते है ।

शब्दार्थ—

(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**यत्**) जिसे तू (**वरेण्य**) वरने योग्य (**द्युक्षं**) और तेजोयुक्त ऐश्वर्य (**मन्यसे**) मानता है (**तद्**) उसे (**आभर**) हमारे लिये ला, जिससे कि (**वयं**) हम (**ते**) तेरे (**तस्य**) उस (**अकूपारस्य**) अकुत्सितपूरण, जिससे अपने को भरना कुत्सित न होये ऐसे (**दावने**) दान को (**विद्याम**) प्राप्त कर सकें ।

कल्याणकारी ऐश्वर्यप्रवाह

ये नदीनां संस्रवन्ति उत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं संस्रावयामसि ॥
अ० १ १५.३ ॥

विनय

सदा बहने वाली नदियो को देखो। ये अक्षीण स्रोतो से निकलती हैं अतः इनका बहना कभी बन्द नही होता। स्रोतो से सदा निरन्तर नया नया जल निकलता आता है और ये नदिया निरन्तर अप्रतिरुद्ध गति से बहती चली जा रही हैं। नदी के प्रत्येक स्थान पर प्रतिक्षण नया नया जल आता जाता है और वहा का पहला पहला जल आगे बढ़ता जाता है। इसी तरह मनुष्य ससार मे धन का प्रवाह भी निरन्तर बह रहा है। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास धन पहुँच रहा है। कोई धनराशि किसी से किसी के पास और कोई किसी दूसरे से किसी और के पास जा रही है। एव हमारे मनुष्यसमाज मे नानाप्रकार से धन की धारायें बह रही हैं। जैसे नदी प्रवाह को रोक लेने से रुका हुआ पानी सड़ने लगता है और नाना रोगो को पैदा करता है, वैसे ही जिस मनुष्यसमाज मे लोभी लालची, अपना ही पेट भरने वाले या कंजूस लोग धन के प्रवाह को अपने यहां रोक रखते हैं तो उस समाज मे धनवैषम्य के कारण नाना सामाजिक रोग और उपद्रव प्रकट होते हैं—जमीदारो और किसानों, स्वामी और श्रमियो, अमीर और गरीबो के झगड़े खड़े होते हैं, और हड़ताल अत्याचार व क्रान्तियां जन्म पाती हैं। सारा राष्ट्रीय शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है। इसलिये हे प्रभो ! मैं तो नदी के प्रवाह की तरह अपने पास आये धन को आगे आगे प्रवाहित करता जाता हूँ। उसे अपने पास रोकने की मूर्खता नही करता। सब तरफ से आये धनो को रुपये पैसे से लेकर आत्मिक ऐश्वर्यों तक के सब प्रकार के धनो को सब तरफ आगे आगे प्रवाहित करता जाता हूँ। हे नाथ ! सब धन तेरा है। मैं तो केवल तुझ से आते हुए ऐश्वर्यप्रवाह को लेने वाला और इसे आगे पहुँचाने वाला हूँ। क्षण भर जो मेरे पास हरेक नये धन के रूप मे ताजा जल पहुँचता है उससे ही मुझे तो मेरी पूर्ण पुष्टि मिलती जाती है। यही धनो का उपभोग है। धन को रोक रखने से तो यह हमें पुष्टि नहीं देता किन्तु बिगड कर सड़ कर हमारे साथ सारे समाज को हानि पहुँचाता है। अत हे नाथ ! मैं तो तेरे प्रत्येक ऐश्वर्य को ताज़ा ताज़ा उपभोग कर उसे आगे आगे चलाता जाता हूँ, जिससे कि मुझे तुझ अक्षीण स्रोत से अगला अगला नित्य नया ऐश्वर्य-जल मिलता रहे, और यह प्रवाह मुझे सर्व प्रकार विकसित और पुष्ट करता हुआ मुझ द्वारा आगे आगे भी बहता ही, बहता ही जाये।

शब्दार्थ—

(ये) जो (सदं अक्षिताः) सदा चलते रहने वाले, कभी बन्द न होने वाले (नदीनां उत्सासः) नदियों के स्रोत (संस्रवन्ति) निरन्तर बहते हैं (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन्हीं अपने सब प्रवाहो के साथ (धनं) मैं अपने धन को (संस्रावयामसि) लगातार प्रवाहित करता जाता हूँ।

विविध पताकाएं

गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव येमिरे ।।

ऋ० १-१०.१ ।।

विनय

हे भगवान् ! जिसने जिस रूप मे तुम्हारी महिमा को अनुभव किया होता है वह उसी रूप मे तुम्हारा वर्णन करता है और उसी रूप मे तुम्हे देखता है। तुम तो शतक्रतु हो, तुम्हारा अनन्त ज्ञान, कर्म और गुण ससार मे सैंकडो प्रकार से प्रकट हो रहा है, अनुभूत हो रहा है। अत प्रत्येक मनुष्य तेरा भजन अपने अपने अनुभव के अनुसार भिन्न भिन्न तरीके से कर रहा है। भिन्न भिन्न तरह से तुझे अनुभव कर भिन्न भिन्न प्रकार से ही सब कोई तुझसे मिलने का—तेरी तरफ पहुँचने का—यत्न कर रहा है। कोई गा गा कर तुझसे अपनी समीपता अनुभव करना चाहता है, तो कोई इसके लिये स्तुति पाठ करता है, या ध्यान करता है। यह सब हे शतक्रतो ! अपने अपने तरीके से तेरी ही अनुभूति का प्रकाशन करना है, अपने अपने तरीके मे तेरे ही झण्डे को ऊँचा करना है। अरे, ये नाना मतमतान्तर वाले, ये नाना तरह से उपासना करने वाले इन सब तरीको मे तेरी ही महिमा को, तेरे ही प्रचार को क्यों नही अनुभव करते? ओह, तू तो इन सब मे है। सचमुच, मुग्ध करनेवाले साम के दिव्य गायनो मे तू है, गन्धर्वों की वाणी मे तू है, और मस्ती से गायी जाती हुई भक्त की सुरीली तानो मे तू है। उपासक के अनवरत जप मे तू है, सच्चे व्याख्याता के व्याख्यान मे तू है, और अडोल आसन लगाकर बैठे योगी के एकतान ध्यान मे तू है। सब मन्त्रो मे, सब सन्तो की वाणी में, सब पकार के भजनो मे तू है। क्योकि इन सभी साधनो से तेरा ही भक्तवंश बढता है, जगत् मे तेरी भक्ति का प्रसार होता है। ये सब भजन साधन और कुछ नही हैं ये सब नाना प्रकार से उठाये गये तेरी महिमा के रगबिरगे झण्डे हैं। अहा ! देखने योग्य दृश्य है, ससार के सब ज्ञानी पुरुष तेरे सम्मान के लिये तेरी महिमा को ऊँचा करने के लिये इन अपनी विविधि प्रकार की भजनरूपी तरह तरह की ध्वजाओ को ऊँचे उठाये हुए चल रहे हैं, सभी ज्ञानी पुरुष तेरे सम्मान मे अपने अपने ध्वजादण्ड उठाये चले जा रहे है। आहा, यह क्या ही दर्शनीय दृश्य है।

शब्दार्थ—

(गायत्रिण॰) साम गान करने वाले **(त्वा)** तेरे ही **(गायन्ति)** गीत गाते है **(अर्किण)** मंत्र ऋचाओ से स्तुति करनेवाले **(अर्कं)** तुझ देव का ही **(अर्चन्ति)** पूजन करते हैं, **(ब्रह्माण.)** एव सब ज्ञानी लोग **(शतक्रतो)** हे असख्य प्रकार की प्रज्ञा व कर्मों वाले। **(त्वा)** तुझे ही, तेरी महिमा को ही **(वंश इव)** ध्वजादण्ड की तरह **(उद्येमिरे)** ऊँचा उठाते हैं।



श्रद्धा की महती महिमा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।।

ऋ० १०.१५१ १।।

विनय

संसार की कोई भी अग्नि श्रद्धा के विना प्रदीप्त नही होती और कोई भी त्याग, कोई भी वलिदान, श्रद्धा के विना किया नही जा सकता। किसी भी प्रकार की सफलता पाने के लिये त्याग करना और अग्नि प्रदीप्त करना आवश्यक होते है, हम किसी भी दिशा मे उन्नति करना चाहे हमे सदा एक तो आत्मवलिदान के लिये तैयार होना चाहिये और दूसरे यह वलिदान जिस उच्च ध्येय के लिये करना होता है उस ध्येय की पवित्र अग्नि हममे धधक रही होनी चाहिये। पर यह दोनो ही कार्य—अग्निदीपन और आत्म-वलिदान—विना श्रद्धा के कभी नही बन सकते। अत संसार के सब धीर पुरुष राष्ट्राग्नि, संग्रामाग्नि, धर्माग्नि, ज्ञानाग्नि, आत्माग्नि आदि नाना अग्नियो को किसी उच्च भावना से प्रेरित होकर अपने अटूट विश्वास द्वारा नित्य प्रदीप्त कर रहे है और उसमे अटल श्रद्धा से अपना सर्वस्व तक स्वाहा करते हुए अग्रसर हो रहे हैं। क्या तुम समझते हो कि वह यज्ञवेदि की भौतिक स्थूल अग्नि भी विना श्रद्धा के ही समिद्ध होती है? अग्निहोत्र का रहस्य जानने वाले तो देखते है कि भक्त अग्निहोत्री लोग जो अग्नि प्रदीप्त करते हैं वे अपनी अन्दर की श्रद्धा को ही उस अग्नि मे प्रदीप्त करते है। वाहर की अग्नि जलाना निरर्थक है, उससे कोई अग्निहोत्र का फल नही मिल सकता, जब तक कि अन्दर की श्रद्धाग्नि न जल रही हो। वास्तव मे कोई भी यज्ञ, कोई भी अग्निदीपन और आत्मत्याग, कोई भी उन्नतिकारक कार्य विना श्रद्धा के नही चल सकता। इसीलिये हम चिल्लाते है, 'श्रद्धा को अपनाओ, श्रद्धामय पुरुष वनो'। हे मनुष्यो! अपना एक भी काम श्रद्धारहित होकर मत करो। श्रद्धा के विना कभी कुछ सध नही सकता। तुम्हारे सब कर्तव्यो की सफलता, तुम्हारे धर्म के सब शास्त्रोक्त विधि निषेध श्रद्धा पर ही अवलम्बित हैं। हम तो वेदवाणी का नाम लेकर घोषित करते हैं, अपनी वाणी से पुकारते हैं, अनुभव करते हुए सब भाइयो से निवेदन करते है कि भजनीय धर्म-शरीर का मूर्धा श्रद्धा है। श्रद्धा विना सब धर्म निर्जीव है। हे भाइयो! सब करना धरना वेकार है, सब जीवन मृतक समान है, जब तक कि उसमे श्रद्धा का प्राण मौजूद नही है।

शब्दार्थ—

(श्रद्धया) श्रद्धा से (अग्नि) अग्नि (समिध्यते) प्रदीप्त होती है और (श्रद्धया) श्रद्धा से ही (हवि हूयते) हवि दी जाती है, आत्मवलिदान किया जाता है। (भगस्य) सब भजनीय वस्तु के, भागधेय धर्म के, ऐश्वर्य के (मूर्धनि) मूर्धा स्थान मे (श्रद्धा) श्रद्धा को हम लोग (वचसा) वाणी द्वारा, वेदवाणी द्वारा (वेदयामसि) घोषित करते है, प्रकट करते है।

सत्पात्र में दान की महती महिमा

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समावह ॥
अथर्व० ३ २४ ५॥

विनय

हे दो हाथो वाले मनुष्य ! तू सौ हाथो वाला होकर धन सग्रह कर, सौ गुनी शक्ति से धन धान्यादि ऐश्वर्यों को इकट्ठा कर । परतु इस उपार्जन किये हुए अपने धन को हज़ार हाथो वाला होकर सत्पात्र मे दान कर दे । धन सग्रह करने के लिये यदि तू सौ हाथो वाला हुआ है तो धन को दूर दूर बाँट देने के लिये, दान कर देने के लिये, तू हज़ार हाथो वाला हो जा । इससे नि सन्देह तेरी बढती होगी, तेरी उन्नति होगी, तेरा बड़ा भारी कल्याण होगा । तू अपनी "कृत" और "कार्य" कमाई को देख । तूने जो कमाया है वह तो कमाया ही है, वह तेरी "कृत" कमाई है, परन्तु जो तूने हजार हाथो से दूर दूर अपने दान को फैलाया है वह भी तेरी कमाई है । वह तेरी कमाई "कार्य" है, वह भविष्य मे अपना फल दिखलायेगी । वास्तव मे, जैसे समाहृत किये धान्य को सत्क्षेत्र मे (जोते हुए खेत मे) सकिरण कर देने से (बिखेर देने से) उसका एक एक दाना हज़ारो दानो को देने वाले पौधे के रूप मे पुष्पित और फलित हो जाता है, उसी तरह किसी यज्ञिय कार्य मे दिया हुआ धन, सत्पात्र मे दिया हुआ दान, अनन्त गुणा होकर फलित हुआ करता है । इस तरह हे मनुष्य ! तू देख कि तू कितनी बडी भारी फसल का स्वामी हो जाता है, तू कितनी बडी भारी "स्फाति" को प्राप्त हो जाता है ? यह बढती 'शतहस्त से लेने और सहस्रहस्त मे देने' के सिद्धान्त का फल है । हे मनुष्य ! तू इस सिद्धान्त का पालन करता हुआ अपनी इस बढती को सदा ठीक प्रकार से प्राप्त करता रह ।

शब्दार्थ—

(शतहस्त) हे सौ हाथो वाले मनुष्य ! (समाहर) तू इकट्ठा कर और (सहस्रहस्त) हे हज़ार हाथो वाले ! (सकिर) तू दान कर, बिखेर । इस तरह (कृतस्य) अपने किये हुए की (कार्यस्य च) और किये जाने वाले की (स्फाति) बढती को, फसल को (इह) तू इस ससार मे (समावह) ठीक प्रकार से प्राप्त कर ।



पतित-दलितोद्धार, महान् कर्त्तव्य

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥

ऋ० १०.१३७.१। अ० ४.१३.१।

विनय

हे देवो ! तुम्हारे इस ससार मे कोई भी मनुष्य सदा के लिए नही पतित हो जाता, कोई मनुष्य सदा के लिये मर भी नही जाता। पतित से पतित मनुष्य इस ससार में फिर जब चाहे तब उन्नत हो सकता है । मरे हुए मनुष्य को भी, हे देवो ! तुम फिर जिला देते हो, पापी से पापी पुरुष भी तुम्हारा सहारा पा कर फिर पूरा पुण्यात्मा हो जाता है । प्राय- पतित होकर हम लोग निराश हो जाया करते हैं, समझने लगते हैं कि अब तो हमारा उद्धार किसी तरह नही हो सकता। परन्तु हे देवो ! तुम तो देव हो। तुम बडे भारी ज्ञान प्रकाश और शक्ति से युक्त हो। तुम्हारे रहते हम कैसे फिर उन्नत न हो सकेंगे ? हे परोपकार के लिये ही जीवन धारण करने वाले श्रेष्ठ जनो ! हे पतितो को उठाने वाले महात्माजनो ! हे करुणापरायण मेरे गुरुजनो ! तुम देव हो। तुम्हारी कृपा मे बडी अद्भुत शक्ति है। तुमने न जाने कितने पतितों को उबारा है, न जाने कितने डूबतो को बचाया है, प्राण निकलते निकलते आ बचाया है, जघन्य पापियो को अन्तिम क्षण मे पुण्य-जीवन की तरफ फेर लिया है। मर कर तो सभी जीव पुनर्जन्म पाते है। किन्तु असल मे मरना तो पापी होना ही है, यदि अमर आत्मा किसी तरह मरता है तो वह पाप अपराध करने से ही मरता है; परन्तु हे देवो ! तुम इस अत्यन्त विकट आत्मिक मौत से भी उबार लेने वाले हो, फिर पुण्य जीवन का सचार कर देने वाले हो। तो हम तुम्हारे होते, क्यो कभी निराश होवें ? हतोत्साह हो कर क्यो हाथ पैर मारने छोड देवें ? क्यो न तुम्हारी जीवन-दायी शरण का आश्रय लेवें ? हे देवो ! हमे पूरा पूरा विश्वास है कि तुम शरण पडे हम पतितो को अवश्य ही ऊपर उठा लोगे, हम मरे हुओ को अवश्य ही फिर जीवित कर दोगे।

शब्दार्थ—

(देवाः) हे देवो ! (देवा·) तुम देव (अवहित) नीचे पडे हुए, पतित को (उत) भी (पुन) फिर (उन्नयथा) उन्नत कर देते हो, उठा लेते हो और (देवा·) देवो ! (देवा·) तुम देव (आग चक्रुष) पाप करने वाले को, पापी को (उत) भी (पुन.) फिर (जीवयथा·) जिन्दा कर देते हो, जीवन दे देते हो। 

सब प्रकार के पापों का त्याग

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैः व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ।।

अथर्व० ३।३१ ३।।

विनय

मैं पवित्रात्मा सब प्रकार के पाप से सर्वथा वियुक्त हूँ, मैं निष्पाप होकर सब प्रकार के रोग से जुदा हूँ, एव निष्पाप और नीरोग होकर मैं सदा आयु और प्राण से संयुक्त हूँ । क्या कभी ग्राम्य पशु और जंगली पशु एक साथ रह सकते हैं ? अरे, वे तो एक दूसरे को देखकर विरुद्ध दिशा मे भागते हैं । तो फिर मेरे सामने कोई पाप कैसे ठहर सकता है ? और क्या कभी पानी को भी प्यास लग सकती है ? तो फिर, मेरे पास पाप कैसे फटक सकता है ? ओह नही, मुझ विशुद्धात्मा मे पाप का स्पर्श तक नही हो सकता । और मुझ निष्पाप पर रोग की छाया तक नही पड सकती । हे मेरे निर्लेप विशुद्ध आत्मन् ! मैं तो सदा तेरे प्राण और जीवन से सम्पन्न हूँ, और इस प्राण और जीवन से सदा सम्पन्न रहूँगा ।

शब्दार्थ—

(ग्राम्याः पशवः) ग्राम्य पशु **(आरण्यैः)** जंगली पशुओ से **(वि असरन्)** विरुद्ध दिशा मे जाते हैं, **(आप)** पानी **(तृष्णया)** प्यास से **(वि)** वियुक्त होते हैं। इसी तरह **(अहम्)** मैं **(सर्वेण पाप्मना)** सब प्रकार के पाप से **(वि)** वियुक्त हूँ, **(यक्ष्मेण)** रोग से **(वि)** वियुक्त हूँ, और **(आयुषा)** आयु, प्राण, जीवन से सदा **(सं)** सयुक्त हूँ ।

अधर्म का समूल नाश

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ॥

अ० ४.१९.६

विनय

क्या तुम समझते हो कि संसार मे 'असत्' की, पाप की ही विजय हो रही है? सच यह है कि प्रभु अपने इस ससार मे बेशक कुछ देर के लिये पाप को बढने, पकने देते हैं परन्तु समय आने पर उसका विनाश तो अवश्यभावी होता है। बुराई का वृक्ष बेशक खूब फलता फूलता है, पर वह फिर जडसहित उखड जाता है। भूमि से उठकर पाप कभी कभी सारे अन्तरिक्ष मे फैल जाता है और इतना बढता है कि वह द्युलोक के प्रकाश को भी ढक लेता है। तब मनुष्य हाहाकार मचाने लगते हैं। पर अगले ही क्षण वह छिन्न भिन्न होने लगता है और लौटता हुआ अपने उठाने वाले के लिये दु:ख की प्रतिक्रिया लाकर सब का सब वही विलीन हो जाता है। सब अधर्म भूमि से उठता है, अधकार अज्ञान तथा स्थूलता से उत्पन्न होता है। वह अपनी स्थूलशक्ति, पशुशक्ति को बढाता हुआ सब तरफ फैलता है। अपने इस स्थूल बल द्वारा वह पाप के विरुद्ध उभडने वाले सब लोगो को दबा देता है। उसके इस दामक स्वभाव के कारण धीरे धीरे ससार भर मे सब कही उस की ही दुदुभि बजने लगती है, उसी का सिक्का चलने लगता है। ससार के बडे बडे दिव्य पुरुषो का, बडे ईश्वरपरायण महात्माओ का दिव्य तेज भी उसके अंधकार के सामने ढक सा जाता है। तब सब भयभीत साधारण लोग बिना चूं चरा किये उसके अधेर राज्य को चलाते जाने मे ही अपना हित व स्वार्थ देखते हैं, यद्यपि उस अधेरे मे वे बडे बेचैन होते जाते और उन की वह घबराहट बढती ही जाती है। उस समय ईश्वरीय नियम की अटलता को देखने वाले विरले ही होते हैं जो घबराते नही हैं, जो कि प्रसन्न होते हैं कि पाप जितना अधिक ने अधिक बढ सकता है वह बढ चुका है और अब उसके विनाशकाल का प्रभात होने वाला है। उस ऊंचाई से, अधर्म के खोखले आधार पर खडा किया वह सब पाप का ठाठ तो गिरता ही है, अपने बोझ से स्वयमेव गिरता ही है पर वह अपने कर्त्ता को, अपने खडे करने वाले को सताप पहुँचाता हुआ गिरता है। वह लौट-कर उसी पर गिरता है और उसको साथ लेकर भूमिसात् हो जाता है।

हे मनुष्यो ! इस ससार मे विजय तो सत् की, पुण्य की ही हो रही है।

शब्दार्थ—

(असत्) पाप, अधर्म (भूम्या.) भूमि से (समभवत्) उत्पन्न होता है और (तत्) वह (महत् व्यच) बडे भारी रूप मे, अन्तरिक्ष मे] फैल कर (द्यां) द्युलोक तक (एति) चढ जाता है। किन्तु (तत.) वहाँ से, उतना बढ कर भी (तत्) वह (वै) नि.सदेह (विधूपायत्) कर्त्ता को सन्ताप देता हुआ (प्रत्यक्) उसके प्रति उलटा लौटकर (कर्त्तारं) उस कर्त्ता [पाप कर्त्ता] पर ही (ऋच्छतु) आ पडता है।

हिंसक अपने लिये ही अकल्याणकारी किन्तु हमारे लिये कल्याणकारी

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्
चकार भद्रमस्मभ्यम्, आत्मनं तपनं तु सः ॥

अ० ४.१८.६.

विनय

जब कोई निर्बल अशक्त पुरुष क्रोध के आवेश मे आ कर किसी बलवान् की हिंसा करने के लिये झुंझलाकर उठता है तो वह प्राय: अपने ही हाथ पैरो को तोड लिया करता है। वह उस बलवान् का कुछ नही बिगाड पाता। उतावलेपन का बिना सोचे विचारे उत्तेजित होकर कुछ न कुछ कर डालने का यही परिणाम हुआ करता है। पर असल मे सदैव निर्बल पुरुष ही हिंसा करता है। और सदैव ही हिंसा द्वारा हम जो कुछ करना चाहते हैं उसे करने मे अशक्त रहते हैं। क्योकि हिंसा द्वारा हम कभी किसी का विनाश नही कर सकते, कुछ देर के लिये उसे सता सकते हैं, उसके कार्य को रोके भी रख सकते हैं, पर इस सब से तो वह हिंस्यमान पुरुष और भी फलता फूलता है, बढता है। और सदैव हिंसा द्वारा अपनी ही हानि होती है। ज़रा उच्च दृष्टि से देखें तो यह भी दीखेगा कि किसी अपने मनुष्य भाई की हिंसा करने मे हम असल में अपने ही अंग अवयव को, अपने ही हाथ पैर को तोडते हैं। हिंसा करने से जो अपने को जलाना और अपने आत्मा की कमज़ोरी होती है वह तो होनी ही है। इसलिये ज्ञानी पुरुष सदा अपनी हिंसा करने वाले पर तरस ही खाते हैं। जब उन्हें कोई लाठी मारता है तो उन्हे अपने शरीर की कुछ परवाह नही होती, किन्तु उन्हे फिकर यह होती है कि मारने वाले के कोमल हाथो मे तो कही लाठी चलाने से कुछ पीडा नही पहुँची है। वास्तव मे हमारी हिंसा द्वारा हमारा तो सदा भला ही होता है, इससे हमारी सहनशक्ति बढती है और हमारी तपस्या होती है और यदि हमारा शरीर भी इस से छूट जाता है तो हमारा एक पवित्र यज्ञ पूरा हो जाता है और इस से बडी आत्म-शक्ति बढती है। एव हमारा तो सब तरह भला ही भला होता है, पर तपना तो उस बिचारे हिंसक को पडता है। पहिले वह अपनी क्रोधाग्नि मे तपता है और पीछे उसे अपने हिंसापाप के प्रतिफल मे आये दु ख की अग्नि मे तपना पडता है।

शब्दार्थ—

(**य**) जो (**चकार**) हिंसा करता है, (**कर्त्तु न शशाक**) वह कर नहीं सकता, करने मे अशक्त रहता है वह (**पादं अंगुरिं**) अपने पैर अगुलि को, अपने ही अग अवयव को (**शश्रे**) तोड़ लेता है, हिंसित करता है। हमारी हिंसा करने वाला (**अस्मभ्य**) हमारा तो (**भद्रं**) सदा भला ही (**चकार**) करता है, (**तु**) किन्तु (**सः**) वह (**आत्मने**) अपना (**तपन**) तपाना करता है, अपने को तपाता है।

सब यज्ञों का महान् तत्त्व विश्वतोधार होना

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥

ऋ० ४.१४.४। यजु० १७.६८॥

विनय

हमारे सब यज्ञ 'विश्वतोधार' होने चाहियें। पर प्राय: हमारे यह एकतोधार होते हैं। इसका यह है कि हम दूर तक देखकर, सब ससार को दृष्टि मे रखकर लोकोपकार नही करते। अत: हमारे ये यज्ञकार्य परिमित, अदूरगामी और एक पक्षीय होते हैं। हम केवल एक अपने समाज, एक अपने कुटुंब, केवल एक संस्था या केवल एक अपने देश व राष्ट्र के हित के लिये अपने उपकार कार्य करते हैं और उनके लिये बड़े बडे स्वार्थ-त्याग तक करते हैं। पर यह नही ध्यान रखते कि वह संस्थाहित, देशहित व राष्ट्रहित ससार के हित के भी अविरुद्ध होना चाहिये। विश्वतोधार यज्ञ वह है जो कि 'सर्वभूत हित'[1] के लिये होता है, जो सम्पूर्ण विश्व के भले के लिये प्राणीमात्र के हित की दृष्टि से होता है, अथवा यूँ कहे कि जो परमात्मा के प्रीत्यर्थ होता है। वही यज्ञ पूरी तरह फैला, वितत होता है, व्यापक होता है। वही यज्ञ "विष्णु"[2] कहाता है। पर यज्ञ के इस 'विष्णु' 'विश्वतोधार' रूप को ससार मे कुछ उत्तमज्ञानी लोग ही समझते हैं और ये विरले ही उसे वितत करते हैं। अत ये 'सुविद्वान्' तो शीघ्र ही पृथिवी और अन्तरिक्ष के स्थूल और मानसिक लोको को लांघ कर आत्मा के सुखमय और प्रकाशमय लोक मे चढ जाते हैं, आसानी से पहुँच जाते है। वे फिर उस आत्मिक सुख की तरफ जाते हुए, उसका आनन्द लेते हुए दुनिया की किसी भी अन्य वस्तु की परवाह नही करते। 'विश्वतोधार' यज्ञ करने वालो को यह 'स्व:' का एक ऐसा दृढ अवलबन मिल जाता है कि वे फिर संसार के अन्य किसी भी सहारे की तनिक भी अपेक्षा नही करते। चाहे उनके साथी उनसे छिन जायें, उनका प्रभुत्व नष्ट हो जाय, उनकी सब प्रतिष्ठा जाती रहे पर वे इन सहारो के रखने के लिये भी कभी अपने यज्ञ को थोड़ी देर के लिये भी छोटा, अव्यापक नही करते। वे अपनी दृष्टि को कभी नीची या सकुचित नही करते। ऊपर चढते जाते हुए नीचे की इन क्षुद्र चीजो पर कभी उनकी दृष्टि ही नही पड़ती। यही रहस्य है जिससे कि वे ऊपर ऊपर ही जाते है और शीघ्र सुखमय प्रकाशमय द्युलोक मे जा पहुँचते हैं।

शब्दार्थ—

(ये) जो (सुविद्वांस:) उत्तम ज्ञानी महापुरुष (विश्वतोधारं यज्ञं) विश्वतोधार यज्ञ को, सब को सब तरफ से धारण करने वाले यज्ञ को (वितेनिरे) विस्तृत करते हैं वे (स्व: यन्त:) आनन्दमय स्थिति को जाते हुए (न अपेक्षन्त) किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते या नीचे नही देखते, (रोदसी) वे द्यावापृथिवी को लांघ (द्यां) द्युलोक में (आरोहन्ति) चढ जाते हैं।

---

१. गीता ५-२५, १२-४। २. यज्ञो वै विष्णु शत. १-१।६।६ शत, १।१।२।१३

अमृत-प्राप्ति

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

ऋ० ७ ५६ १२॥

विनय : स्वाभाविक और उचित मृत्यु वह होती है जिस मे शरीर इस तरह सहज में छुट जाता है जैसे कि पका हुआ फल डाल से टूट पडता है। हम चाहते हैं कि हमारी ऐसी ही मृत्यु हो। पूरा पका हुआ फल अपनी अधिक से अधिक पुष्टि को जो उसे उस वृक्ष से मिल सकती है पा चुका होता है और पकने पर उसमे एक मनोहर सुगंध आ जाती है। तव उस को वृक्ष से जबरदस्ती नही जुदा करना होता, वह स्वयमेव आराम से जुदा हो जाता है। हम चाहते हैं कि हमारी इस ससार से जुदाई—हमारी मृत्यु—इसी तरह आराम से स्वाभाविकतया हो। इस प्रयोजन के लिये हे भगवन्! हम तुम्हारा यजन करते हैं। तुम्हारा यजन करने से हम इस ससारवृक्ष पर स्वाभाविकतया पकते जायेंगे। 'सुन्दर गन्ध दाता' और 'पुष्टि के वढाने वाले' के रूप मे, हे प्रभो! हम तुम्हारी उपासना करते हैं। तुम्हारी उपासना से जहाँ हम धीरे धीरे परिपक्व हो जायेंगे, हममे पूरी पुष्टि आजायगी, वहाँ हममें परिपक्वता की सुगन्ध व सुन्दरता भी आजायेगी। ओह, इस पकी अवस्था मे शरीर को छोडना, ससार को छोडना, भयकर व दु खदायी होने की जगह कैसा स्वाभाविक और शान्तिदायक होगा? लोग मृत्यु से यूँ ही डरते हैं। हे मृत्यु के भी स्वामी देव! ऐसे लोग तुम से भी डरते हैं, तुम्हारे रुद्ररूप से घवराते है। पर हे रुद्र! तुम तो त्र्यवक हो, तीनो लोको की आँख हो, तीनों अवस्थाओ के—उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के—अधिद्रष्टा हो। नही, यूँ कहना चाहिये कि तुम तीनो लोको की तीनो कालो मे अम्बा हो, माता हो। तुम उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करनेवाली हमारी माता हो। जो तुम्हारे केवल प्रलय व महार रूप को ही देखते है वे ही तुम से, तुम्हारी मृत्यु से घवराते है। वे तुम्हारे पुष्टिवर्धक सुन्दर रूप को नही देखते, अतएव वे तुम्हारा यजन कर तुम से रस पाकर अपनी परिपक्वता नही कर पाते। उन्हें जवरदस्ती ससार से छुटने मे—मृत्यु मे—वडा क्लेश होता है। हे अम्बक! तुम इसीलिये तो सहार करती हुई भी हमारी माता हो। तुम जव इहलोक रूपी अपनी दायी गोद से (मृत्यु द्वारा) हमे उठाती हो तो हम बच्चे बेशक रोने लगते हैं कि वस हम गये, हम मरे, पर तव हम नही जानते होते कि तुम तुरन्त ही परलोक की अपनी दूसरी गोदी मे वैठाने के लिये ही पहिली गोद से हमे उठाती हो। हम तुम्हारे नादान बच्चे तुम्हारी अमृतमय गोदों को भी नहीं पहिचानते। पर हे मात! तुम अव हमे ऐसा परिपक्व और सुगन्धियुक्त करदो कि हम मरते हुए भी तुम्हारी इन अमृतमय गोदो से कभी जुदा न होयें। अव मृत्युभय से तो अवश्य हमारा छुटकारा करो, पर अपनी अमृतगोद से हमे कभी विछुडने न दो। हे मा, अपनी अमृतमय गोद से हमें कभी विछुडने न दो।

शब्दार्थ—(सुगन्धि) सुष्ठु गन्ध व सौन्दर्य वाले और (पुष्टिवर्धन) पुष्टि वढानेवाले (त्र्यम्बक) त्र्यम्बक देव का, ससार के तीनों लोको के अधिद्रष्टारूप माता का (यजामहे) हम यजन करते है। (बन्धनात् उर्वारुकमिव) जैसे कि लताबधन से डाली मे पका हुआ कर्कटीफल स्वयमेव जुदा हो जाता है वैसे [मरते हुए] हम (मृत्यो.) मृत्यु से, मृत्युभय से (मुक्षीय) मुक्त हो जायें, (अमृतात्) अमृत से (मा) कभी नहीं।

सत्य और अनृत का महान् विवेक

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥

यजु० १९,७७. ॥

विनय

इस संसार मे सब जगह सच और झूठ इतने मिले हुए दिखाई देते हैं कि इन मे फर्क करना असंभव सा हो जाता है। हर एक सत्य के साथ झूठ ऐसी सूक्ष्मता के साथ लगा हुआ है, और हर एक झूठ के मूल मे सत्य ऐसी गुप्तता से समाया हुआ है कि सच और झूठ का पृथक्करण करने मे बड़े बड़े तत्त्ववेत्ता भी हार मानते हैं। पर सत्य और अनृत तो एक दूसरे से बिलकुल ही उलटी चीजें हैं। ये एक जगह कैसे रह सकती हैं? फिर भी जो हम इन दोनो स्वभावत विरोधी वस्तुओ का विवेक नही कर पाते हैं इसका कारण यह है कि हम स्वाभाविकता से हट गये हैं, हम अस्वाभाविक बनकर प्रजापति से दूर हो गये हैं। हम सब प्रजाओ को उत्पन्न करने वाले, सब संसार के स्वामी, प्रजापति ने तो ससार के सब सत्य और अनृत रूप को साक्षात् जुदा जुदा देखा है और स्पष्ट जुदा जुदा कर रक्खा है। इन दोनो रूपो की पृथक्ता के आधार पर ही बनाये अपने नियमो द्वारा वह इस जगत् का और अपनी सब प्रजाओं का शासन कर रहा और पति हो रहा है। तो क्या इन जगत्-शासन नियमो को हम प्रजाओ के लिये बिना बताये ही वह इन द्वारा हम पर शासन कर रहा है? नही, उस ने तो जहाँ बाहर जगत् मे सत्य और अनृत का विवेक किया और उसके अनुसार जगत् को संचालित कर रहा है, वहाँ उसने हमारे अन्दर मे भी वह साधन रक्खा है जिस से कि हम प्रजा लोग सत्य और अनृत का स्पष्ट भेद कर सकें। उसने हमारे अन्तःकरण मे अनृत के लिये अश्रद्धा और सत्य के लिये श्रद्धा स्वभावत उत्पन्न कर रखी है। वे प्रजापति हममे से प्रत्येक प्रजा के हृदय मे स्वयं आ बैठे हैं और प्रत्येक सत्य में श्रद्धा को उपजाते तथा प्रत्येक असत्य मे अश्रद्धा को उद्भूत करते हुए बैठे हुए हैं। फिर भी यदि हम सत्य और अनृत का विवेक न कर सकें तो हम कितने दुर्भागी हैं। सचमुच सत्यासत्य का विवेक जहाँ महाकठिन है, वहाँ अत्यन्त सहज भी है। जो मलिन हृदय वाले पुरुष प्रजापति से दूर होकर केवल तर्कना द्वारा सत्य और असत्य का भेद जानना चाहते हैं उनके लिये यह निःसन्देह महा कठिन है, किन्तु जो प्रजापति की शरण में पड़े हुए हैं और जो अपने शुद्ध अन्तःकरण मे उस की दी हुई श्रद्धा और अश्रद्धा की पक्की कसौटी के रखनेवाले हैं उन भक्त पुरुषों के लिये यह अत्यन्त सहज है।

भाइयो! जरा अन्दर टटोलो, देखो; प्रजापति ने तो हम सब के अन्दर अनृत के लिये अश्रद्धा और सत्य के लिये श्रद्धा पैदा की हुई है।

शब्दार्थ—

(प्रजापतिः) प्रजापति ने (दृष्ट्वा) देखकर (रूपे) सब रूप को दो विभागों में (सत्यानृते) सत्य और अनृत, सच्चा और झूठा इन दो विभागों में (व्याकरोत्) स्पष्ट जुदा जुदा कर दिया है। (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) अनृत में, झूठ मे (अश्रद्धां) अश्रद्धा को (दधात्) रक्खा है और (सत्ये) सत्य मे, सचाई मे (श्रद्धा) श्रद्धा को रक्खा है।

संज्ञान—संगठन—संघटन दैवी प्रवृत्ति

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

ऋ० १०.१९१.२॥

विनय

हे मनुष्यो! सदा मिलकर चलो, मिलकर आचरण करो; मिलकर बोलो; और तुम्हारे मन मिलकर सदा एक निश्चय किया करें। यह दैवी नियम है। देव लोग सदा 'सजानाना' होकर—समान मन और ज्ञान वाले होकर—ही अपने कार्य भाग को निबाहते आये हैं। असल मे यह मनो द्वारा ज्ञान की एकता ही वास्तविक एकता है। मनकी एकता होने पर वचन और कर्म (आचरण) की एकता होने मे कुछ देर नही लगती। देखो, ये देव लोग सब जगह 'सजानाना' होकर ही कार्य कर रहे हैं। आधिदैविक जगत् मे देखो, अग्नि वायु आदि देव जगत्सचालन के लिये एक ज्ञान समान-मन होकर अपने अपने भाग को ठीक ठीक कर रहे हैं। अध्यात्म मे प्राण इन्द्रिय आदि देवो को देखो कि ये कैसे संगठित होकर जीवन को चला रहे है? पैर मे काटा चुभता है तो त्वचा प्राण मन हाथ आदि सब देव एक क्षण मे कैसे सहयोग दिखाते हैं? और आधिभौतिक मे भी सब ज्ञानी देव-पुरुष पुराने काल से लेकर आजतक संगठित होकर ही बडी बडी सफलतायें प्राप्त करते रहे हैं। मिलना दैवी प्रवृत्ति है। क्षुद्र स्वार्थों को न छोड़ सकना और न मिलना आसुरी है। अत हे मनुष्यो! तुम मिलो, अपने सैकडो क्षुद्र स्वार्थों को छोड कर एक बड़े समष्टि-स्वार्थ के लिये सदा मिलो। लाखो करोडो के मिलकर काम करने से जो तुम्हे बडी भारी सामूहिक सिद्धि मिलेगी उस से फलत तुम लाखों करोडो मे से प्रत्येक व्यक्ति के भी सब सच्चे स्वार्थ अवश्य सिद्ध होयेंगे। मिलने मे बड़ी भारी शक्ति है। तुम मिल कर के चलो, मिल करके करो तो कौन सा कार्य असाध्य है। तुम मिलकर बोलो तो ससार को हिला दो। और मिलकर के ध्यान करने मे तो अपार अपार शक्ति है। अत हे मनुष्यो! मिलो, मिलो; सब प्रकार मिलकर अपने सब अभीष्ट सिद्ध करो।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो! (**संगच्छध्वं**) मिलकर चलो, आचरण करो, (**संवदध्वं**) मिलकर बोलो, और (**व.**) तुम्हारे (**मनांसि**) मन (**सजानतां**) मिलकर के ज्ञान प्राप्त करें, समान ज्ञानवाले हो, (**यथा**) जैसे कि (**पूर्वे देवा.**) पहले से देव लोग (**संजानानाः**) मिलकर जानते हुए, एकज्ञान होते हुए (**भागं**) भजनीयवस्तु की, अपने भाग की (**उपासते**) उपासना करते, उपलब्धि करते रहे हैं।

ईर्ष्या की महती निन्दा

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥

अ० ७. १८.१॥

विनय

बडा आश्चर्य है कि मनुष्य दूसरे की बढती को सह नही सकता। इसकी जगह कि वह अपने साथी की बढती को देख कर प्रसन्न होये, प्रेमयुक्त होये, वह उसके प्रति ईर्ष्यालु हो जाता है। यह ईर्ष्या बडी बुरी चीज है। जब किसी मनुष्य के हृदय मे ईर्ष्या की अग्नि जल उठती है तो यह उसे बुरी तरह सतप्त करती है। इतना ही नही, किन्तु ईर्ष्या की अग्नि के बढ जाने पर कई बडे अच्छे अच्छे कुल राख हो चुके हैं, प्रगतिशील समाजें लडाई झगड़े मे पड पगु बन चुकी हैं। कई सग्राम छिड चुके हैं जिनमे हजारो लाखो लोग नाहक मे तबाह हो गये हैं। इसलिये ईर्ष्याग्नि को बढने नही देना चाहिये। जब ईर्ष्या की पहली ही ज्वाला चमके तभी उसे बुझा देना चाहिये। ईर्ष्या के प्रथम वेग को ही रोक देना चाहिये। सोचना चाहिये "यदि मेरे अमुक साथी को सपत्ति मिली है, उसे प्यार किया जाता है, या उसे प्रतिष्ठा व उच्चपद मिलता है, तो इससे मुझे क्यो कुढना चाहिये। मुझे क्यो न प्रसन्न होना चाहिये। यदि मैं उतना योग्य नही हूँ, तो धैर्यपूर्वक मुझे भी वैसा गुणी बनने का यत्न करना चाहिये। मुफ्त मे अपने को जलाना तो कभी नही चाहिये"। और बार बार 'मैत्रीभावना' कर करके उस अपने सौभाग्यशाली साथी से अपने को पूरी तरह जोड लेना चाहिये, एक कर लेना चाहिये। अन्त मे उससे इतने अभिन्नात्मा बन जाना चाहिये कि उसकी बढती का स्मरण आने पर अपना आत्मा उतना ही आनन्दित होने लगे जितना उस स्मरण से उस अपने साथी का आत्मा होता है। तब समझना चाहिये कि मैत्रीभावना पूर्णावस्था मे पहुँच गयी है। यह अवस्था पहुँचने पर सब ईर्ष्याग्नि अवश्य बुझ जायगी और उसकी जगह प्रेमधारा बह निकलेगी।

पर इतने से निश्चिन्त नही हो जाना चाहिये, क्योकि आग बुझ बुझ कर भी फिर फिर बिना जाने जल पड़ा करती है। असावधानी के क्षणो मे यदि फिर ईर्ष्याग्नि चुपके से सुलगने लगे तो फिर ऐसे विचार और भावना की जलधारा मे इसे फिर शान्त कर देना चाहिये। यह निश्चित है कि उसका यह दूसरा वेग मन्द होगा। इसी तरह आगे भी करते जाना चाहिये जब तक कि यह हृदय की अग्नि और इसका शोक सताप बिलकुल न बुझ जायें और इसकी जगह प्रेम की शीतलता और आत्मैक्य की जलधारा न बहने लगे।

हे ईर्ष्यासतप्त पुरुष! हम तेरी ईर्ष्याग्नि को प्रेमधारा द्वारा सर्वथा बुझा देते हैं।

शब्दार्थ—(**ईर्ष्यायाः**) ईर्ष्या की (**प्रथमां**) पहिली ही (**ध्राजिं**) वेगवती गति को, ज्वाला को (**निर्वापयामसि**) हम बुझाते है (**उत**) और (**प्रथमस्याः अपरां**) इस पहिली मे अगली ज्वाला को भी बुझाते हैं, इस तरह हे मनुष्य! (**ते**) तेरी (**तं**) उस ईर्ष्यारूपी **हृदय्य अग्नि**) हृदय मे जलने वाली अग्नि को (**शोकं**) तथा उसके शोक सताप को (**निर्वापयामसि**) बिलकुल शान्त कर देते हैं।

परम यज्ञपुरुष ऋत का भी ऋत

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुंचतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम॥

ऋ० ५ ११४. २॥

विनय

हे आदित्यो! तुम मेरे बन्धन खोल दो। मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, कर सकना चाहता हूँ; किन्तु कर नही सकता। मैं चाहता हूँ अब मैं अमुक स्वार्थत्याग अवश्य कर दू, पर इसे कर नही सकता। मैं स्पष्ट देखता हूँ कि मुझे राष्ट्रयज्ञ मे, सेवायज्ञ मे या धर्मयज्ञ मे अपनी आहुति अवश्य दे देनी चाहिये, इसका अनिवार्य समय आ पहुँचा है, पर फिर भी मैं न जाने क्यो इस आहुति को दे नही सकता। दिल से चाहता हुआ भी कर्म मे प्रवृत्त नही हो सकता। मन उठता है, पर हाथ पैर नही उठते। मानो हाथों पैरो को किसी ने बाध रक्खा है। हे देवो! तुम मुझे मेरी इस बद्ध अवस्था से मुक्त करो। तुम मेरे उस बधन को खोल दो जिसके मारे मैं हृदय से यह कर्म कर सकना चाहता हुआ भी इसके करने मे असमर्थ रहता हूँ। इसका उपाय मैं एक ही जानता हूँ वह यह है कि तुम, हे यजनीयो! यज्ञवाहक आदित्यो! तुम मुझ मे उस देव को जगादो जो कि 'ऋत' का 'ऋत' है, जो कि यज्ञो का भी यज्ञ है, जोकि सब सत्यो का एक सत्य है। उस परम यज्ञ सत्यस्वरूप का ध्यान करते ही मेरा यह बन्धन स्वयमेव खुल जायगा। केवल उस प्रभु के एक बार ध्यान मे समा जाने की देरी है। ओह! उस परमयज्ञपुरुष का ध्यान आजाने पर जिसने कि अपने इस ऐश्वर्यमय विश्व ब्रह्माण्ड को समस्त जीवो के भोग के लिए त्याग रक्खा है यज्ञ कर रक्खा है, उस सत्यस्वरूप प्रभु के क्षण भर के लिए दृष्टिगोचर हो जाने पर जो कि एकमात्र इस ससार में सत्यवस्तु है और जिसके सिवाय शेष सब कुछ मिट जाने वाला है, उसका ध्यान आ जाने पर मेरे लिये बडे से बडा त्याग करना, किसी यज्ञ के लिये अपने प्राण तक दे देना, परम तुच्छ साधारण सी बात लगने लगती है। इसलिये हे आदित्यो! हे मेरी उच्च दिव्य प्रकाशमय वृत्तियो! जब जब मैं यज्ञ कर सकने मे अशक्त रहूँ तब तब तुम मुझे उस प्रभु को दिखला दिया करो, उसका ध्यान करा दिया करो। उस 'ऋतस्य ऋत' का ध्यान आजाने पर यज्ञ कर सकने से रोकने वाली मेरी सब रुकावटें निश्चय से हट जायेंगी, रोकने वाले सब बन्धन खुल जायेंगे। इस तरह, यज्ञवाहक आदित्यो! तुम उस ऋत के ऋत द्वारा अब मेरा यज्ञरोधक बधन सदा के लिये खोल दो।

शब्दार्थ—

(**यजत्रा:**) हे यजनीय (**आदित्या**) आदित्यो! प्रकाशमय देवो! (**इह**) इस लोक में (**नः**) हमे (**ऋतस्य ऋतेन**) यज्ञ के भी यज्ञ, सत्य के सत्य परमेश्वर द्वारा (**मुचत**) उस बधन से मुक्त कर दो (**यद्**) जिसके कि कारण (**यज्ञवाहसः**) हे यज्ञवाहक देवो! हम (**यज्ञं**) यज्ञ को (**शिक्षन्तः**) कर सकना चाहते हुए भी (**न उपशेकिम**) कर नही सकते है।

भूत और भव्य द्वारा सदैव पाप से मुक्ति

यदि जाग्रद् यदि स्वपन् एन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम् ॥

अ० ६ . ११५ २ ॥

विनय

हे भूत और भव्य ! तुम मुझे सदैव पाप से मुक्त करो। मैं जागते हुए या सोते हुए जो पाप करता हूँ, पापी बनता हूँ उससे मुक्त करो। जाग्रतावस्था मे इस स्थूल वैश्वानर लोक मे ठहरता हुआ मैं जो स्थूल पाप करता हूँ अथवा स्वप्नावस्था मे सूक्ष्म तैजस लोक मे रहता हुआ जो सूक्ष्म मानसिक पाप करता हूँ, उससे मै बँध जाता हूँ। जैसे कि द्रुपद मे, पादबन्धन मे पड जाने से मनुष्य के पैर ऐसे जकड जाते हैं कि वे आगे हिल नही सकते। उसी तरह सूक्ष्म या स्थूल पाप कर लेने पर हमारे उन्नति के पग ऐसे रुक जाते है कि जब तक हमारी उससे मुक्ति न हो जाय तब तक हम आगे नही बढ सकते। उन्नत नही हो सकते। इससे छुटकारा पाने के लिये मैं अपने भूत और भव्य से प्रार्थना करता हूँ। मेरा भूत, अपने भूत का आत्मनिरीक्षण तथा मेरा भव्य, अपने भव्य के लिये दृढ निश्चय, ये दोनो मुझे पाप-बन्धन से छुडा देवें। पाप हो जाने पर जब तक कि हम भूत के लिए पश्चात्ताप और भविष्य के लिऐ दृढ निश्चय न कर लेवें तब तक हम उससे मुक्त नही हो सकते और आगे नही बढ़ सकते। ओह, मेरा आदि काल से आने वाला विशाल भूत और अनन्त काल तक पहुँचने विशाल भव्य, इन दोनों के अपार काल समुद्र मे मैं अपनी चिन्तन रूपी डुबकी लगाकर अपने सब पाप मैल को धो डालूंगा। मैं इस भूत के लोक स्थूललोक के पूरे पूरे निरीक्षण द्वारा अपने आपको इतना कार्यदक्ष सावधान और सदा जागृत बनाऊँगा कि आगे से जाग्रत् के स्थूलपापों से सदा बचता रहूँगा तथा भव्य के दूसरे सूक्ष्मलोक की सहायता से इतनी मानसिक दक्षता प्राप्त कर लूंगा कि मुझ से असावधानी मे बिना जाने, स्वप्नावस्था मे, होने वाले मानसिक पाप भी आगे से न हो सकेंगे। एव यह भारी साधना कर लेने पर मेरे भूत और भव्य मुझे क्रमश. जाग्रत् और स्वप्नावस्था के पापबन्धनो से मुक्त करते रहेंगे, सदा मुक्त करते रहेंगे, सदा मुक्त करते रहेंगे।

शब्दार्थ—

(यदि) यदि **(जाग्रत्)** जागते हुए **(यदि स्वपन्)** यदि सोते हुए **(एनस्यः)** मैं पापी बन **(एन.)** पाप **(अकरं)** करता हूँ तो **(तस्मात्)** उस पाप से **(मा)** मुझे **(भूतंभव्यं च)** भूत और भव्य, भूत और भविष्य का चिन्तन **(द्रुपदात् इव)** काठ से, पादबन्धन से छुडाया जाता है उस तरह **(मुंचताम्)** छुडा देवें, मुक्त कर देवें।

आत्मज्ञान—जागृति द्वारा सर्व क्लेश निवृत्ति

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यात् अभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥
अ० ७.१००.१ ॥

विनय

ज्ञान का दिव्य सूर्य उदय हो चुका है। इसलिये मेरी चिरातन अज्ञान की रात्रि बीत गई है और मैं महानिद्रा से जाग उठा हूँ। अब तक मैं बहुत सोया, बहुत सोया और निद्रा मे न जाने कैसे कैसे पाप के भयंकर भयंकर दु स्वप्न देखता रहा और अकल्याण व अनिष्ट के दु.खदायी स्वप्न देखता रहा। पर अब ये सब खतम हो गये हैं। अज्ञानावस्था मे ही ये सब पाप दु ख अनिष्ट थे, अत' अब निद्रा के साथ वे सब समाप्त हो गये हैं। मैंने सदा के लिये अब इन पाप ताप भय सकट और दु ख दारिद्र्य से मुख मोड़ लिया है। मैंने ब्रह्म को, महान् ज्ञान को, आत्मज्ञान को अपने अन्दर कर लिया है और उन स्वप्नो से आनेवाले, सब दु खो शोको तथा पीडाओ को बाहर कर दिया है, हटा दिया है। ओह, सचमुच सब 'पाप' दु स्वप्न ही था, सब 'अभूति' स्वप्नमात्र थी। ये नीद के साथ खतम हो चुके हैं। अपने शोको क्लेशो दु:खो सहित खतम हो चुके हैं। मैं अब जाग गया हूँ, जाग गया हूँ।

शब्दार्थ—

(दुष्वप्न्यात्) दु:खदायी स्वप्न मे होने वाले (पापात्) पाप से और (स्वप्न्यात् अभूत्या·) स्वप्न मे होने वाले अकल्याण से [अकल्याण के पास से] (पर्यावर्त्ते) मैं लौटता हूँ, मुह मोडता हूँ। (अह) मैं (ब्रह्म) महान् ज्ञान को, आत्मज्ञान को (अन्तरं) अपने अन्दर (कृण्वे) करता हूँ, और (स्वप्नमुखाः) स्वप्न से आने वाले इन (शुचः) शोकों को, दु खों को (परा) [कृण्वे] दूर करता हूँ।

पौरुषेय वचनों के त्यागपूर्वक अपौरुषेय वचनों और नीतियों का ग्रहण

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥

अ० ७ १०५ १॥

विनय

हे मनुष्य ! तू पौरुषेय बातों को छोड़ कर सदा ईश्वरीय वचन को स्वीकार कर। सब बातों में पौरुषेय मनुष्यकृत भाग को छोड़ कर सदा उसके सारमय सत्य दैवभाग का वरण कर। यही नीति है जिसके अनुसार तुझे अपने जीवन को तथा अपने साथियों के जीवन को चलाना चाहिये। यदि तू उच्च ज्ञान पाना चाहता है, सच्ची शिक्षा से शिक्षित होना चाहता है तो तू साधारण पुरुषों की स्तुति निन्दा की कथाओं से, अखबारी दुनियाँ की उत्तेजनाभरी सामयिक अस्थायी और भ्रान्तिपूर्ण चर्चाओं से, मनुष्यों के रागद्वेष से रंजित अत्युक्तिहीनोक्ति पूर्ण भाषाओं से दूर रहता हुआ, हटता हुआ, बचता हुआ सदा सब जगह मूलभूत ईश्वरीय नियम को, उसके सत्य सिद्धान्त को ही देखने ढूंढने का अभ्यास करता हुआ चल। यदि तू ऐसा करेगा तो तू इन सब जगह वेद को पढ़ेगा, ईश्वरीय वाणी को प्राप्त करेगा। इस प्रकार सदा सच्ची दैवी प्रकृष्ट नीतियों को, उत्तम शिक्षाओं को, सन्मार्गों को प्राप्त करता हुआ तू उसी के अनुसार सब तरह से अपना वर्तन कर, व्यवहार कर, अपने सब साथी संगी मित्र शिष्य अनुयायियों सहित उन्हीं के अनुसार आचरण कर, उन्हीं प्रणीतियों का अनुसरण कर। इसी तरह तू अपने मनुष्यत्व को फलीभूत कर सकेगा।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य ! (पौरुषेयात्) पुरुषों की, मनुष्यकृत [बातों से] (अपक्रामन्) हटता हुआ (दैव्य) देवसंबंधी, ईश्वरीय (वचः) वचन को (वृणानः) श्रेष्ठ मान कर स्वीकार करता हुआ तू (प्रणीतीः) इन दैवी प्रकृष्ट नीतियों का, सुशिक्षाओं का (विश्वेभिः सखिभिः सह) अपने सब साथी मित्रों सहित (अभि आ वर्तस्व) सब तरह से आचरण कर।

परमेश्वर की मित्रता में अभय प्राप्ति

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

ऋ० १.११.२ ॥

विनय

हे परम ईश्वर! तुम्हे अपना सखा जानकर अब संसार मे और किसी से क्या डरना है। सब बल के स्वामी 'शवसस्पति' तो तुम हो, तुम से बल ज्ञान पाकर 'वाजी' होकर कैसा डरना? तुम्हारा सहारा पकड कर अब कैसा भय? अदूर भविष्य चाहे कितना अंधकारमय दीख रहा हो, सामने चाहे कितना विकट संकट आता दीखता हो फिर भी हम निर्भय है, क्यो कि हम जानते हैं कि इस सब को यदि तुम चाहो तो एक क्षण मे टाल सकते हो। जब तुम से नाता जोड लिया, जब तुम्हारी राह मे चल पडे, तो दुःख-पीडा, अर्थनाश, सबन्धियो का वियोग, जग हँसाई आदि के सह लेने मे क्या पडा है? तुझ महाबली का नाम लेते हुए हम भारी से भारी अत्याचारो को हँसते हँसते सहते जाते हैं। तुम्हारे प्यारे सच्चे मार्ग पर चलते हुए एक बार नही, लाख बार यदि मौत आये तो हम उसे भी आनन्दमग्न होकर स्वीकार करते जाते हैं। इनमे भय की क्या बात है? सचमुच, हे इन्द्र! तेरे सख्य को पाकर हम निर्भय हो गये हैं, दुर्लभ 'अभय' पद को पा गये हैं, अभय बन गये हैं। पर इस उच्च अभय अवस्था को प्राप्त होकर भी, हे मेरे स्वामी! हम कभी मन मे अभिमान को कैसे ला सकते हैं? क्या हम नही जानते कि ससार की सब विजयें तुम्हारे बल द्वारा ही प्राप्त हो रही हैं, तुम ही ससार मे एकमात्र जेता हो, विजयी होने वाले हो? तुम्हे, तुम्हारी शक्ति को, ससार मे और कोई नही पराजित कर सकता। यह अनुभव करते हुए, हे मेरे सखा! ज्यो-ज्यो हम मे तुम्हे पाकर आत्माभिमान बढता गया है, त्यो-त्यो हम मे तुम्हारे प्रति नम्रता भी बढती गई है। ज्यो ज्यो तुम्हारी कृपा से हममे अभयता आती गई है त्यो त्यो तुम्हारे चरणो मे भक्ति भी बढती गई है। इसलिये, हे हमे अभयपद प्रदान करनेवाला प्रभो! हम तुम्हे प्रणाम करते हैं। हे जेत! हे अपराजित! हम तुम्हारे स्तुतिगान करते हैं। तुम्हारा नित्य निरन्तर गुण कीर्त्तन करते हैं। ओह! तुम्हारा गुणकीर्त्तन करते हुए हम कभी नही थकते, हम कभी नही थकते।

शब्दार्थ—

(**शवसस्पते**) हे बल के स्वामी! (**इन्द्र**) परमेश्वर (**ते**) तेरी (**सख्ये**) मित्रता मे आकर (**वाजिनः**) बल ज्ञान से युक्त हुए हम (**मा भेम**) अब भयभीत न होयें, निर्भय हो जायें। (**जेतारं**) सदा जीतनेवाले (**अपराजित**) कभी भी पराजित न हो सकनेवाले (**त्वां**) तेरे (**अभि प्रणोनुमः**) हम बार बार सर्व प्रकार स्तुतिगान करते हैं।

लक्ष्मी का ग्रहण

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः, पापीस्ता अनीनशम् ॥

अ० ७ ।११५ ४ ॥

विनय

मेरे घर मे सैकडो प्रकार की लक्ष्मी, ऐश्वर्य की वस्तुए रखी हुई है। किन्तु जब से मुझे ज्ञान हुआ है कि मुझे पाप की कमाई का परित्याग कर देना चाहिये और ऐसी पापलक्ष्मी का सेवन मेरा विनाश कर देगा, तब से मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं अब पापलक्ष्मी को घर मे नही रखूगा। इस प्रयोजन के लिये आज मैं अपनी एक एक वस्तु का निरीक्षण करने लगा हूँ। जैसे कि गोपाल व्रज मे इकट्ठी हुई गौओं को पृथक् पृथक् पहचानता है कि ये अपने घर की गौएं हैं और ये नही, उसी तरह मैं अपने सब सामान को—पुस्तक, पलग, कुर्सी, संदूक, कीमती, वस्त्र, वहाँ का रुपया, उधर से आया जेवर, कोठी, खेत, जायदाद आदि एक एक वस्तु को—जुदा जुदा विभक्त कर रहा हूँ कि ये ये बिलकुल उचित कमाई की वस्तुएं तो ठीक हैं किन्तु यह रिश्वत मे आयी वस्तु, यह छल कपट से पायी जायदाद, दुर्बल को सताकर मिला यह धन, गरीबों के पेट काट कर बने ये बहुमूल्य कपड़े, इन सब को मैं आज विनष्ट कर दूंगा, इन्हें मैं अपने पास नही रख सकता।

जन्म से ही मैं सैकडो प्रकार की दैवी या आसुरी सपदो को साथ लेकर आया हूँ, पैदा हुआ हूँ। किन्तु आज मैं उनका विवेकपूर्वक पृथक्करण करने मे प्रवृत्त हुआ हूँ। जो मेरे हृदय मे 'अभय', सत्त्वसशुद्धि, ज्ञान, योगस्थिति आदि दैवी सपद् हैं, पुण्यलक्ष्मी हैं उन्हें तो मैं कहता हूँ कि "तुम मुझ मे रमण करो, आनन्दपूर्वक रहो"। किन्तु जो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान आदि आसुरी सपद् हैं, पापलक्ष्मी हैं उन्हें अपने हृदय-मदिर मे से निकल जाने को कहता हूँ, उन्हें मैं अब अपने मनोराज्य मे नहीं रहने दूगा।

शब्दार्थ—

(एता.) इन (एना) उन [अपने घर या जीवन मे रखी हुई सैकडो प्रकार की] लक्ष्मियो का (व्याकर) मे विवेकपूर्वक पृथक्करण करता हूँ (खिले विष्ठिता गाः इव) जैसे कि व्रज मे विविध प्रकार की आ बैठी हुई गौओ का गोपाल किया करता है। अब (या· पुण्या लक्ष्मी) जो पुण्या लक्ष्मी है, पुण्य कमाई के ऐश्वर्य हैं (रमन्तां) वह मेरे यहाँ रमण करें, आनन्द मे रहे पर (याः पापीः) जो पाप कमाई की लक्ष्मी हैं (ताः) उन्हें मैं आज (अनीनशम्) विनष्ट किये देता हूँ।

परमात्मा

हिरण्यगर्भं परमं अनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिचत् हिरण्यं लोके अन्तरा ॥

अ० १०.७.२८

विनय

इस विश्व का मूल खोजते हुए हम मनुष्य प्रायः हिरण्यगर्भ तक ही पहुँचते हैं। सब शास्त्रों मे इसे जगत् का वह हिरण्यमय (चमकता हुआ) गर्भ माना है जिससे कि इस सब जगत् की उत्पत्ति हुई है। वैज्ञानिक लोग भी इस सब सौरमण्डल की उत्पत्ति एक ऐसे ही हिरण्यमय महातेज पिण्ड से कहते हैं जिससे कि कालान्तर मे जुदा हुए और ठण्डे हुए ये हमारे पृथिवी आदि सब ग्रह आज अपने अवशिष्ट सूर्य के चारो तरफ़ घूम रहे हैं। परन्तु क्या इस हिरण्यगर्भ से भी परम अन्य किसी तत्त्व को नही बताया जा सकता ? एव वैयक्तिक जीवन के मूल मे भी हम वीर्य (हिरण्य) को, वीर्य के अणु को, ही जानते हैं। पर वीर्य के अणु मे भी यह जीवन पैदा करने की शक्ति क्योंकर है यह हम नही जानते। प्रारम्भ प्रारम्भ मे इस वीर्यअणु को किसने उत्पन्न किया, इस विश्व के प्रारम्भ मे तैजस सूक्ष्मलोक मे उस हिरण्यगर्भ को किसने प्रकट किया ? इस का उत्तर हम नही जानते। यह संसार देशक सत्त्व, रज, तम का (Mind, Motion, Matter का) खेल है। तम से परे रज है और रज से परम सत्त्व है। पर क्या सत्त्व (Mind) का अतिक्रमण करके कही जा सकने वाली, इससे परली और कोई शक्ति ससार मे नही है ? वह सत्त्व का हिरण्य भी जिसके आधार से चमकता है, हे मनुष्यो ! उस 'स्कम्भ' देव को तुम जानो। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ मे जो हिरण्यगर्भ को भी प्रादुर्भूत करता है और जो ससार की जीवनप्रक्रिया को चलता कर देता है उस स्कंभदेव को तुम जानो। इस ब्रह्माण्ड-शरीर की नस नस मे जो दिव्य वीर्य (हिरण्य) इसे जीवन देता हुआ सदा बह रहा है वह उस स्कंभ का ही सींचा हुआ है, इस ब्रह्माण्ड मे जो भी कुछ जीवन चैतन्य प्राण दिव्यत्व, प्रकाश, चमक आदि दीख रहा है यह सब हिरण्य उसी स्कभ से आया हुआ है। अत. हे मनुष्यो ! तुम उस जगदाधार स्कंभ को ही परम और अनत्युद्य वस्तु समझो, अन्य किसी को नहीं।

शब्दार्थ—

(जनाः) लोग **(हिरण्यगर्भं)** हिरण्यगर्भ को **(परमं)** सब से परली और **(अन्-अति-उद्यं)** जिससे अतिक्रमण कर परे कुछ न कहा जा सके ऐसी वस्तु **(विदु.)** समझते हैं। परन्तु **(तत् हिरण्यं)** उस हिरण्य को, तेजोमय वीर्य को तो **(अग्रे)** प्रारम्भ मे **(लोके अन्तरा)** इस ससार के अन्दर **(स्कंभ.)** जगदाधार परमेश्वर ने **(प्रासिचत्)** सिंचन किया है।

परम सत्य की प्राप्ति के लिए

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीः नेलयन्ति कदाचन ।।

अ. १० ७.३७

विनय

यह वायु क्यो सदा गति कर रहा है, क्यो कहीं ठहर नही जाता ? यह मन क्यो कही रत नही हो जाता, क्यो किसी आनन्द को पाकर ठहर नही जाता ? ये नदियां, ये प्रजायें, ये जीव, जीवो के ये कर्मप्रवाह क्यो कभी नही ठहरते ? क्यो सदा चल रहे है ?

ये सब किसे प्राप्त करना चाहते हुए चलते चले जा रहे हैं ? यह वायु, यह प्राण कहां पहुँचने के लिए सदा चल रहा है ? यह मन किस प्यारे को पाना चाहता हुआ और उसे कही न पा सकता हुआ प्रतिक्षण चचल है ? ये सब प्रजायें ये सब प्राणी दिन रात कुछ न कुछ करते जाते हुए किसे प्राप्त करना चाहते हैं ?

क्या ये सब सत्य को ही पाना चाहते हुए नही चल रहे हैं ? ओह, सचमुच, उस परम सत्य को पाने के लिये ही प्राण निरन्तर फिर रहा है, मन सदा भटक रहा है और सब प्राणियो का प्रतिक्षण का कर्मप्रवाह चल रहा है । और नि सन्देह कभी, किसी काल मे उस परम प्यारे 'सत्य' को पा लेने पर ही यह हमारा प्राण चैन पायेगा, मन निरुद्ध हो जायेगा, हमारी सब की सब चेष्टायें सर्वथा बन्द हो जायेंगी और हम उस प्रेप्सित परम आनन्द मे समाधिस्थ हो जायेंगे । पर उसे बिना पाये कही विश्राम नही है, हे भाइयो ! कही विश्राम नही है ।

शब्दार्थ—

(वात) वायु, प्राण (**कथं**) क्यो (**न इलयति**) नही ठहरता ? (**मनः**) मन (**कथं**) क्यो (**न रमते**) कही नही रमता ? (**किं**) क्या (**सत्यं प्रेप्सन्तीः**) सत्य स्वरूप को प्राप्त करना चाहती हुई ही (**आप.**) प्रजाये, जीव, जीवो के कर्मप्रवाह (**कदाचन**) कभी भी (**न इलयन्ति**) नहीं ठहरते हैं, सदा चल रहे हैं ?

दिव्य दर्शनीय महाकाव्य

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥

अ० १०.८.३२ ॥

विनय

मनुष्य परमेश्वर को कभी त्याग नही सकता, कभी उससे जुदा नही हो सकता । क्योकि यह परमेश्वर के इतना सन्निकट है, इतना घनिष्ठ सवन्ध से जुडा हुआ है कि परमात्मा उसकी आत्मा की आत्मा है । पर आश्चर्य है कि इतने निकट होता हुआ भी वह अपने परमात्मा को देखता नही है । अथवा इसमे आश्चर्य करने की क्या वात है, वह इतना अत्यन्त निकट है इसीलिये उसे वह नही देख सकता है । आँख अपनी पुतली को कैसे देख सकती है ? तो अपने को शक्ति देनेवाले परमात्मा को आत्मा कैसे देखे ? इसीलिये हे मनुष्य ! यदि तू अपने परमात्मा को आँखो से ही देखना चाहता है तो तू उसके काव्य को देख । गुणो के देखने से ही गुणी देखा जाता है । तू उसके इस दृश्य महाकाव्य मे उसके दर्शन कर । देख, उसका यह दृश्य काव्य हर समय चल रहा है, खेला जा रहा है । इस दृश्य काव्य का पुस्तक वेद है, पर उसका अभिनय यह सव चलता हुआ दृश्यमान संसार है । मनुष्यकृत नाटक को एक दो वार देख लिये जाने पर पुराना हो जाता है और वह खतम तो हो ही जाता है । परन्तु यह ईश्वरीय काव्य न तो कभी खतम होता है और न कभी पुराना होता है, न कभी मरता है और न कभी जीर्ण होता है । क्योकि इसका रचयिता ही कभी न मरनेवाला है और न कभी वुड्ढा होने वाला है । उससे निरन्तर हर समय नित्य नया निकलता हुआ यह काव्य सदा चल रहा है । हे मनुष्य ! तू सदा इसको देखता हुआ इसी मे अपने परमात्मदेव का हर घडी और हर पल दर्शन किया कर ।

शब्दार्थ—

मनुष्य (**अन्ति सन्त**) सदा समीप ही विद्यमान [परमात्मदेव] को (**न जहाति**) कभी त्यागता नही, जुदा नही होता और (**अन्ति सन्तं**) समीप ही विद्यमान उसे (**न पश्यति**) देखता भी नही । हे मनुष्य ! तू (**देवस्य**) उस परमात्मदेव के (**काव्य**) काव्य को (**पश्य**) देख, जो कि काव्य (**न ममार**) कभी मरा नही, मरता नही और जो (**न जीर्यति**) कभी जीर्ण नही होता पुराना नही होता ।

माधुर्यमय

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ।।

अ० १.३४.३ ।।

विनय

मेरा प्रत्येक कर्म मधुमत् होये । मेरा आना जाना, मेरा पास होना और दूर होना, मेरी प्रवृत्ति और निवृत्ति ये सब क्रियायें माधुर्यमय और प्रेमपूर्ण होयें । लोग समझते हैं कि पास होना आकृष्ट होना तो प्रेमयुक्त होता है पर जुदा होना दूर हटना प्रेमयुक्त नही हो सकता । परन्तु नही हमारा दूर हटना भी प्रेमपूर्ण ही होना चाहिये, दूर हटने जुदा होने मे भी हमे उस भाई के प्रति जिससे कि हम हटते हैं अपने प्रेमभाव व माधुर्य को नही त्यागना चाहिये । किसी समय जुदा हो जाना, निवृत्ति, असहयोग करना भी कर्तव्य होता है, धर्म होता है, परन्तु उस समय अपने उस प्रतिपक्षी साथी के प्रति उसी तरह प्रेमभाव बनाये रखना भी उतना ही आवश्यक धर्म होता है । इसलिये मेरी तो जहाँ प्रत्येक निष्क्रमण की, निकटगमन की, क्रिया भी मधुमय होती है, वहाँ मेरी प्रत्येक परायण की, हटने की, क्रिया भी माधुर्यमय होती है । और इस निष्क्रमण और परायण से बाहर मेरी और कौन सी क्रिया रह गयी ? मैं वाणी से भी मीठा ही बोलता हूँ, स्थूल वाणी से, हृदय की वाणी से, लेख की वाणी मे या आचरण की वाणी मे, अपनी प्रत्येक अभिव्यक्ति से मैं माधुर्य को ही बरसाता हूँ । इस तरह हे प्रभो ! अपनी एक एक चेष्टा मे, क्रिया मे, हरकत मे तथा एक एक वाणी मे, वचन मे माधुर्य को ही लाता हुआ मैं मधुसन्दृश बन जाऊँ । हे मधुस्वरूप ! जब मैं इस तरह अपने जीवन मे माधुर्य की उपासना करूँगा तो निश्चय से बाहर भी मेरे लिये सब कही माधुर्य ही माधुर्य हो जायेगा । मेरी दृष्टि मे ऐसा माधुर्य बस जायगा कि मैं इस ससार मे माधुर्य के सिवाय और कुछ नहीं देख सकूँगा । और तो क्या, अपने प्रति किये गये प्रहारो मे, आक्षेपो मे, निन्दा मे, नुकताचीनियो मे भी मैं माधुर्य ही माधुर्य देखूँगा । ओह, हे परममधुवाले ! तेरे माधुर्य से भरे पडे इस संसार मे मैं माधुर्य के सिवा और कुछ कैसे देख सकूँगा ?

शब्दार्थ—

(**मे**) मेरा (**निष्क्रमण**) निकट जाना, प्रवृत्ति (**मधुमत्**) माधुर्यमय होये तथा (**मे**) मेरा (**परायण**) दूर हटना, निवृत्ति भी (**मधुमत्**) माधुर्यपूर्ण होये । मैं (**वाचा**) वाणी से (**मधुमत्**) माधुर्ययुक्त ही (**वदामि**) बोलता हूँ, इसलिये [हे मधुस्वरूप] मैं (**मधुसंदृश.**) मधुरूप या सर्वत्र मधु को ही देखने वाला (**भूयासम्**) हो जाऊँ ।

पूर्ण परमात्मा

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥

अ० १०.८. २६ ॥

विनय

मनुष्यो ! आओ हम यह जानें कि यह ससार परिपूर्ण है। ससार की पृथक् पृथक् वस्तुए बेशक अपूर्ण हैं, अधूरी हैं, त्रुटिमय हैं किन्तु यह समूचा संसार मिलकर परिपूर्ण ही है। यदि हम संसार की परिपूर्णता को नही अनुभव करते हैं तो हम अभी ससार को नही जानते हैं। पूरी समूची दृष्टि से जब हम ससार को देख सकेंगे तो हम देखेंगे कि इस समष्टि स सार मे कोई कसर त्रुटि व कमी नही है। और यह संसार पूर्ण क्यो न हो, जब यह पूर्ण पुरुष का रचा हुआ है? पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। नि सन्देह यह पूर्ण जगत् उस पूर्ण परमेश्वर से निकला है, प्रादुर्भूत हुआ है।

भाइयो ! और फिर तुम यह देखो कि उस पूर्ण प्रभु ने इस पूर्ण जगत् को एक बार पैदा करके ही नही रख दिया है, किन्तु वह इसे लगातार सीच भी रहा है, सतत जीवन-रस पहुँचाता हुआ पालन भी कर रहा है। अर्थात् यह जगत् न केवल पूर्ण पैदा हुआ है किन्तु पूर्ण रूप से चल भी रहा है और पूर्ण रूप से सदा चलता रहता है, इस पूर्ण माली द्वारा पूरी तरह सीचा जाता हुआ सदा पूर्णतया फलता फूलता रहता है।

हे मेरे भाइयो ! यदि हमने यह जान लिया है कि यह जगत् एक परिपूर्ण कृति है और फिर यह भी जान लिया है कि फलत इसका कर्त्ता भी परिपूर्ण होना चाहिये, तो आओ अब हम उस परिपूर्ण को जानें पहिचानें और प्राप्त करें जो कि पूर्ण इस पूर्ण जगत् को उत्पन्न कर इसे सदा परिपूर्णतया सीच रहा है। आओ आओ, तो आज से हम उस की खोज मे निकल पड़ें जो कि परिपूर्ण है और परिपूर्णता का देने वाला है, आज से उस पथ के पथिक बन जायें जोकि हमे परिपूर्णता के पद पर पहुँचाने वाला है।

शब्दार्थ—

(**पूर्णात्**) पूर्ण से (**पूर्णं**) पूर्ण (**उदचति**) उत्पन्न होता है और (**पूर्णं**) यह पूर्ण (**पूर्णेन**) उस पूर्ण द्वारा (**सिच्यते**) सींचा भी जाता है। (**उतो**) तो (**अद्य**) अब आज हम (**तद्**) उस [पूर्ण] को (**विद्याम**) जानें, प्राप्त करें (**यतः**) जिस द्वारा (**तत्**) वह [दूसरा पूर्ण] (**परि-सिच्यते**) पूर्णतया सींचा जा रहा है।

आत्म जागृति

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥

अ० १० ८.२६॥

विनय

देखो, यह कल्याणस्वरूपिणी देवता है जो कि कभी बुड्ढी नही होती है, सदा अजरा है। यह मरणशील मनुष्य के, मर्त्य के, घर मे धारण की गई अमृत है, कभी न मरने वाली है। यह इस घर मे न जाने कब से बैठी है। पर बड़े दु.ख की बात है कि यह जिसके लिये आयी है, जिसके लिये घर मे धारण की गई है वह सोया पड़ा है। वह लगातार सोया पडा है। यह उसे धारण करने वाला घर जीर्ण हो जाता है, और ढह जाता है किन्तु फिर भी उसकी नीद नही समाप्त होती।

क्या तुम समझे कि यह कल्याणी देवता किसके लिये आयी हुई है ? शरीर रूपी मर्त्यगृह मे धारण की गयी यह आत्म देवता किस काम के लिये बैठी हुई है? यह तो जीव का कल्याण करने के लिये आयी हुई है। यह माता तो अपने जीव-पुत्र को उसके कल्याणमय मंगलधाम मे ले जाने के लिये आयी हुई है और न जाने कब से पुत्र के जगने की प्रतीक्षा में बैठी हुई है। उसे धारण करने वाले एक नही बहुत से घर जीर्ण हो चुके है, बहुत से शरीर बुड्ढे हो चुके हैं पर वह प्रतीक्षा मे बैठी हुई है। यह अजरा अमृता माता तो अनन्त काल तक ऐसे ही निर्विकार बैठी रह सकती है, और जब तक जीव न जागेगा तब तक बैठी रहेगी। पर हा ! चिन्ता की बात तो यह है कि यह जीव कब जागेगा ? यह पुत्र कब जागेगा ? कब जागृति पायेगा?

शब्दार्थ—

(इयं) यह (कल्याणी) कल्याणस्वरूपिणी देवता (अजरा) कभी जीर्ण न होने वाली, कभी बुड्ढी न होने वाली है यह (मर्त्यस्य) मरणशील मनुष्य के (गृहे) घर मे, शरीर मे धारण की गई (अमृता) अमृत है, न मरने वाली है। किन्तु (यस्मै) जिसके लिये (कृता) यह धारण की गई है (स.) वह (शये) सोया पड़ा है, इसे (य.) जिसने (चकार) धारण किया है (स.) वह भी (जजार) जीर्ण हो जाता है।

कार्तिक मास

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः
अ० १२ १.१२॥

मेरी माता भूमि है
और मैं पृथिवी
माता का
पुत्र
हूँ

कार्तिक (तुला)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

उत्पादक अंगो को स्वस्थ और नीरोग रखने वाला

प्रारम्भिक स्थिति मे खडे होइये, भुजायें नीचे लटकी हो, मुट्ठियाँ कसी हो और शरीर की सब मासपेशियाँ तनी हुई हो। दाहिने पैर को फर्श से एक दो इंच ऊपर उठाइये पर इसका घुटना बिलकुल तना हुआ और सीधा रहे। आपके शरीर का सारा बोझ बायें पैर पर थमा हुआ हो। अब दायें पैर को इसके जघामूल के जोड पर घुमाइये और इसे जहाँ तक बाईं ओर ले जा सकते हो वहाँ तक ले जाइये और फिर इसे दूसरी तरफ चक्राकार मे घुमाते हुए जहाँ तक ले जा सकते हो वहाँ तक दाईं तरफ ले जाइये। यह सब करते हुए शरीर को इधर उधर मत हिलने दीजिये और न पैर को ही जमीन से छूने दीजिये। इसके बाद दायें पैर पर खड़े होकर यही व्यायाम बायें पैर से कीजिये। शरीर को ढीला छोड दीजिये और फिर से इस व्यायाम को दुहराइये? इस व्यायाम भर मे लगातार गहरे, पूर्ण और पेट तक पहुँचने वाले श्वास लेते रहिये।

यह व्यायाम हमारे उत्पादक अगो के लिये लाभकारी है। ध्यान कीजिये कि मैं बलवान् हूँ और प्राणशक्ति से परिपूर्ण हूँ। इस प्राणायाम से मुझमे नया जीवन सचार हो रहा है इत्यादि।

इन उत्पादक अगो को गौणतया वैशाख, श्रावण तथा माघ मास की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

मायावी की माया द्वारा ही उस का नाश

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।
विदुष्टे तस्य मेधिराः तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥

ऋ० १.११७

विनय

हे परमेश्वर ! तेरे इस ससार मे शुष्ण असुर भी उत्पन्न हुआ करता है। यह वह मनुष्य व मनुष्यसमूह होता है जो कि दूसरो के शोषण पर, चूसने पर, अपना निर्वाह करता है। यह बडा मायावी होता है। यह दूसरो के रक्त का शोषण बडी गहरी माया से, वडे छल कपट से करता है। यह ऐसे प्रवध से काम करता है, ऐसा ढंग रचता है कि हमे अपना कुछ भी अनिष्ट होता हुआ नही पता लगता किन्तु चुपके चुपके हमारे सव सत्त्व, सब विद्या सव सपत्ति का अपहरण होता चला जाता है। इसकी माया के अच्छी तरह फैल जाने पर तो यह अवस्था आजाती है कि इस शुष्ण असुर के शिकार हुए लोग ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि वे स्वेच्छा से, प्रसन्नता से, अपने को चुसवाते, शोषित करवाते जाते हैं। परन्तु हे इन्द्र ! तू इस मायावी महाअसुर को मायाओ द्वारा ही विनष्ट कर देता है। तेरा जगद्विधान इतना सच्चा और परिपूर्ण है कि इसमे माया की अपने आप प्रतिक्रिया होती है, माया अपनी प्रतिद्वन्द्वी माया को पैदा कर अपना आत्मघात कर लेती है। चालें चलने वाला आखिर अपनी चालो से ही मारा जाता है। तेरी सच्ची माया (प्रज्ञा) के सामने शुष्ण की झूठी माया विलीन हो जाती है। पर तेरे इस सृष्टि के रहस्य को, तेरे इस सामर्थ्य को, विरले मेधावाले ज्ञानीजन ही जानते हैं। शेष साधारण लोगो को तो जब इस भयकर शोषण का पता लगता है तो वे घवरा उठते हैं और समझने लगते हैं कि इस ससार मे कोई इन्द्र नही, परमेश्वर नही, कोई गरीबो की आह सुनने वाला नही। किन्तु ये 'मेधिर' लोग श्रद्धाभरी आँखो से तेरी तरफ देखते हुए अपना काम करते जाते हैं। पर हे इन्द्र ! अव तो वहुत देर हो चुकी, शुष्ण राक्षस का उपद्रव पराकाष्ठा को पहुँच चुका। पीडितो की सुधि तुम और कव लोगे ? ये देखो, चुसते चुसते अव यहाँ क्या वचा है ? ये देखो, मेधावी लोग अव एकमात्र तुम्हारी तरफ टकटकी लगाये देख रहे हैं। अव तो तुम छिनते जाते गरीवो के पेट के अन्नो का उद्धार कर दो, नष्ट होते जाते उनके सत्त्वो का रक्षण कर दो। शुष्ण की माया को छिन्न भिन्न करके इससे ढके पडे सज्जनो के यशो को फिर सुप्रकट कर दो। प्रभो ! अव तो हद्द हो चुकी है। हे इन्द्र ! तुम्हारा इन्द्रत्व और किस समय के लिये है ?

शब्दार्थ—

(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**त्वं**) तुम (**मायिनं**) मायावाले, वडे कपटी (**शुष्णं**) शोपण करने वाले राक्षस को (**मायाभि.**) मायाओ द्वारा ही (**अवातिरः**) नीचे कर देते हो, विनष्ट कर देते हो। (**ते**) तुम्हारे (**तस्य**) उस रहस्य को (**मेधिराः**) मेधावाले ज्ञानी लोग ही (**विदु**) समझते हैं, तुम अव (**तेषां**) उनके (**श्रवांसि**) अन्नो को, सत्त्वो को, यशो को (**उत्तिर**) ऊँचा कर दो, उद्धार कर दो।

ब्रह्मचर्य के तपोबल की महती महिमा

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥
अ० ११.५.१९॥

विनय

शरीर मे वीर्य ही जीवनवर्धक वस्तु है। हम इस वीर्य को जितना जितना धारण करेंगे उतना ही हम जीवनपूर्ण होंगे और मृत्यु को जीतेंगे। मनुष्यो ! यदि तुम मृत्युभय से पार होना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य को धारण करो। सब देव जो अमर हुए हैं, ज्ञानी सन्त महात्मा ऋषिलोग जो मृत्यु को भी मारे हुए निश्चिन्त बैठे हैं वे इस स्पृहणीय अवस्था को ब्रह्मचर्य के तपोबल द्वारा ही पहुँचे हैं। शारीरिक वीर्य, मानसिक तेज और आत्मिक शक्ति को सदा रक्षित रखना, कभी भी भोग मे गिर कर इनका क्षय न होने देना, यही वह कठिन ब्रह्मचर्य का तप है जिससे कि मौत भी मारी जाती है और सच्चा परमसुख पाया जाता है। सयमी ब्रह्मचारी जिस दिव्य सुख को अनुभव करते हैं उसकी एक कला भी भोगियो को नही मिलती है। बिचारे भोगी लोग सुख को जानते ही नही हैं। यदि उन्हे सच्चे आत्मवश सुख का पता लग जाय तो वे कभी भोगो की इच्छा न करें। हे भाइयो ! तुम उन परम ब्रह्मचारी परमेश्वर की तरफ क्यो नही देखते ? वे ईन्द्र परमैश्वर्यवाले होते हुए भी त्रिकाल मे भोगवासना से परे हैं और सर्वथा निष्काम है। इसीलिये उनके पास अपनी शक्ति का ऐसा अक्षय भडार सचित है कि वे देवराज अपने सब अग्नि आदि देवों के लिये तथा सब मनुष्य-देवो के लिये तेज और सुख को अनवरत देते चले जा रहे हैं। यदि इस ससार के मूल मे उन इन्द्र प्रभु का ब्रह्मचर्य न हो तो यह ससार एक क्षण भर न चल सके। इसी तरह शरीर मे आत्मा-इन्द्र अपने ब्रह्मचर्य द्वारा ही सब इन्द्रिय-देवो मे तेज और सुख को सदा ला रहे हैं। भोगो मे पडते जाने से इन्द्रियो का तेज सदा क्षीण होता जाता है पर उनके आत्माभिमुख होने पर वे ब्रह्मचर्य द्वारा रक्षित आत्मा के अपार तेज और सुख से परिपूर्ण हो जाती हैं, भर जाती हैं। अत हे मनुष्यो ! यदि तुम मौत को मारना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की साधना करो, और यदि तुम सुख पाना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की उपासना करो।

शब्दार्थ—

(देवाः) देव, ज्ञानी पुरुष (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से (मृत्युं) मौत को (अपाघ्नत) मार डालते हैं। (इन्द्रः) परमेश्वर व आत्मा (ह) भी निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही (देवेभ्य) देवो के लिये (स्वः) सुख व तेज को (आभरत्) लाता है, प्राप्त कराता है।

राज्यशासन और शिक्षा शासन का महान् आधार—ब्रह्मचर्य—तप

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

अ० ११ ५ १७॥

विनय

जो राजा अजितेन्द्रिय, विलासी होता है उसके दुर्बल हाथो मे राज्य की वागडोर सँभली नही रह सकती । क्योकि जिस सरकार के अधिकारी व कर्मचारी विषयलोलुप आचारहीन और लम्पट होते है उसकी प्रजा अरक्षित हो जाती है एवं पीड़ित और दु खी होती हुई वह प्रजा उस सरकार को शाप देती रहती है । ऐसी सरकार शीघ्र ही च्युत हो जाती है । अत हे राजाओ । यदि तुम सचमुच राज्य करना चाहते हो, प्रजा को ठीक-ठीक रंजन और रक्षण करना चाहते हो, प्रजा को धनसमृद्ध ज्ञानविकसित और उन्नत बनाना चाहते हो, तो तुम ब्रह्मचारी बनो और तपस्वी बनो । तुम अपने जीवन को सदा संयमी और तेजस्वी बनाओ और अपने आपको जितेन्द्रिय, कष्टसहिष्णु और ईश्वरपरायण बनाओ ।

इसी तरह जो आचार्य शिष्य को शिक्षित करना चाहता है, उसे ब्रह्मचारी रखकर वेदज्ञान देना चाहता है उसे स्वय ब्रह्मचारी होना चाहिये, बडा उन्नत ब्रह्मचारी होना चाहिये । नही तो उसे ब्रह्मचारियो की इच्छा ही नही करनी चाहिये । वास्तव मे यह आचार्य का अपना ब्रह्मचर्यमय और शान्तिप्राप्त जीवन ही होता है जिसके कि कारण वह इच्छा करता है कि और भी बहुत से लोग ब्रह्मचारी बनें, कि जितने ब्रह्मचारी बनें उतने थोड़े हैं । सचमुच आचार्य अपने ब्रह्मचर्य के बल द्वारा ही ब्रह्मचारियो को आकृष्ट करता है, उन पर शासन करता है, उन्हें अपने वश मे रखता है, अपने से जोडे रखता है और उन्हे ब्रह्मामृत पिलाता हुआ परिपुष्ट करता रहता है ।

एवं कोई भी शासन—राज्यशासन या शिक्षाशासन, क्षत्रिय का शासन या ब्राह्मण का शासन—ब्रह्मचर्य के बिना नही चल सकता ।

शब्दार्थ—

(**राजा**) राजा (**ब्रह्मचर्येण तपसा**) ब्रह्मचर्य के तप द्वारा (**राष्ट्रं**) राष्ट्र को (**वि रक्षति**) ठीक ठीक रक्षा करता है । और (**आचार्यः**) आचार्य (**ब्रह्मचर्येण**) ब्रह्मचर्य से ही (**ब्रह्मचारिणं**) ब्रह्मचारी को (**इच्छते**) चाहता है ।

देवों की निवासभूमि

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥

अ० ११ ८ ३१॥

विनय

सब ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह पुरुष ब्रह्म है। क्या तुम जानते हो कि वे ऐसा क्यो कहते हैं ? इसका कारण यह है कि सब के सब देवता हमारे शरीर मे आये हुए है और सब देवो का देव परमदेव परमेश्वर ही हमारे अन्दर है। सूर्य वायु अग्नि आदि सब देव हमारे शरीर मे ऐसे अपना घर बना कर आ बैठे है जैसे कि अपने गोष्ठ मे, गोशाला मे, गौएँ यथास्थान बैठी हुई होती है। सचमुच हमारा देह देवो का घर बना हुआ है। सूर्य देवता हमारे चक्षु को, ज्ञान को, ज्ञान के विस्तृत कोष को अधिकृत करके आ बैठा है और उसके साथ सपूर्ण और द्युलोक के सब देवता समाये हुए है। वायु देवता हमारे प्राण मे, मनोमय सहित हमारे प्राणशरीर मे ठहरा हुआ है और उसके साथ सपूर्ण अन्तरिक्षलोक और अन्तरिक्ष के सब देव आये हुए हैं। और अग्नि देवता हमारे शेष स्थूल शरीर को सभाल कर बैठा हुआ है और उसके साथ समस्त पृथ्वीलोक तथा पृथ्वी के सब देव विराजे हुए है। इस तरह यह सब त्रिलोकी, त्रिलोकी के सब भुवन और भुवनो के सब के सब तैंतीस, तीन सौ तीन या तीन हजार तीन[1] देवता इस शरीर मे आये हुए हैं। सचमुच सब ब्रह्माण्ड ही इस पिंड मे हैं। इसमे आश्चर्य ही क्या है ? जबकि वह परमदेव हमारे अन्दर है तो उस की सपूर्ण विभूति, उसका सपूर्ण विश्व क्यो न हमारे अन्दर होगा ? वास्तव मे सब कुछ हमारे अन्दर ही है और मनुष्य को जब भी कभी सब कुछ की प्राप्ति होगी तो अपने अन्दर से ही होगी। बाहर कुछ नही है। बाहर तो केवल हमारे अन्दर की छायामात्र हैं, अस्थिर छायामात्र है। इसलिये हे मनुष्य ! जिस दिन इस परम सत्य का साक्षात्कार तुझे हो जायगा तो निश्चय से तू भी बोल उठेगा "इद ब्रह्म" पुरुष के विषय मे कहने लगेगा "यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है"।

शब्दार्थ—

(तस्मात्) इसी कारण (वै) ही (विद्वान्) ज्ञानी लोग (पुरुषं) इस पुरुष को (इदं ब्रह्म इति) 'यह ब्रह्म है' ऐसा (मन्यते) मानते हैं। क्योकि (अस्मिन्) इस पुरुष देह में (सर्वा हि देवता.) सब की सब देवताएँ (गाव. गोष्ठे इव) जिस तरह गोशाला में गौएँ बैठी होती है उसी तरह (आसते) आ विराजी हुई है।

---

1. बृहदा० उ०—६.१.१॥

सहनशक्ति की महती महिमा

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषास्मि विश्वाषाड् आशामाशां विषासहिः ।।
अ० १२ १ ५४।।

विनय

मैं सहनशक्ति मे अदम्य हूँ । मैं सह सह कर सब को हरा दूँगा, सब को पराभूत कर दूँगा । अपनी भूमि माता के लिये ऐसी क्या चीज है जिसे मैं सह नही लूँगा । मैं इस भूमि पर 'उत्तर' होकर उत्पन्न हुआ हूँ, उत्कृष्टतर मनुष्य-योनि पाकर उत्पन्न हुआ हूँ । मुझे अपने मनुष्यत्व का अभिमान है । मैं मनुष्य होकर कभी सहन करने मे कैसे हार खा सकता हूँ ? मैं तो भूमिमाता का मुख उज्ज्वल करने के लिये असह्य से असह्य कठिनाइयो और मुसीबतो को सह डालूँगा । मेरे मुकाबिले मे जो कोई आयेगा उसे मैं अपनी सहनशक्ति द्वारा वशीभूत कर लूँगा, अपने सामने नमा लूँगा । मेरे अभिमुख कोई भी प्रतिद्वन्द्वी खडा नही रह सकता । मैं उत्तर हूँ । मैं सब कुछ सह लूँगा । मैं भूमिमाता का पुत्र हूँ, मैं सब का अभिभव कर दूँगा । हे ससार की बडी से बडी शक्ति ! तू आ, मैं आज सब को जीत लूँगा । मैं तो जिस दिशा मे पैर रखूँगा उसे ही अपनी सहनशक्ति द्वारा अपने सामने झुका लूँगा, जिस आशा या इच्छा से निकलूँगा उसे ही अपने इस अमोघ अस्त्र द्वारा अधिगत कर लूँगा । मैं अभीषाड् हूँ, मैं विश्वाषाड् हूँ ।

शब्दार्थ—

(**अहं**) मैं (**सहमान**) सहन करने वाला (**अस्मि**) हूँ (**भूम्या**) इस भूमि पर (**उत्तरः नाम**) उत्कृष्टतर प्रसिद्ध हूँ । मैं (**अभीषाड्**) मुकाबिले मे आये हुए को सहनेवाला (**अस्मि**) हूँ, (**विश्वाषाड्**) सब कुछ सहनेवाला हूँ, (**आशां आशा**) प्रत्येक दिशा मे प्रत्येक इच्छापूर्ति के लिये सब कुछ (**विषासहिः**) विशेषतया बार बार सह सकने वाला हूँ ।

वाग्देवी की महती महिमा, यह इन्द्र का वज्र है

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥
अ० १९ १.३॥

विनय

हमारे अन्दर जो वाणी है वह एक बहुत वडी देवता है । हमारा दौर्भाग्य है कि हम इसके माहात्म्य को नही समझते । यह तो परमेष्ठिनी है । परम मे ठहरने-वाली है । इस का स्थान परमदेव मे है । पर हम इसे एक मामूली चीज समझते हुए इसके साथ 'परमेश्वर से सम्बन्ध रखनेवाली वाग् देवता' का सा वर्ताव नही करते । यदि हम इसके साथ ऐसा ही वर्ताव करें और इसे ब्रह्मसशिता बनायें तो इसके समान ससार मे और कोई दूसरी शक्ति नही है । ब्रह्म से, ईश्वरीय ज्ञान से, ब्रह्मचर्य-प्राप्त ब्रह्मतेज से सशित की गई, तीक्ष्ण की गई वाणी एक ऐसा शस्त्र है जो कि अमोघ है । यह इन्द्र का वज्र है । यह आत्मा की एकमात्र शक्ति है । अनादिकाल से ससार के सब दिव्य लोग इसी दिव्य हथियार को वरतते आये हैं । यह ठीक है कि जैसे हरएक ही हथियार का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनो किया जा सकता है वैसे इस वाक् का दुरुपयोग भी हो सकता है और सदा होता रहा है । इससे वडे वडे घोर कृत्य किये गये हैं । ससार मे जो सदा लडाई झगडे उपद्रव और सग्राम होते रहते है प्राय उन सब का मूल किसी न किसी रूप मे वाणी का दुरुपयोग ही होता है । वाणी की तलवार के घाव कितने बुरे होते हैं और कितने भयंकर दुष्परिणाम के लाने वाले होते हैं यह सभी अनुभवी लोग जानते और देखते हैं । परन्तु हम तो कभी वाणी का दुरुपयोग नहीं करेंगे । अपनी वाणी का सदा शान्ति फैलाने के लिये, प्रेम व मेल बढाने के लिये ही उपयोग करेंगे । इस देवी का, परमेश्वर की प्रदान की हुई इस परम पवित्र वस्तु का, हम बहुत सोच समझ कर उपयोग करेंगे । इसके द्वारा हम जख्मो को भरेंगे, फटे हुओ को मिलायेंगे और जुदा हुओं को गले लगवायेंगे । हमारा सकल्प है कि इस वाणी शक्ति द्वारा हम ससार मे शान्ति को फैलायेंगे, ससार मे शान्ति का सस्थापन करेंगे ।

शब्दार्थ—

(**इयं**) यह (**या**) जो (**परमेष्ठिनी**) परमदेव परमेश्वर मे ठहरने वाली और (**ब्रह्मसंशिता**) ज्ञान से तीक्ष्ण की गयी (**वाक्**) वाणी रूपी (**देवी**) देवता है, (**यया एव**) जिससे कि नि.सन्देह (**घोरं**) वडे वडे घोर कृत्य (**ससृजे**) किये जाते हैं (**तया एव**) उसी ही वाणी से (**नः**) हमारे लिये, हम मनुष्यो के लिये (**शान्तिः**) शान्ति (**अस्तु**) होवे, फैले ।

धन का वस्तुतः सच्चा स्वामी व्यापक प्रभु अतः त्यागपूर्वक भोग

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

य० ४०.१॥

विनय

हे मनुष्य ! विना पूछे ताछे विना जाने बूझे तूने उत्पन्न होते ही इस ससार के ऐश्वर्यों को भोगना शुरू कर दिया है, पर क्या तूने कभी यह भी पता लगाया है कि यह ऐश्वर्य धन किसका है ? इस धन का ईश कौन है, स्वामी कौन है ? अरे, इसका स्वामी तो हर जगह विद्यमान है। वह न दीखता हुआ भी हर वस्तु मे रमा हुआ है। इस जगतीतल पर यह जो भी कुछ जगत् दीख रहा है, पदार्थजात विद्यमान हैं, वह सब इस ईश से बसा हुआ है इससे अधिकृत हुआ हुआ है। तुझे चाहिये कि तू उस ईश की अनुमति पाकर ही इन ऐश्वर्यों का भोग कर, अर्थात् तेरे अन्दर बैठा हुआ वह ईश तुझे जो कुछ दे रहा है उसी का भोग कर। दूसरे को दिये गये धन को देखकर तू कभी मत ललचा। वह उसी के लिये दिया गया है। सब धन तो उस ईश का ही है। और वह हमारे कल्याण के लिये और जगत् कल्याण के लिये हम मनुष्यो को यथा-योग्य धन देता है इसलिये तू कभी लोभ मत कर। दूसरे को दिये गये धन पर दृष्टिपात मत कर। जो कुछ तुझे दिया है उसका ही सतोष के साथ भोग कर। इसी मे तेरा कल्याण है। और फिर तू इस प्राप्त धन का भी त्यागपूर्वक भोग कर। जो कुछ तेरे सामने आता है उसमे से यज्ञ का भाग निकाल कर जो शेष बचे उसे ही भोग कर, जगत् कल्याण के लिये, सर्वहित के लिये, दे देने के बाद जो बच रहे उसे ही अपने लिये समझ। यह यज्ञ भाग तो उस ईश का भाग है उस से जो कुछ छूटे, त्यक्त होये, उसी त्यक्त से तू अपना काम चला, उपभोग कर। और इस अमृत का उपभोग भी तू सदा ईशार्पण करके कर। तू और तेरा सब कुछ भी उस ईश का ही तो है अत तू जो कुछ भोगता है उसे सदा इसी भावना से भोग कि इसके भोगने से जो तेरी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पुष्टि होगी वह उस ईश के काम के लिये होगी, ईश की सेवा के लिये होगी। देख, इस जगत् मे ईश के इस सब धन को भोगने का यही एक नियम (कानून) है, एकमात्र यही ठीक विधि (तरीका) है।

शब्दार्थ—

(जगत्यां) इस ससार मे **(यत् किंच)** जो कुछ भी **(जगत्)** सृष्टि है वह **(इदं)** यह सामने दीखने वाला **(सर्वं)** सभी कुछ **(ईशा)** ईश से, ईश्वर से **(वास्य)** बसा हुआ है, व्याप्त है। अत.**(तेन)** उस ईश्वर से **(त्यक्तेन)** त्याग किये हुए, दिये हुए धन से ही **(भुंजीथा)** तू अपना भोग प्राप्त कर, **(कस्यचित्)** किसी दूसरे के **(धनं)** धन की कभी **(मा गृधः)** चाह मत कर।

निष्काम कर्मयोग की महती महिमा

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
य० ४० २॥

विनय

मनुष्य को चाहिये कि वह कर्म करता हुआ ही जीना चाहे। यदि वह कर्म नही करता है तो उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं है। यह जीवन कर्म करने के लिये ही दिया गया है। हे मनुष्य! क्या तू डरता है कि कर्म करने से तू कर्म मे लिप्त हो जायगा, बँध जायगा? नही, यदि पूर्वोक्त प्रकार से त्यागपूर्वक तू जगत् को भोगेगा, ईशार्पण बुद्धि से अपने सब व्यवहार करेगा, सर्वथा 'मम' 'अहं' को छोड़ कर कर्म करेगा तो तेरे ऐसे कर्म कभी तुझे बंधनकारक नही होगे। ऐसे निष्काम कर्मों का कभी तुझ 'नर' मे लेप नही होएगा। सचमुच ऐसे निष्काम कर्म करने वाले ही ससार मे असली नर होते हैं, व्यवहार को चलाने वाले होते है, नेता होते हैं। अत हे नर! तू अनासक्त होकर त्यागपूर्वक कर्मों को कर। यही कर्मलेप से बचने का उपाय है। वल्कि इस निष्काम कर्म की साधना के सिवाय ससार मे और कोई उपाय कर्मलेप से वचने का नही है। क्या तू समझता है कि कर्म न करने से तू कर्मलेप से वच जायगा? अरे भोले! जब तक यह शरीर है, जीवन है तब तक कर्मत्याग हो ही कैसे सकता है? कुछ न कुछ शारीरिक या मानसिक कर्म किये विना तू जी ही कैसे सकता है? यदि कर्म से वचने के लिये तू आत्मघात भी कर डालेगा तो भी तुझे छुटकारा नही मिलेगा। तुझे दूसरा जन्म लेना पडेगा और तुझे इस आत्मघात का पाप भी लगेगा। तू देख कि जिस समय कर्म करना आवश्यक हो उस समय कर्म न करने से अकर्म का पाप भी लगता है। अत याद रख कि कर्म त्यागने से तो तुझे कभी निर्लेपता नही मिलेगी। इसका साधन तो एक ही है कि कर्म किया जाय किन्तु निर्लेप होकर किया जाय। अत हे मनुष्य! तू उठ और इस अकर्म की तामसिक अवस्था को त्यागकर उत्साहपूर्वक निर्लेप कर्मों को किया कर, सर्वथा निरहकार होकर सदा प्रभु अर्पित अवस्था मे रहते हुए सहजप्राप्त कर्मों को निःसग होकर सदा किया कर। ऐसे कर्मों को तू अपने सपूर्ण सौ वर्षों तक करना जा, अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक करता जा।

शब्दार्थ—

मनुष्य (इह) इस ससार मे (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शत समा) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीना रहना चाहे। (एव) इस तरह, पूर्वोक्त प्रकार से त्यागपूर्व कर्म करने से (त्वयि) तुझ (नरे) नर मे, कर्म चलाने वाले पुरुष मे (कर्म) कर्म (न लिप्यते) लिप्त नहीं होगा। (इतः अन्यथा) इस के अतिरिक्त [कर्मलेप से वचने का] और कोई उपाय (न अस्ति) नही है।

बलप्रदाता वरुण बल देकर हमें अनृत पाप से मुक्त करे

बह्विदं राजन् वरुण अनृतमाह पूरुषः ।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुंच नः पर्यंहसः ।।
अ० १९.४४.८।।

विनय

हे सच्चे राजा, हे पापनिवारक ! मनुष्य बहुत अनृत बोला करता है और बड़ी तुच्छ तुच्छ बातों पर अनृत बोला करता है। प्रात से लेकर रात्रि तक एक दिन मे ही न जाने कितनी बार असत्यभाषण करता है । हम मनुष्यो का जीवन इतना अनृतमय हो गया है कि प्राय हम लोग यह अनुभव ही नही करते कि हम कितना अधिक असत्य बोलते है। यह अनुभव तो तब मिलता है। जब कि मनुष्य सचमुच झूठ से घबराने लगता है और सत्य ही बोलने के लिये सदा सचिन्त रहने लगता है। उस समय मुख से निकली अपनी एक एक वाणी पर पूरा पूरा निरीक्षण और विवेचन करने पर उसे पता लगता है कि वह सूक्ष्म रूप मे कितने अधिक असत्य बोलता है। सच तो यह है कि हम मे से जो लोग अपने को सत्य बोलने वाला समझते हैं वे भी असल मे काफी असत्य बोलते हैं। जो पूरा सत्यवादी होगा, पतजलि, व्यास आदि ऋषि मुनियों के कथनानुसार, उसकी वाणी मे तो ऐसा तेज आ जायगा, कि वह जो कुछ कहेगा वह सच्चा हो जायगा, वह क्रिया और फल से समन्वित हो जायगा। यदि वह किसी को कहेगा कि 'तू नीरोग हो जा' तो वह नीरोग हो जायगा[1] अर्थात् जो कार्य हम हाथ पैर आदि की स्थूल शक्ति से सिद्ध करते हैं वह पूरे सत्यवादी पुरुष की वाणी की शक्ति से हो जाता है । अत वास्तव मे हम मे से ऊंचे ऊंचे पुरुष भी अभी सर्वथा असत्यरहित नहीं हुए हैं।

हे सहस्रवीर्य ! इस असत्य से तुम ही हमे बचाओ। हमने आत्मनिरीक्षण करते हुए सदा देखा है कि हम सदैव तुच्छ भय लोभ आसक्ति आदि के कारण ही, सदैव अपनी कमजोरी निर्बलता वीर्यहीनता के कारण ही असत्य बोलते हैं। अत. हे अपरिमित वीर्यवाले ! तुम हमे ऐसे वीर्य और बल से भर दो कि हम सदा निधड़क हो कर सत्य ही बोलें, झूठ बोल ही न सकें, झूठ बोलने की कभी आवश्यकता ही अनुभव न करें। सचमुच तुम्हारी सहस्रवीर्यता का ध्यान कर लेने पर हम मे इतना बल सचार हो जाता है कि हम अनुभव करने लगते हैं कि हम भी कभी पूरे सत्यवादी हो जायेंगे। इस तरह, हे सहस्रवीर्य ! तुम हमे सदा असत्य से छुड़ाते रहो, असत्य के पाप से हमे सब तरफ से मुक्त करते रहो।

शब्दार्थ—

(**वरुण**) हे पापनिवारक ! (**राजन्**) हे सच्चे राजा ! (**पूरुष.**) मनुष्य (**इदं**) यह [तुच्छ तुच्छ] (**बहु**) बहुत (**अनृत**) झूठ (**आह**) बोलता है। (**तस्मात्**) उस (**अहस**) पाप से, (**सहस्रवीर्य**) हे अपरिमित वीर्य वाले ! तू (**नः**) हमे (**परिमुंच**) सब तरफ से मुक्त कर दे।

---

१ देखो योगदर्शन २-३६ और व्यासभाष्य

हम सर्वत्र मातृभूमि के यश की रक्षा करें

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयः तेषु चारु वदेम ते ॥

अ० १२.१ ५६ ॥

विनय

हे भूमिमात ! हम प्रत्येक स्थान मे प्रत्येक समय मे प्रत्येक विषय मे तेरे लिये चारु ही भाषण करें, तेरे लिये उत्तम वाणी ही बोलें। सदा ऐसी बात बोलें जो कि तेरे यश को बढाने वाली हो, तेरे लिये हितकर हो, तेरी उन्नति करने वाली हों। हम तेरे ग्रामो नगरो मे रहे तो हमारे अन्दर परस्पर प्रेमपूर्वक तेरी ही चर्चायें चलें, तेरे गौरवपूर्ण भूत की कथायें कही जायें और तेरे उज्ज्वल भविष्य की बातें होयें। हम तेरे जगल मे होयें तो वहां अकेले भी हम तेरे स्तुति-गीत गायें, तेरे प्रेम की गीतियाँ गाते हुए आनन्द पायें। यदि तेरी सभाओ मे जायें तो वहाँ तेरे पक्ष मे भाषण करें, तेरे उन्नतिकारक प्रस्तावो पर हमारे प्रभावशाली वक्तृत्व होयें। और यदि सग्रामो मे खडे हो तो वहाँ तेरे ही उच्चस्वर से नारे लगायें, अपने सैनिको का उत्साह बढाते हुए तेरे जयघोषो से आकाश को गुंजा देवे। और जब तेरी समितियो मे बैठे होयें तो खूब सोच समझ कर पूरी तरह गभीर विचार करके ही मुख से शब्द निकालें, जिससे कभी अनजाने मे भी हमारी वाणी द्वारा कभी तुम्हारा द्रोह न हो सके। हे भूमिमात ! हमारी वाणी सदा तुम्हारे लिये चारु बोलने वाली होयें सदा तुम्हारी सेवा के लिये समर्पित होयें !

शब्दार्थ—

(अधि भूम्यां) इस भूमि पर (ये ग्रामाः) जो ग्राम हैं। (यद् अरण्यं) जो जगल हैं (याः सभाः) जो सभा हैं (ये सग्रामाः) जो लडाइया हैं (समितय.) और जो समितिया होती हैं, (तेषु) उन सब मे हम, हे भूमिमातः ! (ते) तेरे लिये (चारु) उत्तम ही वाणी (वदेम) बोलें।

प्राण की महामहिमा

यथा प्राण वलिहृतः तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥

अ ११४१९॥

विनय

हे प्राण-महासम्राट् ! यह देखो कि संसार भर के सब प्राणी, सब प्रजायें सब जीव तुम्हारे लिये कर ला रहे हैं, तुम्हें प्रतिदिन अन्नरूपी कर की भेंट चढ़ा रहे हैं। यदि वे ऐसा न करें तो वे जीवित ही न रह सके। तुम ऐसे प्रतापी सम्राट् हो कि डर के मारे, अपने मर जाने के डर के मारे, संसार भर के सब जीव नित्य तुम्हारी प्राणाग्नि मे अन्न-बलि दे सकने के लिए अन्नो को जहाँ कहाँ से ला रहे हैं बड़े यत्न से पसीना बहा कर अन्न धन जमा कर रहे हैं और किसी न किसी तरह तुम्हें सन्तृप्त कर रहे हैं। इस तरह हे प्राण ! तुम जीवमात्र के सदा प्रथम उपास्य बने हुए हो। हे सुश्रव', हे सुन्दर सुनाने वाले, हे सुन्दर यशवाले ! तुम्हारा वह भक्त भी इसी तरह सब लोगो का उपास्य और सब की बलियो का भाजन बन जाता है जो कि तुम्हारा पूर्ण उपासक हो जाता है, जो कि तुम्हारे सुन्दर यश को सुनता है, तुम्हारी आज्ञाओ व बातो को सुनता है और ठीक उनके अनुसार आचरण करता है। जो मनुष्य प्राण की उपासना करते हैं प्राण की महामहिमा का श्रवण मनन करते हैं उनके कानो मे तुम न केवल सदा अपना दिव्यगान सुनाने लगते हो किन्तु उन्हे कब क्या करना चाहिये ऐसा अपना दिव्य सदेश भी हर समय देने लगते हो। धन्य है वे पुरुष जिन्हे इस प्रकार प्राण के श्रोता बनने का महासौभाग्य प्राप्त होता है। ऐसे लोग, हे प्राण ! मनुष्यसमाज के प्राण बन जाते हैं। हम ससार मे देखते है कि मनुष्यसमाज के प्राण-भूत ऐसे महापुरुषो के लिये सब लोग अपना अहोभाग्य समझते हुए नानाविध भेंट लाते हैं, उनके सामने अपना घर धन, सपत्ति, पुत्र, जीवन तक उपस्थित कर देते हैं, जीवित रखने को सब के सब लोग चिंता करते हैं और अपने आप मर कर भी उन्हे जीवित रखना चाहते हैं। हे प्राण ! जब तुम्हारे श्रोता की ही इतनी महिमा है तो स्वय तुम्हारी अपनी महिमा को हम तुच्छ लोग क्या बखान कर सकते है ?

शब्दार्थ—

(प्राण) हे प्राण ! **(यथा)** जैसे **(इमा)** ये **(सर्वा)** सब **(प्रजा)** प्रजाये जीव **(तुभ्य)** तेरे लिये **(वलिहृत)** बलि का, कर का, भेंट का आहरण करनेवाली हुई हुई ह **(एवा)** इसी तरह **(अस्मै)** उस पुरुष के लिये भी ये सब प्रजायें **(बलि)** बलि, भेंट को **(हरान्)** लाती है, लाने लगती है **(य.)** जो कि प्राणोपासक पुरुष **(सुश्रव)** हे सुन्दर सुनानेवाले, हे सुन्दर यशवाले ! **(त्वां)** तुझे **(शृणवत्)** सुनता है।

प्राणाय नमो नमः

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठते आसीनायोत ते नमः ॥

अ० ११४.७ ॥

विनय

हे प्राण ! मैं सदा आते जाते तुझ पर दृष्टि रखता हूँ। तेरी आने और जाने की गति के साथ अपनी मनोवृत्ति को लाता और ले जाता रहता हूँ। बल्कि तेरे आने जाने के साथ 'ओ३म्' का जप करता जाता हूँ। इस तरह दिन रात के चौबीसों घन्टों में जो तेरा इक्कीस हज़ार छः सौ बार आना जाना होता है उसके साथ मेरे इतने ही अजपाजप होते जाते हैं। इस साधना के शुरू करने में तू ठहरने लगता है और कभी कभी स्वयमेव कुछ समय के लिये ठहरा भी रहता है। एवं तेरा स्वाभाविक अनुसरण करने में मेरे चारों प्रकार के प्राणायाम भी सिद्ध हो जाते हैं। तेरे आने में बाह्यवृत्ति (रेचक) प्राणायाम होता है, तेरे जाने में आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) प्राणायाम होता है, ठहरने में स्तम्भवृत्ति (कुंभक) प्राणायाम होता है और स्वयमेव ठहर जाने में चौथा बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी प्राणायाम हो जाता है। मैं तो हठयोग के प्राणायाम की क्रियाओं के झगड़े में नहीं पड़ता किन्तु आते जाते ठहरते और ठहरे हुए तुझे, हे प्राण ! सदा नमस्कार करता जाता हूँ। बस, इसी में मुझे सब प्राणायामों का फल मिल जाता है। मैं तुझे तेरी सब स्थितियों में और सब कालों में नमस्कार ही करता हूँ। सदा तेरे सामने झुकता हूँ। कभी तुझे अपनी इच्छानुसार झुकाने की घातक चेष्टा नहीं करता। तू जो अपने सहज-स्वभाव से मुझ में चल रहा है उसी के अनुसार मैं अपने आपको झुकाता जाता हूँ, उसी के अनुसार अपने जीवन को सचालित करता जाता हूँ। किन्तु कभी अपनी सहूलियत के अनुसार तुझे मोड़ने की, परिवर्त्तित करने की अक्षम्य मूर्खता नहीं करता। हे प्राण ! मैं तो आते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, जाते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, ठहरते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, और ठहरे हुए, बैठे हुए, तुझे नमस्कार करता हूँ।

शब्दार्थ—

(प्राण) हे प्राण ! (आयते) आते हुए (ते) तुझे (नम अस्तु) नमस्कार होवे (परायते) जाते हुए तुझे (नम अस्तु) नमस्कार होवे। (तिष्ठते) ठहरे हुए (ते) तुझे (नम) नमस्कार करता हूँ (उत) और (आसीनाय) बैठे हुए, स्थिर हुए हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार करता हूँ।

सनातन और नवीन का अद्भुत समन्वय

सनातनमेनमाहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ।।

अथर्व० १० ८.२३ ।।

विनय

विरले ही मनुष्य होते हैं जिन्हे कि आत्मा परमात्मा ईश्वर ब्रह्म आदि की चर्चा रोज रोज रुचती है, आनन्ददायी लगती है। हम साधारण लोगो को तो यह चर्चा पुरानी, जीर्ण, घिसी हुई, बासी और नीरस ही लगती है। जब हमे रोज रोज समाज मन्दिर की वेदकथा मे जाने को, नैत्यिक प्रार्थना मे उपस्थित होने को या दैनिक भजन कीर्तन मे सम्मिलित होने को कहा जाता है तो हम प्राय कहते हैं "हम वहाँ जाकर क्या करेंगे ? वहाँ तो रोज वही एकरस मामला चलता है, वहाँ कुछ नयी चीज़ तो मिलनी नही"। वास्तव मे यह सच है कि जिसमे कुछ नयी चीज़ न मिलती हो, कुछ नवीनता न होती हो वह वस्तु हमे कभी रसदायी नही हो सकती, आनन्द-दायी नही हो सकती। जिन लोगो को प्रतिदिन ईश्वरभजन करने मे आनन्द आता है उन्हे इसीलिये आनन्द आता है क्योकि सचमुच उन भक्तो के लिये वे प्रभु नित्य नये होते रहते हैं, नित्य नया जीवन देते हुए मिलते है। हमे ईश्वर का ध्यान करने मे तभी रुचि होती है जब कि उसका ध्यान हमे नित्य नया आनन्द देता है। सच्चा जप करने वाला वही है जिसे कि प्रभु का महापुराना नाम लेते हुए और उसे बार बार लेते हुए भी प्रत्येक बार मे प्रभुनाम के उच्चारण से नया नया उत्साह, नया नया ज्ञान, नयी नयी भक्ति की उमग और नया नया प्रेम का रस मिलता है। अरे मेरे भाइयो ! ये दिनरात कितने पुराने है, उन्हे तुम भी अपने जन्मदिन से लेकर आज तक बिलकुल उसी एक रूप मे रोज रोज आते हुए देख रहे हो फिर भी ये तुम्हे पुराने घिसे हुए और नीरस क्यो नही लगते ? इसका यह कारण है कि इन दिन रातो मे तुम जीवन पाते रहे हो, प्रतिदिन विकसित होते गये हो। इसी तरह जब तुम उस परमेश्वर मे रहने लगोगे, उसमे प्रतिदिन आध्यात्मिक विकास पाने लगोगे तो तुम भी कह उठोगे "वह अनादिकालीन पुराना सनातन प्रभु मेरे लिये प्रतिदिन फिर फिर नया होता है, प्रत्येक आज मे प्रत्येक नये दिन मे फिर फिर नया होता है"।

शब्दार्थ—

(एनं) इस देव को (सनातनं) सनातन, अनादिकालीन (आहु) कहते है, (उत) और तो भी यह (अद्य) आज, प्रतिदिन (पुनः नव) फिर फिर नया (स्यात्) होता है। देखो, (अन्यः) एक (अन्यस्य) दूसरे के (रूपयो) रूपों मे, समान रूपो मे ही (अहोरात्रे) ये दिन रात (प्रजायेते) सदा पैदा होते रहते है। 

परमा प्रिया सच्चिदानन्दरूपिणी परमात्मा देवता

बालादेकमणीयस्कं उतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥

अथर्व० १०.८.२५ ॥

विनय

मुझ मे प्रेमशक्ति किस प्रयोजन के लिये है? मेरे प्रेम का असली भाजन कौन है ? यह खोजता हुआ जब मैं संसार को देखता हूँ तो इस संसार मे केवल तीन तत्त्व ही पाता हूँ, तीन तत्त्वो मे ही यह सब कुछ समाया हुआ देखता हूँ। इनमे से पहिला तत्त्व बाल से भी बहुत अधिक सूक्ष्म है। बाल के अग्रभाग के सैकडो टुकडे करते जाये तो अन्त मे जो अविभाज्य टुकडा बचे उस अणु, परम अणु रूप यह तत्त्व है। प्रकृति के इन्ही परमाणुओ से यह सब दृश्य जगत् बना है। इससे भी सूक्ष्म दूसरा तत्त्व है। पर इसकी सूक्ष्मता दूसरे प्रकार की है इसकी सूक्ष्मता की किसी भौतिक वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती। यह तत्त्व ऐसा अद्भुत है कि यह नही के बराबर है। यह है, किन्तु नही जैसा है। इस दूसरे तत्त्व से परे और इससे सूक्ष्म और इसे सब तरफ से आलिङ्गन किए हुए, व्यापे हुए, एक तीसरा तत्त्व है, तीसरी देवता है। यही देवता मुझे प्रिय है। पहिली प्रकृति देवता जड और निरानन्द होने के कारण मुझे प्रिय नही हो सकती। दूसरी वस्तु मैं ही हूँ, मेरी आत्मा है। मैं तो स्वयं देखने वाला हूँ, तो मै कैसे दीखूंगा ? अत मैं नही के बराबर हूँ। मैं तो प्रेम करनेवाला हूँ अत प्रेम का विषय नही बन सकता। अतएव मेरे सिवाय मेरे सामने दो ही वस्तुए रह जाती हैं, यह प्रकृति और वह सच्चिदानन्दरूपिणी परमात्म-देवता। इन मे से चित्स्वरूप मुझे यह चैतन्य और आनन्द से शून्य प्रकृति कैसे प्रिय हो सकती है ? मेरा प्यारा तो स्वभावत. वह दूसरा देवता है जो कि मेरी आत्मा की आत्मा है, जो कि मेरी आत्मा से परिष्वक्त हुआ इसमे सदा व्यापा हुआ है और जो कि मुझे आनन्द दे सकता है। मैं तो स्पष्ट देख रहा हूं कि प्रकृति के समझे जाने वाले ये बड़े से बडे ऐश्वर्य तथा प्रकृति के दिव्य से दिव्य भोग दे सकने वाले ये अनगिनत पदार्थ सर्वथा आनन्द और ज्ञान-प्रकाश से शून्य है, अत. मैं तो प्रकृति से हट अपने उस प्यारे परम आत्मा की तरफ दौडता हूँ। मैं तो स्पष्ट देखता हूँ कि अपने प्रेम द्वारा उसे पा लेने पर मेरी भटकती हुई प्रेमशक्ति अपने प्रयोजन को पा लेगी, उसे पा लेने पर मेरा सम्पूर्ण प्रेम चरितार्थ और कृतकृत्य हो जायेगा।

शब्दार्थ—

(एकं) एक (बालात्) बाल से भी (अणीयस्क) बहुत अधिक सूक्ष्म, अणु है (उत) और (एकं) एक (न इव) नही की तरह (दृश्यते) दीखता है। (तत.) उससे परे (परिष्वजीयसी) उसे आलिंगन किये हुए, उसे व्यापे हुए (देवता) जो देवता है (सा) वह (मम) मुझे (प्रिया) प्यारी है।

उचित देश और काल में उचित और परिपक्व बलिदान

उत्तिष्ठत अवपश्यत इन्द्रस्य भागमृत्वियम्।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन॥

ऋ० १०.१७९.१॥ अथर्व० ७.७२.१॥

विनय : हे मनुष्यो! उठो, देखो कि इस समय इन्द्र की कौन सी आहुति का समय है। यह काल-इन्द्र समय समय पर संसार से भारी भारी आहुतियाँ माँगता है, और इसी से यह संसार उन्नत होता है। यह देश-इन्द्र समय समय पर बड़े बड़े बलिदान चाहता है, और इस बलिदान को पाकर ही यह अपने एक बड़े अभ्युत्थान के पग को आगे उठा सकता है। और हम इस जीवात्मा-इन्द्र के लिये समय समय पर आत्म-बलिदान करते हुए, ऋतु ऋतु के अनुकूल इसका यजन हवन करते हुए, बल्कि एक दिन के भी भिन्न भिन्न समयों पर उस उस समय के अनुकूल उसको उसके अन्न ज्ञान आदि हवि का भाग प्रदान करते हुए चलते हैं तभी हम आत्मोन्नति को पा सकते हैं। इसलिये हमें सदा खड़ा रहना चाहिये, जागते रहना चाहिये, और खड़े होकर सावधानी से देखते रहना चाहिये कि कहीं किसी आहुति का समय तो नहीं आ गया है, कहीं संसार को, देश को या अपने आत्मा को हमारे किसी बलिदान की जरूरत तो नहीं आ गयी है। देखना, यदि हम प्रमाद के कारण समय को चूक जायेंगे, जिस समय बलिदान करना चाहिये उस समय बलिदान न कर सकेंगे, तो हम न केवल उन्नति से वञ्चित हो जायेंगे किन्तु बहुत पिछड़ जायेंगे, पतित हो जायेंगे, अवनति के गर्त में गिर जायेंगे। अतः उठो और देखते रहो कि कहीं इन्द्र का भाग देने की ऋतु तो नहीं आगयी है।

परन्तु आहुति सदा पकी हुई ही देनी चाहिये, कच्ची आहुति में कुछ फल नहीं होता किन्तु हानि ही होती है। जैसे कि वृक्ष से बिना पके गिरा हुआ फल किसी काम नहीं आता बल्कि खाने वाले को नुकसान पहुँचाता है, उसी तरह अपने आपको बिना पकाये जो यूँ ही जोश में आकर बलिदान कर दिया जाता है उससे कुछ नहीं बनता बल्कि बहुत बार वह आत्मघात रूप होता है। अतः यदि आहुति पकी हुई हो तब तो उसका हवन कर दो, यदि न पकी हो तो ठहर जाओ। इसके लिये दुःखी भी मत होओ। यदि तुम आहुति के समय तक इसे नहीं पका सके तो अब दुःखी होने से क्या फायदा? अब तो प्रसन्न होकर इसे फिर पकाओ, पकाते जाओ जिससे कि अगले आहुतिकाल में तो तुम इसे जरूर दे सको, अगले बलिदान के समय तक तुम जरूर पके हुए होओ।

शब्दार्थ—**(उत्तिष्ठत)** उठो, खड़े होओ **(अव पश्यत)** और सावधानी से देखो, **(इन्द्रस्य)** इन्द्र के **(ऋत्वियं)** ऋतु ऋतु के अनुकूल, समय समय पर दिये जाने वाले **(भाग)** हवि के, बलिदान के भाग को देखो। **(यदि)** यदि **(श्रातं)** [यह हवि] पक चुकी है तो **(जुहोतन)** इसका हवन कर दो, और **(यदि)** यदि **(अश्रातं)** पकी नहीं है तो **(ममत्तन)** [ठहरो, दुःखी मत होओ] प्रसन्न होकर इसे और पकाते जाओ।

पाप को वश में करने से सुख-प्राप्ति

अव मा पाप्मन् सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेहि अविह्रुतम् ॥

अ० ६ २६ १॥

विनय

हे पाप ! तू अब मुझे छोड दे। तूने मुझे बहुत देर अपने वश मे रखा, अब तो मेरा तुझे वश मे करने का समय आगया है। तेरे वशीभूत होकर मैंने बहुत दुःख पाये, अब तो मेरा सुख पाने का समय आगया है। हे पाप ! तुझ से पाये दुःख ही अब मेरे सुख के कारण हो जाये। यह तो ईश्वरीय नियम है कि दुःख के बाद सुख आते हैं और पाप की प्रतिक्रिया मे पुण्य का प्रादुर्भाव होता है। अब तो उस प्रतिक्रिया का समय आ गया है। तुझ से दुःख पा पाकर आज मैं सीधा हो गया हूँ, अकुटिल हो गया हूं। मेरे सब कुटिलता, टेढापन, झूठ, पाखण्ड तुझ पाप की तरफ ले जाने वाले थे। पर आज अकुटिल, सरल, सीधा, सच्चा होकर तो मैं अब भद्र के लोक की तरफ चल पड़ा हूँ। हे पाप ! यदि मैं तुझ मे ग्रस्त होकर इतना न भटकता, इतना दुःख न पाता तो मैं कभी भी कुटिलता की, असत्य जीवन की बुराई को अनुभव न कर पाता और कभी पुण्य का सच्चा पुजारी न बन सकता। इस तरह हे पाप ! तू ही आज मुझे भद्र के लोक मे स्थापित कर रहा है। हे पाप ! तू अब अकुटिल हुए मुझे कल्याण के लोक मे पहुँचा दे, मैं जितना पक्का बेशर्म पापी था उतना ही कट्टर दृढ सच्चा पुण्यात्मा मुझे बनादे, जितना ही गहरा मैं पाप के गर्त्त मे गया हुआ था उतना ही ऊँचा तू मुझे पुण्य के लोक मे स्थिर करदे।

शब्दार्थ—

(पाप्मन्) हे पाप ! तू (मा) मुझे (अवसृज) छोड दे, (वशी सन्) अब मेरे वश मे होता हुआ तू (नः) मुझे (मृडयासि) सुखी कर दे। (पाप्मन्) हे पाप ! तू अब (अविह्रुतम्) कुटिलता रहित, सरल बने (मा) मुझे (भद्रस्य लोके) कल्याण के लोक मे (आ धेहि) स्थापित करदे।

वेदज्ञान रूपी रक्षासाधन से निर्भयता और निश्चितता

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् शपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ।।

अ० १ १९ ४ ।।

विनय

मैं किसी से द्वेष नही करता। किन्तु फिर भी कई भाई मेरे सपत्न व असपत्न होकर मुझ से शत्रुता रखते है। जो सपत्न हैं, समान क्षेत्रवाले हैं वे तो प्राय ईर्ष्या व मत्सर के कारण मुझ से वैर रखते हैं और जो असपत्न हैं, न समानक्षेत्र वाले है, वे प्राय मुझ से इस कारण शत्रुता करते हैं क्योकि मेरे किसी कर्त्तव्यपालन से उनके स्वार्थ को धक्का पहुँचता है। किसी भी कारण से कोई सपत्न या कोई असपत्न या कोई भी मेरा अन्य भाई जब मुझ से द्वेष करता है, मुझ से प्रीति नही रख सकता, और अतएव मुझे शाप देता है, कोसता है, गाली देता है, बुरा भला कहता है, मेरे लिये अपनी शक्ति भर अनिष्टचिन्तन करता है तो इससे मेरा तो कुछ बिगडता नही, किन्तु उसी का नाश होता है। जब मुझे ज्ञान नही मिला था तब तक तो मैं ऐसे शापो से घबडा उठता था और इनका वास्तव मे मुझ पर बहुत असर भी होता था। जब कोई मुझे अखबार या व्याख्यान द्वारा आम जनता मे गालियाँ देता था या मेरे परिचित समाज मे मेरी झूठी निन्दा फैलाता था तो इसे जान कर मैं बडा अशान्त हो जाता था और मेरा चित्त बडी देर तक उद्विग्न रहता था। किन्तु जब से कुछ ज्ञान मिला है, कुछ वेद ज्ञान मिला है, प्रभु की भक्ति के प्रसाद से कुछ आत्म-ज्ञान मिला है तब से यह 'ब्रह्म', यह ज्ञान ही मेरा भीतरी कवच बन गया है। इस ज्ञान मे रहता हुआ मैं इन शापो से सर्वथा अस्पृष्ट रहता हूँ और सदा आनन्द मे रहता हूँ। पर वह बिचारा मुझ से द्वेष करने वाला तो अवश्य मारा जाता है, मनुष्यसमाज के सब देव लोग, सब ज्ञानी पुरुष, उस निरर्थक द्वेष करने वाले को डाँटते है ताडना करते हैं तथा सब ईश्वरीय देव, सब 'ऋत' देव उस अपराध के लिये उसे अवश्य दण्ड देते हैं। इसमे कोई क्या कर सकता है?

शब्दार्थ—

(यः) जो **(सपत्नः)** मेरा समानक्षेत्र में प्रतियोगी है **(यः)** जो **(असपत्नः)** असमान क्षेत्र मे प्रतियोगी है **(यः च)** और जो **(द्विषन्)** द्वेष करता हुआ **(नः)** मुझे **(शपाति)** शाप देता है, कोसता है **(तं)** उसे **(सर्वे देवाः)** सब देव **(धूर्वन्तु)** ताडना करें, **(मम)** मेरा तो **(अन्तरं)** भीतरी, अन्दर से रक्षा करने वाला **(वर्म)** कवच, मेरा रक्षासाधन **(ब्रह्म)** ब्रह्म है, ज्ञान है वेदज्ञान है।

आत्मविशुद्धि द्वारा सर्वविधैश्वर्य और आत्मारामता

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ।।

ऋ० ८ ९५ ९।।

विनय

हे आत्मन् ! तुम परमैश्वर्य वाले हो। हे इन्द्र तुम हमे सब प्रकार का ऐश्वर्य दे सकते हो। हम यूं ही बाहर भटकते हैं, बाहर की वस्तुओ का आसरा देखते है, जब कि सब अनिष्टो को हटा सकने वाले और सब अभीष्टो के दे सकने वाले, हे मेरे आत्मन् ! तुम हमारे अन्दर विद्यमान हो। पर तो भी जो हम मे तुम्हारी यह शक्ति अभी प्रकट नही होती है इस का कारण यह है कि हम ने अपने अन्दर तुम्हें शुद्ध नहीं किया है, हमने आत्म-विशुद्धि नही प्राप्त की है। जिनका आत्मा शुद्ध हो जाता है, जो तपश्चर्या द्वारा व निष्काम कर्म की भावना द्वारा या पवित्र सामोपासना द्वारा अपने रागद्वेष की मलिनताओ को, नानाविध विषयवासनाओ की अशुद्धि को और अज्ञान-मल को हटा कर आत्मा को विशुद्ध कर लेते हैं, वे आत्माराम हो जाते हैं। वे अपनी विशुद्धात्मा को पाकर फिर अन्य किसी भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। तब वे अपनी विशुद्ध आत्मा से जो कुछ मांगते है वह सब कुछ उन्हे मिल जाता है, मिलता रहता है। निःसदेह हे आत्मन् ! तुम शुद्ध हुए हमे सर्वविध ऐश्वर्य दिया करते हो। ससार मे जो दानशील, स्वार्थ-त्यागी, उदार पुरुषो को सब रमणीय धन मिल रहे हैं, जो अस्तेयव्रतियो को 'सर्वरत्नोपस्थान' हो रहा है यह सब, हे विशुद्ध आत्मन् ! तुम्हारा ही दान है, तुम्हारी ही विशुद्धता का प्रताप है। विशुद्ध हुए तुम तो सब विघ्नबाधाओ को भी मार भगाते हो। सब पापो का नाश कर देते हो, सब वृत्रो का हनन कर देते हो, सब रुकावटो को दूर कर देते हो। और अन्त मे, हे शुद्ध इन्द्र ! तुम हमे सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य को, 'वाज' को भी दे देते हो। इसलिये भाइयो ! आओ, अब जब कभी हम अनैश्वर्य से पीडित होयें या रमणीय धनो को प्राप्त करना चाहे तो हम अपनी आत्मा को शुद्ध करने मे लग जायें, जब कभी वृत्र के प्रहारो से आक्रान्त होये तो इस आत्म-विशुद्धि के हथियार को पकड लेवें, और जब कभी सर्वोच्च ज्ञानबल की आवश्यकता अनुभव करें तो भी आत्मशुद्धि की ही शरण मे जायें, आत्मशुद्धि का ही आश्रय ग्रहण करे।

शब्दार्थ —

(इन्द्र) हे आत्मन् ! (शुद्ध हि) शुद्ध हुए हुए ही तुम (न) हमे (रयिं) ऐश्वर्य देते हो, (शुद्ध) शुद्ध हुए हुए तुम (दाशुषे) दानशील के लिये (रत्नानि) रत्नो को, रमणीय धनो को देते हो। (शुद्ध.) शुद्ध हुए हुए तुम (वृत्राणि) वृत्रो को, पापो को, बाधाओ को (जिघ्नसे) हनन करते हो और (शुद्ध) शुद्ध हुए हुए तुम (वाज) ज्ञान बल को (सिषाससि) देना चाहते हो, देते हो।

हृदय मन्दिर में देवों का ही राज्य

अव यत्स्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे ।
राजन्नप द्विषः सेध, मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥

ऋ० ८।७९।९ ॥

विनय

हे सच्चे राजन् ! सोम ! यह हृदय तुम्हारा सधस्थ है, सहस्थान है । इस हृदय मे तुम परम पदस्थ होते हुए भी मेरे साथ मे आ बैठे हो । अत जब तुम कभी अपने इस सधस्थ मे देवों की दुर्मतियाँ देखो, जब तुम यह देखो कि इस हृदय में देवो की सुमतियो की जगह दुर्मतियाँ प्रकट हो रही है, दिव्य वृत्तियो का विपरीत भाव हो रहा है तो तुम इस दुरवस्था को हटाने के लिये, हे मीढ्व, हे अमृत के सिंचन करने वाले ! मेरे सब द्वेषो को दूर कर दो, मेरे सब हिंसनो को हटा दो, अपना प्रेमरस प्रवाहित करके मेरे द्वेषभावो व हिंस्र वृत्तियो को वाहर वहा दो । हे सोम ! तुम्हारे अमृत सिंचन के होते हुए ये द्वेष आदि कैसे रह सकते है ? सचमुच ये द्वेष व हिंसा के भाव ही हैं जिनके कि कारण मेरे हृदय से देवो का राज्य हट जाता है, देवो की सुमतियाँ उठ जाती हैं और ऐसी दुर्दशा उपस्थित हो जाती है । हे सोम ! क्या तुम कभी अपने इस पवित्र सधस्थ की ऐसी दुर्दशा देख सकते हो ? क्या तुम्हे कभी अपने इस हृदय सहस्थान की यह दुरवस्था सह्य हो सकती है ? तो हे देव ! हमारी तुम से एक ही प्रार्थना है कि तुम इस हृदय मे ऐसा अपना अमृत सिंचन करो कि इस मे द्वेष व हिंसा का लवलेश भी शेष न रहे । तव मेरे हृदय मे देवो का ही राज्य हो जायगा, देवो का ही सुमतिपूर्ण राज्य हो जायगा ।

शब्दार्थ—

(राजन्) सच्चे राजन् ! सोम ! तुम (यत्) जब (स्वे) अपने (सधस्थे) इस सहस्थान मे (देवानां) देवो की (दुर्मती) दुर्मतियो को, विपरीत भावों को (ईक्षे) देखो तो (मीढ्वः) हे सिंचन करने वाले ! तुम (द्विषः) द्वेषो को (अपसेध) दूर कर दो और (स्रिधः) हिंसावृत्तियो को (अपसेध) दूर कर दो ।

नाना प्रकार के तेजो से अपने को महातेजस्वी बनाना

यद् वर्चो हिरण्यस्य, यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्च. तेन मा संसृजामसि॥

अथ० ६।१३।१०॥

विनय

मैं पूरा वर्चस्वी बनूंगा, तेजस्वी बनूंगा। मैं प्रत्येक वस्तु से वर्चस् का संग्रह करूँगा और प्रत्येक प्रकार के वर्चस् का संग्रह करूँगा। असली हिरण्य जो वीर्य है, उसके वर्चस् से तथा गौओ, इन्द्रियो के वर्चस् से एव सत्यस्वरूप ब्रह्म के वर्चस् से मैं अपने आप को पूरी तरह संयुक्त कर लूंगा। हिरण्यो के, तैजस पदार्थों के सेवन द्वारा मैं शारीरिक वर्चस् को, वीर्य को, अपने मे उत्पन्न करूँगा तथा ब्रह्मचर्य द्वारा इस शरीर मे संस्थापित कर लूंगा। मेरी इन्द्रियो मे आत्मा (इन्द्र) द्वारा जो तेज आता है और जो कि इन्द्रियों के विषयभोगो मे पडने से क्षीण होता रहता है उस तेज को मैं संयम द्वारा संरक्षित कर अपनी मानसिक वर्चस्विता को प्राप्त करूँगा। और आत्मिक तेज पाने के लिये मैं सत्यज्ञान के, वेदज्ञान के, सत्यस्वरूप ब्रह्म के तेज को अपनी आत्मा मे धारण करूंगा। इस प्रकार ब्रह्मतेज पाकर जागृत हुआ मेरा आत्मा अपने अनन्त तेज से चमक उठेगा और मेरे मन और देह को सहज मे तेजोमय बना देगा। तब मैं संसार मे एक चमकती हुई प्रदीप्त ज्योति की तरह फिरूँगा, जो कोई मेरे संपर्क मे आयेगा उसके भी शरीर मन आत्मा को प्रदीप्त, प्रज्वलित और उद्बुद्ध करता हुआ विचरूँगा। मैं वर्चोमय वर्चस्वी बन जाऊंगा।

शब्दार्थ —

(हिरण्यस्य) वीर्य का (यत्) जो (वर्च) तेज है (उत) और (गवा) इन्द्रियो का (यद् वा) जो कुछ (वर्च) तेज है तथा (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मण.) ब्रह्म का, ज्ञान का, वेद का (वर्च) जो तेज है (तेन) उस सब तेज से (मा) मुझे अपने आपको (सं सृजामसि) पूरी तरह संयुक्त करता हूँ। 

देवमन द्वारा ज्ञान की स्थिरता

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

अ० १ १-२॥

विनय

मैं जो कुछ सुनता हूँ वह मुझ में ठहरता नहीं। मानो मैं 'एक कान से सुनता हूँ और दूसरे से निकाल देता हूँ।' इस तरह मेरा मनोमय शरीर ऐसा रोगग्रस्त हुआ हुआ है कि मैं अच्छे से अच्छा सत्य उपदेश सुनकर और उत्तम से उत्तम वेदज्ञान पा करके भी उसे अपने में धारण नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि मेरे इस शरीर ने अपनी मननक्रिया को छोड़ दिया है। मनन करना, आत्मचिन्तन करना, एकान्त में आत्मनिरीक्षण व विचार करना त्याग दिया है। ऐसा करना मेरे स्वभाव में ही नहीं रहा है। अत, मेरा मन "देव" नहीं रहा है, द्योतमान, प्रज्वलित और जीवनसम्पन्न नहीं रहा है, और मेरा मनोमय शरीर मृतप्राय हो गया है। अत, हे वाचस्पते! हे वाणी व ज्ञान के पालक देव! हे मेरे मनोमय देह के प्राण! तुम फिर मुझ में आओ, और अपने प्रवेश द्वारा मेरे इस मृत मनशरीर को पुनरुज्जीवित कर दो। तुम देव मन के साथ फिर मुझ में प्रविष्ट होओ और मुझ में मनन, चिन्तन और आत्मभावन व आत्मनिरीक्षण का अभ्यास फिर से जारी करदो। अभी तक बेशक बिना भूख के खाये स्वादु से स्वादु भोजन की तरह मेरा सुना हुआ सुन्दर से सुन्दर वेदज्ञान मुझे नीरस और अरुचिकर लगता रहा है, परन्तु अब से तो मुझ में देव मन के जगा देने द्वारा, हे वसोष्पते! तुम इस वेदज्ञान में मुझे नितरां रत कराओ, रमण कराओ। हे बसने वाली स्थिर वस्तु के पति! हे इस ज्ञान-ऐश्वर्य के रक्षक! तुम ऐसा करो कि शुष्क से शुष्क किन्तु सत्य और हित उपदेश मुझे अब बड़ा आनन्द-दायी और सरस लगने लगे और अतएव मुझ में रक्षित और स्थिर रहने लगे। तुम मुझ में मननक्रिया को ऐसा जगादो कि मेरा मन अब द्योतमान हो जाये, इसमें मानसिक अग्नि जल उठे, ज्ञान की भूख लगने लगे, जिज्ञासायें उत्पन्न होने लगें। तब तो भूख में खाये रूखे सूखे भी भोजन की तरह शुष्क से शुष्क दीखने वाले उच्च ज्ञान में भी मेरा मन निःसन्देह रमने लगेगा, और बड़ा आनन्दरस पाने लगेगा। तब तो मैं जो कुछ सुनूंगा वह अवश्य मुझ में ठहरा करेगा, हज़म होकर मेरे मनोमय शरीर का अंग हो जाया करेगा और इस तरह मैं प्रतिदिन नया नया ज्ञान ग्रहण कर सकता हुआ मानसिक तौर पर समुन्नत वृद्धिगत और विकसित होता जाऊँगा।

शब्दार्थ—

(वाच पते) हे वाणी व ज्ञान के पालक देव! तुम **(पुन)** फिर **(एहि)** मुझमें आओ, **(देवेन)** देव, द्योतमान **(मनसा)** मनके, मननक्रिया के **(सह)** साथ आओ। **(वसो पते)** हे वसु के पति! तुम **(निरमय)** मुझे [इस ज्ञान में] रमण कराओ, रस दिलाओ, आनन्दित कराओ, एवं **(मयि श्रुत)** मेरा सुना हुआ ज्ञान **(मयि एव)** मुझ में ही **(अस्तु)** रहे, ठहरे।

उचित काल की महती महिमा

कालें तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥

अ० ११ ५३.८ ॥

विनय

हर एक वस्तु अपने काल मे ही होती है। जिस कार्य का, जिस बात का उचित काल नही आया है उसके लिये यत्न करना उसकी आशा करना निरर्थक होता है, मूर्खतापूर्ण होता है। अत. हमे अपना हरेक कार्य उचित काल में ही करना चाहिये। हमे तप करना हो, ज्येष्ठत्व पाना हो या ज्ञान प्राप्त करना हो। चाहे कुछ करना हो यह सब हमे कालानुसार ही करना चाहिये। देखो, परमेश्वर भी अपना सब कुछ नियत काल मे करते हैं, वे समयपालन मे भी परम हैं, परिपूर्ण हैं। वे इस जगत् की उत्पत्ति के लिये अपना ज्ञानमय तप बिलकुल नियतकाल मे करते हैं, ज्येष्ठ हिरण्यगर्भ को नियतकाल पर प्रादुर्भूत करते हैं और ब्रह्म (वेद) का प्रकाश भी सदा नियत काल आने पर करते हैं। कालरूप मे ही ये भगवान् प्रजापति के भी पिता हैं। यह सब ससार बेशक सूर्यप्रजापति या हिरण्यगर्भ-प्रजापति से उत्पन्न हुआ है, किन्तु वे प्रजापति भी तो काल आने पर ही उत्पन्न हो सकते है। अत उनके भी जनक ये काल परमेश्वर हैं। और केवल सृष्टि की यह उत्पत्ति ही नही, किन्तु सृष्टि का प्रतिक्षण सचालन भी काल द्वारा ही हो रहा है। इस ससार का एक तिनका भी बिना काल आये नही हिल सकता। सचमुच काल ही सब का ईश्वर है। भूत का, भवत् का, भविष्यत् का सब ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड की सब अनगिनत वस्तुए, काल मे ही यथास्थान रखी हुई हैं। काल का अतिक्रमण कोई नही कर सकता। अत आओ, हम भी इस कालदेव की उपासना करें, हम देखे कि आज से उसके प्रतिकूल हमारा कभी कोई आचरण न होने पाये, और हमारा एक एक कर्म एक एक चेष्टा उस कालदेव की अनुमति पाकर ही हुआ करे।

शब्दार्थ—

(काले) काल मे, उचित काल मे (तप) तप, (काले) काल मे (ज्येष्ठं) ज्येष्ठत्व और (काले) काल मे ही (ब्रह्म) ज्ञान (समाहितं) रखा हुआ है। (ह) निश्चय से (काल.) काल (सर्वस्य) सब का (ईश्वर.) ईश्वर है (य) जो कि (प्रजापते) सब प्रजा के उत्पादक हिरण्यगर्भ का भी (पिता) उत्पादक (आसीत्) होता है।

सान्त और अनन्त के रहस्य ज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म कर्त्तव्य

अव्यचसश्च व्यचसश्चे विलं विष्यामि मायया।
ताभ्यां उद्धृत्य वेदं अथ कर्माणि कृण्महे ॥

अ० ११ ६८.१॥

विनय : यह ठीक है कि हमे वेदज्ञान प्राप्न करके उसी के अनुसार कर्म करने चाहियें। परन्तु वेदज्ञान को पा लेना कोई आसान काम नही है। वेद को तो हमे वडे गहरे पानी मे पैठ कर निकालना होगा, उद्धृत करना होगा। जब तक कि हम 'अव्यचस्' और 'व्यचस्' के, सान्त और अनन्त के, अन्दर और वाहर के, 'अह' और शेष सब 'त्व' के भेद को, रहस्य को पूरी तरह न जान गये हो तव तक 'ज्ञान क्या वस्तु है', 'ज्ञान होने का क्या अर्थ है' इसे ही हम नही समझ सकते। ओह, आज प्रभु कृपा से मैंने तो 'अव्यचस्' और 'व्यचस्' की घुडी को खोल लिया है। अन्दर और वाहर का क्या मतलब है इसे मैंने पा लिया है। सान्त और अनन्त जहाँ पर आकर मिलते हैं उस गुप्त रहस्यस्थान को कपाट खोलकर देख लिया है। मैं देख रहा हूँ कि यह सव कुछ—यह सब अनन्त ब्रह्माण्ड—मेरी आत्मा मे, मुझ अणु मे, समाया हुआ और मेरा आत्मा, मेरा अपनापन, मेरा 'अह' इस सब कुछ को इस सव ब्रह्माण्ड को, व्याप्त कर रहा है। सुननेवालो को मेरी ये वातें विचित्र लगेगी, परन्तु मेरी माया, मेरी उच्च प्रज्ञा द्वारा जो मुझे आज साक्षात् अनुभव हो रहा है उस अनुभव को मैं इस भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार प्रकट नही कर सकता। अरे, वेद ज्ञान कही पुस्तक मे नही रक्खा है। वेदज्ञान तो मेरी आत्मा मे प्रकाशित होता है और वेदज्ञान नित्य सबन्ध से परमात्मा मे रहता है। जो ज्ञान इन दोनो द्वारा—इस आत्मा (अव्यचस्) और उस परमात्मा (व्यचस्) द्वारा—निकलता है, उद्धृत होता है वही असली वेद (ज्ञान) है और उसी के अनुसार कर्म करना वैदिक कर्म करना है। अत आओ, भाइयो! अव हम इस प्रकार से ही वेद को पाकर अपने कर्मो को किया करें। इस प्रकार जव हम अपने आपको उस अनन्त से जोड कर, अपने क्षुद्र शरीर को इस विश्व ब्रह्माण्ड से मिला कर, अपनी परिमित इन्द्रिय आदियो को वाहर के व्यापक देवो से समस्वर करके जो कर्म किया करेंगे वे ही कर्म[1] वैदिक होगे, वेदानुसारी होंगे, सच्चे अर्थों मे वेदानुसारी होगे।

शब्दार्थ—

(**अव्यचस.**) अव्यापक, सान्त, एकदेशी 'अह' के (**च**) भी और (**व्यचसः**) व्यापक, अनन्त, वाहर फैले हुए 'त्व' के (**च**) भी (**विलं**) विल को, भेदभरे रहस्य को (**मायया**) अपनी प्रज्ञाद्वारा (**विष्यामि**) खोलता हूँ। (**ताभ्यां**) उन दोनों [अव्यचस् और व्यचस्] द्वारा (**वेदं**) वेद को, वेदज्ञान को (**उद्धृत्य**) ऊपर निकाल कर, उद्धृत करके (**अथ**) उसके वाद, इस तरह वेद को प्राप्त करने के वाद, हे भाइयो! हम (**कर्माणि**) कर्मो को, वैदिक कर्मो को (**कृण्महे**) करे।

१ देखो मनु अ. १२ श्लोक ११८ से १२६ तक

मुझे सब का प्यारा बनाओ

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यतः उत शूद्र उतार्ये॥

अ० १९।६२।१॥

विनय

हे मेरे प्यारे प्रभो! तुम मुझे सब का प्यारा बनाओ। मैं यदि सचमुच तुम्हारा प्यारा बनना चाहता हूँ तो मुझे तुम्हारे इस सब जगत् का प्यारा बनना चाहिये। तुम तो इस जगत् मे सर्वत्र हो, छोटे बडे नीचे ऊँचे सभी प्राणियो मे मन्दिर बना कर बसे हुए हो। यदि इन सब रूपो मे मैं तुमसे प्यार न कर सकूँ तो मैं तुम्हे प्यारा कह के क्योकर पुकार सकूँ? ये सासारिक लोग बेशक अपने मे बडो, बलवानो, धनवानो और प्रतिष्ठावालो के ही प्यारे बनना चाहते हैं, अपने से छोटो, गरीबो, दलितो और असहायो के प्यारे बनने की कोई जरूरत नही समझते। ये बेशक अपने राजाओ और स्वामियो का प्रेम पाना चाहते है किन्तु अपनी प्रजा और नौकरो का प्रेम पाने की कभी इच्छा नही करते। परन्तु इसी मे ही तो तुम्हारे सच्चे प्रेमी होने की परीक्षा होती है। क्योंकि इन गरीबो, पीडितो असहायो का प्रेम चाहना ही असल मे तुमसे प्रेम करना है। बलियो, धनियो और राजाओ से प्रेम की इच्छा करना तो सासारिक बल मे, सासारिक धन मे, सासारिक प्रभुत्व से प्रेम करना है, तुमसे प्रेम करना नही है। इसलिये मुझे तो तुम जहाँ देवो और राजाओ का प्यारा बनाओ, वहाँ इन सब देखने वाले सामान्य लोगो का तथा नौकरो और सेवको का भी प्यारा बनाओ। जहाँ ब्राह्मणो और क्षत्रियो का प्यारा बनाओ वहाँ इन सामान्य प्रजाओ (वैश्यो) और शूद्रो का भी प्यारा बनाओ। शूद्रो और आर्यो का, नीचो और ऊँचो का, शिष्यो और गुरुओ का, सेवको और स्वामियो का, अधीनो और अधिकारियो का, सब छोटों और बडो का मुझे प्यारा बनाओ। मुझे ऐसा बनाओ कि इस ससार मे जो कोई मुझे देखे, मेरे सपर्क मे आए, वह मुझ से प्यार करे। हे प्रभो! मैं तो तुम्हारे इस सब ससार से प्रेम की भिक्षा मागता हूँ। क्योकि मैं देखता हूँ कि जब तक मैं तुम्हारे इस छोटे बडे समस्त ससार से प्रेम नही कर लूँगा तब तक, हे मेरे परम प्यारे! मैं कभी तुम्हारे प्रेम का भाजन न हो सकूँगा, तुम्हारे प्रेम का अधिकारी न बन सकूँगा।

शब्दार्थ—

हे प्रभो! (मा) मुझे (देवेषु) देवो मे [ब्राह्मणो मे] (प्रिय कृणु) प्यारा करो (मा) मुझे (राजसु) राजाओ मे [क्षत्रियो मे] (प्रिय कृणु) प्यारा करो, (सर्वस्य पश्यत.) सब देखने वालो का (प्रिय) प्यारा करो, (उत शूद्रे) शूद्र मे भी और (उत आर्ये) आर्य मे भी, सब मे, मुझे प्यारा बनाओ।

देवासुर संग्राम में अन्त में आत्मदेव का विजय

त्वं बलस्य गोमतो अपावोऽद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अबिभ्युषः तुज्यमानास आविशुः ॥

ऋ० १ ११।५

विनय

हे इन्द्र ! तुम 'बल' असुर का संहार कर उस द्वारा छिपा रखी हुई देवों की गौओं को फिर देवों को दिला देते हो। तुम्हारा यह नित्य इतिहास हममें से प्रत्येक जीव में दोहराया जा रहा है। हमारे आत्मिक ऐश्वर्य ऐसे खोये जा चुके हैं कि हमें उन के बारे में कुछ पता ही नहीं है। यह हमें ढकने वाला[1] 'बल' नाम अज्ञानासुर ही है जिसने कि इन हमारी आत्मिक ऐश्वर्यों की गौओं को छिपा रखा है। इसके वशीभूत हुए हम लोग अज्ञान-निद्रा में न जाने कब से पड़े सो रहे हैं। परन्तु हे इन्द्र ! जब तुम इस अज्ञानान्धकार का संहार कर देते हो, अज्ञान-मेघ का भेदन कर देते हो, गौओं को छिपा रखनेवाले इस 'बल' के बिल को खोल देते हो, हमारी प्रसुप्तावस्था में पड़ी सुषुम्ना के विवर का उद्घाटन कर देते हो, शक्ति को जगा देते हो, तब जो आश्चर्यमय अवस्था आती है वह तो स्वयं देखने ही योग्य है। तब वे छिपी गौएं निकल पड़ती हैं, एक से एक अद्भुत आत्मिक ऐश्वर्य प्रकट होने लगते हैं। अन्दर प्रकाश हो जाता है, आनन्ददायक कंपन होते हैं और आनन्द की लहरें उठती हैं तथा हे आत्मन् ! तुम्हारी सब दिव्य शक्तियाँ आ आकर तुम से संयुक्त होने लगती हैं। हे इन्द्र ! हम तुम्हारे पराक्रम की क्या कथा कहें ? बलासुर तो अपने अन्धकार द्वारा तुम्हारे देवों को उनके ऐश्वर्यों से जुदा कर चुका होता है और तुम्हारे इन देवों को तुमसे भी विच्छिन्न कर चुका होता है। पर ऐसी अवस्था पहुँच जाने पर भी तुम अपने वज्र से जब उसका संहार करने लगते हो तो एकदम प्रकाश की धारायें बहने लगती हैं और उस प्रकाश में वे सब ऐश्वर्य देवों को फिर मिल जाते हैं तथा एवं ऐश्वर्ययुक्त हुए ये देव कभी कभी 'बल' के प्रहारों से मारे जाते हुए और कांपते हुए भी अब निर्भय हुए हुए, तुम्हें देख लेने के कारण निर्भय हुए हुए, तुममें प्रविष्ट होने लगते हैं, आ आकर तुमसे संयुक्त होने लगते हैं।

शब्दार्थ—

(**अद्रिवः**) हे वज्रवाले इन्द्र ! (**त्वं**) तुम (**गोमतः**) गौओं को रोक रखने वाले (**बलस्य**) बल के (**बिलं**) बिल को (**अपावः**) खोल देते हो। तब (**देवाः**) सब देव (**तुज्यमानासः**) हिंसित होते हुए, कांपते हुए भी (**अबिभ्युषः**) निर्भय हुए हुए (**त्वां**) तुझ में फिर (**आविशुः**) प्रविष्ट होने लगते हैं।

१—'बलो वृणोतेः' निरुक्त ६-२

परम जातवेदा मुझे श्रद्धा और मेधा देवे

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ॥

अथ. १९. ६४. १॥

विनय

जब समिधा अग्नि मे डाली जाती है तो बस जल उठती है, अग्निरूप हो जाती है; समिधा मे छिपी अग्नि उद्‌बुद्ध हो जाती है, प्रदीप्त अवस्था मे आ जाती है। इसीलिये वैदिक काल के जिज्ञासु लोग समित्पाणि होकर (समिधा हाथ मे लेकर) गुरुके पास आया करते थे, अपने को समिधा बनाकर गुरु के लिये अर्पित कर देते थे जिससे कि वे अपने गुरु की अग्नि से प्रदीप्त हो जावें। उस वैदिक विधि के अनुसार मैं भी अपने आचार्य के चरणो मे उपस्थित हुआ हूं और उनकी अग्नि द्वारा उन जैसा प्रदीप्त होना चाहता हू। मैं जानता हूं कि प्रदीप्त हो जाना बडा कठिन है। प्रदीप्त होने से पहिले तो अपने को जला देना होता है। और यह अपने को जला देना तभी किया जा सकता है जब कि मुझ मे पूर्ण श्रद्धा हो कि इस जलने द्वारा मैं अवश्य प्रदीप्त व ज्ञानमय होजाऊँगा। इसलिये पहिले तो मुझ में श्रद्धा की जरूरत है। इसी तरह गीली होने आदि किसी दोष के कारण यदि समिधा अग्नि को धारण नही कर सकती है तो भी वह प्रदीप्त नही हो सकती। इसलिये मुझ मे ज्ञान के धारण करने वाली बुद्धि, मेधा, की भी जरूरत है। श्रद्धा और मेधा के बिना मैं कभी ज्ञान से प्रदीप्त नहीं हो सकता। पर इस श्रद्धा और मेधा को मैं और कहा से लाऊँ ? मैं तो इन 'जातवेदा.' अग्नि से, अपने आचार्यदेव से ही प्रार्थना करता हूं कि वे मुझे श्रद्धा और मेधा का दान प्रदान करें। वे जातवेदा हैं, उन्हे ज्ञान उत्पन्न हो चुका है, वे ज्ञान की जलती हुई अग्नि हैं। अत. वे 'जातवेदा' यदि चाहे तो मुझे श्रद्धा और मेधा भी दे सकते हैं।

परन्तु अन्त मे तो, मैं जो प्रात. साय भौतिक अग्नि के लिए अपनी काष्ठ की समिधा लाता हूं, शिष्यरूप मे आचार्याग्नि के लिये अपने शरीर मन आत्मा के प्रदीपनार्थ जो तीन समिधायें प्रतिदिन लाता हूं, राष्ट्रसेवक या धर्मसेवक बनकर राष्ट्राग्नि या धर्माग्नि आदि के लिये जो तदुपयोगी समिधायें लाता हूं, ये सब की सब समिधायें अन्त मे उस 'बृहत् जातवेदा' के लिये, उस सब कुछ जानने वाले महान् अग्नि के लिये लाता हूं जो कि सब आचार्यो का आचार्य है, सब अग्नियों का अग्नि है, परम परम अग्नि है और अन्त मे उसी 'बृहत् जातवेदा' से श्रद्धा और मेधा की याचना करता हू जो कि परम श्रद्धामय है और मेधा का भण्डार है।

शब्दार्थ

(बृहते) बहुत बडे, परम (जातवेदसे) जातमात्र के जाननेवाले, ज्ञानयुक्त (अग्नये) अग्नि के लिये मैं (समिधं) समिधा को, प्रदीपनीय वस्तु को (आहार्षं) आहरण करता हूं, लाता हूं। (स.) वह (जातवेदा) ज्ञानयुक्त अग्नि (मे) मुझ (श्रद्धां च) श्रद्धा को भी और (मेधांच) मेधा को भी (प्रयच्छतु) प्रदान करे।

मधुविद्या से मैं वर्चस्वती वाणी बोलूं

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचं आवदानि जनां अनु ॥

अ. ६. १. १॥

विनय

हे युगल देवो ! हे सर्वत्र ज्योति और रस के देने वाले दिव्य देवो ! तुम नाना रूपो में जगत् को व्याप्त कर रहे हो। तुम मेरे अन्दर सूर्यशक्ति और चन्द्रशक्ति के रूप मे कार्य कर रहे हो, तुम प्राण और अपान के रूप मे भी मेरे शरीर का सेवन कर रहे हो। हे अश्विनो ! तुम सदा 'शुभस्पती' हो, दीप्ति के पालक हो, तेज के सरक्षक हो। इसलिये मैं तुम से वाणी के तेज की याचना करता हूं। मैं चाहता हू कि मैं जनता की सेवा के लिये अपनी शारीरिक वाणी को, मानसिक वाणी को, आत्मिक वाणी को तेजस्वी वर्चस्वी ओजस्वी बनालू। तुम मधु के लिये प्रसिद्ध हो। यह स्थूल माक्षिक मधु, शहद, भी तुम्हारे ही ज्योति और रस द्वारा बना हुआ होता है। इस शहद के सेवन से मैं अपनी स्थूल वाणी को तेजस्वी और बलवान् बना लूगा। पर तुम्हारा असली मधु तो हमारे अन्दर है। तुम्हारी क्रिया द्वारा प्राण उठ कर जब सिर मे व्याप्त हो जाते हैं तो कपाल मे जो तुम्हारा मधु झरता है, जिस सारभरे अमृत का हठयोगी लोग खेचरी मुद्रा मे अपनी जिह्वा द्वारा आस्वादन भी करते हैं, उस अपने मधु से, हे प्राणापानरूपी अश्विनो ! तुम मेरे सम्पूर्ण शरीर को अक्त कर दो, मेरे रोम रोम को भर दो। इस प्रकार मधुसिंचित हो जाने पर निःसदेह मेरी मानसिक वाणी ऐसी वर्चस्वती हो जायगी कि तब मैं मनुष्यो मे जो भाषण करूंगा वह उनके हृदयो का वेधन करता हुआ जाएगा और अवश्य असर पैदा करेगा। पर हे सूर्यप्राण और चन्द्रप्राणरूपी अश्विनो ! तुम जिस मधु के लिए प्रसिद्ध हो वह तो तुम्हारा मधुज्ञान है, तुम्हारी ज्ञान-सारभरी मधुविद्या है। उस तुम्हारे मधु द्वारा मेरा आत्मा जब तृप्त हो जायगा तब तो मेरी वाणी मे आत्मा बोलने लगेगा। उस समय मेरी आत्मा से निकलने वाले शब्द ऐसे ओजस्वी होंगे कि वे निःसन्देह मनुष्यो को हिला दिया करेंगे और उन्हें उचित कर्म मे प्रवृत्त कर दिया करेंगे। इस सारघ मधु से सिंचित आत्मिक वाणी द्वारा ही, हे अश्विनो ! मैं जनो का सच्चा अनुसेवन कर सकूंगा, उनका सच्चा उपकार साधन कर सकूंगा।

शब्दार्थ

(अश्विना) हे अश्विनो ! **(शुभस्पती)** हे दीप्ति के पालको ! तुम अपने **(सारघेन मधुना)** माक्षिक शहद से या सारभरे अमृत और मधुज्ञान से **(मा)** मुझको **(अङ्क्तं)** अंजन कर दो, रमा दो **(यथा)** जिससे कि मैं **(जनान् अनु)** जनो के प्रति, जनता के अनुसेवन करने के लिये **(वर्चस्वतीं वाचं)** तेजस्वी वाणी को **(आवदानि)** बोलूं, बोल सकूं।

साधना और तपस्या से जगत् में चमत्कार

देवान् यन्नाथितो हुए ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षाद् यद बभ्रू न् आलभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥
अ० ७ १०१.७ ॥

विनय

हे प्रभो ! बडा विकट समय उपस्थित है । मैं इस वर्तमान दुरवस्था को कैसे दूर करूँ ? मेरा इस मे कुछ वस नही चलता । मुझे हार पर हार खानी पड रही है । जिन लोगो ने यह दुरवस्था उत्पन्न की है वे मेरे सब न्यायोचित यत्नो को अपने अन्यायपूर्ण दुष्कृत्यों द्वारा निष्फल करने जा रहे हैं । मैं इस समय क्या करूँ ? जो मैं उपतप्त होकर आज देवताओ का आह्वान कर रहा हूँ पुकार रहा हूँ क्या मेरा यह सब यत्न भी व्यर्थ जायेगा ? क्या इस समय ये देवलोग भी आकर मेरी मदद नहीं करेंगे ? जो मैंने अब तक ब्रह्मचर्य का उग्र कठोर व्रत पालन किया है क्या वह मेरा ब्रह्मचर्य तप भी इस दुरवस्था को पलट न सकेगा ? जो मैंने सब को हरण करने वाली, विद्वानो को भी खींचने वाली, दुर्दम इन्द्रियो को सब तरफ से काबू किया है वह मेरी सयम की शक्ति भी क्या मुझे आज जय-लाभ न करा सकेगी ? ओह, मेरे ये सब यदि ऐसे समय पर भी मेरे काम न आयेंगे तो और कब आयेंगे ? यह देखो, दूसरे लोग मुझ पर हस रहे हैं, वे सचमुच समझ रहे हैं कि देवो का आह्वान, ब्रह्मचर्य की तपस्या और इन्द्रियनिग्रह फिजूल की चीज़ें हैं, निरर्थक ढकोसले हैं । इसलिये हे प्रभो ! अब तो ऐसा करो कि मेरे ये सब पुण्य कर्म—मेरे ये देवाह्वान, ब्रह्मचर्य, सयम आदि सब पुण्य प्रयत्न—मुझे सुखी कर देवें, विजय प्राप्त करा कर मुझे सुख पहुँचाने के कारण होयें । अब तो ऐसा करदो कि इन दिव्यशक्तियो का चमत्कार एक बार फिर जगत् मे प्रकट हो जाये । हे प्रभो ! मैं तुम से और क्या कहूँ ? इस समय और क्या कहूँ ?

शब्दार्थ—

(यत्) जो (नाथित) उपतप्त हुआ मैं (देवान्) देवो को (हुए) पुकारता हूँ, (यत्) जो (ब्रह्मचर्यं) मैंने ब्रह्मचर्य को (ऊषिम) वसा है, पालन किया है और (यत्) जो (बभ्रून्) हरण करनेवाली (अक्षान्) इन्द्रियो को (आलभे) सब तरफ़ से काबू किया है (ते) ये सब मेरे कर्म (ईदृशे) ऐसे विकट समय मे (नः) मुझे (मृडन्तु) सुखी करें, जय प्राप्त कराकर सुखी करें ।

व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और श्रद्धा से सत्य = परमात्म = प्राप्ति

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

य. १९.३० ॥

विनय

प्यारे ! क्या तू सत्य को पाने के लिये व्याकुल हो गया है ? तो तू आ, इन चार सीढियो द्वारा तू अवश्य "सत्य" को पा जायेगा । प्रारम्भ मे, यदि तुझे सचमुच सत्य से प्रेम है तो तुझे जहाँ कही जो कोई सच्चा नियम, सत्यनियम, व्रत पता लगेगा तू उसे अवश्य पालन करने लग पड़ेगा । इस तरह व्रतो को जानने और यथाशक्ति पालन करने की तेरी प्रवृत्ति तुझे शीघ्र दीक्षा का पात्र बना देगी । दीक्षित हो जाने पर तू पहिली सीढी चढ जायेगा । दीक्षित हो जाना मानो सत्य के साम्राज्य मे घुसने का प्रवेशपत्र (परवाना) पा लेना है और सत्य के दरबार मे पहुँचने का अधिकारी बन जाना है । दीक्षित हो जाने की इस पहिली सीढी पर जब तू चढ जायेगा तो तू सत्य के वायुमण्डल मे रहनेवाला हो जायेगा और तेरा सत्यप्रेमी साथियो का परिवार बन जायेगा । तब तेरे लिये अपने अन्य सत्यपथिक भाइयो के अनुभव से लाभ उठाते हुए सत्यनियमों को जान लेना और उनका यथावत् पालन करना बहुत सहज हो जायेगा । एव आगे आगे सत्य के पालन मे अभ्यस्त होता हुआ तू तीसरी सीढी पर भी तब पहुँच जायेगा जब कि तुझे यह स्वात्म-अनुभव हो जायेगा कि सत्य के पालन से तेरी वृद्धि (दक्षिणा) होती है, तेरी उन्नति होती है । तब तू स्वयमेव अनुभव करेगा कि सत्य के पालन से तू बलवान् और उन्नत हो रहा है । कुछ आश्चर्य नही यदि उस समय बाहर का ससार भी तुझे प्रतिष्ठा देता हुआ और तेरे प्रति नानाविध दक्षिणायें लाता हुआ तेरी दक्षता, बलवत्ता और बढती को स्वीकार करे । तुझे अपने आप तो अपनी वृद्धि अनुभूत होगी ही । यह अनुभव ही तुझमे सत्य के लिये श्रद्धा उत्पन्न कर देगा और तुझे श्रद्धा की तीसरी सीढी पर पहुँचा देगा । तब तुझमे सत्य के लिये ऐसी अटल श्रद्धा हो जायेगी कि तू त्रिकाल मे भी यह शक न करेगा कि कभी सत्य तेरी हानि भी कर सकता है । श्रद्धा पा जाने पर मनुष्य बडी तीव्र गति से आगे बढने लगता है । अत. जब तू अपनी श्रद्धा मे मग्न होकर सत्य के—केवल सत्य के—पा लेने के लिये व्याकुल हुआ हुआ एकाग्र होकर अग्रसर हो रहा होगा तो इससे अगली उच्च सीढी पर पैर रखते ही तुझे "सत्य" के दर्शन हो जायेंगे, 'सत्य' का साक्षात्कार हो जायेगा, अपने प्यारे सत्य का साक्षात्कार हो जायेगा ।

शब्दार्थ—

(**व्रतेन**) व्रत से, सत्यनियम के पालन से मनुष्य (**दीक्षा**) दीक्षा को, प्रवेश को (**आप्नोति**) प्राप्त करता है । (**दीक्षया**) दीक्षा से (**दक्षिणां**) दक्षिणा को, वृद्धि को, बढती को (**आप्नोति**) प्राप्त करता है । (**दक्षिणा**) दक्षिणा से (**श्रद्धां**) श्रद्धा को (**आप्नोति**) प्राप्त करता है और सदा (**श्रद्धया**) श्रद्धा द्वारा (**सत्यं**) सत्य को (**आप्यते**) प्राप्त किया जाता है ।

आत्म-परमात्म एकत्व अनुदर्शन से विज्ञानी के मोह और शोक की निवृत्ति

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।

यजु० ४० ७ ।।

विनय

मोह और शोक से मनुष्य कैसे पार होये ? ओह, यदि तुम मे से कोई सचमुच मोह और शोक से पार होना चाहता है तो वह इस प्रश्न का उत्तर सावधानता से सुने । अवश्य ही एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ पहुँचने पर मोह जन्म नही पा सकता जहाँ शोक का कभी प्रसग नही उठ सकता । यदि तुम उस स्थिति मे पहुँचना चाहते हो तो अपने आपको फैलाओ, फैलाओ , इतना फैलाओ कि ससार का कोई भूत, कोई वस्तु कोई जगह तुम्हारी आत्मा से रिक्त (खाली) न रहे । तुम प्रेम मे भरकर अपने 'अह' को, 'मैं' को सब कही सर्वत्र व्याप्त करदो । 'मैं' को मारने का तरीका ही यह है । यह तुम्हारी 'मैं' कुचलने से कभी विनष्ट नही होगी, पर फैला देने से यह स्वयमेव नष्ट हो जायेगी, जिस 'मैं' को तुम मारना चाहते हो वह समाप्त हो जायेगी । तब तुम्हारी सब जगह आत्मवत् समान दृष्टि हो जायेगी । असल मे, इस स्थिति को वे ही विशेष ज्ञानी 'विजानन्' पुरुष पा सकते हैं जिन्होंने ज्ञान समाधि द्वारा अपनी परम आत्मा को देख लिया है, इसके सर्वगत रूप का साक्षात् कर लिया है । उन्हे तो ऊपर नीचे इधर उधर सर्वत्र वह आत्मा ही आत्मा प्रसृत दीखता है । ये सब दीखनेवाले भूत, ये दृश्यमान ससार के सब के सब पदार्थ, उन्हे उस आत्मा मे ही सामान्य रूप से रखे हुए, लटके हुए दिखायी देते हैं । जब वे कभी विशेष रूप मे इन पदार्थों व भूतों पर दृष्टि देते है तो उन सब के अन्दर भी उन्हे वह एक आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है, वही एक अनुस्यूत दिखायी देता है । उस आत्मा के सिवाय उन्हे अपने सहज ध्यान मे और कुछ नही दिखायी पडता । वे सदा सर्वत्र उस अपने एक अद्वितीय परम आत्मा के ही दर्शन करते है । उस दर्शन मे वे अपनी 'मैं' को भी डुबा देते हैं । तो फिर उनको मोह शोक कहाँ से हो सकता है ? जब सब कही प्रकाश ही प्रकाश हो गया तो वहाँ मोह का अधकार कैसे आ सकता है, जब आनन्द का शाही डेरा लग गया तो उसके आस पास भी शोक-पामर कैसे फटक सकता है ? जब समुद्र ही सूख गया तो उसमे ज्वारभाटे क्योकर उठेंगे, जब सब अपना ही अपना हो गया तो शोक मोह किसके लिये होंगे ?

शब्दार्थ—

(यस्मिन्) जिस ज्ञान मे, जिस ज्ञानमय स्थिति मे (सर्वाणि भूतानि) सब भूत, सब पदार्थ, जातमात्र (आत्मा एव) आत्मा ही, अपने ही (अभूत्) हो जाते है (तत्र) उस स्थिति मे (एकत्वं अनुपश्यत) परम आत्मा के एकत्व का साक्षात् करनेवाले (विजानतः) उस विशेष ज्ञानी के लिये (कः मोहः) कौनसा मोह और (कः शोकः) कौनसा शोक रह सकता है ?

मार्गशीर्ष (वृश्चिक)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

कूल्हे और जाँघों की स्वस्थता करने वाला

इस व्यायाम के लिए भूमि पर पीठ के बल पूरे पैर पसार कर अच्छी तरह लेट जाइये और लेट कर अपने हाथो को स्वस्तिकाकार मे (पलौथी की तरह एक दूसरे के ऊपर) छाती पर रख लीजिए। अब घुटनो को जरा भी न मुडने देते हुए और पैरो व एडियों को भूमि से न उठने देते हुए, अपने सिर को धीरे-धीरे १८",२०" इन्च ऊपर उठाइये। फिर उसी तरह सिरको धीरे-धीरे नीचे लाइये। इस तरह ७,८ बार कीजिये, जब सिर ऊपर उठा रहे हो तो पेट तक पहुँचने वाला गहरा दीर्घ श्वास लीजिये और जब नीचे ले जा रहे हो तो श्वास बाहर निकालिये।

(२)

उसी तरह लेट जाइये। हाथो को सिर के नीचे तकिया बनाते हुए रख लीजियें। अब धड़ को बिलकुल न हिलने देते हुए और टाँगो को घुटने पर न मुडने देते हुए, कटिप्रदेश को चूल बना कर टागो को धीरे-धीरे इतना ऊपर लाइये कि उनका धड के साथ समकोण बन जाय। फिर टागें नीचे ला कर पूर्ववत् हो जाइये। इस प्रकार बार-बार कीजिये। जब टागे ऊपर ले जा रहे हो तो अन्दर श्वास लीजिये और जब नीचे ले जा रहे हो तो बाहर श्वास छोडिये।

इस व्यायाम को करते हुए अपना मन कूल्हो और जाघो पर केन्द्रित कीजिये। इनकी स्वस्थता की भावना कीजिये।

ध्यान—"मैं बलवान् हो रहा हूँ, मेरा सारा शरीर प्राण-सचार से विद्युन्मय और पूर्ण स्वस्थ हो रहा है। मैं बलस्वरूप हूँ ..." इत्यादि प्रकार से ध्यान कीजिये।

इन अङ्गो को गौणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और फाल्गुन की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

हेमन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—शीत का प्रारम्भ करने वाली शरद् ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनो मे शीत अपने पूरे वेग से पडने लगता है, उस ऋतु का नाम हेमन्त है। इसमे अधिक से अधिक शीत पडता है तथा हिम (वर्फ), पाला तक जम जाता है। हेमन्त ऋतु के मार्गशीर्ष और पौष ये दो महीने होते हैं। दूसरो के मत मे पौष और माघ इसके महीने होते हैं। माघ के कुछ दिन तो प्राय· हेमन्त के ऋतुकाल से युक्त हुआ ही करते हैं।

महिमा—शारीरिक पुष्टि पाने के लिए यह ऋतु सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण भगवान् ने "मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" कह कर मार्गशीर्ष के महीने को सर्वश्रेष्ठ महीना कहा है। इस ऋतु मे मस्तिष्क का काम तथा शारीरिक परिश्रम भी विना थके अधिक से अधिक किया जा सकता है। इसमे वात, पित्त और कफ प्राय समावस्था मे रहते हैं तथा शारीरिक वल और पाचनाग्नि प्रवल अवस्था मे होते हैं। इस समय विसर्गकाल अपने पूर्ण यौवन मे होता है अर्थात् इस समय दक्षिणायन सूर्य मनुष्यो के लिए रस का विसर्जन करते है, प्राणियो के शरीरो मे वृद्धि, पुष्टि, वल आदि का दान करते हैं।

गुण—यह ऋतु शीत, स्निग्ध तथा पदार्थों मे स्वादुता उत्पन्न करने वाली है। यह प्राणियो की जाठराग्नि को वढाती है।

पथ्यापथ्य—इस ऋतु मे धूप का खूव सेवन करना चाहिए। इस ऋतु मे शारीरिक वल तथा पाचकाग्नि प्रवल होते हैं अतः इसमे अतिस्निग्ध, गुरु, पौष्टिक पदार्थ जैसे दूध, मक्खन, तेल, गुड़ आदि का तथा ऋतु के गर्म स्निग्ध पदार्थ जैसे वाजरा, सरसों, गाजर आदि का भी सेवन करना चाहिए। ऊनी व रुई के कपड़े पहिनने चाहिये। व्यायाम भी खूव अच्छी तरह करना चाहिये

कहावत के अनुसार मार्गशीर्ष मे जीरा तथा पौष मे धनिया खाना मना है।

उठो और जागो !

उदीर्ध्वं जीवो असु र्न आगात्, अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय, अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ।।

ऋ० १.११३.१६ ।।

विनय

उठो, उठो हे मनुष्यो ! उठो, जागो, देखो यह प्रभात हो रहा है, अन्धकार को चीर कर उषा की किरणें निकल रही है। हमे जीवन प्रदान करती हुई, हम मे नवप्राण का सचार करती हुई यह दिव्य ज्योति उदय हो रही है। इस ज्योति के पाने के लिए जागो। भाइयो ! अनुभव करो कि हमारे जीवन मे आज फिर एक नव-प्रभात हुआ है। अब तक हम अन्धेरे मे थे, एक निष्प्राण और जीवनहीन 'जीवन' विता रहे थे। इस ज्योति का पवित्र सस्पर्श हम मे आज जो नया चैतन्य उत्पन्न कर रहा है वह हमारे लिये अननुभूतपूर्व है। ओह, इस ज्योति ने तो उस परम ज्योति सूर्य का मार्ग भी खोल दिया है, इस आत्म ज्योति ने उदित होकर परमात्म ज्योति तक पहुँचने का रास्ता भी साफ कर दिया है। हम अब उस अवस्था मे पहुँच गये है जहाँ वृद्धि ही वृद्धि है, जहाँ क्षय व ह्रास होने का डर नही रहा है। इस आत्मप्रकाश मे वे जीवनशक्तिया हैं जिन्हे पाकर अब हम दिनो दिन उन्नत होते जायेंगे; बढते, विकसित होते जायेंगे। हमारा जीवन, हमारा ज्ञान, हमारा मनुष्यत्व, हमारे सब गुण आगे आगे बढते ही जायेंगे। यह जीवन की ज्योति इस नवप्रभात के आगे उत्तरोत्तर बढती जायेगी। इसलिये उठो, इस आत्मप्रकाश को देखो, यह देखो, उषा देवी नव जीवन का सदेश लाती हुई हमे जगा रही है।

शब्दार्थ

हे मनुष्यो ! (**उदीर्ध्वं**) उठो, (**न.**) हमारे लिये (**जीवः**) जीवन (**असुः**) प्राण (**आगात्**) आ गया है, उदय हो गया है। (**तमः**) अन्धकार (**अप प्रागात्**) हट गया है और [यह देखो] (**ज्योतिः**) उषा की ज्योति (**आ एति**) आ रही है। इस ज्योति ने (**सूर्याय**) सूर्य के (**पन्थां**) मार्ग को (**यातवे**) चलने, पहुचने के लिये (**आरैक्**) खोल दिया है, (**यत्र**) जहाँ [जीवनशक्तियाँ] (**आयुः**) जीवन को (**प्रतिरन्त**) बढाती ही हैं [उस अवस्था मे हम] (**आ अगन्म**) पहुँच गये हैं।

हे देव !

ये त्वा देवोस्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः ।
न दूढ्ये अनुददासि वामं बृहस्पते चयस इत् पियारुम् ॥

ऋ० १.१९०.५ ।

विनय

हे देव ! दुर्बुद्धि लोग तेरे दिये भोगो को ऐसे अन्धे हो कर भोगते हैं कि वे और कुछ नहीं देखते । इस जगत् मे जो तूने अपनी नानाविध भोग्यवस्तु रूपी गौएँ दे रक्खी हैं उन से वे यथेच्छ भोगरूपी दूध दुहते जाते हैं, पर अपना और कुछ कर्तव्य नही समझते । वे तुझे भोला समझते हैं । तुझे ऐसा भोला भोगदाता समझते हैं जिसके कि भोगों को यूं ही लूट लिया जा सकता है । वे मूर्ख भोगप्राप्ति के रहस्य को नही समझते, भोग और यज्ञ किसी अविच्छेद्य बन्धन से जुडे हुए हैं यह नहीं समझते । वे नहीं देखते कि हमारे भोग भोगने से प्रकृति मे जो क्षति आ जाती है उसे यदि हम यज्ञ द्वारा न पूरा करते रहेगे तो हमारी भोगप्राप्ति की जड ही कट जाएगी । अत: वे यज्ञार्थ कर्म कुछ भी न करते हुए केवल भोग भोगना चाहते है वह यही पाप है । सूक्ष्मता मे देखें तो सब पाप के मूल मे जो भावना रहती है । वह यही है । इस पापभावना से युक्त होकर, पापी होकर वे तुझ भद्र के आश्रय से जीना चाहते हैं । मानो तेरी भलमनसाहत का लाभ (?) उठा कर वे पापी हो कर भी तेरी भद्रता पर अपने को पुष्ट करना चाहते हैं । वे कुछ समय तक इस तरह तेरा उपजीवन करते भी हैं । पर विना यज्ञ के भोग कब तक मिल सकता है, विना भोज्यप्रदान आदि सेवा किये गौ से दूध कब तक मिल सकता है ? अत तू आगे के लिए ऐसे दुर्बुद्धि को अपना उत्तम ऐश्वर्य देना बन्द कर देता है, नही देता है । बल्कि उस हिंसक का तू विनाश ही कर देता है । भोग्यग्रस्त पुरुष को जब तेरे सच्चे विधान से भोगप्राप्ति मे बाधा पडने लगती है तो वह क्रुद्ध होता है और नानाविध घोर हिंसाएं कर के भी भोग पाना चाहता है उस समय हे बृहस्पते ! तू उसका नाश कर देता है । यदि तू ऐसा न करे तो इस बृहत् जगत् का पालन न कर सके, तू बृहस्पति न रह सके । ऐसे ही अटल न्याय विधान द्वारा तू अपने इस बृहत् ब्रह्माण्ड का पालन कर रहा है ।

शब्दार्थ

(देव) हे देव (ये) जो (त्वा उस्रिकं मन्यमाना:) तुझे केवल भोगो का स्वामी या गौओं वाला ही समझते हुए (पज्रा:) [भोग्य वस्तुओ को] प्राप्त करने वाले, [ऐश्वर्यों का] प्रार्जन करने वाले (पापा:) पापी लोग (भद्रं उपजीवन्ति) तुझ भद्र का उपजीवन करते है, तुझ सुखदाता पर जीवित रहते है, ऐसे (दूढ्ये) दुर्बुद्धि पुरुष [पुरुषों] के लिए (बृहस्पते) हे इस बृहत् जगत् के पालक देव ! (वाम) श्रेष्ठ ऐश्वर्य को (न अनुददासि) नहीं देता है बल्कि (पियारु) उस हिंसक को तू (चयसे इत्) विनष्ट ही कर देता है ।

हम तेरे हो जाएं !

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशो अनागास्त्वमदिते सर्वताता ।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम ॥

ऋ० १ ९४ १५ ॥

विनय

हे प्रभो ! हम तेरे ही हो जायें। हम चाहते हैं कि हम अपने न रहे, तेरे हो जायें। तेरे होने से हम तर जायेंगे। परन्तु तेरे हो जाने वाले वे सौभाग्यशाली पुरुष होते हैं जिनके लिये तू 'निरपराधत्व' का वर प्रदान कर देता है। ऐसे पुरुष नाना प्रकार के कार्य किया करते हैं किन्तु उनके सब कर्म विस्तार में तुम्हारी कृपा से सदा निर्दोषता रहती है। हे अखण्ड ! हे पूर्ण अग्ने ! तेरे सहारे किये गये कर्मो मे अपूर्णता दोष, त्रुटि कैसे रह सकती है ? तू अदिति है, तुझ मे दिति, खण्डता व बन्धन नही है। अतः तेरे हो चुके, तेरे अनन्य उपासक के कर्म भी खण्डित व दोषयुक्त क्यों होगें ? तेरे ऐसे भक्तो के भयकर मे भयकर दीखने वाले कर्म भी निर्दोष व उचित ही होते हैं। धन्य धन्य हैं वे तेरी कृपा पाने वाली विशुद्ध आत्मायें जिनके कि सब कर्म-प्रवाह मे, हे सुद्रविण ! हे शुद्ध बल व धन वाले ! तुम ऐसी निष्पापता प्रदान करते हो। हम देखते हैं कि इससे उनका भी बल (शवस्) और धन (राधम्) असाधारण प्रकार का हो जाता है। उनका बल सदा 'भद्र' होता है और उनका धन 'प्रजावान्' होता है। उनमे तू जिस प्रकार के बल की प्रेरणा करता है वह बल भद्र होता है, कल्याण के लिये होता है। वह दुर्बलो के सताने व आत्महनन मे लगने वाला अभद्र बल नही होता, किन्तु आत्मोन्नति कराने मे, दुःखितो पीडितो की रक्षा मे निरन्तर लगने वाला बल होता है। एव उनका धन ऐश्वर्य 'प्रजावान्' होता है, प्रजनन करने वाला उत्पादक होता है। अनुत्पादक धन नही होता। उनका ऐश्वर्य कुछ भी सृजन न करने वाला नही होता, अपितु सदैव उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम परिणाम लाने वाला होता है। ओह ! ऐसे धन के साथ, ऐसे बल के साथ हम तेरे हो जायें, हे अदिते ! निष्पाप होकर हम तेरे हो जायें।

शब्दार्थ

(अदिते) हे अखण्ड स्वरूप अग्ने ! **(त्व)** तुम **(यस्मै)** जिस पुरुष के लिये **(सर्वताता)** उसके सब कर्म विस्तार मे, सब कर्मो मे **(अनागस्त्व)** निरपराधता, निर्दोषता **(ददाश.)** प्रदान करते हो और अतएव **(य)** जिस पुरुष को तुम **(सुद्रविणः)** हे सुन्दर बल व धन वाले ! **(भद्रेण शवसा)** कल्याणकारक बल से तथा **(प्रजावता राधसा)** उत्पादक धन से **(चोदयासि)** प्रेरित करते हो, अनुप्राणित करते हो वैसे होते हुए हम **(ते)** तेरे **(स्याम)** हो जायें।

हे इन्द्र !

नकीरेवन्तं सख्याय विन्दसे, पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहसि, आदित्पितेव हूयसे ॥

ऋक्० ८ २१ १४॥ सा०उ० ६ २.४॥ अथ० २०.११४ २॥

विनय

हे इन्द्र ! साधारणतया ससार के धनिक पुरुष तेरे, सख्य के योग्य नहीं होते । क्योकि वे हिंसक होते हैं । धन में ऐसा मद (नशा) होता है कि उससे मदोन्मत्त हुआ पुरुष किसी कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नही देखता । धन का सग्रह ही विना हिंसा के कहाँ होता है ? जगत् में विरले ही धनसमृद्ध पुरुष होगे जिन्हो ने कि दूसरों को विना सताये धन प्राप्त किया हो । क्या हम नही देखते कि ऐश्वर्य की मदिरा से मस्त हुए, धनशक्ति को सर्वोपरि समझते हुए आज ससार के धनाढ्य लोग नि शक हो कर गरीबो को सता रहे है, करुणापात्रो पर ही नहीं किन्तु सम्मानपात्रो पर भी वेखटके जुल्म कर रहे हैं ? तो हम हिंसक पुरुषो को तेरे दर्शन कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? इसलिये धनसमृद्धो मे से तुझे अपने सख्य के लिये लोग नही मिलते हैं । वे तेरे नजदीकी नही हो पाते हैं । जो तेरे सखा होते हैं, वल्कि तेरे पुत्र बनते है वे दूसरे प्रकार के ही लोग होते हैं । जो धनत्याग करने वाले तपस्वी, मदरहित शान्त पुरुष और प्रेम करने वाले अहिंसक होते है, वे ही तुझे पहिचान सकते हैं और पहिचानते है । वे जब तेरी महिमा का अनुभव कर तेरे स्तोता भक्त बन जाते है और विशेषत. जव तू उन्हे सम्यक्तया वहन करता है, उनका पालन पोपण करने वाला तू है ऐसा वे देखने लगते हैं, तभी वे तुझे 'पिता पिता' करके पुकारने लगते है । वे तेरे प्यारे पुत्र वन जाते हैं । इसलिये हे इन्द्र ! धनों द्वारा हम तुझे नही पा सकते है, तुझे पाने के लिये तो हमे धन का, कम मे कम धन के मोह का त्याग करना पड़ेगा, क्योकि तभी हम उस 'नदनु' अवस्था को पा सकेंगे जहाँ पहुँच कर भक्त लोग तुझे 'पिता-पिता' कह कर पुकारने लगते हैं और तेरे वात्सल्य में पलने वाले तेरे प्यारे पुत्र वन जाते हैं ।

शब्दार्थ

हे इन्द्र ! (रेवन्तं) धन वाले पुरुष को (नकिः) तू कभी नहीं (सख्याय) सख्य के लिये, सखाभाव के लिये (विन्दसे) पाता है, क्योकि (ते) वे (सुराश्वः) ऐश्वर्य समृद्ध, धनमत्त पुरुष (पीयन्ति) हिंसन करते हैं । (यदा) जव तू किसी को (नदनुं) स्तोता, भक्त (कृणोषि) वनाता है (सं ऊहसि) और उसे सम्यक् प्रकार से वहन करता है (आतृइत्) तव ही [उस द्वारा तू] (पिता इव) पिता की तरह (हूयसे) पुकारा जाता है ।

कितना आश्चर्य ?

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतः, अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता, न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ।।

ऋ० १ १६४ ४८ अथर्व ६ १० १६

विनय

एक ही घर में दो मित्र रहते हैं । उनमें से लोग एक को जानते देखते हैं, दूसरे को विलकुल नही पहिचानते । इन साथियो में एक न मरने वाला अमर्त्य अमर है और दूसरा मरने वाला मर्त्य है । इतने विरुद्ध उलटे स्वभाव वाले होते हुए भी ये दोनो आ मिले हैं, न जुदा होने वाले साथी बन गये हैं । इनको इस तरह जोडने वाली 'स्वधा' है, अपने में धारण की हुई भोगेच्छा है, अन्न (भोग) की इच्छा है । जब तक यह इच्छा समाप्त व शान्त न होगी तव तक संसार मे इन साथियो को कोई जुदा नही कर सकता । इस तरह इस भोगेच्छा से, स्वधा से पकड़ा हुआ यह अमर्त्य उस अपने मर्त्य साथी को साथ लिये, उसके साथ एक शरीर हुआ-हुआ फिर रहा है, सुख भोग की तलाश मे वुरा अच्छा सव कुछ करता हुआ फिर रहा है । वुरा करने पर उसे विवश होकर नीचे गिरना पडता है, नीची योनियो मे जाना पडता है और अच्छा करने पर ऊपर जाना, उच्च योनि मे जाना होता है । इस तरह ये नीचे-ऊपर फिरते हैं । किन्तु सदा साथ रहते हैं, सदा एक-दूसरे से जुडे रहते हैं । दोनों इकट्ठे ही सव स्थानो मे फिरते हैं । दोनो ही भोगवश विविध लोको तक जाते हैं । पर आश्चर्य यह है कि इन दोनो मे से लोग एक 'मर्त्य' को ही जानते हैं, जो दूसरा न मरने वाला है उसे देखते तक नही । यह कितना आश्चर्य है !

शब्दार्थ—

(**अमर्त्यः**) न मरने वाला (**मर्त्येन**) मरने वाले के साथ (**सयोनिः**) एक घर वाला होकर (**स्वधया**) अन्नेच्छा से, भोगेच्छा से (**गृभीतः**) पकडा हुआ, कभी (**अपाङ् एति**) नीचे जाता है और कभी (**प्राङ् [एति]**) ऊपर आता है (**ता**) वे दोनो (**शश्वन्ता**) सदा साथ रहने वाले (**विषूचीना**) सव जगह फिरने वाले (**वियन्ता**) विविध लोको तक पहुँचने वाले हैं । पर इनमे से (**अन्य**) एक को, मर्त्य को (**निचिक्युः**) लोग जानते हैं । (**अन्यं**) दूसरे को (**न निचिक्युः**) नहीं जानते ।

हे मेरे आत्मन् !

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम् ।
सजोषा धीराः पदैरनुग्मन्, उप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः ॥

ऋ० १ ६५ १॥

विनय

मैं तुझे कैसे ढूंढूं ? हे मेरे अग्ने ! आत्मन् ! तू मुझ से ही छिप कर न जाने कहां जा बैठा है, किस गहन गुफा मे जा छिपा है ? जैसे कि जब कोई चोर किसी के पशु को चुरा ले जाता है और कही पहाड़ की गुफा मे जा छिपता है तो पशु वाला अपने पशु को घर पर न पाकर ढूढ मचाने लगता है, उसी तरह जब से मुझे पता लगा है कि मेरी पशु'—मेरी दर्शन शक्ति, ज्ञान की शक्ति—खो गयी है तब से मैं हे आत्मन् ! तुझे ढूंढने लगा हूँ । तब से मैं जानने लगा हूँ कि मेरी वह दर्शनशक्ति तेरे ही साथ चली गई है और अब वह मुझे तुझ से ही मिल सकती है, अन्य कही से नही । पर हे आत्मन् ! मैं तुझे कहां ढूंढूं ? कैसे ढूंढूं ?

कहते हैं कि तू मेरे ही अन्दर मेरी 'हृदय की' कहाने वाली किसी गभीर गुफा मे छिपा पडा है, कहते हैं कि तू वहां ही अपने अन्न को, नमस्कार को, पाता है और उसे स्वीकार भी करता रहता है, पर फिर भी तू मुझे दर्शन नही देता, मिलता नही । जो धीर पुरुष होते हैं, जो लगातार यत्न करते जाने वाले ज्ञानी पुरुष होते हैं तथा जो परस्पर मिलकर प्रीति और सेवन करने वाले कर्मशील होते हैं वे तुझे पदो द्वारा, तेरे पदचिन्हो द्वारा तुझे खोजने मे लग जाते है । वे मन्त्रो के पदो से, तेरी प्राप्ति कराने के साधन रूपी अन्य नाना प्रकार के पदो से, तेरा पीछा करते हैं । ससार के दुःख दर्द, भय, पीडाओ से जो तेरा सकेत मिलता है उसे वे ध्यान से देखते है और प्रतिदिन सुषुप्ति, सध्या, मृत्यु की घटनाओ मे जो तेरे पदचिह्न चमकते हैं, इन्द्रियो मे जो तेरे पदचिह्न पडे हैं, सब ज्ञान मे जो तेरे पदचिह्न हैं उनसे तेरा अनुगमन करते हैं । इस प्रकार खोजते-खोजते अन्त मे ये यजन के अभिलाषी तुझे पा लेते हैं और तब ये यजनशील लोग मिल कर तेरी उपासना 'यजन' करने लगते हैं ।

क्या मैं भी कभी, हे मेरे आत्मन् ! तुझे पाकर, 'यजत्र' बन कर, तेरी उपासना मे बैठ सकूंगा ?

शब्दार्थ

हे अग्ने ! (पश्वा) पशु के, दर्शन शक्ति के साथ (तायुं न) चोर की तरह (गुहां चतन्त) गुहा में, हृदय गुहा मे, गये हुए [छिपे हुए] और वहां (नमो युजानं) अन्न व नमस्कार से युक्त होते हुए तथा (नमो वहन्त) उस अन्न व नमस्कार को धारण करते हुए तुझको (सजोषा.) मिल कर प्रीति तथा सेवन करने वाले (धीरा) धैर्यशाली ज्ञानी लोग (पदैः) पदचिह्नो, प्राप्ति साधनो द्वारा (अनुग्मन्) पीछा करते हैं, खोजते हैं, और खोज कर वे (विश्वे) सब (यजत्राः) यजनशील लोग (त्वा) तुझे, तेरी (उपसीदन्) उपासना करते हैं ।

हम क्या हैं ?

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्त्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥

ऋ० ७.४.४ ॥

विनय

हम क्या हैं ! यह हम नही जानते । हम जिसे हम समझते हैं वह तो केवल बहुत सी विनश्वर वस्तुओ का ढेर है । फिर भी जो हम मे ज्ञान, चैतन्य, शक्ति और आनन्द दिखायी देता है वह जिस एक वस्तु के कारण है वही हमारे अन्दर एकमात्र अविनश्वर तत्व है । यह हमारा अग्नि है, आत्मा है, और वही असली हम हैं । इन हमारे देह इन्द्रिय आदि भौतिक जड वस्तुओ मे वही एकमात्र (प्रचेता) है, चेतन है । इन अकवियो मे वह कवि है, इन अक्रान्तदर्शियो मे क्रान्तदर्शी है, इन बोल न सकने वालो मे बोलने की शक्ति देने वाला है, इन असुन्दर, अकाव्यमय वस्तुओ मे सुन्दर काव्यमय है । वही इन विनाशशील, मरने वाले मर्त्य अनग्नियो मे एक अविनश्वर अमृत अग्नि है । वही असली हम हैं , आत्मा हैं ।

ओह ! इसकी उपेक्षा कर जो अब तक हम दिन रात दूसरी जड क्षणभगुर वस्तुओ की सेवा शुश्रूषा करने मे लगे रहे हैं यह हमने कितना अनर्थ किया है ? हे आत्मन् ! आज तुझे पहचान कर हम देखते है कि इन्द्रिय मन प्राण आदि मे जो बल, तेज, सामर्थ्य दिखायी देता है वह इनमे नही है, वह तो सब तुझ मे है । इसलिये हे अग्ने ! सहस्व ! हे बल तेज शक्ति के भण्डार ! तू इस ससार मे हमारा कभी विनाश मत कर । हमने अब तक बेशक तुझ अपनी अग्नि को भूल कर बड़ा आत्मघात किया है । पर अब हम कभी ऐसा आत्मघात न करेंगे । हमे अब एकमात्र तेरी ही प्रसन्नता चाहिये । यह सब जग बेशक रूठ जाय, पर हम अब तुझे कभी रुठने न देंगे । हे अन्दर बैठे अन्तरात्मन् ! जब तक हमारे प्रति तुम सुमना हो, चाहे फिर दुनिया हमें निन्दा करें, धिक्कारें हमें कुछ परवाह नही । इस सब मर्त्य दुनिया को छोड कर हम केवल तुझे प्रसन्न रखेंगे । चूँकि तू ही सब कुछ है, निश्चय से हमारा सब कुछ है ।

शब्दार्थ

(**अयं**) यह (**प्रचेताः अग्नि.**) चेतन अग्नि (**अकविषु कवि.**) इन अकवियों में कवि होकर (**अमर्त्येषु अमृतः**) इन मरने वालो में अमृत हो कर (**निधायि**) निहित है, रखा हुआ है । (**सहस्व**) हे बल तेज शक्ति वाले (**स.**) वह तू (**नः**) हमें (**अत्र**) इस ससार में (**मा**) कभी मत (**जुहुर.**) विनष्ट कर, किन्तु हम (**सदा**) सदा (**त्वे**) तुझ में (**सुमनसः**) अच्छे मन वाले, प्रसन्नता पाने वाले (**स्याम**) बने रहे ।

सच्चे राजा !

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु ।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत् ॥

ऋ० ८.२१.१८ ॥

विनय

भाइयो ! इस संसार में 'चित्र' देव ही एक मात्र राजा हैं। ओह, वे 'चित्र' देव, वे परम पूजनीय परमेश्वर, वे महा अद्भुत, विलक्षण शक्ति जगदीश्वर जो कि अपने अनन्तों-प्रकार के ऐश्वर्यों को इस जगती तल पर अनवरत बरसा रहे हैं वे ही संसार के एक सच्चे राजा हैं। किसी एक प्रकार का थोडा बहुत ऐश्वर्य रखने वाले और उसका दान करने वाले, हम लोगो में 'राजा' 'महाराजा' आदि कहलाने वाले, ससार के ये बड़े से बड़े ऐश्वर्यशाली पुरुष भी उनके सामने क्या राजा हैं ! जरा देखो कि इन्हे उस बरसने वाले महान् ऐश्वर्य में से, हजारो लक्षो प्रकार से बरसते इन अनन्त ऐश्वर्य में से कितना अति क्षुद्र अ श ही प्राप्त हुआ है ? 'चित्र' प्रभु की उस ऐश्वर्य वर्षा से, बरसाती नदी की तरह, इस मनुष्य लोक में बह निकलने वाली जो एक समष्टि ऐश्वर्य की अलक्षित नदी, सरस्वती, बह रही है उस नदी से अन्यो की अपेक्षा कुछ अधिक ऐश्वर्य-जल पाकर ये दुनियावी राजा 'राजा' बने हैं। बस, उनका इतना ही ऐश्वर्य है। तो उस बरसाने वाले, ऐसी सहस्रो सरस्वतियो को बहाने वाले, उस अनन्तधनी के सामने ये कितने क्षुद्रातिक्षुद्र हैं !

मैं सोचा करता था कि ससार मे जो मुझे नाना प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त हो रहे हैं इनका प्रदाता कौन है ! मैं अब तक समझता था कि ज्ञान, तप, बल और धन आदि जो नाना प्रकार के विलक्षण ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हुए हैं उनके प्रदाता वे वे उन उन ऐश्वर्यों के धनी पुरुष ही हैं। परन्तु जब से मुझे इस महान् ऐश्वर्य वृष्टि का अनुभव हुआ है और बरसाने वाले चित्र प्रभु का दर्शन हुआ है तब से मैं उस प्रभु के इस दिव्य महादान के ही स्तुति-गीत गाने लगा हूँ। ओह, 'चित्र' ही इस संसार मे राजा हैं, 'चित्र' ही एक मात्र इस ससार मे सच्चे राजा हैं।

शब्दार्थ

(चित्र) वे परम पूजनीय या विलक्षण शक्ति परमेश्वर (इत्) ही एकमात्र (राजा) राजा हैं (अन्यके) अन्य [दुनियावी राजा] तो (राजकाः इत्) क्षुद्र राजे ही हैं (यके) जो कि क्षुद्र राजे (सरस्वतीं) [उसकी मनुष्य लोक मे बहायी] समष्टि-ऐश्वर्य की नदी (अनु) द्वारा बने हैं, क्योंकि वही (सहस्रा अयुता) सहस्रों लाखों प्रकार के धनों ऐश्वर्यों को (ददत्) देता हुआ (पर्जन्य इव) मेघ की तरह (वृष्ट्या) अपनी ऐश्वर्यवृष्टि से (हि) निःसन्देह [इन दुनियावी राजाओं को] (ततनत्) भरता है, ऐश्वर्य-जल से पूरित कर बढ़ाता है बड़ा बनाता है।

हे बसाने वाले !

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोता अमतीवा न दुर्हितः स्यान्न पापया ॥

ऋ ८.१९.२६ ॥

विनय

हे जगत् को बसाने वाले ! वसो ! मैं कभी तुमसे दूसरो के विनाश के लिये प्रार्थना न करूँ, और हे सन्त्य ! हे सभजनीय ! मैं कभी दूसरो के प्रति किसी अन्य पाप के लिये भी तुम्हारा संभजन न करूँ। मैं तुम्हें कभी इस लिये हवि प्रदान न करूँ कि उससे किसी दूसरे की हिंसा हो या कोई अन्य पाप होवे। हे बसाने वाले ! तुमसे विनाश की प्रार्थना करना, हे सन्त्य ! तुमसे पाप की चाहना करना, यह कितनी उल्टी बात है ! परन्तु हम अज्ञानी लोग मोहवश बहुत बार तुमसे ऐसी प्रार्थनायें भी करते हैं। हम तो मारण उच्चाटन अभिचरण तक मे तुमसे सफलता चाहा करते हैं। परन्तु शायद इसी लिये हम संसार में ठगे जाते हैं। हमें ऐसे स्तोता या प्रशंसक मिलते हैं जो कि अन्दर से हमारा अनिष्ट चाहते हैं पर ऊपर से स्तुति करते हैं। हे अग्ने ! मैं तो चाहता हूँ कि मेरी स्तुति कभी कोई मूर्ख पुरुष न करे, मेरे लिये दुर्भाव और अहित रखने वाला कभी मेरा स्तोता व प्रशंसक न बने, पाप-बुद्धि वाला कभी मेरी खुशामद न करे। मैं कैसा हूँ इसकी बडी अच्छी पहचान यह है कि मेरे प्रशंसक कैसे हैं। अत मैं जहाँ यह चाहता हूँ कि ना समझ और दुर्हृदय पुरुषो की स्तुति मुझे कभी प्राप्त न होवे वहाँ मैं आपसे वह बल और ज्ञानप्रकाश भी पाना चाहता हूँ जिससे मैं तुमसे कभी हिंसा व पाप की प्रार्थना न कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तुमसे पवित्र ही प्रार्थना करूँ और मुझे मनुष्यो की पवित्र ही स्तुति प्राप्त हो।

शब्दार्थ

(वसो) हे जगत् के बसाने वाले ! मैं **(अभिशस्तये)** हिंसन के लिये **(त्वा न रासीय)** कभी तेरी स्तुति प्रार्थना न करूँ, कभी हविप्रदान न करूँ और **(सन्त्य)** हे संभजनीय ! **(पापत्वाय)** पापयुक्तता के लिये मैं तेरी कभी प्रार्थना न करूँ, हविप्रदान न करूँ। और **(अग्ने)** हे अग्ने ! **(मे स्तोता)** मेरा प्रशंसक कभी **(अमतीवा)** निर्बुद्धि मूर्ख पुरुष **(न स्यात्)** न होवे, **(दुर्हितः)** दुष्कामना रखने वाला पुरुष **(न)** न होवे और **(पापया)** पाप बुद्धि से [युक्त पुरुष भी] **(न)** न होवे।

मंत्र महिमा !

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि, अमे देवान्धात् गुहा निषीदन् ।
विदन्तीमत्र नरो धियन्धा, हृदा यत्तष्टान् मन्त्राँ अशंसन् ॥

ऋ० १.६७.२॥

विनय

मन्त्रो की वड़ी महिमा है। मन्त्रो की शक्ति अद्‌भुत है। मन्त्रशक्ति से हम जो चाहे वह प्राप्त कर सकते हैं। यह ठीक है कि हम प्रतिदिन वेदमन्त्रों का बहुत उच्चारण करते है, तो भी हमे इससे कुछ प्राप्त नही होता। पर इसका कारण यह है कि ये मन्त्र हमारे हृदय मे नही निकले होते। जो भक्त लोग हृदय से घढ़े हुए, हृदय की गम्भीर गहराई से निकले हुए, हार्दिक भावना से तीक्ष्ण हुए, और पवित्र अन्तःकरण की गम्भीर सूक्ष्म तथा विस्तृत ज्ञानशक्ति से तेजोयुक्त हुए-हुए वेद मन्त्रो को वोलते हैं, वे अपने ऐसे मन्त्रोच्चारण द्वारा उस 'ईक्षण' नामी दिव्य शक्ति को सचालित कर देते हैं जिससे वढ कर ससार मे अन्य कोई शक्ति नही है। इसलिए वे नर, वे सच्चे पुरुष, अपने अन्दर ही सव कुछ पा लेते हैं। वे 'धी' को धारण करने वाले, स्थितप्रज्ञ होने और निष्काम कर्म करने से हृदय (आत्म) शुद्धि पा लेने वाले, अपने हृदय मे ही सव कुछ पा लेते है। हृदय की गुफा मे जो अग्निदेव छिपे बैठे हैं, सब ऐश्वर्यों को हाथ में लिये हुए और वेदो को अपने मे धारण किये हुए हमारे अग्निदेव छिपे बैठे हैं, उन्हें पा लेते हैं। और इस प्रकार मन्त्र शक्ति द्वारा अग्निदेव को पा लेने पर, प्रकट कर लेने पर, फिर संसार का कौन-सा ऐश्वर्य है, कौन-सा दिव्य गुण है जिसे ये 'नर' नही पा लेते। ससार के सम्पूर्ण धन ऐश्वर्यों को तो हाथ मे रखे हुए, सव देवो (दिव्य गुणो) को अपनी ज्ञानमय शरण मे लिये हुए ये हमारे अग्निदेव हमारे हृदय मे ही स्थित हैं, पर हम हैं जो कि 'मन्त्रो का उच्चारण' करके उन्हे पा नहीं लेते, हृदय से मन्त्रोच्चारण करना तक सीख नही लेते, हृदय से निकले मन्त्रो से इन्हे प्राप्त कर नही लेते।

शब्दार्थ

अग्नि देव (विश्वानि) सम्पूर्ण (नृम्णा) ऐश्वर्यों को (हस्ते) हाथ मे (दधान.) लिये हुए (देवान्) देवो, दिव्य गुणो को (अमे) अपने घर मे, अपनी ज्ञानमय शरण मे (धात्) धारण करता है, इस प्रकार वह (गुहा) [हृदय की] गुफा मे (निषीदन्) बैठा हुआ, छिप कर बैठा हुआ है। (अत्र) इस हृदय गुफा मे (ईं) इनको (धियन्धा.) बुद्धि और कर्म को ठीक प्रकार धारण करने वाले (नरः) पुरुष (विदन्ति) तव पा लेते हैं (यत्) जव वे (हृदा) हृदय से, हार्दिक भाव से (तष्टान्) निकले हुए, तेजोयुक्त हुए-हुए (मन्त्रान्) मन्त्रो का (प्रशंसन्) उच्चारण करते है।

मेरे प्रभु !

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः, शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥
सा.म० पू० ६ ३.१३.२ ॥

विनय

मेरे प्रभु की सृष्टि मे सभी ऋतुएँ रमणीय हैं । हर एक ऋतु मे अपनी-अपनी रमणीयता है । जो लोग प्रभु के प्रेम को नहीं जानते वे ही हर समय, हर ऋतु मे असन्तुष्ट रहते हैं । गर्मी मे उन्हे शीत याद आता है, पर शीत आ जाने पर वे कहते हैं "गर्मी की ऋतु अच्छी होती है ।" घर्मकाल मे वे प्रतिदिन वर्षा की प्रतीक्षा में रहते हैं परन्तु वर्षा आने पर वे बरसात से तग आ जाते है । इस प्रकार उन्हे हर समय मे शिकायत ही शिकायत रहती है । उन्हे कोई भी ऋतु अच्छी नही लगती । परन्तु प्रभुप्रेम का कुछ प्रसाद पा लेने पर मुझे तो प्रत्येक ऋतु मे अपने प्रभु की ही कोई न कोई प्रतिमा दिखायी देती है । इसलिये गर्मी मे मैं सुख से गर्मी का आनन्द लेता हूँ और जाडे मे जाडे का । वर्षा-काल मे मैं खूब बरसात मनाता हूँ और पतझड मे मैं अपने प्रभु का एक दूसरा ही सौन्दर्य पाता हूँ । इस तरह मैं हर समय हर ऋतु मे अपने प्रभु का दर्शन करता हूँ और देखता हूँ कि प्रत्येक ऋतु अपनी नयी-नयी प्रकार की रमणीयता के साथ नया-नया प्रभु-सन्देश लाती हुई मेरे पास आ रही हैं ।

मेरे जीवन रूपी सवत्सर मे भी इसी प्रकार सब ऋतुएँ आया करती हैं । कभी सुख सम्पत्ति की घडियाँ आती हैं तो कभी दु.ख दारिद्रय के लम्बे दिन व्यतीत होते हैं । कभी अति कार्य-व्यग्रता का राजसिक समय वर्षों तक चलता है तो कभी काफी समय के लिये शिथिलता और दीर्घ-सूत्रिता के दिनो की बारी आती है । पर मैं उन सभी का रसास्वादन करता हूँ । ये सभी रस अपने-अपने समय पर प्राप्त होते हुए मुझे प्रिय लगते हैं । इस प्रकार मैं अपने बाल्य-काल के वसन्त मे खूब खेला हूँ, नौ-जवानी की ग्रीष्म के जोशीले दिनो का तथा प्रौढता की बरसात के प्रेमपूर्ण दिनो का आनन्द भी मुझे याद है, आजकल सार्वजनिक जीवन की शरद् और हेमन्त की बहार ले रहा हूँ और देख रहा हूँ कि वार्धक्य की शिशिर अपनी बुजुर्गी अनुभवपूर्णता और परिपक्वता की स्वर्गीयता के साथ आगे मेरी प्रतीक्षा कर रही है । नि सन्देह प्रभु की वसन्त ही नही किन्तु ग्रीष्म भी रमणीय है, वर्षा और इसके अनन्तर आने वाली शरद् के साथ उसकी हेमन्त तथा शिशिर भी उसी तरह रमणीय हैं ।

शब्दार्थ

(**वसन्त**) वसन्त (**इत् नु**) निश्चय से ही (**रन्त्य**) रमणीय है और (**ग्रीष्मः**) गर्मी की ऋतु भी (**इत् नु**) निश्चय से ही (**रन्त्यः**) रमणीय है; (**वर्षाणि**) वर्षाएँ (**अनु शरदः**) उसके पीछे आने वाले शरद के दिन (**हेमन्त.**) और हेमन्त ऋतु, तथा (**शिशिरः**) पतझड की ऋतु भी (**इत्नु**) निश्चय से (**रन्त्यः**) रमणीय है ।



समर्पण करो !

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥

ऋ० ७.३२.२॥ सा०उ० ८.२.६.२ ॥

विनय

हे इन्द्र ! सदा तेरे ज्ञान का निष्पादन करने वाले, तेरे उद्देश्य से ब्रह्मयज्ञ करने वाले ये भक्त लोग जगह-जगह से तेरे ज्ञान का, तेरे प्रेम का, सग्रह करते रहते हैं जैसे "मधुकृत्" मक्षिकायें जहाँ मधु देखती हैं वही जा बैठती हैं और इस प्रकार सब कही से मधु इकट्ठा करती हैं, उसी तरह ये 'ब्रह्मकृत्' लोग जहाँ कोई विकसित ज्ञान-पुष्प देखते है, जहाँ कही तेरे गुणो की सुगन्धि पाते हैं वहीं जा पहुँचते हैं और उसमें समवेत होकर, तल्लीन होकर तेरे भक्तिरस का आस्वादन और सग्रहण करते है । प्रत्येक ब्रह्मचर्चा के स्थान से, प्रत्येक हरिकीर्तन मडली से, प्रत्येक शुभयज्ञ से, प्रत्येक सद्ग्रन्थ से और क्या, प्रत्येक चेताने वाली घटना से अर्थात् जहाँ भी कही तेरे लिये 'सोम अभिषुत किया' जाता है उन सभी स्थलों से वे तल्लीन होकर चुपके से मधु को, सोमरस को वे ज्ञानामृत को ग्रहण कर जाते है । इस तरह ये लोग ज्ञानधनी भक्तशिरोमणि बन कर सब ससार के लिए भक्तिपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं, ससारी प्यासो को ज्ञानामृत पिलाते हैं ।

इन भक्तो मे ऐसा सामर्थ्य इसलिए आ जाता है चूकि ये दुनियावी कामनाओ से पीडित नही होते । ये निष्काम होते हैं । ये अपनी सब कामनायें इन्द्र प्रभु मे समर्पित कर चुके होते है । जैसे कि रथ मे पैर रख कर, रथ मे बैठकर हमे अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये स्वय अपने प्रयत्न से नही चलना पडता, रथ हमें स्वय पहुँचा देता है, उसी तरह ये तेरे स्तोता भक्त लोग अपनी कामना मात्र को तुझ परमेश्वर मे रख कर निश्चिन्त हो जाते हैं कि तुम सर्वशक्ति सर्वज्ञानी प्रभु स्वयमेव उनकी सब शुभ कामना को ठीक तरह पूर्ण करोगे, स्वयमेव अभीष्ट फल को प्राप्त कराओगे । ओह ! इस इन्द्र-रथ का आश्रय पाकर, अपनी कामना रूपी पैरों को समेट कर इस रथ पर बैठ जाने पर, कोई तृष्णा व्याकुलता नही रहती, कोई चिन्ता जलन नही रहती, कोई झंझट व परेशानी नही रहती ।

शब्दार्थ

(मधौ न) जैसे मधु पर (मक्ष.) मधु मक्षिकायें (आसते) बैठती हैं वैसे (इमे) ये (ते) तेरे (ब्रह्मकृत.) ज्ञान निष्पादन करने वाले भक्त लोग (हि) निश्चय से (सुते) प्रत्येक सुत सोम पर, प्रत्येक ज्ञान निष्पादन के स्थल पर (सचा) समवेत होकर, तन्मग्न होकर बैठते हैं । और ये (वसूयव.) वसु व अभीष्ट फल चाहने वाले (जरितारः) स्तोता, भक्त लोग (इन्द्रे) परमेश्वर मे (कामं) अपनी इच्छा को, कामनामात्र को (आदधुः) रख देते हैं, समर्पित कर देते हैं, (रथे न) जैसे रथ में (पादं) पैर को रख देते हैं [और बैठ जाते हैं] ।

जीवन संग्राम

महि महे तवसे दीध्ये नॄन् इन्द्रायेत्था तवसे अतव्यान् ।
यो अस्मै सुमतिं वाजसातौ स्तुतो जने समर्यश्चिकेत ॥

ऋ० ५.३३.१॥

विषय

जीवन का सग्राम बड़ा विकट है। मैं क्षुद्र हूँ, अत्यन्त निर्बल हूँ। परन्तु हे इन्द्र! तुम तो महान् हो, वलवान् हो, सर्वशक्तिधाम हो, और तुम्हारी शक्ति का आश्रय पाकर मैं निर्बल भी महावली हो सकता हूँ। इसलिए मैं आज "अतव्यान्" हो कर भी महान् वल पाने के लिये महत्वपूर्ण 'आरम्भ' करने लगा हूँ। तेरा ध्यान करके मैं आज अपनी सुप्त शक्तियो को जगाता हूँ, अपनी छिपी हुई 'नर' शक्तियो को, नेतृत्व की शक्तियों को उद्‌बुद्ध करता हूँ, ध्यान द्वारा अपने पौरुषो को प्रदीप्त करता हूँ, अपने आपको प्रकाशित करता हूँ। इस प्रकार महान् वल को धारण करके मैं अपनी विजय-यात्रा पूरी करूँगा। परन्तु हे इन्द्र! यह सब मैं तुम्हारा अवलम्बन पाकर ही कर सकूँगा। तुम 'समर्य' हो, इस ससार-समर मे विजय प्राप्त कराने वाले हो। उस श्रेष्ठमति को तुम्हीं जानते हो और तुम्ही दे सकते हो जिसके द्वारा इस घोर जीवन-सग्राम मे विजय प्राप्ति होती है। मैं जानता हूँ कि भक्ति से अभिमुख हुए तुम नित्य सुमति देने वाले पथप्रदर्शक वन जाते हो। इस लिये इस दीन जन पर भी कृपा करो। तुम्हारा नाम लेकर, तुम्हारे लिये, मैं आज इस प्रकार महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ, महान् वल पाने के लिये अपने पौरुषो को प्रदीप्त करने का महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ।

शब्दार्थ

(महि) महत्व के साथ **(महे तवसे)** महान् वल के लिये मैं **(नॄन्)** अपनी नर-शक्तियो को, पौरुषो को **(दीध्ये)** प्रदीप्त करता हूँ, ध्यान द्वारा प्रदीप्त करता हूँ; **(इत्था)** इस प्रकार **(तवसे इन्द्राय)** बलस्वरूप इन्द्र के [पाने के] लिये **(अतव्यान्)** मैं निर्बल [अपनी नृ शक्तियो को प्रदीप्त करता हूँ] **(यः)** जो कि इन्द्र **(स्तुतः)** भक्ति से अभिमुख किया गया **(समर्यः)** संग्राम कराने वाला, सग्राम में हितकारक **(अस्मै जने)** इस निर्बल जन के लिये **(वाजसातौ)** जीवन सग्राम मे **(सुमत)** उत्तम मति को **(चिकेत)** जानता है।

वैश्वानर देव !

स इत्तन्तुं स वि जानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति ।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन् ॥

ऋ० ६.९ ३॥

विनय

मैं नही जानता कि यह जो ससाररूपी वस्त्र बुना जा रहा है उसका ताना क्या है, वाना क्या है, और जब कभी बुनते हुए इसका कोई तन्तु टूट जाता है तो उसे जोडने वाला कौन है । हाँ, वह वैश्वानर अग्नि अवश्य जानता है । वह ही इस संसाररूपी वस्त्र के लिये ताना तनना और वाना भरना जानता है । वह अग्नि ऋक् [ज्ञान] के ताने मे यजु (कर्म) का बाना डालता हुआ इस महायज्ञ के वस्त्र को निरन्तर बुन रहा है । और यही समय-समय पर किसी ज्ञानतन्तु के विच्छिन्न होने पर नया ज्ञान देने द्वारा, वक्तव्य के बोलने द्वारा, उसे जोडता रहता है ।

यह वैश्वानर अग्नि कौन है ? यह वह अग्नि है जो कि इस विश्व-शरीर का अग्नि है, जोकि असख्यो व्यष्टि (वैयक्तिक) अग्निओ को समष्टि (सामूहिक) अग्नि से एक करने वाला है, अतएव जो कि व्यक्तियो के मरते रहने पर भी अमर रहने वाला है, जो कि अमरत्व का रक्षक "अमृतस्य गोपा" है । यह अग्नि इस सब ससार को ज्ञान, चैतन्य, स्फूर्ति दे रहा है । यह अपने व्यष्टि रूप से जहाँ नीचे पृथिवी पर पैर बनकर विचर रहा है, वहाँ यह अपने समष्टि रूप से ऊपर द्युलोक मे नेत्र होकर सब को देख रहा है । भाइयो ! क्या तुमने 'वैश्वानर अग्नि' को पहिचाना ? यह वह अग्नि है जिसमे या जिस के द्वारा यह संसाररूपी महान् यज्ञ हो रहा है ।

शब्दार्थ

(सः) वह वैश्वानर अग्नि (इत्) ही (तन्तुं) ताना तनने को और (स.) वही (ओतुं) बाना करने को (विजानाति) जानता है, (सः) वह (ऋतुथा) समय समय पर (वक्त्वानि) वक्तव्य ज्ञानों को भी (वदाति) बोलता है, प्रकाशित करता है । (यः) जो [वैश्वानर अग्नि] (अमृतस्य गोपा.) अमरत्व का रक्षक हो (अवः) इधर नीचे (चरन्) चलता हुआ और (परः) ऊपर ऊपर (अन्येन) अपने दूसरे रूप से (पश्यन्) देखता हुआ (ईं) इस ससार को (चिकेतत्) जान रहा है, इसमे ज्ञान चैतन्य दे रहा है ।



शत्रु क्षट तो समाप्त

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥

ऋक् ४.१.२० । यजु० ३३.१६ ॥

विनय

हे इन्द्र ! तुम्ही पूरी तरह शत्रु का विनाश करने वाले हो । तुम शत्रु का इतनी अच्छी तरह विनाश करते हो कि उसका सब शत्रुत्व, सब बुराई विनष्ट हो जाती है किन्तु वह मनुष्य, उसकी अच्छाई जरा भी नष्ट नही होने पाती, बल्कि वह मनुष्य अधिक श्रेष्ठ बन जाता है । तुम दास शत्रुओ को आर्य बना कर उनका शत्रुपना नष्ट कर देते हो और मानुष शत्रुओ को उत्तम आचरण वाले मनुष्य बनाकर उनका शत्रुत्व नष्ट कर देते हो । तुम अपनी जिस स्वस्ति से, जिस स्वस्थता से, जिस निर्विकारता से, जिस कल्याणमय अवस्था से ऐसा करते हो वह हमे भी प्रदान करो । हम अपने शत्रुओ का सच्चे अर्थों मे विनाश कर सकें इसके लिये वह अपनी स्वस्ति, वह अपनी निर्विकारता हमे भी प्राप्त कराओ । यह ठीक है कि हम मे वह संयम, वह महत्ता, वह अहिंसा नहीं है जिसके बिना तुम्हारी यह स्वस्ति की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती । परन्तु ये गुण हमे अन्य कौन प्रदान करेगा ? हे इन्द्र ! तुम्ही वह महान् अहिंसारूपिणी सयमवाली स्वस्ति-शक्ति हम मे भर दो जिसके प्रयोग से मनुष्यत्व से गिरे हुए, उपक्षय करने वाले, दास भी आर्य मनुष्य बन जाते हैं और मनुष्य 'वृत्र' भी उत्तम गमन व आचरण वाले, सुन्दर वृद्धि करने वाले या तेरे सुपुत्र बन जाते हैं, शत्रु नहीं रहते । हम भी, हे वज्र वाले ! हे पाप का वर्जन कराने वाले ! अब ऐसे ही ठीक प्रकार से शत्रु विनाश कर सकने वाले होना चाहते हैं । शत्रुओं को उलटे तरीके से, असयम और हिंसा के तरीके से, विनाश करने का यत्न करते करते हम तग आ गये हैं । इस लिये हे इन्द्र ! अब हमे तुम्ही अपना वह संयम प्रदान करो, अपनी वह महत्ता प्रदान करो, अपनी वह अहिंसा शक्ति प्रदान करो और उस स्वस्ति व निर्विकारता का प्रदान करो जिसके साधन से मनुष्य किसी की भी हिंसा न करता हुआ सबकी उन्नति ही साधता है और इस प्रकार इस संसार मे पूरी तरह शत्रुरहित हो जाता है ।

शब्दार्थ—

(हे इन्द्र) हे इन्द्र ! **(शत्रु तूर्याय)** शत्रुओ के विनाश के लिये **(नः)** हमे वह **(बृहतीं)** महान् **(अमृध्रां)** हिंसा रहित, अहिंसिका **(संयतं)** संयमवाली **(स्वस्ति)** स्वस्थता, निर्विकारता की अवस्था, कल्याणमयता को **(आ [भर])** सब ओर से प्राप्त कराओ, **(यया)** जिस [स्वस्ति] द्वारा तुम **(दासानि वृत्रा)** दास शत्रुओं को **(आर्याणि)** आर्य **(करः)** कर देते हो, बना देते हो और **(वज्रिन्)** हे वज्र वाले ! **(नाहुषाणि [वृत्रा])** मनुष्य शत्रुओ को **(सुतुका)** उत्तम गमन व वृद्धि वाले या सुपुत्र बना देते हो ।

श्रेष्ठ सुख दो !

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम् ।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः ॥

ऋक् ४.१.२० । यजु० ३३ १६ ॥

विनय

क्या तुम जानते हो कि हम मनुष्य जो देवो का यजन करते हैं और उसके बदले में ये देव हम मनुष्यों को इष्ट फल प्रदान करते हैं यह सब क्योंकर होता है ? हम मनुष्यो का देवों के साथ जो यह यज्ञिय सम्बन्ध जुडा है उसका जोडने वाला कौन है ? यह अग्नि है, जातवेदा है। इस प्रयोजन के लिए यह अग्निदेव जहाँ एक तरफ सब देवों का अदिति है, वहाँ दूसरी तरफ सब मनुष्यो का अतिथि हुआ है। जहाँ यह सब यज्ञियों, यजनीयों, देवो, का अखण्डित निवास स्थान है, उनकी माता है, वहाँ यह हम मनुष्यों के उपकार के लिए स्वय यजनीय पूजनीय अतिथि हो कर हमारे पास भी आया हुआ है। इस अतिथि रूप से यह हमारा हवि ग्रहण करता है और अदिति रूप से यह उसे देवों को पहुँचाता है। और फिर जो ये देवगण प्रतिफल मे हमारे लिए 'अव.' देते हैं, रक्षा, तृप्ति आदि भेजते हैं, उसे स्वीकार करता हुआ यही अग्नि "जातवेदा" होकर हम मनुष्यो को अभीष्ट सुख पहुँचाता है। इस समय इसका नाम जातवेदा इसलिए होता है चूकि तब इसमे देवो द्वारा प्रतिफल मे आया हुआ 'वेदस्' अर्थात् अभीष्ट ऐश्वर्य उत्पन्न हो चुका होता है। यह प्रक्रिया है जिससे कि यजन द्वारा हमे अभीष्ट फल, सुख शान्ति समृद्धि आदि प्राप्त होते हैं। यह अग्निदेव ही है जिस के द्वारा "हम देवो को भावित करते हैं और देव हमे भावित करते हैं एवं परस्पर भावित करते हुए हम परम कल्याण की तरफ जा रहे हैं" देखो, यह सब अग्निदेव की महिमा है। उपनिषदो मे इसकी महिमा प्राणाग्नि आदि नाम से बहुत बहुत गाई गयी है। निस्सन्देह इस अग्निदेव की जितनी महिमा गाई जाये उतनी थोडी है।

हे परमेश्वर ! हे अग्नियो के अग्नि ! तुम हम हर ऐसी कृपा करो जिससे कि ये महिमाशाली अग्निदेव हम यजनशील पुरुषो के लिए सदा उत्तम सुख देने वाले रहें, सदा श्रेष्ठ सुख प्रदान करते रहे।

शब्दार्थ—

अग्नि (**विश्वेषां**) सब (**यज्ञियानां**) यजनीयो का, देवो का (**अदितिः**) अखण्डित निवास-स्थान है, या माता है और (**विश्वेषां**) सब (**मानुषाणां**) मनुष्यो का (**अतिथिः**) अतिथि है, आता हुआ मेहमान है। (**अग्निः**) वह अग्नि (**देवानां**) देवो के (**अव.**) रक्षण तृप्ति आदि फल को (**आवृणानः**) स्वीकार करता हुआ (**जातवेदा.**) और अभीष्ट ऐश्वर्यो से युक्त हुआ हुआ [हमारे लिए सदा] ((**सुमृळीक.**) उत्तम सुख देने वाला (**भवतु**) होवे।

असुर रहित करो !

ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्ति, अग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥

यजु० २.३० ॥

विनय

हे जगदीश्वर ! यहाँ से असुरों को दूर करदो, प्रच्छन्न असुरो को दूर भगा दो। यह लोक, यह स्थान तो देवो के लिये है। इस मेरे अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव लोक मे दैवभाव, दैवमनुष्य, दैवी शक्तियाँ ही रहनी चाहिए। किन्तु हे अग्ने ! आसुर भाव, असुर लोग, आसुरी शक्तियाँ भी यहाँ आ घुसती हैं। ये असुर अपने नग्न-स्वरूप मे तो यहाँ आ नहीं सकते, इसलिए ये अपने अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य के असली स्वरूपो को छिपाकर ज्ञान, धर्म और ऐश्वर्य के रूपो को दिखलाते हुए यहाँ आते हैं। अपने असली दुर्भावो को अन्दर दबा कर अपने को बड़े सद्‌भावो से प्रेरित हुए प्रकट करते हैं। अपने स्वार्थपूर्ण अभिप्रायो को इस प्रकार उच्च सिद्धान्तो मे लपेट कर लोगो के सामने पेश करते हैं कि लोग इन्हें "देव" समझते हैं। इसीलिये असुर होते हुए भी ये यहाँ की 'स्वधा' को प्राप्त करते हैं, यहाँ के अन्न से, रस से, स्थूल पार्थिव शक्ति से युक्त होकर ये विचरते हैं। परन्तु अन्दर से ये बिलकुल असुर होते हैं, अशोभन, बुरे पुरुष होते हैं। यज्ञ को, श्रेष्ठ सगठन को ध्वस करने वाले होते हैं। असुओं मे (प्राणो मे) ही रमने वाले इन्द्रिय-भोगरत होते हैं। इसलिये ये स्वार्थी लोग सदा अपने ही पेट भरने मे लगे रहते हैं। ये "परापुर्" और 'निपुर्' होते हैं, धर्म से बहुत दूर होकर बिलकुल विमुख होकर भी अपने आपको भरते हैं और धर्म से नीचे गिरकर निकृष्ट उपायो से भी अपने को भरते हैं। अधर्म, अन्याय द्वारा दूसरों को हरते हुए और अपने स्वार्थों को पूरा करते हुए, किन्तु ऊपर से अपने आप को धार्मिक सच्चे दिखलाते हुए ये असुर इस लोक मे धन सुख यश पाते हुए विचरते हैं। इसलिये हे अग्ने ! इन प्रच्छन्न असुरो को, जो कि खुले असुरो की अपेक्षा बहुत भयंकर होते हैं, इस पवित्र लोक से दूर कर दो। नि.सदेह तेरी सन्तापक शक्ति के सामने ये ठहर नही सकते हैं, तेरे तेज को यह सह नही सकते है। अत. अब इन असुरो को यहाँ से बहिष्कृत कर दो और इस स्थान को, इस समाज को, इस पवित्र संगठन को असुररहित कर दो।

शब्दार्थ—

(ये) जो (रूपाणि प्रतिमुंचमानाः) [अपने रूपो को छिपा कर] रोचक रूपो को दिखलाते हुए (असुराः सन्तः) असुर, राक्षस होते हुए भी (स्वधया) अन्न से, रस से, स्थूल पार्थिवशक्ति से (युक्त होकर इस लोक मे) (चरन्ति) विचरते हैं और (ये) जो (परापुरः) धर्म से दूर हट कर अपने आप को पूरते हैं (निपुरः) नीचे गिर कर निकृष्ट उपायो से भी अपने को पूरते हैं (भरन्ति) इस प्रकार अपने को भरते हैं या दूसरो को हरते हैं (तान्) उन (छिपे असुरो) को (अग्निः) तेजोमय संतापक अग्नि (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (प्रणुदाति) दूर कर देवे, हटा देवे।

सब कुछ दे सकते हो !

ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः, ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः ।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परिषदाम मा दुवः ॥

ऋक् ७.४.६ ॥

विनय

हे अग्ने ! हम तुम्हारी बहुत सी विफल उपासना करते हैं । तुम तो सर्वशक्तिमान् हो, हमें सब कुछ दे सकते हो । हमे प्रभूत अमृत, विविध प्रकार का आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्रदान करने मे समर्थ हो, सुवीरता आदि सहित सब प्रकार का भौतिक धन देने मे समर्थ हो, परन्तु हम ही हैं जो कि तुम्हारी आराधना करने के अयोग्य हैं । अतएव तुम सर्वदाता से भी हम कुछ प्राप्त नही कर सकते । हम कितने मूर्ख हैं कि निर्वीर्य होकर, विकारयुक्त होकर और सेवारहित होकर तुम्हारा भजन करना चाहते हैं । भला हम बुजदिल कायर लोग, हे सहसावन् ! तुम्हारी क्या उपासना कर सकते हैं ? हम विकार युक्त मलिन हृदयों वाले तुम्हारी क्या उपासना करेंगे? हम सेवारहित स्वार्थी पुरुष तुम्हारी उपासना से क्या लाभ प्राप्त करेंगे ? अतः हम ने आज से निश्चय किया है कि अब हम वीर्यहीन, विकृत और असेवक होकर कभी तुम्हारी उपासना में नहीं बैठेंगे । हम सब कमजोरियो को हटा कर निर्भय वीर हो कर तुम्हारे सच्चे उपासक बनेंगे, सब काम क्रोधादि मलिनताओ को दूर करके शुद्ध सुरूप बनकर तुम्हारी आराधना करने बैठेंगे और दिन रात निरन्तर सेवाकार्य करते हुए ही अब हम प्रात.साय तुम्हारा भजन किया करेंगे । सचमुच तभी हम तुम्हारे पास बैठने के योग्य होंगे, तुम्हारी उपासना करने के अधिकारी बनेंगे । और तभी उपासना द्वारा तुम से अमृतत्व आदि आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को, वीरता आदि सद्गुणो को तथा अन्य भौतिक ऐश्वर्यों को भी प्राप्त कर सकेंगे ।

शब्दार्थ—

(अग्नि) परमेश्वर (हि) निश्चय से (भूरे) बहुत प्रकार के (अमृतस्य) अमरपन के, आध्यात्मिक ऐश्वर्य के (दातो.) देने मे (ईशे) समर्थ है और (सुवीर्यस्य) सुन्दर वीरता सहित (रायः) धन के, भौतिक ऐश्वर्य के, देने मे ((ईशे) समर्थ है । परन्तु (सहसावन्) हे सर्वशक्तिमान् ! बलवन् ! (वयं) हम (त्वा) तुम को (अवीरा) वीरता रहित, कायर होकर (मा) मत (परिसदाम) उपासना करें (माप्सवः) कुरूप, विकृत हो कर (मा) मत उपासना करें, और (अदुवः) असेवक होकर (मा) मत उपासना करें ।

तेरे भरोसे !

त्वे असुर्यं वसवो न्यृण्वन् क्रतुं हि ते मित्रमहो जुषन्त।
त्वं दस्यूँरोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय॥

ऋक् ७.५.६॥

विनय

हे अग्ने ! तुझ में आश्रय लेकर ये पृथिव्यादि वसु अपने असुर्य को, प्राणवत्व को, सामर्थ्य को प्राप्त कर रहे हैं, तुझ मे ही आश्रय पाकर ब्रह्मचारी वसु लोग भी अपने प्राणवत्व और प्रज्ञावत्व (बल और ज्ञान) को प्राप्त कर रहे हैं। ये वसु इस सामर्थ्य को इसलिये पारहे हैं, बल्कि तेरे आश्रय को भी इसलिये पारहे हैं, चूंकि ये तेरे 'क्रतु' का सेवन करते हैं। इस ससार मे जो तेरा महान् कर्म चल रहा है उसका ये सेवन करते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं। तेरे महान् सकल्प व ज्ञान के अनुसार ये अपना व्यवहार, कर्म करते हैं। परन्तु जो लोग तेरे 'क्रतु' का सेवन नही करते हैं वे तेरे इस घर से बहिष्कृत हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। हे अग्ने ! तुम तो 'मित्रमहा ' हो। तुम्हारा तेज मित्र है, स्नेह करने वाला है। जो लोग तुम्हारे इस मित्र तेज से मैत्री करते हैं वे ससार मे 'आर्य' कहलाते हैं। पर जो इस स्नेह करने वाले तेरे तेज से द्वेष करते हैं, जिन्हे ये तेरा तेज अच्छा नही लगता वे ही 'दस्यु' नाम से पुकारे जाते हैं। क्योकि इस तेज से मैत्री करनेवाले ही तेरे इस तेज को, प्रकाश को प्राप्त कर सकते हैं। अत वे ही तेरा प्रकाश पाकर श्रेष्ठाचरण वाले अर्थात् आर्य बनते हैं। अपने स्वार्थमय क्षुद्र प्रकाश मे मस्त रहने वाले, दूसरे 'दस्यु' लोगो को तेरी विस्तृत ज्योति नही प्राप्त होती है। दस्यु अर्थात् दूसरो का उपक्षय करने वाले वे इसलिये बनते हैं क्योकि वे स्वार्थान्ध होते हैं, क्योकि वे प्रकाश से प्रेम न रखने के कारण तेरी विस्तृत ज्योति को न पाकर अपने मे अन्धे होते हैं। अतएव जब तू अपने किसी घर मे, किसी लोक मे विस्तृत ज्योति को प्रकाशित कर देता है तो वहाँ ये अन्धकारप्रिय दस्यु नही ठहर सकते। वहाँ से ये निकल जाते हैं। इस प्रकार, हे मित्रमह. ! तू आर्यों के लिये महान् ज्योति देता हुआ दस्युओ को निकाल रहा है, इस प्रकार तेरे क्रतु का सेवन करनेवालो को अपना सहारा देता हुआ ऐसा न करनेवालो को इस परम अवलम्बन से वञ्चित रख रहा है और इस प्रकार तू तेरा सहारा लेने वालो को प्राण व बल देता हुआ दूसरों को विनष्ट कर रहा है।

शब्दार्थ—

(वसवः) वसु **(त्वे)** तुझमे [आश्रित हो] **(असुर्यं)** प्राणवत्व को, सामर्थ्य को **(नि ऋण्वन्)** प्राप्त कर रहे हैं, **(हि)** क्योंकि वे **(ते)** तेरे **(क्रतुं)** कर्म का **(मित्रमह.)** हे मित्र तेज वाले ! **(जुषन्त)** सेवन करते है। **(अग्ने)** हे अग्ने **(त्वं)** तू **(आर्याय)** आर्यों, श्रेष्ठों के लिये **(उरु)** विस्तृत **(ज्योतिः)** ज्योति को **(जनयन्)** प्रकाशित करता हुआ **(दस्यून्)** दस्युओं, दूसरों का उपक्षय करनेवालो को **(ओकसः)** घर से **(आजः)** खदेड देता है, निकाल देता है।

मुझे बचाओ !

त्वायते ह्यीन्द्र कत्वे अस्मि त्वायतोऽवितुः शूर रातौ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः ॥

ऋक् ७.२५.४॥

विनय

जगदीश्वर ! तुम मेरे आत्मा के भी आत्मा हो। यह जान लेने पर अब मैं तुम्हारे जैसे आत्मीय के कर्म के लिए सदा उद्यत रहता हूँ। मैं प्रात. से सायकाल तक और फिर साय से प्रात तक जो कुछ करता हूँ वह सब प्रभो ! तुम्हारे लिये करता हूँ। हे शूर ! तुम सब जहान के रक्षक हो। इसलिये, तुम्हारे लिये कर्म करता हुआ मैं अब तुम्हारे जैसे महान् रक्षक के दान मे भी हो गया हूँ, तुम्हारी महान् रक्षा मे आ गया हूँ। तुम से मेरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। परन्तु फिर भी यह संसार संग्राम बडा विकट है। पाप की प्रवल शक्तियाँ मुझे समय समय पर अपना भय दिखलाती हैं, मुझे सन्त्रस्त करती रहती है। उस समय, हे इन्द्र ! मैं सब सुध बुध भूल जाता हूँ। तुम्हारी रक्षा, शक्ति, सब भूल जाता हूँ। इसलिये मैं तो चाहता हूँ कि हे इन्द्र ! तुम मुझ मे अब अपना घर कर लो, हमेशा के लिये घर कर लो। अपनी दिव्य सेना के साथ, अपनी सब उग्रता और ओजस्विता के साथ मुझ मे अपना घर बना लो। हे सेना वाले ! हे उग्र ! मुझ मे अपना घर बनालो। तभी ये आसुरी शक्तियाँ मुझे भयभीत न कर सकेंगी। नही तो मैं इन भयो और आशंकाओ से ही मरा जा रहा हूँ। हे इन्द्र ! मुझे इस मरने से बचाओ, मुझ मे अपना स्थिर घर करके मरने से बचाओ। मैं तुम से और कुछ नही चाहता, और कुछ आकाक्षा नहीं करता, बस, मुझ में अब अपना घर बनाओ। हे हरिओ वाले ! तुम अपनी ज्ञानक्रिया और वलक्रिया के हरियो से इस सब ससार का धारण पोषण कर रहे हो, तुम मुझे अब इस तरह विनष्ट मत होने दो, मुझ मे अपना घर बनाओ और इस तरह मुझे विनष्ट होने से बचाओ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! मैं (त्वायत.) तेरे जैसे [आत्मीय] के (क्रत्वे) कर्म के लिये (हि) ही, नि सन्देह (अस्मि) हूँ, सदा उद्यत हूँ और (शूर) हे शूर ! (त्वायत) तेरे जैसे (अवितुः) रक्षक के (रातौ) दान मे भी हूँ। परन्तु (तविषीवः) हे सेना वाले ! (उग्र) हे उग्र ! ओजस्विन् ! तुम अब (विश्वाइत् अहानि) सब ही दिनों के लिये, हमेशा के लिये मुझ मे (ओकः) अपना घर (कृणुष्व) कर लो, बना लो (हरिवः) हे हरियो वाले ! (न मर्धीः) मुझे मरने न दो।

पुकार सुन !

का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
विश्वा मतीरा ततने त्वाया अधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥

ऋक् ७।२९।३॥

विनय

अपने सूक्तों से, स्तोत्रों से और वेदमन्त्रों की स्तुतियों से भी हम तेरी क्या अलंकृति कर सकते हैं, हम तेरी क्या शोभा बढा सकते हैं ? हम तो, हे इन्द्र ! उस समय की प्रतीक्षा में हैं जब हम अपने आप को तुझे समर्पित कर देंगे, तुझे दे देंगे। कब हम, हे मघवन्, सचमुच तेरे लिये अपनी भेंट चढा सकेंगे ? वह समय कब आयेगा ? अपने आप को तुझे दे देने के लिये हम आतुर हो रहे हैं। मेरे सम्पूर्ण ज्ञान, मेरे सम्पूर्ण ध्यान, मेरे सम्पूर्ण विचार, मेरे सम्पूर्ण संकल्प तेरी ही कामना के लिए उठ रहे हैं। दिन रात की मेरी सम्पूर्ण मतियाँ अपने पंख फैलाये तेरी ही तरफ उड़ रही हैं। मेरे मन की सम्पूर्ण गतियाँ तेरे ही उद्देश्य से हो रही हैं। मैं अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से निरन्तर तुझे ही याद कर रहा हूँ। फिर भी, हे इन्द्र ! न जाने क्यों तू मेरी सब पुकारों को अनसुनी कर रहा है। मैं दर्शन पाने के लिये, तुझे आत्म-समर्पण कर देने के लिये पुकार रहा हूँ। न जाने कब से पुकार रहा हूँ। हे इन्द्र ! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुन ले। हे ऐश्वर्य वाले ! मघवन् ! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुनी करदे, सफल कर दे।

शब्दार्थ—

(सूक्तैः) स्तुति के सुन्दर वचनों में (ते) तेरी (का) क्या (अरंकृतिः) अलंकृति, शोभा (अस्ति) हो सकती है ? (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (ते) तेरे लिये हम (कदा) कब (नूनम्) सचमुच (दाशेम) अपने आप को दे देंगे ? मैं अपनी (विश्वाः) सम्पूर्ण (मतीः) मतियाँ (त्वाया) तेरी कामना से ही (आततने) विस्तृत कर रहा हूँ, कर रहा हूँ (अधा) अब तो (इन्द्र) हे इन्द्र ! (मे) मेरी (इमा) इन (हवा) पुकारों को (शृणवः) सुन लो। 

हम स्नान करते हैं।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्य, अपि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुत युयोतु ॥

ऋक्० ६.४७.१३॥ ऋक्० १०.१३१.७॥ यजु० २०.५२॥

विनय

हम चाहते हैं कि हम पूजनीय परमेश्वर के प्यारे बनें। हम सदा उन यज्ञिय देव की सुमति में रहें, उनके कल्याणकारक सौमनस में बसें। हमें सदा उसकी श्रेष्ठ मति मिलती रहे, उसकी शुभ प्रसन्नता प्राप्त होती रहे। यह सब सुलभ है यदि हम उसका यजन करते रहें। वही एक मात्र इस संसार में हम मनुष्यों का यजनीय है, यज्ञार्ह है। यजन किया हुआ वही हमारा 'सुत्रामा' है। उस जैसा श्रेष्ठ रक्षक हमारा और कौन हो सकता है? क्योंकि वही है जो अपनी निजी शक्ति रखता है। संसार में अन्य सभी उसी की शक्ति पाकर शक्तिमान् हुए हैं। एक वही है जो कि 'स्ववान्' है। परन्तु उस सुत्रामा प्रभु का यजन करना आसान काम नहीं है। उसके यजन में जो सब से बड़ा बाधक है वह हमारा 'द्वेष' है। ज़रा से भी द्वेष को अपने हृदय में स्थान देकर हम उसका पूजन नहीं कर सकते। जिसके लिये यह पृथ्वीतल, सब संसार द्वेषरहित हो गया है वही इन्द्र प्रभु का यजन कर सकता है। इसलिये वे इन्द्र ही हम पर कृपा करें, हम से द्वेष को सर्वथा हटाकर हमें बिलकुल द्वेषरहित कर देवें। अहा, सर्वथा द्वेष रहित हो जाना, कभी भी कहीं भी द्वेष न रहना, यह कैसी सुन्दर अवस्था है, कैसी आनन्दमय अवस्था है? उस अवस्था में पहुँच कर तो इन्द्र की सुमति हम पर बरसती है और उसके सौमनस में हम स्नान करते हैं।

शब्दार्थ—

(वय) हम (तस्य) उन (यज्ञियस्य) यजनीय देव की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) होवें, और उसकी (भद्रे) कल्याणकारक (सौमनसे) सुमनस्कता, प्रसन्नता में (अपि) भी होवें। (स) वह (सुत्रामा) श्रेष्ठ रक्षक (स्ववान्) अपनी शक्ति वाला (इन्द्रः) परमेश्वर (अस्मे) हमसे (आरात्) दूर (चित्) ही (द्वेषः) द्वेष को (सनुत.) बिलकुल (युयोतु) हटा देवे।

द्वेष से दूर।

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वाद्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥

ऋ० ४.१.४॥ यजुः २१.३॥

विनय

देवों का अनादर करना बड़ा अनर्थकारी होता है। जब हम प्रकृति के देवो का, उनके नियमो की अवज्ञा कर अनादर करते हैं या मनुष्य देवो (विद्वानो) का उनके उपदेशो की अवहेलना कर अनादर करते हैं, उस समय हम (न जानते हुए भी) पाप बन्धन मे गिर जाते हैं। क्योकि, हे अग्ने! तुम्हारी पापनिवारक वरुण शक्ति मानो रोषयुक्त होकर उसी समय हमे बाध लेती है ज्यो ही हम इस प्रकार किसी धर्म मर्यादा का उल्लघन करते हैं, और इस बन्धन से फिर हमे तभी छुटकारा मिलता है जब हम पर्याप्त दुःख भोग चुकते है। इसलिये हे अग्ने! तुम तो विद्वान् हो, सर्वज्ञ हो, हमारे पाप बन्धन (वरुण) के विषय मे सब कुछ जानते हो, तुम्ही ऐसी कृपा करो कि हम अब इन देवहेडनो (देवो के अनादरो) से दूर रहे, बचे रहें और हम कभी तुम्हारे वरुण के क्रोध के भाजन न हो। परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि हमारा द्वेषो से छुटकारा हो चुका हो। हम देवो का अनादर इसीलिये करते हैं क्योकि हम किन्ही तीव्र रागद्वेषो मे फसे होते हैं। अत हे अग्ने! पहिले तो तुम हमे द्वेष क्रोध हिसा अन्याय आदि के जजाल से मुक्त करो। तुम से बढकर इस ससार मे हमारे लिये कोई यजनीय नही है, तुम यजनीयतम हो। यदि तुम्हारी दया से हम मे यह यज्ञभावना जागृत रहे तब तो हममे द्वेष उत्पन्न ही न हो सके। पर यदि ये उत्पन्न होयें तो भी हे वह्नितम! हे सर्वश्रेष्ठ वाहक! शुभ गुणो को प्राप्त कराने वाली तुम्हारी वाहक शक्ति के कारण ये द्वेष मुझ मे ठहर न सकें, स्थिर न हो सकें। और यदि ठहर भी जायें तो हे शोशुचान! अत्यन्त प्रदीप्त अग्ने! तुम इन्हे अपने जाज्वल्यमान तेज से भस्म कर दो, राख कर दो। अपने इन उत्पत्ति स्थिति प्रलय के त्रिविध रूप द्वारा इस प्रकार तुम हम मे से द्वेषो को समाप्त कर दो, हे अग्ने! हमारा द्वेषो से सर्वथा छुटकारा कर दो।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! **(त्व)** तुम **(वरुणस्य)** वरुण के, पापनिवारक देव के, उसके पाप बन्धन के विषय मे **(विद्वान्)** पूरी तरह जानते हुए **(देवस्य)** देव के **(हेड.)** अनादरो को **(न.)** हम से **(अवयासिसीष्ठा)** दूर करो। तुम **(यजिष्ठ)** यजनीयतम **(वह्नितम.)** सब से बडे वाहक **(शोशुचान)** और अत्यन्त प्रदीप्त हो, तुम **(अस्मत्)** हम से **(विश्वा द्वेषासि)** सब द्वेषो को **(प्रमुमुग्धि)** पूरी तरह छुडा दो।

आहुति स्वीकार करो।

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि॥

ऋ० ४.१.५॥ यजु. २१.४॥

विनय

हे अग्ने! हम तुम्हें पुकार रहे हैं। आज हम तुम्हे अपने पाप बन्धन से छुटकारा पाने के लिए पुकार रहे हैं। तुम अपनी रक्षा के साथ आओ। हमारे रक्षक बनो। तुम बेशक सब प्रकार से 'परम' हो, परन्तु हमारी रक्षा के लिए 'अवम' हो जाओ, नीचे उतर आओ, हमे अपनी निकटता का अनुभव कराओ। हम पतितों की रक्षा के लिए तुम्हारा अवम होना जरूरी है। यह देखो उषा का उदय हो रहा है, एक नये दिन का प्रारम्भ हो रहा है, हमारे लिए एक नवीन प्रकाश के पाने का समय आ रहा है। इस शुभ प्रभात मे तो, हे अग्ने! तुम हमारे निकटतम हो जाओ, आकर हमे अपनाओ। हम तुम्हे न जाने कब से रिझाने का यत्न कर रहे हैं। त्याग, तप, सयम, नियम आदि तुम्हारे प्रेम के पाने का कोई साधन हमने बाकी नही छोडा है। आज तो हम यह अपने पवित्र आत्मबलिदान की भेंट हाथ मे लेकर तुम्हे पुकार रहे हैं। क्या हमारे इस सुन्दर महान् बलिदान से भी तुम प्रसन्न न होगे? हमारी इस सुखदायी आत्माहुति को तो, हे अग्ने! तुम अवश्य स्वीकार करो। अब तो प्रसन्न होओ और रममाण होते हुए आज तो हमारे इस पापबन्धन को काट गिराओ, और इस प्रकार हमारे इस यजन को सफल कर दो। पुकारते पुकारते बहुत समय हो गया है। अब तो, हे अग्ने! तुम हमारे लिए सुगमता से बुलाने योग्य हो जाओ, हमारी पुकार पर आ जाने वाले हो जाओ। आओ, हे अग्ने! आओ, यह आहुति स्वीकार कर हमारा बन्धन छुडाओ।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! (स.) वह प्रसिद्ध (त्वं) तुम (न.) हमारे लिए (ऊती) अपने रक्षण के साथ (अवमः) नीचे उतरे हुए, नज़दीकी (भव) हो जाओ, (अस्याः) इस (उषस व्युष्टौ) उषा के उदय काल मे, नव प्रकाश प्राप्ति के समय मे (नेदिष्ठः) हमारे अत्यन्त निकट हो जाओ। (रराणः) प्रसन्न, रममाण होते हुए (नः) हमारे (वरुण) वरुण पाश को, पाश बन्धन को (अवयक्ष्व) यजन द्वारा काट दो, नष्ट कर दो, नष्ट कर दो (मृळीकं) [हमारी इस] सुखदायक हवि को (वीहि) स्वीकार करो, (नः) हमारे लिए (सुहव.) सुगमता से, बुलाने योग्य (एधि) हो जाओ।

तेरे बाहु पाश में !

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १० १२१.४। यजु० २५.१२॥

विनय

क्या तुम पूछते हो कि हम किस देव की उपासना करें ? ये देखो, ये ऊँचे ऊँचे पर्वत, ये हिम से ढके हुए आकाश से बातें करने वाले उन्नतशिखर पर्वत जिसकी महिमा को गा रहे हैं, यह समुद्र, यह दिग् दिगन्त तक फैला हुआ असीम दिखायी देने वाला विस्तृत समुद्र, अपने मे आ आकर गिरने वाली नदियो के सहित जिसके ऐश्वर्यो का वखान कर रहा है, और ये दिशायें जिस देव की हैं, ये अनन्त दिशायें जिसके फैले हुए बाहुओ के समान हैं, उस देव को, हे मनुष्यो ! तुम पहिचानो। ये ऊँचे खडे हुए गगनचुम्बी विशाल पर्वत यदि तुम्हे किसी महान् रचयिता की तरफ इशारा करते हुए दिखाई देते हैं, ससार के ये अपार पारावार अपनी लहरो मे उमड़ते हुए यदि तुम्हे किसी अद्‌भुत शक्ति का स्मरण दिलाते हैं, और ये प्रकृष्ट दिशायें जिस की बाहु हैं ऐसा ध्यान करने पर यदि तुम्हें कोई विराट् पुरुष अनुभवगोचर होता है तथा इन दिशाओ मे फैले हुए ससार के देखने पर यदि तुम्हे इस सब का जीवन और प्राण होकर इसमे रमे हुए किसी आत्मा का दर्शन होता है तो वही एक मात्र देव है जो कि हम सब का उपास्य है, आराध्य है। वह 'क' नाम का देव है, वह सुख स्वरूप है। वह प्रजापति है, हम सब के सब उसकी प्रजा हैं। आओ, हम सब प्रजाजन, हम सब पुत्र उस परम देव को नमस्कार करें, अभिमान को त्याग कर उस के चरणों मे अपना मस्तक नमायें और अपने तुच्छ सर्वस्व की भी भेंट दकर उस आनन्द स्वरूप का पूजन करें।

शब्दार्थ—

(**यस्य**) जिसकी (**महित्वा**) महिमा को (**इमे हिमवन्तः**) ये बरफीले पहाड (**आहुः**) कह रहे हैं और (**यस्य**) जिसकी महिमा को (**रसया सह**) नदियो सहित (**समुद्रं**) यह समुद्र कह रहा है (**इमाः प्रदिशः**) ये प्रकृष्ट दिशायें (**यस्य**) जिसकी हैं, ये दिशायें (**यस्य**) जिसके (**बाहु**) के समान हैं (**कस्मै**) उस सुख स्वरूप (**देवाय**) प्रजापति देव का हम (**हविषा**) हवि द्वारा (**विधेम**) पूजन करें।

पूर्ण पुरुष बनूं !

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये
चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥

यजु ३६. १॥

विनय

हे प्रभो ! मैं पूर्ण पुरुष बनूंगा। इस प्रयोजन के लिए मैं ऋक् रूप वाग्देव की शरण आऊँगा, यजुरूप मनोदेव की शरण लूंगा और सामरूप प्राणदेव की शरण पकड़ूंगा। इस प्रकार अपनी तीनो शक्तियो को प्राप्त कर लूंगा। वाणी की भारी शक्ति को सम्पूर्ण ऋग्वेद द्वारा, सम्पूर्ण ज्ञानकाण्ड द्वारा, सम्पूर्ण श्रवण द्वारा प्राप्त कर लूंगा। सम्पूर्ण यजुर्वेद द्वारा, कर्मकाण्ड द्वारा, मन द्वारा अपनी मन (दर्शन)शक्ति को समृद्ध कर लूंगा और अपनी प्राण शक्ति को सम्पूर्ण सामवेद, उपासनाकाण्ड और निदिध्यासनो द्वारा प्रदीप्त कर लूंगा। इसी प्रकार चक्षु (विज्ञान) की महान् शक्ति को, श्रोत्र की विस्तृत शक्ति को, अन्य सब इन्द्रियो और अगो की शक्ति को प्राप्त कर लूंगा। प्रत्येक अंग की शक्ति को इतनी पूर्णता के साथ प्राप्त कर लूंगा कि मुझे उस उस अग का ओज भी मिल जायगा। 'ओज' वह सर्वोत्कृष्ट शक्ति है या शक्ति का वह सर्वोत्कृष्ट रूप है जिसे आत्मिक तेज समझना चाहिए। जब मैं अपनी वाक् आदि सब इन्द्रियों का या आत्माङ्गो का ओज प्राप्त कर लूंगा तो सम्पूर्ण आत्मा का 'सह ओज' भी, सम्पूर्ण शरीर का सामूहिक तेज भी, मुझे सहज मे ही प्राप्त हो जायेगा। और इस ओज प्राप्ति से मेरा जीवन परिपूर्ण जीवन हो जायेगा। और परिपूर्ण जीवन मे 'प्राण' और 'अपान' की जो दो जीवन क्रियायें ठीक प्रकार मे चला करती हैं वे मुझ मे अपना ठीक काम करती हुई स्थिर रहेंगी। ये आदान और विसर्ग की क्रियायें जब जहां विगडती हैं तभी वहां जीवन विगडता है और ह्रास होता है। अत. मुझमे जब इन प्राणापान क्रियाओ के द्वारा शारीरिक भोजन का आदान तथा शारीरिक दोषो का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा, एव मानसिक और आत्मिक भोजन का भी आदान तथा मानसिक और आत्मिक मलो का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा, तो उस समय मेरा जीवन (शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन) जीवन बन जायेगा, और हे प्रभो ! मैं तेरा परिपूर्ण पुरुष कहला सकूंगा।

शब्दार्थ—

मैं (ऋच वाचं) ऋक् रूप वाक् को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ, (मन· यजुः) यजु रूप मन को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ (साम प्राण) साम रूप मन को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ और (चक्षु श्रोत्र) चक्षु श्रोत्र आदि को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ। ये (वाक्) वाक्शक्ति आदि (ओज.) वाक् आदि का ओज तथा (सह ओज.) इनका इकट्ठा ओज (प्राणापानौ) एव प्राणन अपानन क्रिया, आदान और विसर्ग क्रिया (मयि) मुझ मे होयें, ठीक प्रकार होती रहें।

त्रुटियाँ दूर हों।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं
बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

यजु० ३६.२॥

विनय

मैंने जो अपनी ओर दृष्टि फेरी है, अपने को टटोला है तो मैं देखता हूँ कि मुझ मे त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ हैं, मैं दोषो से भरा हुआ हूँ। जब तक मैंने अपने को नही देखा था तब तक मैं भी अन्य दुनियावी लोगो की तरह व्यर्थ मे औरो को बुरा भला कहता हुआ सन्तुष्ट फिरता था। पर आज आत्मनिरीक्षण करने पर अपनी आँख आदि बाह्यकरणों (इन्द्रियो) की रोग अशक्ति आदि विकलताओ को तथा इनकी प्रसिद्ध सदोषताओ को तो मैं अनुभव करता ही हूँ, किन्तु जब मैं अपने अन्दर अधिक घुसता हूँ और अपने मन के तथा हृदय (बुद्धि) के जख्मो को, गहरे घावो को देखता हूँ तो मैं घबरा जाता हूँ। ओह! मेरा मन कितना मलिन है, कितना दुर्बल है, मेरी बुद्धि कितनी विकृत है? अपने इन अन्दर के करणो की इस भयकर दुर्दशा को, इन भयकर कमियों को देखकर मैं प्राय. निराश हो जाता हूँ। सोचने लगता हूँ कि क्या मेरी ये कमियाँ कभी ठीक भी हो सकती हैं या नही? इसलिये हे बृहस्पते! ज्ञानपते! तुम ही कृपा करो कि मेरी इन न्यूनताओ को, मेरे इन जख्मो को, शीघ्र भर दो। तुम इस बृहत् जगत् के पालक रक्षक हो। तुम मेरी भी रक्षा करो। इस जगत् का, इस भुवन का जो भी कोई पति है क्या उसने हम को रचकर हमारी रक्षा का कोई प्रबन्ध नही किया है? नही, हे बृहस्पते! भुवनपते! तुम्हारे ध्यान विचार से मिलने वाले शक्ति प्रवाह से हमारे असख्यों छिद्र और हमारी भारी से भारी कमियाँ एक बार मे ठीक हो सकती हैं। इस लिये हे ज्ञानपते! तुम अब मेरी सब हीनताओ को पूरा कर दो। मेरे ही लिये नही किन्तु हम सब, मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकारी होओ। तुम सबके धारण करने वाले हो। सब बिगडो को बनाने वाले हो। मैं अपने आप मे तो सर्वथा अशक्त हूँ, कुछ भी नही कर सकता हूँ। तुम्ही, हे बृहस्पते! जब मेरी सब त्रुटियो को भर दोगे, मेरी सब न्यूताओ को पूर दोगे, तभी मैं पूर्ण पुरुष बन सकूँगा।

शब्दार्थ—

(मे) मेरे (चक्षुषः)आँख की, बाह्येन्द्रियो की (यत्)जो (छिद्रं) छिद्र, दोष, न्यूनता है, और (हृदयस्य) हृदय का, बुद्धि का (मनसो वा) अथवा मन का जो (अतितृण्णम्) गहरा घाव है (मे) मेरे (तत्) उसे छिद्र, घाव को (बृहस्पति) बृहत्, संसार का ज्ञानमय पालक परमेश्वर (दधातु) ठीक कर देवे। (य.) जो (भुवनस्य) जगत्, का (पतिः) स्वामी है वह (न) हमारे लिए (शं) कल्याण कारी (भवतु) होवे।

तू ही है।

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनं अच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥
ऋक्० ८. ९६ ४॥

विनय

हे इन्द्र! मैंने तुझे जाना है, पहिचाना है, मैं तुझे यज्ञियो का यज्ञिय करके देख रहा हूँ। इस संसार मे जो भी ठीक यज्ञ चल रहे हैं, उन असख्यातो यज्ञो द्वारा वेशक असख्यातों देवो का यजन किया जा रहा है, किन्तु वे सब के सब यज्ञ और यजनीय अन्त में जिनका यजन कर रहे हैं वह एक देवो का देव तू ही है। वह यज्ञ ही नहीं है जिसका कि अन्तिम ध्येय तू नही हैं। और मैं देखता हूँ कि अच्युतो का भी च्यवन तू है। ससार के लोग जिन्हें बहुत ध्रुव और स्थायी समझते हैं उन्हें तू क्षणभर में च्युत कर सकता है। अपने को अचल समझने वाले वडे वडे अभिमानी सम्राटो के सिंहासनों को तू पल मारते मे धूलि में मिला देता है, वडे वडे स्थिर पहाडो को तू एक भूकम्प मे पृथ्वी के समतल कर देता है, और लाखो वर्षो की उमर वाले सम्पूर्ण ग्रहों को तू कभी एक टक्कर से चकनाचूर कर देता है। तेरी शक्ति की हम जीव लोग कल्पना तक नही कर सकते हैं। हम प्राणियो मे जो थोडी बहुत बल-राशि, सत्त्व दिखाई देता है, उस वल राशि मे तू हम से बहुत ऊँचा उठा हुआ है केतु रूप है। जैसे अपने आदर्श सूचक झडे को देख कर उसके उपासक उससे नवोत्साह प्राप्त करते हैं वैसे मैं तुझ उन्नत अनन्त वल को देख कर अपने मे महान् शक्ति सचार को प्राप्त करता हूँ। तू हमारा 'सत्वो का केतु' है। तू वल (सत्त्व) का आदर्श है, और प्राणि (सत्त्व) या पुरुषत्व तुझ मे पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। इसलिये तू 'पुरुषोत्तम' है, मनुष्यो का 'वृषभ' है। पुरुष हो कर भी तू हम से इतना उत्तम है, इतना ऊचा उठा हुआ है कि तू ऊपर से हम सब प्राणियो पर इष्ट फलो की वर्षा कर रहा है। ससार मे जो असख्यातो प्राणियो की प्रतिक्षण असख्यातो इच्छायें पूर्ण हो रही हैं उन्हें तू ही ऊपर मे वरसा रहा है। अज्ञानी लोग समझते है कि हमारी इच्छा पूर्ण करने वाला यह पुरुष है या वह पुरुष है, दूसरे लोग समझते हैं कि हमारी इच्छा पूर्ति करने वाला हमारा ज्ञान है, हमारा बल है या धन है। परन्तु हे इन्द्र! मैं तो अनुभव करता हूँ कि सब मनुष्यो की सब इच्छा पूर्ति करने वाला तू ही है, एक मात्र तू ही है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र! मैं (त्वा) तुझे (यज्ञियाना यज्ञिय) यज्ञार्हों का यज्ञार्ह (मन्ये) मानता हूँ, (त्वा) तुझे (अच्युताना च्यवन) च्युत न होने वालो का भी च्यावयिता (मन्ये) मानता हूँ। (त्वा) तुझे (सत्वना) वलशाली प्राणियो मे (केतुं) बहुत ऊँचा उठा हुआ, झडा (मन्ये) देखता हूँ, और (त्वा) तुझे (चर्षणीना) मनुष्यो का (वृषभ) सब कामनाओं का देने वाला, वरसाने वाला (मन्ये) अनुभव करता हूँ।

आत्मा पवित्र है।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥

ऋ० ३.२९.२ ॥ साम पू० १२.८७ ॥

विनय तुम कहते हो कि आत्मा दिखाई नहीं देता। पर यदि तुम इसे देखना चाहते हो तो तुम इस आत्माग्नि को प्रज्वलित क्यो नही कर लेते? अरणि मे या दियासलाई मे विद्यमान् भौतिक अग्नि भी तो तब तक दिखलाई नही देता है जब तक कि मन्थन (रगडने) द्वारा उसे प्रज्वलित नही कर दिया जाता। तुम जरा अपने आप रूपी दियासलाई या अरणि से प्रणव (ईश्वर नाम) रूपी (दियासलाई की) डिब्बी या उत्तरारणि पर ध्यान रूपी मन्थन करके देखो, तो तुम देखोगे कि तुम्हारा आत्माग्नि चमक उठेगा, जातवेदा जाग उठेगा। अरे! योग रूपी अरणि और स्वाध्याय रूपी उत्तरारणि के सम्बन्ध से तो अन्तःकरण मे परमात्मा तक प्रकाशित हो जाता है। यह ठीक है कि प्रारम्भ मे यह आत्मज्योति एक चिनगारी के रूप मे ही प्रकट होती है। अतएव इस आत्मज्योति की इस समय इतनी अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, जैसे कि गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ की रक्षा करती है। पर क्या हम अपने इस ज्ञानगर्भ की कुछ रक्षा करते हैं? ओह! हम तो न जानते हुए बडे भारी गर्भपात के पाप-भागी हो रहे हैं। जैसे माता पिता रूपी अरणियो से प्रकट हुई सन्तान रूपी अग्नि प्रारम्भ मे गर्भावस्था मे होती है, वैसे ही हम सब मनुष्य शरीर पाने वालो के अन्दर जन्म से आत्मज्योति गर्भित रहती है, जो कि हम मे जीव के मनुष्य-योनि सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। पर हम लोग इस गर्भित 'सुधित' ज्योति को पालित पोषित कर बढाने की जगह भोगादि मे पड कर इसे दबा देते हैं, इस सुरक्षित गर्भ को विनष्ट कर देते हैं। ओह! हम कितना भारी भ्रूणहत्या का पाप करते हैं! पुण्यात्मा हैं वे पुरुष जो इस गर्भित आत्मज्योति को बढा कर इस द्वारा अपने आप को जगाते हैं, ज्ञानोपार्जन रूपी समिधाधानो से इस शिशु अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और 'जागृवत्' होते हैं तथा जो घृताहुति रूपी आत्मबलिदानो को दे देकर इस अग्नि को प्रचण्ड भी कर लेते हैं, 'हविष्मत्' होते हैं। ससार के महात्माओ को देखो, इन्होने इसी प्रकार अपने मे जातवेदा की चिनगारी को इतना बढाया है कि वे आज सब कुछ भस्म कर सकने वाले महानल हो गये हैं, महाशक्ति, महात्मा हो गये हैं। ये देखो! जागृवान्, हविष्मान् मनुष्य अपनी इस प्रज्वलित आत्माग्नि का प्रति दिन भजन स्तवन कर रहे हैं, इसे और और बढा रहे हैं। इनके अन्दर ये आत्मदेव निरन्तर ज्ञानो और बलिदानो द्वारा पूजित और पोषित हो रहे हैं। उठो मनुष्यो! तुम भी अपनी आत्माग्नि को बढाओ, और जागृत होकर तथा हवि हाथ मे लेकर इस आत्माग्नि को नित्य अधिक अधिक प्रदीप्त करते जाओ।

शब्दार्थ—(**जातवेदाः**) ज्ञान व ऐश्वर्य वाला अग्नि (**अरण्योः**) अरणियो मे (**निहितः**) छिपा हुआ होता है और यह वहाँ (**गर्भिणीषु गर्भ इव**) गर्भिणियो मे गर्भ की तरह (**सुधितः**) अच्छी प्रकार धारित, सुरक्षित होता है (**अग्निः**) यह अग्नि देव (**जागृवद्भिः**) जागने वाले, ज्ञानयुक्त (**हविष्मद्भिः**) हवि वाले, आत्मत्यागी (**मनुष्येभिः**) मनुष्यो द्वारा तो (**दिवे दिवे**) प्रति दिन ही (**ईड्यः**) पूजित व प्रार्थित होता है।

याद रखो

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः

ऋग्वेद ४.३३.११

बिना स्वयं परिश्रम किये,
बिना थके, देवों की
मैत्री नहीं
मिलती
है

पौष (धनु)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

घुटने तथा टांगों को स्वस्थ करने वाला

दोनो पावो को मिलाकर सीधे खडे हो जाइये, पाँव के अगूठे जरा से बाहर की ओर घूमे हुए हों, भुजायें सीधी लटकती रहे, हथेलियाँ बाहर की ओर हो। बाहु और टांगों की मांस पेशिओ को खूब तान लीजिये। अब कूल्हो के ऊपरी भाग द्वारा टाँग की मांस पेशिओ को जोर से अपनी तरफ खीचते हुए दायें पैर को भूमि से ऊपर उठाइये। टाँग को घुटने पर जरा भी झुकने न दीजिये और नाही पाँव को इधर उधर हिलने दीजिये, इस मांस पेशिओं के खिचाव के द्वारा ही दायी टाँग इतनी सुकड जाये कि यह पैर भूमि से दो तीन इन्च ऊपर जाये। दाहिने पाँव को टेक कर, फिर यही व्यायाम बायें पैर से कीजिये, अर्थात् बाँयें पैर को अच्छी तरह तानते हुए ऊपर उठाइये। इस प्रकार कई बार कीजिये। जब पैर ऊपर उठे तो श्वास अन्दर भरिये और जब नीचे जाये तो श्वास बाहर निकालिये। स्मरण रखिये कि शरीर लगातार सीधा रहे और इधर उधर हिले जुले नही। इस व्यायाम को करते हुए टाँगो और घुटनो पर अपने मन को केन्द्रित कीजिये।

इस प्रकार ध्यान कीजिए।

ध्यान—"मैं स्फूर्त्ति और शक्ति से परिपूर्ण हो रहा हूँ। यह व्यायाम मुझे नवीन ओज और जीवन प्रदान कर रहा है।"

इन अङ्गो को गौणतया चैत्र, आषाढ और आश्विन के व्यायामो द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है। 

हम अज्ञानी !

त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः ।
श्रुष्टी रयि र्वाजो वृत्रतूर्ये दिवोवृष्टिरीड्यो रीतिरपाम् ॥

ऋ० ६.१३.१॥

विनय

हम कितने मूर्ख हैं कि मूल को न सीचकर पत्तो को पानी दे रहे है । हे अग्ने ! तुम तो सब सौभगो के कल्पतरु हो । परन्तु हम एक तुम्हारा सेवन न कर अनगिनतो अपनी इच्छाओ के, इष्ट वस्तुओ के पीछे मारे-मारे फिर रहे हैं । इस ससार मे जो भी कुछ विविध प्रकार के सौभाग्य के सामान दृष्टिगोचर हो रहे है, जो भी कुछ सुन्दर ऐश्वर्य दीख रहे हैं वे सब के सब एक तुमसे ही निकले हैं । तुमसे ही सर्वत्र फैले है । यह विश्व जिन अनन्तो प्रकार की सुन्दर सम्पत्तियो से भरा पडा है उन सब के मूल मे, हे सुभग ! तुम ही हो । यदि हम एक तुम्हारी उपासना करें, तो हमारी शेष सब उपास्य वस्तुएँ हमे स्वयमेव मिल जायें, तुम वृक्ष के प्राप्त करने से शेष शाखा डाली पुष्प फल आदि सब कुछ हमे स्वयमेव प्राप्त हो जाय । एक तुम्हारे सुभग सेवन से हमे सब सौभग मिल जायें, केवल इतना ही नही, किन्तु ये सौभग, ये सुन्दर ऐश्वर्य हमे ठीक प्रकार से हमे ठीक प्रमाण मे मिल जायेंगे । जब हम तेरा सेवन करेंगे तो हमे जब जिस ऐश्वर्य की, जिस क्रम से, जिस मात्रा मे आवश्यकता होगी तभी वह ऐश्वर्य उसी क्रम उसी मात्रा मे हमे ठीक-ठीक मिलता जायेगा और बडी शीघ्रता से तुरन्त मिलता जायेगा । तेरे भजने वाले को सब भौतिक धन, उसकी पार्थिव (शारीरिक) आवश्यकताओ की पूर्त्ति के सब साधन शीघ्र ही मिल जाते है । उसे बल, पाप के नाश के लिये, पाप से लडने के लिये, जीवन संघर्ष मे विजयी होने के लिये जिस बल तेज सामर्थ्य की आवश्यकता है वह भी ठीक समय पर मिल जाता है । इसके बाद उसे अन्तरिक्ष लोक की वृष्टि, मानसिक लोक की दुर्लभ महान् सतुष्टि, आनन्द व तृप्ति प्राप्त हो जाती हैं । और यह दिव्य वृष्टि ही नहीं, किन्तु इन दिव्य जलो की प्रेरक, इनको गति देने वाली जो स्तुत्य जगद्वन्द्य दिव्य ज्योति है वह आदित्य ज्योति भी अन्त मे उन्हे मिल जाती है । इस प्रकार एक से एक ऊँचे ऐश्वर्य, पार्थिव आन्तरिक्ष और दिव्य (आत्मिक) आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य, एक तेरा ही सेवन करते जाने वाले को पूरी तरह मिल जाते हैं । फिर भी हम मूर्ख न जाने क्यों तेरे ही एक सेवन मे नही लगते, एक तुझ मूल का आश्रय नही पकडते ।

शब्दार्थ

(अग्ने) हे अग्ने ! (सुभग) हे सुन्दर ऐश्वर्य वाले ! (त्वत्) तुझसे ही (विश्वा) सब (सौभगानि) सुन्दर ऐश्वर्य (वियन्ति) विविध प्रकार से निकलते हैं, (वनिनः न) जैसे वृक्ष से (वयाः) शाखायें [विविध प्रकार से निकलती हैं] । तुझ वृक्ष का सेवन करने वालो को (श्रुष्टी) शीघ्र ही (रयि) भौतिक धन (वृत्रतूर्ये वाजः) युद्ध मे बल (दिवः वृष्टिः) अन्तरिक्ष की दिव्य वृष्टि तथा (अपां रीतिः) इन जलों की गति देने वाली (ईड्यः) स्तुत्य ज्योति प्राप्त हो जाती है ।

हे वृषभ देव !

क्व स्य ते रुद्र मृडयाकु र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्त्ता रपसो दैवस्य, अभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥

अभि

ऋ० २ ३३ ७॥

विनय

मैंने बेशक बहुत अपराध किये है। उन्ही का फल भोगता हुआ मैं आज इतना दुःखी हूँ, आर्त हूँ, रोगग्रस्त हूँ। परन्तु हे रुद्र ! मैं जानता हूँ कि तुम जहाँ ताडना करते हो, वहाँ प्रेम भी करते हो। तुम रुद्र हो, तो वृषभ भी हो। तुम कभी तुरन्त दण्ड देते हो, तो कभी सहन (क्षमा) भी करते हो। तुम्हारा कठोर हाथ जहाँ हमे ताड़ना करता है, वहाँ तुम्हारा करुणा हस्त कभी हमे प्रेम भी दिखलाता है। मैं आज तुम्हारे उस भयदायक हस्त का तो अच्छी तरह अनुभव करता हूँ जो कि उग्ररूप होकर हमारा दण्डविधान करता है। परन्तु मैं जानता हूँ कि तुम्हारा वह दूसरा 'मृडयाकु' सुखदायक हस्त भी है जो कि कल्याण रूप होकर हमें शान्ति और सान्त्वना प्रदान करता है। मैंने अवश्य देवो के प्रति अक्षम्य पाप किये है, किन्तु मैं दुःख भी बहुत भोग चुका हूँ। अब तो मैं दुर्बल अधिक ताडना को नही सह सकता, इसलिये, हे कामनाओ के पूरा करने वाले ! हे सुखवर्षक ! तुम्ही मुझे सहन करो, क्षमा करो ! मेरा यह सच्चा पश्चात्ताप मुझे अब पाप मे पडने से बचायेगा। इन असह्य पीडाओ ने मुझे पाप की दुःखरूपता अनुभव करा दी है। इसलिये मैं अब सहनीय हूँ, तुम्हारी क्षमा का पात्र हूँ। इस समय तो तुम मुझे अपने उस दूसरे करुणा हस्त का ही अनुभव कराओ। तुम सच्चे वैद्य हो, तुम ही पूर्ण चिकित्सक हो। आ ! तुम्हारा वह सुखदायक हस्त कहाँ है जो कि औषधमय है, जो कि आनन्दजनक है ? तुम्हारा वह 'मृडयाकु' हस्त कहाँ है जो कि मेरे इस दैव्य पाप को शमन कर देगा, जो कि मेरे इस पाप रोग को दूर कर देगा ? मुझे तो अब अपने इसी हस्त का संस्पर्श कराओ। हे वृषभ ! मुझे अब क्षमा करो, और अपने इसी सुखहस्त का अनुभव कराओ।

शब्दार्थ

(रुद्र) हे रुद्र ! दुःख रोग नाशक ! (ते) तेरा (स्यः) वह (मृडयाकुः) सुखदायक (हस्तः) हाथ (क्व) कहाँ है, (यः) जो कि (भेषजः) औषधमय और (जलाषः) आनन्दजनक (अस्ति) है, जो (दैवस्य) देव सम्बन्धी (रपसः) पाप का, रोग का (अपभर्ता) दूर करने वाला है ? (वृषभ) हे सुखवर्षक ! तू (नु) अब तो (मा) मुझे (अभिचक्षमीथाः) क्षमा कर, सहन कर।

अन्दर देखो !

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्नि र्मनुष ईरयध्यै ॥

ऋक ४.२.१॥

विनय

यह आत्माग्नि हम मे और किस लिए रखा हुआ है ? मिट्टी हो जाने वाले हम मर्त्यों मे जो यह कभी न मरने वाला एक अमृत तत्त्व, सच्चा, सत्यरूप, 'आत्मा' कहलाने वाला एक तत्त्व, निहित है, इन इन्द्रिय आदि देवो के बीच मे जो यह एक देव, इन सब देवो मे असग रूप से गया हुआ एक अमर देव रखा हुआ है, यह और किस प्रयोजन के लिए है ? निस्सदेह यह इसीलिए है कि यह हम मे बढे, प्रदीप्त होवे, अपनी महिमा द्वारा विविध प्रकार से प्रदीप्त होवे । यह जीवन इसीलिए है कि इस द्वारा आत्मा अपने आप को विकसित कर सके । यह ससार इसीलिए है कि इसमे आत्माग्नि अपना अधिक से अधिक प्रकाश कर सके, अपनी महान् महिमा द्वारा अद्भुत सामर्थ्य द्वारा, अपने दिव्य ऐश्वर्यों द्वारा अपने आप को अधिक से अधिक प्रकाशित कर सके । इसीलिए यह आत्मा 'होता' बना है, दान आदान करने वाला हुआ है । आत्मा के लिए हम जो कुछ बलिदान करते हैं उस से हजारो गुणा आदान उसके विविध ऐश्वर्यों के रूप मे हमे प्राप्त होता है । इसलिए यह आत्मा ही यजिष्ठ, सर्वश्रेष्ठ यजनीय है । इसका ही यजन कर के हमे आत्मिक सामर्थ्यों और आत्मिक ऐश्वर्यों मे अपने को प्रदीप्त करना चाहिए । किन्तु आत्मा से यह अद्भुत सामर्थ्यों, दिव्य ऐश्वर्यों का आदान तभी हो सकता है जब कि हम आत्मा के लिए दान, आत्म-बलिदान करते रहे । ओ यह दिव्य अग्नि तो मनुष्य को आत्मबलिदान के लिए निरन्तर प्रेरित भी कर रहा है । यह बाह्य अग्निहोत्र का अग्नि यदि हमे कुछ प्रिय लगता है, यदि इसके प्रति हमे कुछ आकर्षण होता है, तो इससे सहस्रो गुणा प्रिय और आकर्षक यह अपना अन्दर का आत्माग्नि है ? यह प्यारा आत्मा जब दीख जाता है तब तो मनुष्य पृथ्वी भर को स्वाहा करके भी इसके प्रेम को पाना चाहता है । इसकी ज्योति इतनी प्यारी है कि उसके दर्शन मात्र से मनुष्य शेष सब अनात्म-ससार को एकदम बलिदान कर देने के लिए उत्कठित हो जाता है । इसलिए भाइयो ! जरा देखो ! अन्दर देखो ! तुम मे प्रदीप्त होने की ही प्रतीक्षा मे यह तुम्हारा आत्माग्नि निहित है, क्या तुम इसे प्रदीप्त नही करोगे ? यह अमृत तुम्हे निरन्तर बलिदान (यजन) के लिए प्रेरित कर रहा है, क्या तुम उसकी बात नहीं सुनोगे ?

शब्दार्थ

(य) जो (मर्त्येषु) मरणशील मनुष्यो मे (अमृत) कभी न मरने वाला (ऋतावा) सत्यरूप होकर और (देवेषु) इन्द्रियादि देवो के बीच मे (अरति. देव) उन मे असगरूप से गया हुआ एक देव होकर (निधायि) निहित है । वह (होता) दान आदान करने वाला (यजिष्ठ.) सर्व श्रेष्ठ यजनी (अग्नि) आत्माग्नि हम मे (मह्ना) अपनी महिमा द्वारा (शुचध्यै) प्रदीप्त होने के लिए ही [निहित है] और (मनुषः) मनुष्य को (हव्यै) आत्म-हवनो से [यजन को] (ईरयध्यै) प्रेरणा करने के लिये ही निहित है ।



वैदिक विनय

मैं मोक्ष प्राप्त करूं

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्, तिरश्चिता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छधै ॥

ऋक्० ४.१८.२ ॥

विनय

इस दुनियावी पगडडियो वाले रास्ते से मैं नही चलूंगा, जिससे संसार चलता है। मैं तो सीधा अपने लक्ष्य पर पहुंचूंगा। मैं मामूली मनुष्य नही हूं, मैं श्रेष्ठ देव हूं। मैं भोग भोगने आया हुआ पृथिवी पर रेंगने वाला कोई ससारी कीडा नही हूं, मैं परब्रह्म की तरफ वेग से उड़ने वाला अदम्य आत्मा हूं, सांसारिक सुखो के पीछे फिरना और वहां नाना दुःख भोगना—इस रास्ते को मैं नही पकड़ूंगा। मेरे लिये यह बडा दुःखप्रद है। इस संसार रूपी बड़े भारी गर्भ मे अन्य संसारिओ की तरह पकड़ने के लिये मैं अपरिमित समय तक पडा नही रह सकता, मैं तो अभी इस ससार बन्धन से बाहर निकलूंगा, मुक्त होऊंगा। मैं सांसारिक सुखो की दु:खरूपता को जानता हूँ। मैं ज्ञानी हुआ हूँ, मैं अब इनमे नीचे नही उतरूंगा। मैं तो सीधा चलूंगा, सामने के पार्श्व को तोड कर, दीवार को फोड कर सीधा बाहर निकलूंगा। तुम मुझे बेशक चले रास्ते से ही चलने को कहते रहो, पर मैं तो धारा को चीर कर, पहाड को लांघ कर सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचूंगा। तुम कहते हो कि यह असम्भव है, पर मैं कहता हूँ कि मैंने तो अभी बहुत से ऐसे कार्य करने हैं जो कि दुनिया के लिये नये हैं। मैं आश्रम क्रम से न चल कर अभी सीधा सन्यासी बनूंगा। इस संसार मे पूर्ण ब्रह्मचारी होना असम्भव समझा जाता है, पर मैं पूर्ण रूप मे ब्रह्मचारी बनूंगा। अपने से राग, द्वेष को बिलकुल निकाल देना बेशक समुद्र को सुखा देना है, पर मैं इस प्रकार रागद्वेष से सर्वथा रहित भी होऊंगा। तुम बेशक मुझे संसार के बनाये रास्तों से ही चलने की ओर धीमे-धीमे चलने को कहते हो, पर मैं तो सब ससार से उलटा चलूंगा। मैं ससार भर से लड़ूंगा। हां, जहां मैं इस सब ससार से लड़ूंगा, वहां प्रभु के सामने झुकूंगा। जहां एक तरफ इस मत्त संसार से लडाई ठानूंगा, पग पग पर भिड़ूंगा, वहां दूसरी तरफ अपने परम गुरु से नम्र भाव से पूछूंगा, शिष्य भाव से उपदेश प्राप्त करूँगा। एव उस प्रभु की तरफ वेग से आकर्षित होता हुआ और प्रभु के उस प्रबल आकर्षण मे मार्ग की सब विघ्न बाधाओ को विनष्ट करता हुआ मैं अभी इस संसार-कारागार से बाहर निकलूंगा, मोक्ष प्राप्त करूँगा।

शब्दार्थ

(अहं) मैं (अत.) इस ससारी रास्ते से (न निरया) नही निकलूंगा। (एतत् दुर्गहा) यह मेरे लिये कठिन है, दुर्ग्रह है। मैं तो (तिरश्चिता) सीधे मार्ग से (पार्श्वात्) सामने के पार्श्व से ही (निर्गमाणि) भेदन करके निकल जाऊँगा। मैंने तो (बहूनि) बहुत से (अकृता) अभी तक किसी से न किये गये कर्मो को (कर्त्वानि) करना है। (त्वेन) एक से मैं (युध्यै) लड़ूंगा, जब कि (त्वेन) एक से, दूसरे से (संपृच्छधै) मैं पूछूंगा, नम्र होकर उपदेश प्राप्त करूँगा।



हे इन्द्र !

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम् ।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोः इन्द्र सिन्धून् ॥

ऋ० ४।१९।६ ।

विनय—'हे इन्द्र ! तू उसकी सहायता करता है जो अपनी सहायता अपने आप करता है ।' इसलिए जो मनुष्य स्वयमेव अपनी विघ्न बाधाओं को हटाने वाला, अपने मार्ग के शत्रुओं का विनाश करने वाला 'तुर्वीति' होता है, उस के लिए तू मार्ग साफ कर देता है । परन्तु ऐसा मनुष्य दूसरों से प्राप्तव्य वाञ्छनीय 'वय्य' भी अवश्य होता है, तेरा भक्त कभी केवल विनाश करने वाला घोर नहीं होता है, किन्तु दूसरों का सहारा सौम्य भी अवश्य होता है । जो तेरा सच्चा भक्त है वह जहाँ मार्ग के राक्षसों, असुरों का संहार करने वाला होता है, वहाँ वह जनता की सेवा करने वाला, उनका आश्रय, प्रेमभाजन भी अवश्य होता है । ऐसे अपने सच्चे उत्कृष्ट भक्त के लिये, हे इन्द्र ! तू कुछ उठा नहीं रखता है । इस 'तुर्वीति' और 'वय्य' पुरुष के लिये तू इस महान् पृथ्वी को अभीष्ट फल दुहने वाली एक बड़ी गौ बना देता है और बड़े से बड़े समुद्रों को 'सुतरण' कर देता है । उसके मार्ग में चाहे स्थल आये या जल, तू किसी वस्तु को बाधक नहीं रहने देता । जब मनुष्य 'तुर्वीति' और 'वय्य' होकर तुझे पाने निकलता है, तेरे पन्थ का पथिक बनता है तो उसके राह में खड़ी हुई बड़ी से बड़ी पार्थिव बाधाओं को तू बाधायें नहीं होने देता, किन्तु अपनी कृपा से उन्हें सब कुछ देने वाली, अपेक्षित आवश्यकताओं को पूरा करने वाली विविध सहायताओं के रूप में बदल देता है । उसके मार्ग में पड़ने वाले बड़े से बड़े तूफानी समुद्रों को भी तू अपने 'नम' द्वारा शान्त कर देता है । मानो क्रुद्ध से क्रुद्ध उत्तेजित समुद्रों को अपने 'नम' नामक सब को नमाने वाले शान्ति-वज्र द्वारा तू शान्त, रममाण, प्रसन्न कर देता है, और तब उनके जल उस भक्त को डुबा देने की जगह उसे पार तराने में सहायक हो जाते हैं । यह सब, हे इन्द्र ! तेरी महिमा है, तेरी अपने भक्तों के प्रति करुणा है । नहीं, मैं कहूँगा कि यह सब 'तुर्वीति' और 'वय्य' होने का सामर्थ्य है, तेरे ऐसे उत्कृष्ट भक्त बनने का माहात्म्य है ।

निःसन्देह, हे इन्द्र ! तुम हमें भी विपत्तियों के भारी से भारी पहाड़ों को लंघा दोगे, भयंकर से भयंकर समुद्रों को तरा दोगे, बस केवल हमारे 'तुर्वीति वय्य' बनने की देरी है, बस तुम्हारे ऐसे पूरे भक्त बनने की देरी है ।

शब्दार्थ

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वं) तू (तुर्वीतये) शत्रुओं का नाश करने वाले के लिये (वय्याय) और दूसरों से प्राप्तव्य, वाञ्छनीय भक्त पुरुष के लिये (महीं अवनिं) इस महती पृथ्वी को (विश्वधेनां) सब कुछ देने वाली, सब प्रकार से प्रीणन करने वाली और (क्षरन्तीं) अभीष्ट फलों को प्राप्त कराने वाली, उनसे पूरित करने वाली [बना देता है] तथा (एजत्) बहुत उछलते हुए, तूफानी (अर्ण) समुद्रजल को (नमसा) अपने नम द्वारा, वज्र द्वारा (अरमयः) रममाण, शान्त कर देता है, एवं (सिन्धून्) समुद्रों को (सुतरणान्) सुगमता से तरने योग्य (अकृणोः) कर देता है ।

हे मनुष्यो !

**प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्र, आविद्वाँ आह विदुषे करांसि।
यथा यथा वृष्ण्यानि स्वगूर्त्ता अपांसि राजन् नर्य्याविवेषीः ॥**

ऋक् ४ १९ १०॥

विनय

हे इन्द्र ! तुम हमारे कर्मो मे भी बसते हो। परन्तु तुम्हारा निवास हमारे उन्ही श्रेष्ठ कर्मों मे होता है जो कि स्वय हमारे अन्दर से निकले 'स्वगूर्त्त' होते है, जो कि सब नरो के हितकारी 'नर्य' होते हैं और जो कि बलकारक (शक्ति बढाने वाले) 'वृष्ण्य' कर्म होते हैं। यो कहना चाहिए कि तुम्हारे निवास के कारण ही हमारे कर्मों मे यह श्रेष्ठता और शक्ति उत्पन्न होती है। धन्य हैं वे पुरुष जिनके कर्मों मे तुम इस प्रकार व्यापते हो, आविष्ट होते हो। हे राजन् ! ज्यो-ज्यो तुम किसी मनुष्य के कर्मों मे इस प्रकार विराजने लगते हो, त्यो-त्यो उसका कर्म-सामर्थ्य बढता जाता है, त्यो-त्यो उसके कर्म का प्रभाव अधिक अधिक क्षेत्र को घेरता जाता हैं। अन्त मे उसका मानसिक कर्म, उसका ज्ञान अत्यन्त व्यापक और तेजस्वी हो जाता है, उसके ज्ञान-कर्म मे भी तुम्हारा निवास हो जाता है अत वही मनुष्य होता है जो कि ठीक ठीक कर्त्तव्य कर्मो को जान सकता है, और दूसरो को बतला सकता है। क्योकि तब वह हे विप्र ! तुम्हारे पूर्व कारणो का भी पूरा जानने वाला 'आविद्वान्' हो जाता हैं।तुम्हारा जो इस ससार मे सनातन कर्म चल रहा है और वह जिन सनातन शुद्ध साधनो, करणो, से चल रहा है उसे वह साक्षात् जानने लगता है। अत वही बता सकता है कि अमुक समय मे कर्त्तव्य कर्म क्या है, वही दूसरो का पथप्रदर्शक हो सकता है, वही सच्चे ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है, वही है जो सच्चे अर्थों मे भविष्यद् वाणी कर सकता है, तेरे सनातन करणो के जानने के कारण बता सकता है कि तेरी सृष्टि मे अब तेरा क्या कर्म होने वाला है। नि सदेह ये बातें आम लोगो से करने की नही होती। 'आविद्वान्' की इन बातो को विद्वान् ही समझ सकता है। विद्वान् पुरुष ही परस्पर, हे सर्वज्ञ ! तेरे इन करणो व करणीयो की कथा चर्चा किया करते है। पर यह तो ठीक हैं कि ज्ञान की यह उच्च अवस्था उन्ही पुरुषो को प्राप्त होती है जिन के कर्मों मे तुम्हारा निवास हो जाता है। जितना जितना किसी के कर्म तुम से व्याप्त होने लगते हैं, उतना उतना ही उसमे सच्चा ज्ञान प्रकट होने लगता है इसलिए, हे मनुष्यो ! देखो ज्ञान के साथ कर्म के इस सम्बन्ध को देखो, अपने कर्मों को विना विशुद्ध किए कोई मनुष्य ज्ञानोपदेष्टा नही बन सकता अपने कर्मों मे बिना प्रभु को रमाये कोई मनुष्य प्रभु की बात करने का अधिकारी नही हो सकता।

शब्दार्थ

(राजन्) वे सच्चे राजा (**यथा यथा**) ज्यो ज्यो तू (**वृष्ण्यानि**) बलकारक (**स्वगूर्त्ता**) स्वयं अन्दर से निकले (**नर्या**) मनुष्यो के हितकारी (**अपासि**) कर्मों को (**अविवेषी.**) व्याप्त करता है, त्यो त्यो (**विप्र**) हे सर्वज्ञानमय ! (**ते**) तेरे (**पूर्वाणि करणानि**) सनातन कर्मो, कर्म साधनो को (**आविद्वान्**) प्रत्यक्ष समझने वाला ज्ञानी (**करांसि**) कार्यों को, कर्तव्यकर्मो को (**विदुषे**) समझने वाले ज्ञानी के लिए (**प्र आह**) अधिक अधिक प्रकर्ष से कह सकता है, कहता है, कथा चर्चा करता है।

हे परमेश्वर !

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः इषं जरित्रे नद्यो न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥

ऋ० ४ १६, १७ २१ १६, २०, २१, २२, २३, २४, ११ ॥

विनय

हे परमेश्वर ! तू सदा सब सन्तो द्वारा स्तुति किया गया है। मैं भी आज तेरी ही स्तुति कर रहा हूँ। स्तूयमान होता हुआ तू अब तो मुझ स्तोता की भी इच्छाओ को पूर्ण करदे। मुझे वह "इष" प्रदान करदे जिसका मैं भूखा हूँ। इस अन्न से तू मुझे छका दे। जैसे कि नदियाँ जल से भरपूर होती हैं, वैसे तू मुझे मेरे 'इष' से भरपूर करदे। मैं तो तेरे दर्शन का भूखा हूँ। अपना यह दर्शन देकर हे इन्द्र ! तू मुझे पूरी तरह परितृप्त कर दे। मैंने आज तेरा नया अनुभव किया है, तेरे एक नये स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया है। और मैंने तेरे इसी स्वरूप के खूब गुण गाये हैं। हे हरिवन् ! तू अब अपने इस रूप के दर्शन देकर मुझे पूरी तरह तृप्त कर दे। हे हरिओ वाले ! मैं देखता हूँ कि तू अपने इस ससार रूपी रथ को अपनी ज्ञान क्रिया और बलक्रिया के हरिओ (घोडो) से सचालित कर रहा है। तेरे इस स्वरूप को देखकर मैं अब और कुछ नही चाहता, इतना ही चाहता हूँ कि मैं तेरे इस रथ के योग्य हो जाऊ, 'रथ्य' हो जाऊँ। इस तेरे ससार मे बसने योग्य हो जाऊँ, सच्चा मनुष्य बन जाऊँ, तेरा मनुष्य बन जाऊँ। अब मैं तेरा मनुष्य बन कर ही इस ससार मे रहना चाहता हूँ। तेरे हरिवान् रूप को देखकर अब मैं चाहता हूँ कि अपनी बुद्धि से अपने कर्म से तेरा रथ्य हो जाऊँ और सदा तेरा सभजन करने वाला हो जाऊँ। तेरा रथ्य होने वाले के लिये यह आवश्यक है कि मैं सदा तेरा संभजन किया करूँ। इस लिए हे इन्द्र ! अब तू ऐसी कृपा कर कि मैं अपनी प्रत्येक बुद्धि से, अपने प्रत्येक कर्म से सदा रथ्य बना रहूँ और सदा तेरा सभजन करने वाला बना रहूँ।

शब्दार्थ

(इन्द्र) हे इन्द्र (नु) नि सदेह तू (स्तुत) स्तुति किया गया है, (नु) अब भी तू (गृणानः) मुझ से स्तूयमान होता हुआ (जरित्रे) मुझ स्तोता के लिये (इषं) इष्ट वस्तु को, अन्न को (नद्य न) नदियो की तरह (पीपेः) भरपूर कर दे। (हरिवः) हे हरिओ वाले (ते) तेरा (नव्य) नया (ब्रह्म) अनुभव, ज्ञान (अकारि) मैंने किया है, मैं (धिया) बुद्धि और कर्म से (रथ्यः) तेरे रथ के योग्य और (सदासः) तेरा सदा सभजन करने वाला (स्याम) होऊँ। 

वही सम्राट है।

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्, हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायः, भक्षीय ते अवसो दैव्यस्य॥
ऋक्० ४.२१.१०.॥

विनय

परमेश्वर ही सच्चे सम्राट् हैं। इस संसार में मेरे लिये और कोई सम्राट् नहीं है। दुनियाँ के सम्राट् कहे जाने वाले मनुष्य झूठे सम्राट् है, बिलकुल अनीश्वर अशक्त तुच्छ प्राणी हैं यह मुझे पग-पग पर अनुभव होता है। इन मनुष्य-सम्राटों की हैसियत तो उन इन्द्र के मुकाबले में खिलौने के सम्राट् से अधिक नहीं है। इन्द्र जब चाहते हैं तब क्षण मे इन 'सम्राटों' को ऊपर मे उठा कर नीचे रख देते हैं, इस लोक से उठा कर परलोक मे कर देते हैं। इस विश्व मे जो भी कुछ वसु जहाँ भी कही दिखाई देता है उसके अधीश्वर तो ये इन्द्र ही हैं। इन ऐश्वर्यों का स्वामी मैंने कभी किसी और को नहीं समझा है। ऐसे जगत् के अधीश्वर होते हुए ये इन्द्र मनुष्य का सेवन कर रहे हैं, प्रत्येक मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। मनुष्य के वृत्रों, शत्रुओं का हनन करते हुए और उन्हे नाना विध ऐश्वर्य देते हुए उन की सेवा कर रहे हैं। सचमुच असली सम्राट् सेवा करने वाला ही होता है। प्रजाजनो की उन्नति की सब विघ्न-बाधाओं को (वृत्रों को) पटाना तथा उनमे शारीरिक मानसिक और आत्मिक ऐश्वर्यों को विकसित करना, यही सम्राट् का कर्त्तव्य होता है। हे सच्चे सम्राट्! हे सब से स्तुति किये गए प्रभो! मैं तुझ से क्या माँगू? मैं जिन ऐश्वर्यों के योग्य हूँ उन्हें तुम मुझे दे ही रहे हो। मुझे तो तुम यह शक्ति प्रदान करो कि मैं तुम्हारे इन ऐश्वर्यों को पाने और रखने मे समर्थ हो सकूँ। मेरे 'क्रतु' को, मेरे कर्म व प्रज्ञा को तुम ऐसा बनाओ, ऐसा बलवान् और शुद्ध बनाओ कि इन द्वारा मैं तेरे ऐश्वर्यो को पाने का पात्र बन जाऊँ। मैं ऐसा पात्र हो जाऊँगा तो मैं तेरे दैव रक्षणो का भी भागी हो जाऊँगा। ये दुनियावी बादशाह मेरी रक्षा करते हैं या मुझे मारते हैं इसकी मुझे कुछ भी परवाह नही होती। उनके मानुष रक्षणो के पाने की मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। मैं तो तेरे दैव रक्षणो को पाना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि तेरी दिव्य रक्षा मुझे मिलेगी तो दुनियाँ मे मेरा कोई बाल भी बाँका नही कर सकेगा। इसलिये हे सच्चे सम्राट्! मैं तो एक तेरे ही साम्राज्य के नीचे रहना चाहता हूँ और केवल तेरे ही दिव्य रक्षण को पाना चाहता हूँ।

शब्दार्थ

(इन्द्र.) परमेश्वर (एव) ही (वस्व.) ऐश्वर्य का (सत्य· सम्राट्) सच्चा सम्राट् है, (वृत्रं) शत्रु को, बाधा को (हन्ता) विनाश करने वाला वह (पूरवे) मनुष्य के लिये (वरिवः) सेवन को या ऐश्वर्य को (कः) करता है। (पुरुस्तुत) हे बहुतो से स्तुति किये गये तू (नः) हमे (क्रत्वा) कर्म व प्रज्ञा से (राय.) ऐश्वर्य को [पाने के लिये] (शग्धि) समर्थ बना, मैं (ते) तेरे (दैव्यस्य अवसः) दिव्य रक्षण को (भक्षीय) भोगूं, प्राप्त करूं।



पूर्ण आयु प्राप्त करें

तस्मा अग्नि र्भारतः शर्म यंसत् ज्योक् पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम् ।
यो इन्द्राय सुनुवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् ।।

ऋक्० ४ २५ ४।।

विनय

"आओ हम इन्द्र का यजन करेंगे" इस प्रकार जो मनुष्य कहता है, जो स्वयं इन्द्र का यजन करता है और दूसरो को यज्ञ करने की प्रेरणा करता है, जो यह यज्ञ करता है और करवाता है वह मनुष्य नि सन्देह महापुरुष होता है। वह सच्चा ब्राह्मण होता है, मनुष्य समाज का सच्चा नेता होता है। वह आदर्श पुरुष बनता है। ओह ! वह इन्द्र जो कि असली नर है, असली पुरुष है, जो कि हम नरो का एकमात्र हितकारी है, और जो कि हम नरो मे 'नृतम' है, हम पुरुषो मे पुरुषोत्तम है, उस इन्द्र का यदि हम नर लोग यजन नही करेंगे तो और किसका यजन करेंगे ? उस नेता 'नर' इन्द्र का जिसके हाथ मे इस विशाल ब्रह्माण्ड की बागडोर है जो कि इस सकल चराचर सृष्टि का सचालक है, उस 'नर' का यजन करना मनुष्य 'नर' की उन्नति के लिये आवश्यक है। इस इन्द्र 'नर' का यजन किये बिना मनुष्य अपने मनुष्यत्व की पूर्णता को कभी नही प्राप्त कर सकता, पूर्ण नर नही हो सकता। इसलिये वे ही महिमाशाली पुरुष अपने पुरुषार्थ को प्राप्त कर रहे हैं जो कि इन्द्र का यज्ञ कर रहे हैं और करवा रहे हैं।

ऐसे ही इन्द्रयाजी पुरुषो को 'भारत अग्नि' अपने शरण मे लेता है, अपना आश्रय, अपना सुख प्रदान करता है। 'भारत अग्नि' वह अग्नि है जो कि हमारा भरण करता है, जो कि हमारे शरीर का और इस ससार-शरीर का भरण (धारण, पोषण) करता है। यह प्राणाग्नि है, इसी अग्नि मे इन्द्र के लिये यज्ञ किया जाता है। इसमे जब हम इन्द्र के लिये अपने सब भोग्यजगत् रूपी सोम का और भोगेच्छा रूपी सोमरस का हवन करते हैं तो हम मे यह प्राणाग्नि खूब प्रदीप्त होता है और प्राणरूप सूर्य 'इन्द्र' के द्वारा हमारी सोमाहुति को इन्द्र परमेश्वर तक पहुंचाता है। एवं प्रदीप्त हुआ यह 'भारत अग्नि' हमारा भरण करता है, हमारा पूरा धारण पोषण करता है। हमे अपना महान् आश्रय, महान् रक्षण, महान् आनन्द प्रदान करता हुआ हमारा पूरी तरह धारण और पोषण करता है। हम मे 'भारत' प्राण भरपूर होता है और इस प्राण के साथ हमारा सम्पूर्ण मनुष्यत्व विकसित होता है।

शब्दार्थ

(नरे) असली नर (नर्याय) नरो के हितकारी और (नृणां नृतमाय) नरों मे नरोत्तम (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (य.) जो पुरुष (सुनुवाम इति) 'आओ, हम उसका यजन करें, ऐसा (आह) कहता है (तस्मै) उसके लिये (भारत. अग्नि.) भरण करने वाला प्राणाग्नि (शर्म) अपनी शरणो, सुख को (यंसत) देता है, वह (ज्योक्) चिरकाल तक (उच्चरन्तं) उदय होते हुए (सूर्यं) सूर्य को (पश्यात) देखता है।



अमरता की ओर

अयं होता प्रथमः पश्यतेमं, इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तो, अमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥

ऋ० ६.९.४॥

विनय

हे मनुष्यो ! अपनी आत्मा को देखो । यह अभौतिक अग्नि है, न मरनेवाला चेतन अग्नि है । यह पहिले से विद्यमान 'होता' है, दान आदान करनेवाला है । भौतिक अग्नि का हवन तो हम अब पीछे से जन्म पाकर करते हैं, पर यह आत्माग्नि का हवन अनादि काल से चल रहा है । हमे जो कुछ ज्ञान बल ऐश्वर्य का आदान मिल रहा है यह इसी आत्माग्नि के हवन से मिल रहा है । इनका देनेवाला बाहर और कोई नही है, अन्दर का होता हमारा यह आत्मा ही है । हे मनुष्यो ! तुम उसे देखो । उस असली अपने आपको देखो जो कभी न मरने वाला है । हमारे मरने पर जब और सब कुछ राख हो जाता है, तब भी जो रहता है वह यही हमारी अमर आत्म-ज्योति है । मरने पर यह केवल अप्रकट हो जाता है, ससार की दृष्टि मे छिप जाता है, किन्तु फिर जन्म होने पर यह ध्रुव स्थिर नित्य आत्मा, पहिले से स्थिरतया बैठा हुआ ही आत्मा पुन प्रादुर्भूत हो जाता है, जनित हो जाता है । जैसे काष्ठ मे पहिले से स्थित भौतिक अग्नि सघर्षण आदि से प्रदीप्त हो जाता है, जैसे पहिले से विद्यमान जाठर अग्नि समय आने पर भूख के रूप मे प्रकट हो जाता है, वैसे ही यह 'ध्रुव आनिषत्त' आत्माग्नि उत्पत्तिकाल मे केवल पुनर्जनित हो जाता है । यह तब पैदा नहीं होता है किन्तु प्रकट होता है । इसीलिए, यद्यपि यह कभी न घटने बढने वाला अमर्त्य है तो भी यह पुनर्जनित होकर अपने तनू द्वारा, अपने शरीरों आदि बाह्य प्रकाश द्वारा बढता है । तनू और कुछ नही है यह केवल आत्मा का विस्तार है । स्थूल शरीर द्वारा ही नही किन्तु इससे बहुत अधिक अपने मनोमय व विज्ञानमय आदि आन्तर शरीरों द्वारा यह आत्माग्नि बढता है, नानारूप से बढता है । यह अपनी मन व बुद्धि की वृत्ति द्वारा तो इतना विस्तृत हो जाता है कि सब ससार को व्याप्त कर लेता है ।

हे मनुष्यो ! तुम इस आत्माग्नि को क्यो नही देखते ? तुम अपने न जाने किन-किन मर्त्य रूपों को दिनरात देखते हो, पर इस अमृत असली अपने आपको क्यो नही देखते ? तुम जरा उसे देखो तो अमर हो जाओ, अभी अमर हो जाओ ।

शब्दार्थ

(अयं) यह आत्माग्नि (प्रथम·) पहिले मे विद्यमान (होता) होता, दानादान कर्ता है, हे मनुष्यो ! (इम) इसे (पश्यत) देखो । (इदं) यह (मर्त्येषु) हम मरनेवालो मे (अमृतं ज्योति.) कभी न मरने वाली ज्योति है । (अयं स) यही वह (ध्रुव.) नित्य, स्थिर (आनिषत्त.) पहिले से बैठा हुआ ही अग्नि (जज्ञे) फिर प्रादुर्भूत होता है और (अमर्त्यः) अमर्त्य, अभौतिक होकर भी (तन्वा) अपने शरीर आदि विस्तार द्वारा (वर्धमान.) बढता हुआ होता है ।



महान बनो !

उपक्षेतारः तव सुप्रणीते अग्ने विश्वानि धन्या दधानाः ।
सुरेतसा श्रवसा तुंजमाना अभिष्याम पृतनायूँ अदेवान् ॥

ऋक् ३ । १६ ।

विनय

सब अदेवो को, अदैवभावो को, हम विनष्ट कर देंगे । यह राक्षस यद्यपि हम पर बार-बार हमला करते हैं, अपनी आसुरी सेना के साथ आकर हम पर चढाई करते हैं परन्तु हे अग्ने ! तेरी शरण लेकर हम इनके प्रबल से प्रबल आक्रमणो को परास्त कर देंगे । तेरी शरण पकड़ लेने पर, तेरे निकट वर्त्ती 'उपक्षेता' हो जाने पर कोई आसुर भाव हमे दबा नही सकता । हे सुन्दर और प्रकृष्ट नीति वाले ! हम जब कभी आसुरी वृत्तियो के वशवर्त्ती होते हैं तो इसीलिये होते हैं क्यो कि हम तुम्हारी श्रेष्ठ नीति का अनुसरण नही करते । यदि हम तुम्हारे श्रेष्ठ और प्रबल नेतृत्व मे चलें तो हम कभी किसी से पराजित न होवें । इसलिए अब हमने तेरे नैतिक नियमो का पूरा-पूरा पालन करने का निश्चय कर लिया है । तेरी नीति के अनुसार चलते हुए अब उन सब अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुणो को अपने मे धारण कर लेंगे जिनके कारण मनुष्य धन्य कहलाता है । अदेवो को दूर करने वाले अभय, सत्व, शुद्धि आदि दैवी सम्पत्ति से अब हम अपने को सम्पन्न कर लेंगे । इस प्रकार सब धन्य गुणों को अपने मे धारण करते हुए और आत्मबलिदान करते हुए हम सब असुरों का अभिभव कर देंगे । इन धन्यगुणो के धारण करने से हम मे जो एक श्रेष्ठ वीर्य से युक्त ऐश्वर्य, प्रभुत्व, उत्पन्न हो जायेगा वह हमारे लिए आत्मत्याग करने को बहुत सुगम कर देगा । यह आत्मत्याग वह वज्र है जिसके सामने कोई असुर नही ठहर सकता । 'सुरेता श्रव' मे तीक्ष्ण किये गये इसी वज्र से हम अपनी सब आसुरी वृत्तियो का पराभव कर देंगे । इसी प्रकार हे अग्ने ! तेरी दृढ शरण ले लेने पर कोई आसुर भाव अब हम पर आक्रमणकारी नही हो सकेगा, तूफान की तरह उठने वाले प्रबल से प्रबल आसुरभाव का आक्रमण हम पर सफल नही हो सकेगा ।

शब्दार्थ

(सुप्रणीते) हे श्रेष्ठ और प्रकृष्ट नीति वाले ! (तव) तेरे (उपक्षेतारः) पास रहने वाले, शरण मे आये हम अपने मे (विश्वानि) सब (धन्या) धन्य बनाने वाले गुणों को (दधानाः) धारण करते हुए और (सुरेतसा) श्रेष्ठ वीर्य से युक्त (श्रवसा) ऐश्वर्य द्वारा, प्रभुत्व द्वारा (तुंजमाना) दान करते हुए, आत्मबलिदान करते हुए (पृतनायून्) आक्रमणकारी (अदेवान्) अदेवों को, असुरों को (अभिष्याम) परास्त कर देवें ।



सच्चा स्वामी !

को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखायं भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ।।

को

ऋक् ०४ २५ २।।

विनय

यह दुनियाँ किधर जा रही है ? क्या करना चाहिए और क्या कर रही है ? लोग न जाने किन-किन जड और चेतन मूर्त्तियो के सामने झुकते है, पर कौन है जोकि अपने प्रभु परमेश्वर के सामने झुकता है ? उस अमूर्त्त के सामने भौतिक रूप से झुकना तो हो नही सकता, मानसिक और बाहरी वाणी से ही हो सकता है, तो कौन है जो उस प्रभु के सम्मुख वाणी द्वारा, विचार द्वारा व प्रार्थना द्वारा नम्र होता है ? वह तो सोम्य है, हमारे सम्पूर्ण सोम का पात्र है । हमे अपने सब भोग्य पदार्थों को, अपने सब ऐश्वर्यों को उसके सामने झुका देना चाहिए, उसे समर्पित कर देना चाहिये । नही, हमे तो अपने सब सोमसहित अपने आप को ही उसके चरणो मे समर्पित कर देना चाहिए । पर उस जगत् के एक मात्र स्वामी का भी हममे से कौन है जो सच्चा पूजन करता है ? उस का मनन करना तो मुश्किल है, पर कौन है जो उसके मनन करने का इच्छुक भी होता है ? कौन है जो मनन द्वारा उस इन्द्र की ज्ञानरूप किरणो को अपने मे धारण करता है ? अथवा इन इन्द्रियो को ही 'उस्रा' समझो जो उस इन्द्र की हैं, इन्द्र की गौए या किरणें हैं । तो कौन है जो इन इन्द्रियो को या इन शरीरो को उस इन्द्र के समझकर वस्त्र की तरह ओढता है, असग होकर धारण करता है ? हम दुनिया मे नाना प्रकार के (धनी मानी ज्ञानी आदि) लोगो को अपना साथी सगी, इष्टमित्र, भाई बन्धु बनाते फिरते हैं, बनाते हैं और मानते हैं, पर कौन है जो उस इन्द्र को अपना साथी बनाना चाहता है, कौन है जो उसे सखा करना चाहता है, और ऐसा विरला कौन है जो उससे भ्रातृभाव स्थापित करना चाहता है ? उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ पुरुष के लिये कौन है जो इतनी काति, प्रीति व भक्ति रखता है ? ओह ! इस दुनियाँ मे हम अधाधु ध अपने काम करते जा रहे हैं, पर जो इस दुनियाँ का असली स्वामी है, जो हमारा सब कुछ है, जो हमारा अपना है उसकी तरफ हम कुछ भी ध्यान नही दे रहे । हम क्या कर रहे हैं ?

शब्दार्थ

(सोम्याय) सोम के योग्य इन्द्र के लिये **(क.)** कौन **(वचसा)** वाणी द्वारा **(नानाम)** नमन करता है ? **(वा)** अथवा कौन है जो उस इन्द्र के **(मनायुः)** मनन करने की इच्छा वाला **(भवति)** होता है ? कौन उसकी **(उस्राः)** किरणो व गौओ को **(वस्ते)** धारण करता है ? **(क.)** कौन **(इन्द्रस्य)** इन्द्र के **(युज्य)** साथ की, **(क·)** कौन उसकी **(सखाय)** मैत्री की **(भ्रात्रं)** या भ्रातृभाव की **(वष्टि)** कामना करता है ? **(क.)** कौन **(कवये)** उस क्रातदर्शी इन्द्र के लिये **(ऊती)** काति, प्रीति व भक्ति को रखता है ?

तुम्हीं सब कुछ !

त्वांवर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम् ॥

ऋक्० ६.१.५॥

विनय

इस पृथ्वी पर पृथ्वी निवासी लोग नाना प्रयोजनों के लिये भौतिक अग्नि को बढ़ाते हैं, प्रदीप्त करते हैं। मनुष्य अपने वैयक्तिक और सामूहिक धनों द्वारा भी वैयक्तिक और सामूहिक भौतिकाग्नि को नाना प्रकार से बढ़ाते हैं। परन्तु, हे अभौतिक अग्ने! तुझे भी हम पृथ्वीनिवासी इस पृथ्वी पर बढ़ाते हैं। बेशक हम इस बात को जानते नहीं। इस पृथ्वी पर जो भी कुछ दिखाई देता है, जो भी कुछ बल तेज ज्ञान की उन्नति का कार्य हो रहा है वह सब तेरी ही महिमा है, तेरी ही विभूति है, तेरी ही वृद्धि है। इसी तरह मनुष्यों के दोनों प्रकार के धनों—वैयक्तिक सामूहिक धनों में—जो भी कुछ घटित हो रहा है, जो भी कुछ वैयक्तिक या सामूहिक उन्नति प्रगति के कार्य हो रहे हैं वह सब हे अग्ने! तेरा ही ज्वलन है, तेरा ही प्रकाश है। इस तरह इस पृथ्वी पर चारों तरफ तू ही तू प्रकाशित हो रहा है, सब तरफ तू ही तू चमक रहा है। पर आश्चर्य की बात है कि तेरे बढ़ाने वाले होते हुए भी हम इस संसार के दुःखसागर में गोते खा रहे हैं। चौबीसों घंटे दुःखी और संतप्त हैं। इसका कारण यह है कि हम तुझे जानते हुए नहीं बढ़ा रहे हैं। तू तो चेत्य है, हमारा संज्ञेय है, हमारा एक मात्र जानने योग्य है। यदि हम तुझे सम्यक् प्रकार से जान कर बढ़ायें तो हम इस दुःख सागर से तर जायें, क्योंकि तब हम तेरा यज्ञ करने वाले हो जायें। यदि हम जान लेवें कि इस संसार में यह जो कुछ दीख रहा है वह सब तेरा ही तेज प्रकाशित हो रहा है तो हमारे लिये संसार में कोई दुःखप्रद वस्तु न रहे, सब कुछ पवित्र यज्ञिय हो जाये। इसलिये हे तरणे! हे हमारे तराने वाले! तू हमें अपना ज्ञान करा कर हमारा त्राता हो जा, हमारा रक्षक हो जा। हे अग्ने! तू तो सदा ही हम मनुष्यों का पिता और माता है पर हम तुझे जानते नहीं हैं। हे सब तरफ प्रज्वलित होने वाले अग्ने! हे हम द्वारा बढ़ाये जाने वाले प्रभो! अब तू हमारा त्राता होजा, हमारा पिता और माता होजा।

शब्दार्थ—

(त्वां) तुझको (पृथिव्यां) पृथिवी पर (क्षितयः) पृथ्वीनिवासी पुरुष (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, (त्वां) तुझ को (जनानाम्) मनुष्यों के (उभयासः) दोनों प्रकार के (रायः) धन बढ़ाते हैं। (तरणे) हे दुःख सागर से पार तराने वाले! (त्वं) तू (चेत्यः) संज्ञेय, सम्यक् प्रकार से जानने योग्य होकर (त्राता) हमारा रक्षक (भूः) हो, तू तो (सदम् इत्) सदा ही (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (पिता माता) पिता और माता है।

क्या भेंट दें?

शिक्षेयमिन् महयते दिवे दिवे राय आ कुहचिद् विदे।
नहि त्वदन्यन् मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥

ऋ० ७.३२.१९॥ अथर्व० २०.८२.२॥

विनय

हे परमेश्वर! हे मेरे पिता! मैं तुम्हें देना चाहता हूँ, अपना सब कुछ दे देना चाहता हूँ। जब मैं तेरे अनन्त उपकारो को अनुभव करता हूँ तो हे प्रतिपालक! मैं तुझे अपना सर्वस्व समर्पण किये विना नही रह सकता। तब अपना सब कुछ तेरे चरणों मे रख देने को आतुर हो उठता हूँ। परन्तु हे इन्द्र! तू कहाँ विद्यमान है? मैं तुझे कहाँ पाऊँ? मैं तुझे देने कहाँ जाऊँ? यह सब कुछ मैं नही समझ पाता। इस दुनियाँ मे जो तेरे सच्चे भक्त होते हैं, जिनमे तेरा अधिक से अधिक प्रकाश होता है उन पूजनीय तेरा पूजन करनेवाले भक्तो को मैं सदा अपना धन देता रहता हूँ। उनका निरन्तर भरण-पोषण करता रहता हूँ। ऐसे त्यागी महात्माओ के लिये, ऐसे तेरे 'बन्दों' के लिये मेरा घर हर समय खुला हुआ है। नही, ये सन्त तो जहाँ भी कही विद्यमान हो मैं इन्हें प्रतिदिन अपना धन पहुँचाता हुआ अपने धन को सफल किया करता हूँ। इस तरह इन महानुभावो को नित्य दान देता हुआ मैं अनुभव करता हूँ कि मैं तुम्हे देता हूँ। इन तेरी महिमा बढाने वाले पूजनीयो की तृप्ति करने से, हे इन्द्र! क्या तुम्हारी तृप्ति नही होती है? तुम्हे तृप्त करने के लिये मैं और क्या करूँ? सचमुच, हे मघवन्! तुम्हारे सिवाय हमारा और कोई बन्धु नही है, और कोई प्राप्तव्य नही है, तथा कोई तुम्हारे जैसा प्रतिपालक पिता नही है, कोई श्रेष्ठ सच्चा पिता नही है। पर तुझ पिता को हम अपनी भेंट कैसे पहुँचावें? तुम्हे पहुँचाने के लिये ही तो मैं प्रतिदिन तेरे सन्तो की सेवा किया करता हूँ, तुम्हे तृप्त करने के लिये ही मैं प्रतिदिन तेरे भक्तो को दान किया करता हूँ।

शब्दार्थ—

(कुहचिद् विदे) जहाँ भी कही विद्यमान (महयते) तेरा स्तुति पूजन करनेवाले तेरे भक्त के लिये मैं (रायः) धनो को (दिवे दिवे) प्रतिदिन, सदा (आ) पूरी तरह से (शिक्षेयम् इत्) देता ही रहता हूँ। (मघवन्) हे परमेश्वर! (त्वत् अन्यत्) तेरे सिवाय और कोई (नः) हमारा (आप्य) सम्बन्धी, प्राप्तव्य (नहि) नही (अस्ति) है; तथा तेरे सिवाय और कोई (वस्यः) श्रेष्ठ (पिता) पिता (चन) भी हमारा नहीं है।



सदा प्रसन्न रहें !

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।
तथा करत् वसुपतिर्वसूनां देवाँ ओहानो अवसा गमिष्ठः ।।

ऋ० ६ ५२ ५।।

विनय

लोग न जाने क्या क्या इच्छायें करते है। पर हम तो केवल इतना चाहते हैं कि हम सदा प्रसन्न रहे, आनन्दित रहे, हर समय 'सुमना' रहे। हमारा आनन्द कही अज्ञान का आनन्द या विपरीत प्रकार का आनन्द न हो इसलिये इतना और चाहते हैं कि हम निरन्तर नव प्रकाश को पाते रहे, सूर्य के उदय को सदा देखते रहे, ज्ञानोदय को उत्तरोत्तर उपलब्ध करते रहे। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान प्रकाश मे उन्नत होते हुए हम अधिक अधिक उत्तम आनन्द से आनन्दित रहे, प्रसन्न बने रहे। बस, वसुओ के वसुपति से, सम्पूर्ण ऐश्वर्यो के अधीश्वर से हम और कुछ नही चाहते। उसके अनन्त ऐश्वर्य-भडार से हम केवल यही प्राप्त करना चाहते है, इसे ही हम सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य समझते हैं। हम जानते हैं कि ये हमारे प्रभु देवो के देव हैं, सम्पूर्ण देवो को वहन करने वाले है, सम्पूर्ण दिव्य गुणो को प्राप्त कराने वाले है और ये प्रभु हमारी दौड कर रक्षा करने वाले है, आडे समय पर भक्तो की रक्षा के लिये तुरन्त अपनी रक्षा सहित आ पहुँचने वाले हैं। हम चाहते है कि रक्षा के साथ आने वाले ये हमारे वसुपति प्रभु दिव्य गुणो को प्राप्त कराते हुए हम पर ऐसी कृपा करें कि हम उनके सूर्य प्रकाश मे विकसित होते हुए सदा आनन्दित रहे, हर समय प्रसन्नमना बने रहे। बस, हमे और कुछ नही चाहिये, और कुछ नही चाहिये।

शब्दार्थ—

हम (विश्वदानीं) सदा, सर्वकाल (सुमनसः) आनन्दित प्रसन्नमन (स्याम), रहे (नु) और (उच्चरन्तं) उदय होते हुए (सूर्यं) सूर्य को (पश्येम) देखते रहे, (वसूनां) ऐश्वर्यो का (वसुपतिः) ऐश्वर्याधिपति (देवान्) देवो, दिव्य गुणो को (ओहानः) वहन करने वाला, प्राप्त कराने वाला और (अवसा आगमिष्ठ) रक्षण शक्ति के साथ आने वालों मे सर्वश्रेष्ठ प्रभु (तथाकरत्) वैसा करें।

उठ !

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद, भासान्तरिक्षमापृण ।
ज्योतिषा दिवमुत्तभान, तेजसा दिश उद् दृंह ॥

यजु० १७ ७२ ॥

विनय

हे जीव ! तू अपने को नही जानता । तू तो सुपर्ण है, गरुत्मान् है तू सुन्दर पतन वाला है, तू सुन्दर उडान उडने के लिए, ऊँची उन्नति करने के लिए उत्पन्न हुआ है । तू सब शुभ लक्षणो से युक्त है । तेरी आत्मा गुरु है, गौरवयुक्त है, वडी महान् है, तू उठ, तू इस पृथिवी के तल पर बैठ । तू सम्पूर्ण पृथिवी का आदमी है । तू एक घर का, एक देश का, या एक जाति का नही, किन्तु सम्पूर्ण पृथिवी का पुरुष है । पृथ्वी के पीठ पर स्थित होकर तू चमक और अपनी दीप्ति से अन्तरिक्ष को भर दे । जब तू अपनी मानसिक दीप्ति को दिखलाएगा तो उस की प्रभा मे इस संसार का सब मानसिक जगत् चकाचौंध हो जायगा । नही, तू और ऊपर उठ, तू अपनी आत्मज्योति से द्युलोक को उठा ले । यह द्युलोक जिन दिव्य पुरुषो मे वना है, थमा है, उनकी सी दिव्यता तुझ मे भी विद्यमान है । तू जरा अपनी आत्मज्योति को चमका, जरा दिव्य ज्योति को भी प्रकाशित कर । और इस तरह ऊपर उठता हुआ तू चारों दिशाओ को भी अपनी तेजस्विता से उन्नत करता जा । तेरा तेज दिगन्तो तक ऐसा फैले कि तेरी साधना चारो दिशाओ के मनुष्यो को भी साथ लेती हुई होये, उन्हें भी साथ मे दृढ और उन्नत करती जाये । तू साधारण आदमियो की तरह क्यो बैठा है । तू तो वह अग्नि है जिसने कि अपने प्रदीपन मे सम्पूर्ण ससार को व्याप्त कर लेना है । तू उठ, तू सुपर्ण, तू गरुत्मान् है ।

शब्दार्थ—

तू (**सुपर्ण**) सुन्दर उन्नति करने वाला (**गरुत्मान्**) गुरु आत्मा वाला (**असि**) है, तू (**पृथिव्याः**) पृथिवी के (**पृष्ठे**) पृष्ठ पर (**सीद**) बैठ (**भासा**) अपनी दीप्ति से (**अन्तरिक्षं**) अन्तरिक्ष को (**आपृण**) भर दे, (**ज्योतिषा**) अपनी ज्योति से (**दिव**) द्युलोक को (**उत्तभान**) ऊपर उठा ले, और (**तेजसा**) अपने तेज मे (**दिशः**) दिशाओ को (**उद् दृंह**) उन्नत कर ।

कल्याणकारी दान

अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव सनिभ्य आ ।
अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते,भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥
ऋ० ८ ६२. ११ ॥

विनय

'इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं, इन्द्र के दान बड़े कल्याणकारी हैं' इस टेक के साथ मैंने तेरी बहुत गुणगीतियां गायी हैं' । हे इन्द्र ! तेरे दानो की, तेरी देनो की बहुत स्तुतिया गायी है पर यह वाचिक स्तुति बहुत हो चुकी । अब तो, हे वृत्रहन् ! आओ, मैं और तुम मिल जायें और मिलकर क्रियामयी वाणी द्वारा दुनिया को दान की महिमा दिखलायें । कोई भी मेल, कोई भी सयोग, बिना दान प्रतिदान के नही हो सकता । मेरा और तेरा यह सयोग तभी हो सकेगा जबकि मैं अपना सर्वस्व तुझे दे दूं और प्रतिदान मे तू मेरा अभीष्ट ऐश्वर्य मुझे दे दे, जबकि मैं अपने सब टेढेपन को अपने सब विकार को त्याग दूं और प्रतिदान मे हे वृत्रहन् ! तू सब विघ्न बाधाओ को छिन्न भिन्न करके अपनी सम्ता से अपनी पवित्रता से मुझे भर दे । यह हमारा सयोग, यह योग, यह योगप्रक्रिया तब तक चलेगी जब तक तुझसे मुझे मेरे सब अभीष्ट ऐश्वर्य न मिल जायेंगे जब तक मुझे पूर्ण प्राप्ति न हो जायेगी । तो आओ, मेरे इन्द्र ! तुम भी आगे आओ, मैं आत्म-बलिदान के रास्ते आज तुमसे संयुक्त होने निकला हूँ । मैं एक के बाद एक ऐसे ऐसे आत्मबलिदान करूँगा कि इन्हे देख दुनिया दहल जायेगी । कट्टर से कट्टर अदानियो के हृदय हिल जायेंगे । दान के माहात्म्य को देख यह दुनिया एक बार तो आत्मत्याग के लिये तत्पर हो जायगी । जिन्हे आत्मत्याग मे जरा भी विश्वास नहीं, जिन्हें आत्मबलिदान मे कुछ भी श्रद्धा नही वे भी दान की शक्ति को अनुभव करेंगे, हमारी आत्माहुतियो की महिमा को समझेंगे, तथा हमारे इस दान प्रतिदान का अनुमोदन करेंगे । तो लो, मैं अपने एक एक अ ग को काट काट कर तुम्हारे चरणो मे रखता जाता हूँ और तुम, हे वज्रवाले ! भेदन कर करके मेरे लिये एक एक उच्च ऐश्वर्य को देते जाओ । ओह ! मेरे इन महान् आत्म बलिदानो के प्रतिदान में, हे शूर ! जब तुम मुझे पूर्ण प्राप्ति करा दोगे, जब मुझे निहाल कर दोगे तब तो यह दुनिया भी कह उठेगी "नि सदेह, इन्द्र के दान बडे कल्याणकारी हैं, इन्द्र के प्रतिदान परम कल्याणकारी हैं ।"

शब्दार्थ

(वृत्रहन्) हे विघ्नों के छिन्न भिन्न करने वाले इन्द्र ! (अहं च त्वं च) मैं और तू, हम दोनों (संयुज्याव) सयुक्त हो जायें, तब तक (आ) जब तक (सनिभ्य.) पूर्ण प्राप्तियां हो जायें, जिस मे (अरातीवा) अदानी, कभी त्याग न करने वाला (चित्) भी, (अद्रिव·) हे वज्र वाले ! (शूर) हे शूर ! (नौ) हमारा, [हमारे दान प्रतिदानों का] (अनुमंसते) अनुमोदन करे, विचार करके समझ जावे नि सदेह (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रातय.) दान, देने (भद्रा.) कल्याणकारी हैं । ●

सच्ची स्तुति

सत्यमिद् वा उ तं वयं इन्द्रं स्तवाम नानृतम्।
महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतः, भद्रा इन्द्रस्य रातयः

ऋ० ८ ६२ १२॥

विनय

हमने जो इन्द्र के परम कल्याणकारी देनो की स्तुति की है, वह नि सदेह सच्ची स्तुति है, अनृत नही। हमने जो उस महान् इन्द्र की महान् महिमा गायी है वह भी नि सदेह सच्ची है, कदापि अनृत नही। हम जानते हैं कि हम यह सच्चे इन्द्र का ही गुण कीर्त्तन कर रहे हैं, अनृत इन्द्र का नही, सच्चे परमेश्वर की ही स्तुति कर रहे हैं, मिथ्या परमेश्वर की नही। इसलिये हमारी यह स्तुति कभी विफल नहीं जायगी, यह अवश्य फल लायगी। यह हमारी सच्ची स्तुति हमे इन्द्र के अवश्य दर्शन करायेगी, इन्द्र के कल्याण दानो का अनुभव करायेगी। ओह ! हमारी यह स्तुति तो इतनी सच्ची है कि हम साक्षात् देख रहे हैं कि इस ससार मे यज्ञ न करने वालो का, 'असुन्वत्' लोगो का, उतना ही वडा विनाश हो रहा है जितना वडा यज्ञ करने वाले 'सुन्वत्' लोगो का कल्याण हो रहा है। 'असुन्वत्' लोगो का वध इसीलिये हो रहा है चूंकि यज्ञ न करने के कारण इन्हे प्रतिफल में इन्द्र का कल्याणदान नही मिल रहा है। इसके विपरीत 'सुन्वत्' लोगो का इस लिये कल्याण हो रहा है, चूंकि उन्हें प्रतिफल मे सब ज्योतियो का बहुत बहुत दान मिल रहा है। और ज्योतियो के मिल जाने पर फिर क्या नही मिलता ? हे मनुष्यो ! तुम इस साक्षात् सत्य को क्यो नही देखते ? सत्य इन्द्र के इस सत्य स्वभाव को क्यो नही अनुभव करते ? तुम किस अनृत दुनिया मे रह रहे हो? क्यो धोखे पर धोखा खा रहे हो? यह देखो, जो हो रहा है वह यही है कि अत्यागियो का निरन्तर वध हो रहा है और आत्मत्यागी दिनोदिन ऊपर चढ रहे हैं। यह सब इन्द्र की 'भद्र राति' मिलने और न मिलने का परिणाम है। तो तुम भी क्यो नही अनुभव करते और एक स्वर हो कर बोलते 'इन्द्र की राति भद्र है, सचमुच इन्द्र के दान कल्याणकारी है?'

शब्दार्थ—

(वय) हम (तं) उस (इन्द्र) इन्द्र की (वै उ) नि सदेह (सत्यं इत्) सच्ची ही (स्तवाम) स्तुति कर रहे हैं, (अनृतं) झूठी (न) नही। देखो, (असुन्वत.) यज्ञ न करने वाले का (महान्) वडा (वध.) विनाश हो रहा है और (सुन्वतः) यजनशील की (भूरि) वहुत वहुत (ज्योतींषि) ज्योतिया [मिल रही] हैं, क्योकि (इन्द्रस्य) इन्द्र के (रातय.) दान (भद्रा) कल्याणकारी है।



ऐश्वर्य दो !

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन् अमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमाभर विवक्षसे ॥

ऋ० १०.२१.४ ॥

विनय

हे शक्ति के भडार ! सहसावन् ! तुम महान् हो, तुम ज्ञान बल आदि सब प्रकार से महान् हो, बहुत अधिक महान् हो। तुम्हारी महत्ता को अनुभव करके, हे अमर अग्ने ! मैं तुम्हारी शरण पड गया हूँ। तुम्हारी शरण मे आकर मैं तुम से और क्या मागू ? मुझे तो मागने का शऊर ही नही है, मुझे वह ज्ञान ही नही कि अपने योग्य वस्तु को ठीक जान सकू। इसलिये, हे अग्ने ! तुम ही जिस ऐश्वर्य को मुझे देने योग्य समझते हो उसे मेरे लिये ला दो, मुझे प्रदान करते रहो। मेरे विकास के लिये अब किस ऐश्वर्य की आवश्यकता है यह तुम्ही ठीक जानते हो, तुम ही जान सकते हो। इसलिये मेरी उन्नति के लिये, मेरे बललाभ (वाजसाति) के लिये योग्य 'रयि' को तुम ही प्रदान करो। नही, 'अपने बललाभ (वाजसाति) के लिये' ऐसा मैं क्यो कहूँ ? बल लाभ करके मैं और क्या करूँगा ? मुझे तेरे विमद के लिये, तेरी तथा देवो की विशेष प्रसन्नता के लिये, यज्ञो मे तुम्हारी परितृप्ति करने के लिये ही तेरा दिया 'रयि' चाहिये। तेरे दिये आवश्यक रयि को पाकर ज्ञान बल आदि से सम्पन्न होकर मैंने तेरे लिये ही यज्ञ कर्म करना है, और मैंने क्या करना है? यज्ञों मे तेरी परितृप्ति कर सकूं इसीलिये, हे अग्ने ! तू मुझे अपना 'चित्र' धन प्रदान कर। तू मेरे लिये जो ऐश्वर्य देगा वह मेरे हित मे अद्भुत गुणकारक सिद्ध होगा, वह मेरे लिये तेरी पवित्र पूज्य भेंट रूप होगा, उससे ही नि सदेह मेरा कल्याण सिद्ध होगा। इसलिये हे अग्ने ! तू मुझे अपना चित्र ऐश्वर्य दे, अपनी परितृप्ति के लिये दे और उस परितृप्ति द्वारा महान् हो, अपने दिव्य रूप से महान् होता हुआ भी मेरी इस परितृप्ति द्वारा मानुषिक रूप से भी महान हो।

शब्दार्थ—

(सहसावन्) हे शक्ति के भडार ! (अमर्त्य अग्ने) अमर अग्ने ! तू (यं) जिसे (रयिं) मुझे देने योग्य ऐश्वर्य (मन्यसे) समझता है (त) उसे (न.) हमें (वाजसातये) बललाभ के लिये, उन्नति के लिये (आभर) ला दे, (यज्ञेषु) यज्ञो मे (व.) तुम्हारी (विमदे) विशेष प्रसन्नता व परितृप्ति के लिये (चित्र) उस आश्चर्यकर व पूज्य धन को (आ) ला दे, (विवक्षसे) तू महान् होता है। 

हे सोम ।

हृदिस्पृशस्ते आसते सोम विश्वेषु धामसु ।
अध कामा इमे मम वसूयवो वि वो मदे वितिष्ठन्ते विवक्षसे ॥

ऋ० १० २५ २ ॥

विनय

हे सोम ! मैं जानता हूँ कि तेरे हृदय को स्पर्श करने वाले तेरे अनन्य भक्त जगह जगह पर विराजमान हैं। सब धामो मे, सब स्थानो मे, सब लोको मे तेरे ये निष्काम भक्त बैठे हुऐ तेरा भजन कर रहे हैं। मैं अपनी भक्ति से तेरे हृदय को स्पर्श कर सकूंगा यह मैं नहीं जानता। कम से कम यह स्पष्ट देखता हूँ कि मैं तेरी निष्काम भक्ति नही कर सकूंगा। मुझमे तो ये बहुत सी कामनायें विद्यमान हैं। मुझ मे महत्त्वाकाक्षायें, बडे बनने की, प्रतिष्ठा पाने की, सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छाये विद्यमान हैं। ऐसे नाना प्रकार के वसुओ को चाहने वाली इच्छायें विविध प्रकार से मुझमे उठ रही है। यह ठीक है कि मेरी ये इच्छायें आखिर मे तेरी प्रसन्नता व परितृप्ति के लिये ही उठ रही हैं, इन्होने कभी तुझे ही समर्पित हो जाना है, पर तो भी अभी इन्होने मेरे हृदय को घेर रखा है। हे सोम ! क्या मेरी इन कामनाओ को पूरा करके तुम मेरे हृदय को हलका न करोगे ? नही, तुम इन्हे पूरा करो और मेरी परितृप्ति पाकर महान् होओ। वैसे तो तेरे हृदय तक पहुँच करने वाले तेरे ज्ञानी निष्काम भक्त ही तुझे अधिक सच्चे अर्थो मे बढा रहे हैं, परन्तु मेरी यह अर्थार्थी भक्ति, मेरी ये इच्छायें भी अन्त मे तुम्हे बढाने के लिये ही हैं। इसलिये हे सोम ! तुम मेरी इन कामनाओं को पूरा करो, तो शायद मैं भी कभी तेरा निष्काम उपासक हो जाऊँगा, तेरा हृदय स्पर्शी भक्त बन जाऊँगा।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! **(ते)** तेरे **(हृदिस्पृश)** हृदय को स्पर्श करने वाले भक्त **(विश्वेषु धामसु)** सब स्थानो मे **(आसते)** बैठे हुए हैं, विराजमान हैं। **(अध)** पर मुझमे **(इमे)** ये **(मम)** मेरी **(वसूयव.)** ऐश्वर्यों को चाहने वाली **(कामा)** कामनाये **(व: विमदे)** तुम्हारी प्रसन्नता व परितृप्ति के लिये **(वि तिष्ठन्ते)** विविध प्रकार से उठ रही हैं, **(विवक्षसे)** तुम महान् होते हो।



हे दिशाओं के पालक!

आ पवस्व दिशांपते आर्जीकात् सोम मीढ्वः।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥
ऋ० ९.११३.२ ॥

विनय

सोम! तुम इन्द्र के लिये परिस्रुत होओ। हे ज्ञानमय भक्तिभाव! तुम मुझ आत्मा के लिये परिस्रुत होओ। तुम कहाँ से परिस्रुत होते हो और तुम कैसे अभिषुत होते हो यह मैं जानता हूँ। हे दिशाओं के पति! तुम ऊपर से बरसते हो और दिशाओं का, चारों दिशाओं में बसने वाले संसार का रसप्रदान द्वारा परिपालन करते हो। तुम मेरे अन्दर की दिशाओं के, चतुर्विध प्रेरणाओं के भी रक्षक हो। पर तुम ऊपर जिस स्थानविशेष से आते हो वह 'आर्जीक' है, ऋजुभाव है, सरलता और समता का लोक है। जहाँ सरलता अकुटिलता नहीं है वहाँ तुम्हारा प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। सरलभाव तुम्हारी जन्मभूमि है। इस 'आर्जीक' से आते हुए, हे सिंचन करने वाले! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्तस्तल को अपने रस से सिंचित कर देते हो। मेरे रोम रोम को अपने अमृत से नहला देते हो। इस प्रकार के हे सोम! तुम मुझमें आओ। सत्य वचन, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप द्वारा उत्पन्न होकर मुझमें आओ। मैं खूब जानता हूँ कि सत्यवचन और सत्यकर्म के नियमों का पालन किये बिना भक्तिभाव नहीं उदित होता है। श्रद्धापूर्वक कष्ट सहे बिना प्रेम का प्रसाद नहीं मिलता है। इन चारों साधनों को साधित कर लेने पर ही ज्ञान का निष्पादन होता है, भक्ति रस का प्रादुर्भाव होता है। इस लिये वचन और कर्म में सत्य का व्रत लेकर अटल श्रद्धा को धारण करके और कठोर तपस्या करता हुआ ही मैं प्रार्थना कर रहा हूँ "हे सोम! तुम मुझमें आओ मेरी आत्मा तुम्हारी प्यासी है, इसलिये हे इन्दो! तुम मुझमें परिस्रुत होओ, इस आत्मा के लिये क्षरित होओ।"

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम! (दिशांपते) हे दिशाओं के पालक! (मीढ्वः) हे सिंचन करने वाले! तुम (आर्जीकात्) सरलता के लोक से (आपवस्व) आओ, क्षरित होओ। तुम (ऋतवाकेन) सत्य वचन से (सत्येन) सत्य व्यवहार से (श्रद्धया) श्रद्धा से (तपसा) तप से (सुतः) अभिषुत होते हो, उत्पन्न होते हो। (इन्दो) हे सोम! तुम (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) परिस्रुत होओ।

हे ज्ञानमय !

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तत्र मा धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते, इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

ऋ ९ ११३ ७॥

विनय

सोम ! इन्द्र के लिये परिस्रुत होओ । हे ज्ञानमय भक्तिभाव ! तुम मुझ आत्मा के लिये प्रादुर्भूत होओ । मैं तुम्हारी अद्भुत महिमा को जानता हूँ । मैं जानता हूँ कि तुम मुझे ऊँचे से ऊँचे लोक मे ले जा सकते हो, मोक्ष सुख तक पहुँचा सकते हो, । इसलिये हे पवमान ! हे पवित्रतम ! तुम मुझे वहाँ पहुँचा दो जहाँ प्रकाश कभी मिटता नही, जहाँ अविनश्वर ज्योति है । तुम मुझे उस लोक मे स्थापित करदो जहाँ सुख निहित है, जहा आनन्द का अखण्ड निवास है । इस प्रकार तुम मुझे अमृत के उस अक्षीण लोक को प्राप्त करा दो जहाँ मृत्यु का कभी प्रवेश नही, जहाँ क्षय की कोई आशका नहीं । हे क्षरित होने वाले सोम ! तुम मुझे यह सब कुछ प्राप्त करा सकते हो । तुम्हारा सहारा पाकर मैं परमधाम तक पहुँच सकता हूँ । इसी लिये मेरा आत्मा तुम्हें पाना चाह रहा है । तुम्हारी एक बूंद के लिये व्याकुल हो रहा है, इसलिये हे इन्दो ! तुम मुझ मे परिस्रुत होओ, इस आत्मा के लिये क्षरित होओ ।

शब्दार्थ—

(यत्र) जहाँ (अजस्र) अविनश्वर (ज्योति) ज्योति है (यस्मिन् लोके) जिस लोक मे (स्वः) सुख आनन्द (हितं) रखा हुआ है, (पवमान) हे पवित्रतम् सोम ! तू (मा) मुझको (तत्र) वहाँ (अमृते) मरण रहित (अक्षिते) क्षय रहित (लोके) लोक मे (धेहि) स्थापित कर दे । (इन्दो) हे सोम ! (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) परिस्रुत होओ ।

हे आत्मन् !

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

ऋ० १.८०.३॥

विनय

हे इन्द्र ! तू अपने राजत्व को, अपने राज्य को नही अनुभव करता । तू अपने स्वराज्य को नही पहिचानता । यह शरीर-राज्य, यह सब अन्दर का साम्राज्य तेरा ही है । इस समय इस पर बेशक वृत्र ने कब्जा कर रखा है । कामरूप, पाप-रूप विदेशी शत्रु ने इसे दबा रखा है । तेरी इन्द्रियाँ, तेरी मनोवृत्तियाँ, तेरी वासनायें और तेरी बुद्धियाँ भी इस समय वृत्र की ही गुलामी कर रही हैं । परन्तु असल मे हे इन्द्र ! ये तेरी ही प्रजा है । तू अब अपने स्वराज्य का आदर कर । इन अपनी प्रजाओ का फिर राजा हो । अपनी इस स्वराज्य साधना के लिये उठ । देख, तेरे सिवाय इस राज्य का अन्य कोई अधिपति नही हो सकता । इसलिये हे इन्द्र ! तू स्वराज्य स्थापना के लिये उठ । आगे बढ । मुकाबिला कर । सब शत्रुओ को धर्षित कर, हरा । तेरे वज्र को इस ससार मे कोई नही रोक सकता । तेरी शक्ति की गति अप्रतिहत है । क्यो तू कहता है कि राग-द्वेष दुर्जय हैं ? नही, तेरे संकल्प वज्र के लिये कुछ भी दुःसाध्य नही है, तेरी प्रतापाग्नि मे सब राग द्वेष आदि क्लेश 'भस्मावशेष हो जायेंगे । तेरी स्वराज्य स्थापना मे कौन बाधा डाल सकता है ? क्या तू समझता है कि सस्कार बड़े प्रबल हैं ? नही, तू अपने बल को नही समझता । तेरा बल तो निःसदेह 'नृम्ण' है, सबको नमा देने वाला बल है, सच्चा बल है । वह दृढ से दृढ सस्कारो को भी हटा देगा, मिटा देगा । ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही पैदा हुई जिसे तेरा बल न नमा देवे । इस प्रकार हे इन्द्र ! तू अपने वज्र द्वारा, अपने वीर्य द्वारा 'वृत्रासुर' का हनन कर और विजयी होकर अपनी प्रजाओ को प्राप्त कर । एवं हे इन्द्र ! तू अपने स्वराज्य को स्थापित कर, अपने स्वराज्य को फिर स्थापित कर ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे आत्मन् ! तू (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य के अनुकूल (अर्चन्) साधन करता हुआ (प्रेहि) आगे बढ (अभीहि) मुकाबिला कर (धृष्णुहि) शत्रु का धर्षण कर, (ते) तेरा (वज्र) वज्र (न) नही (नियसते) रोका जा सकता । (ते) तेरा (शव.) बल (हि) निश्चय से (नृम्णं) सबको नमाने वाला है, सच्चा बल है । (वृत्रं) वृत्रासुर को कामरूप या पाप रूप वृत्र को (हन.) हनन कर और (अप.) अपनी प्रजाओं को (जय) जीत ।

स्वराज्य के लिए !

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवो अनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधी रर्चन्ननु स्वराज्यम् ।।

ऋ० १ ८०.७ ।।

विनय

हे इन्द्र ! तू स्वराज्य की साधना मे सफल होयेगा, अवश्य सफल होयेगा। माया वाले मृग को माया द्वारा ही मारकर अवश्य सफल होयेगा। क्योंकि तेरा वीर्य, तेरा बल स्वाभाविक है। ससार मे एक तू ही है जिसके लिये बल कही बाहर से प्रेरित नहीं हुआ है, कही अन्यत्र से नही आया है। यह तेरे ही अन्दर से निकला है, तेरा अपना है, तेरा स्व-बल है। स्व-बल से ही स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। तेरे मुकाबिले मे जो मायावी मृग है उसके पास स्वबल नही है, वह छल कपट द्वारा तेरे ही बल को तेरे विरुद्ध प्रयुक्त कर रहा है और राज्य कर रहा है। परन्तु ऐसा माया का बल कितनी देर टिक सकता है ? वह नही जानता कि माया उत्पन्न होते ही अपने साथ विरोधी माया को भी उत्पन्न करती है। माया जन्म के साथ ही अपने विनाश के लिये अभिशापित होती है। ऋण विद्युत् धन विद्युत् को पैदा किये बिना उत्पन्न ही नही हो सकती है। इसलिये हे आत्मन् ! तू इन भयकर से भयकर भी दीखने वाले माया के बने मृगेन्द्रो से, प्रकृति के पुतलो से, क्यो भयभीत होता है ? यह माया (यह प्रकृति) तो स्वयं विनश्वर स्वभाव वाली है ? अपने मे ही विरुद्धता रखने के कारण स्वय विनष्ट हो जाने वाली है। देख, ये परस्पर विरोधी रज और तम स्वय लड रहे हैं, उनमे बनात्मक होने से यद्यपि रज विजयी हो रहा है पर वह भी उससे अविद बनात्मक सत्त्व के मुकाबिले मे दब जाता है और फिर रज और तम के बिना न रह सकने के कारण वह विजयी सत्त्व भी तेरे सामने से स्वय भाग जाता है। यह देह घात करने से कभी नष्ट नही होता, फिर फिर पैदा हो जाता है। तू इन अजेय सस्कारो को भी अपने विरुद्ध सस्कारो द्वारा ही जय कर लेता है। एव हे इन्द्र ! तू देह से देह तो दग्ध करता है, मन से मन को मार लेता है, सस्कारो से सस्कारो को नष्ट कर देता है। प्रकृति के पुतलो को प्रकृति के द्वारा ही पिघला देता है, इन माया के मृगो को माया द्वारा ही मार देता है। पर यह काया माया से इसी लिये मरती है चूंकि इसमे कुछ भी स्व-बल नहीं है। अत., हे इन्द्र ! जब तू अपना स्वबल प्रकट करेगा तो नि सन्देह तेरा स्वराज्य हो जायेगा, तेरा स्वराज्य स्थापित हो जायेगा।

शब्दार्थ—

(**इन्द्र**) हे इन्द्र ! (**अद्रिव**) हे दुर्भेद्य शस्त्र वाले या वृत्र को वश मे करने वाले ! (**वज्रिन्**) हे वज्र वाले ! (**तुभ्यं इत्**) तेरे लिये ही (**वीर्यं**) वीर्य, बल (**अनुत्तं**) अप्रेरित है, कहीं बाहर से आया नहीं है। (**यत् ह**) जिस कारण से निश्चय से (**स्वराज्यं अनु**) स्वराज्य के लिये (**अर्चन्**) साधना करता हुवा (**त्वं**) तू उस प्रसिद्ध (**मायिनं**) माया वाले (**मृगं**) दूसरे की वस्तु को छीनने वाले असुर का (**तंउ**) ऐसे असुर का भी (**मायया**) माया द्वारा ही (**अवधी.**) वध कर देता है।

शुद्ध भोग !

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥

ऋ० १.८४.१०॥ सा० पू० ५.१.३.१॥
सा० उ० ३. २. १५ ॥ अथर्व० २०. १०९.१ ॥

विनय

स्वराज्य मे ही प्रजाओ को असली सुख मिलता है । स्वराज्य मे ही प्रजायें अपना अधिक से अधिक विकास कर सकती हैं । जब अन्दर स्वराज्य स्थापित हो जाता है । जब इस शरीरराज्य की बागडोर इन्द्र (आत्मा) के अपने हाथो में आ जाती है तब गौरियो को, इन्द्रिय आदि इन्द्र-प्रजाओ को जो अलौकिक दिव्यसुख मिलता है, उनकी जो अद्भुत शोभा, दीप्ति बढती है उसका हम साधारण लोग इस समय अनुमान भी नही कर सकते । क्योकि हमारे अन्दर या तो आत्मिक अराजकता फैली हुई है या किसी असुर का विदेशी शासन चल रहा है, स्वराज्य नही है । इसलिये हमारे अन्दर तो ये गौरियाँ इस समय विषयरूपी-मदिरा का ही पान कर रही हैं और इस नशीले आत्मघातक 'सुख' को ही सुख समझ रही हैं । इन्हे उन दिव्य सोमरस के पान का सुख अभी कैसे मिल सकता है जो आत्मराज्य हुए बिना नसीब नहीं होता ? हाँ, जहाँ कहीं यह वृषा आत्मा फिर अपने 'स्व' राज्य को सभाल लेता है वहाँ की अवस्था बिलकुल पलट जाती है । वहाँ ये इन्द्रियाँ स्वराज्य के अनुकूल चलने वाली संयमयुक्त हो जाती हैं । ये वसुरूप, स्वराज्य की संपत्तिरूप या स्वराज्य की सच्ची वासिनी हो जाती हैं । ये अपनी प्रदीप्ति के लिये बलवान् इन्द्र के साथ चलने वाली हो जाती हैं । इन्द्र के साहचर्य से सचमुच इनकी शोभा, दीप्ति अकल्पनीय प्रकार से बढ जाती है । प्रातिभ श्रावण वेदन आदि सिद्धियो तथा नाना अन्य अद्भुत शक्तियो के रूप मे ये अत्यन्त शोभित और प्रदीप्त हो जाती हैं । उस समय ये गौरियाँ स्वाधीनता को पाकर इन्द्र के साथ मे अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करती हैं । तभी इन्हे उस 'मधु' का, उस मोक्षसुख का, उस सोम-का, पान प्राप्त होता है जो स्वादु है, ब्रह्मानन्द के रस से रसीला है, दिव्य माधुर्य से भरा है और जो व्यापक है, सबके लिये समान है, भौतिक सुख की तरह एकदेशी और सापेक्ष नही है, अतएव विषय-मदिरा की तरह नशीला भी नही है । यही सच्चा सोम रस का पान है जिसे आत्मवश्य इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं । यही असली भोग है, 'शुद्ध भोग' है, अविद्या आदि क्लेशमलों से सर्वथा रहित निर्मल भोग है जिसको मुक्तावस्था मे आत्मशक्तिरूप गौरियाँ उपभोग करती हैं । ओह ! हम बद्ध पुरुष तो कल्पना भी नही कर सकते कि "शुद्ध भोग" भी कोई वस्तु हो सकती है, "स्वादु मधु" भी कोई वस्तु हो सकती है ।

शब्दार्थ—ये (गौर्यः) प्रकाशमान इन्द्रियाँ या आत्मशक्तियाँ (इत्था) इस प्रकार से (स्वादोः) स्वादु, ब्रह्मानन्द रस से रसीले (विषूवतः) व्यापक (मध्वः) सोम रस का, शुद्ध भोग का, मोक्ष सुख का (पिबन्ति) पान करती हैं (याः) जो (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य का अनुसरण करने वाली होकर (वस्वीः) वसुरूप या वासिनी होकर और (शोभसे) अपनी शोभा व दीप्ति के लिये (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) आत्मा से (सयावरी) साथ मिलकर चलने वाली हो कर (मदन्ति) आनन्दयुक्त होती हैं ।

हमें श्रेष्ठ बना दो !

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि
आ तू न इन्द्र शंसय गोषु अश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥

ऋक्० १. २९ १ ॥ अथर्व० २० ७४ १ ॥

विनय

यद्यपि हम बुरे हैं, अप्रशस्त हैं, तो भी हे इन्द्र ! तुम हमें श्रेष्ठ बना दो, प्रशस्त बना दो। तेरे भक्त होकर हम बिलकुल गये बीते तो नही हो सकते, तो भी हम मे जो बुराई सी हैं उन्हें तुम अपनी दया मे दूर कर दो। तुम्हारी दया पाकर हम प्रशस्त न बन सकेंगे तो हम और प्रशस्त कैसे बनेंगे ? हे सत्य स्वरूप ! हे सोमपान करने वाले ! तुम अपनी सत्य मयता द्वारा, अपने सोमपान के गुण द्वारा हमे प्रशस्त करदो। इस संसार मे भौतिक साधारण प्रशस्तता भौतिक सपत्तियो द्वारा होती है, इसलिए हे, बहुत ऐश्वर्य वाले ! तुम हमे गौओ और अश्वो के दान द्वारा और इन गौवो और अश्वो के शोभन प्रकार के तथा बहुत सन्ख्या मे दान द्वारा प्रशस्त बनादो। हम लोगो मे बड़ी सुन्दर सुन्दर गौएँ और अश्व होयें तथा ऐसे सहस्रो गौएँ और अश्व होये। पर ये बाहर की गौएँ और अश्व निरर्थक हैं, भार भूत हैं और हमे पराधीन करने वाले हैं जब तक कि हम लोग अन्दर की असली गौओ और अश्वो मे प्रशस्त न होयें। हमे वास्तव मे प्रशस्त बनाने वाली जो असली गौएँ हैं वे तो वाणी आदि इन्द्रिया हैं, आत्मशक्तियाँ हैं और जो असली अश्व हैं वे वीर्य आदि हैं, आत्मतेज हैं। ये ही हमारे अपने गौ और अश्व हैं। हे तुवीमघ ! तुम अपने सत्य द्वारा हमारी वाणी आदि इन्द्रियो को श्रेष्ठ सुन्दर और शुभ्रि बनाओ तथा ऐसी कृपा करो कि ऐसी सुन्दर आत्मशक्तियाँ हम में सहस्रो प्रकार से प्रकट होवें, तुम अपने सोमपान के गुणद्वारा हमारे वीर्य आदि बलो को उत्तम, तेजस्वी और शोभन बनाओ तथा ऐसी कृपा करो कि ये आत्मतेज हम मे हजारो प्रकार से चमकें। हे इन्द्र ! इस प्रकार तुम हम अप्रशस्तो को प्रशस्त कर दो, गौओं और अश्वो द्वारा प्रशस्त कर दो।

शब्दार्थ—

(सत्य) हे सत्य स्वरूप ! [सोमपा.] हे सोम पान करने वाले ! [यत् चित् हि] यद्यपि हम [अनाशस्ताः इव] अप्रशस्त से, बुरे से [स्मसि] हैं [तु] तो भी- [तुविमघ] हे बहुत ऐश्वर्य वाले ! [इन्द्र) इन्द्र ! तू [न.] हमे [शुभ्रिषु] शोभन, श्रेष्ठ [सहस्रेषु] हजारो प्रकार के [गोषु] गौओ में [अश्वेषु] तथा अश्वो मे [आ शसय] प्रशस्त कर दें।



हे शूर !

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोषु अश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥

ऋ० १.२९.४ ॥ अथर्व २०.७४.४॥

विनय

हम अप्रशस्त इसीलिये हैं चूँकि हममे ये बुरी वृत्तियाँ जाग रही है और अच्छी वृत्तियाँ सो रही है। हे शूर इन्द्र ! तुम अपने पराक्रम से इस क्रम को उलटा दो। ऐसी कृपा करो कि हममे वे अदान की बुरी वृत्तियाँ सो जायें और दान की शुभ वृत्तियाँ जाग जायें। हममे अदान की, कजूसी की, स्वार्थ की, हिंसा की आसुरी वृत्तियाँ प्रसुप्त हो जायें और दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जायें तथा दान की, उदारता की, यज्ञ की, प्रेम की दैवी वृत्तियाँ जाग जायें, और पूर्ण रूप मे विकसित हो जाये। ये अरातियाँ, ये स्वार्थादि की क्लिष्ट वृत्तियाँ ही हैं जो हमे बुरी, अप्रशस्त बना रही हैं, अत ये ही हमारी शत्रु हैं। हमारे बन्धु तो वे यज्ञ आदि की वृत्तियाँ हैं जो हमे शोभन बनाती हैं और हमे ऊँचा उठाती है। इसलिये हे शूर ! तुम ऐसी लडाई लडो कि हमारे ये सब स्वार्थादि शत्रु अब इस हृदय की रणभूमि मे सदा के लिये सो जायें, और ये यज्ञादि बन्धु इस हृदय-मन्दिर मे सदा जागने वाले हो जायें। जब ऐसा हो जायेगा तो हममे अशोभन गौएँ तथा अशुभ अश्व नही रहेंगे, किन्तु हममे श्रेष्ठ ही आत्म-शक्तियाँ तथा श्रेष्ठ ही वीर्य प्रकट होयेंगे तथा सहस्रो प्रकार से प्रकट होयेंगे। इस तरह हे तुविमघ ! तुम हमे अब प्रशस्त करदो, श्रेष्ठ गौओ तथा शुभ्रि अश्वो द्वारा प्रशस्त करदो।

शब्दार्थ—

(शूर) हे शूर ! (त्या.) वे (अरातयः) अदान वृत्तियाँ, शत्रु (ससन्तु) सो जायें तथा (रातयः) दानवृत्तियाँ, बन्धु (बोधन्तु) जाग जायें। (तु) इस प्रकार (तुवीमघ) हे बहुत ऐश्वर्य वाले (इन्द्र) इन्द्र ! तू (नः) हमे (शुभ्रिषु) शोभन श्रेष्ठ (सहस्रेषु) हजारो प्रकार के (गोषु) गौओ मे (अश्वेषु) तथा अश्वो मे (आ शंसय) प्रशस्त करदे।

सहारा तुम्हारा !

**नकि देवा मिनीमसि नकि रायोपयामसि, मंत्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभि रपिकक्षेभि रत्राभि संरभामहे ॥**

ऋ० १० १३४ ७॥ सा० पू० २ २ ६.२॥

विनय

हे देवो ! वेदोक्त देवो ! हमने इस ससार मे वेदमन्त्रों की शरण ले ली है। हम समझ गये हैं कि मत्रो के मनन करने से, वेदज्ञान पा लेने से, हम भवसागर से तर जायेंगे। इस लिये हम अब वेद के अनुसार चलते हैं, वेदानुकूल ही आचरण करते हैं, मत्रो से जो कुछ सुनते हैं, मन्त्र के मनन से जो उपदेश ग्रहण करते हैं ठीक उसी के अनुसार अपना आचरण करते हैं। न तो हम किसी की हिंसा करते है, और नाही किसी को विमोहित करते है। क्रोध, द्वेष आदि के वश होकर हम न तो किसी भाई का हिंसन करते हैं, किसी को दुःख पहुँचाते हैं और न किसी भाई को लुभा ललचा कर, मोहित करके कोई अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। जो द्वेषराग-ग्रस्त मलिनमन लोग हिंसा करने तथा धोखा देने मे प्रवृत्त होते है वे तो पवित्र वेदमत्रो के अध्ययन के अधिकारी ही नही होते, वे वेद के आशय को समझ ही नही सकते, और, हे देवो ! वे तुम्हे जान ही नही सकते। इस लिये हमने तो हिंसन और विमोहन के कीचड से सर्वथा निकल कर अब वेदमत्रो की पावन शरण ले ली है। और इस प्रकार, हे देवो ! हमने तुम्हारे महान् अवलम्बन को ग्रहण कर लिया है। हमने अपने दोनो पार्श्वों से तुम्हारा सहारा ले लिया और अपने दोनों बाहुओ से भी तुम्हारा आश्रय पकड लिया है। मानो हिंसा के त्याग द्वारा हमने 'पक्षो' से तुम्हारा सहारा ले लिया है, तो विमोहन के त्याग द्वारा हमने "अपिकक्षो" से भी तुम्हारा अवलम्बन पा लिया है। इस प्रकार पूरी तरह तुम्हारा अवलम्बन ग्रहण करके हम आज निश्चिन्त हो गये है और देख रहे है कि इस प्रकार तुम्हारा आँचल पकडे हम ठीक ही रास्ते जायेंगे, पुरुषार्थ को पा जायेंगे, मनुष्य जन्म सफल कर जायेंगे।

शब्दार्थ—

[**देवा.**] हे देवो ! हम [**नकि.**] न तो [**मिनीमसि**] हिंसा करते हैं [**आ**] और [**नकि.**] ना ही कभी [**योपयामसि**] विमोहन करते हैं, हम [**मंत्र श्रुत्यं**] मत्र श्रुति के अनुसार ही [**चरामसि**] आचरण करते हैं। इस प्रकार हमने [**अत्र**] इस ससार मे [**पक्षेभिः**] अपने पार्श्वों द्वारा [**अपिकक्षेभिः**] और अपने बाहुओं द्वारा तुम्हे [**अभिसंरभामहे**] सब तरह से अवलम्बन कर लिया है।

तू महान् है

यो भूतानां अधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशे महतो महांस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥

यजु० २०.३२ ॥

विनय

मैं तेरे रूप को देख रहा हूँ, तेरे एक महान् रूप को देख रहा हूँ । हे परमात्मन् ! इसी रूप में तुझ परमात्मा को मैं अपनी आत्मा में ग्रहण कर लेना चाहता हूँ । तू वह है जो सब भूतो का अधिपति है, सकल चराचर प्राणिमात्र का अधिष्ठाता और परिपालक है; तू वह है जिसके आधार पर सब लोक स्थित हैं, जिसके अन्दर सब अनन्तों लोक और सब ब्रह्माण्ड आश्रित हैं, स्थान पा रहे हैं; और तू वह महान् है जो महत् तत्व से आदि लेकर सब प्रकृति के विकारों का, आकाश आदि महान् से महान् पदार्थों का मालिक है, ईश्वर है । हे महान् ! उसी तेरे महत्त्व से, उसी तेरे स्वरूप द्वारा मैं तुझे ग्रहण करता हूँ । मुझ मे (अपने मे) मैं तुझे ग्रहण करता हूँ । हा, मैं क्षुद्र तुझ इतने महान् को अपने मे धारण करता हूँ । इसमे कुछ आश्चर्य की बात नही है, क्योकि मैं तुझे तेरे ही उस महत्त्व द्वारा, तेरे ही उस ईश्वरत्त्व द्वारा धारण करता हूँ जिससे कि तू इतना महान् हुआ है, इतना ईश्वर हुआ है । और '(मयि) मुझ मे' धारण करने का भी तो यही अर्थ है कि तेरा होकर तेरा बन कर मैं मुझ मे (अपने मे) तुझे धारण करता हूँ, आत्मा बन कर तुझ आत्मा को धारण करता हूँ । ओह ! इस प्रकार तुझे अपने मे धारण करके मैंने सब तेरा साम्राज्य, सब तेरा ब्रह्माण्ड अपने मे धारण कर लिया है, सचमुच सब कुछ अपने मे धारण कर लिया है ।

शब्दार्थ

(यः) जो (भूतानां) सब प्राणियो का (अधिपतिः) अधिष्ठाता और पति है। (यस्मिन्) जिसमे (लोकाः) सब लोक (अधिश्रिताः) आश्रय पा रहे हैं और (यः) जो (महान्) महान् (महत) सब महत् आदि महान् वस्तुओं का (ईशे) ईश्वर है, (तेन) उससे, उसके इस महत्त्व व ईश्वरत्त्व द्वारा (अहं) मैं (त्वां) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ, धारण करता हूँ; (मयि) मुझ मे अपने मे (अहं) मैं (त्वां) तुझ को (गृह्णामि) धारण करता हूँ ।

माघ मास

देखो

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः ।

(ऋ० ४.३३.६)

'नर' लोगों ने सदा
सत्य बोला है
और वैसा ही
किया
है

माघ (मकर)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

टखनों [गिट्टों] को नीरोग करने वाला

पूर्व निर्दिष्ट विधि से खडे हो जाइये । हाथ नीचे लटके हो, छाती आगे उभरी हो । हथेलिया शरीर की ओर रखते हुए हाथो की मुट्ठिया बाध लीजिये और भुजाओ की मासपेशिओ को कस लीजिये । अब पैर के अगूठो के बल पर अपने को खड़ा करके घुटने को मोडते हुए सारे शरीर को जहा तक नीचे फर्श के पास ले जा सकें ले जाइये । फिर धीरे-धीरे सीधे खडे हो जाइये । इस सारे व्यायाम मे अपने पैर के अगूठो पर ही सारा शरीर तुला रहना चाहिये और एडिया फर्श से न छूनी चाहियें । जब अपना शरीर नीचे ले जा रहे हो तो गहरा श्वास अन्दर भरिये और जब खड़े हो रहे हो तो श्वास बाहिर निकालिये ।

अपना मन टखनो, गुल्फो (गिट्टो) पर रखिये ।

ध्यान—ध्यान कीजिये कि "मेरी टागे मज़बूत है । मुझ मे चलने का अपार सामर्थ्य है । मैं पूर्ण स्वस्थ हो रहा हूँ, " ।

इन अगो के लिये गौणतया वैसाख, श्रावण और कार्तिक मास की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है ।

शिशिर की ऋतुचर्या

लक्षण—पूर्ण जाड़े की ऋतु के बाद जब जाडा कुछ कम होने लगता है, शीत ढलने लगता है पर इतना कम नहीं होता कि समता (वसंत) का मौसम आ जाये उसका नाम शिशिर है। इसे पतझड भी कहते हैं, क्योंकि इस समय पत्तो को शीर्ण करने वाली वायु चलने लगती है। प्रायः इसके महीने माघ और फाल्गुन हैं।

महिमा—शिशिर मे सूर्य भगवान् उत्तरायण हो जाते हैं। उत्तरायण वह दिव्य प्रशस्त काल है जिसमे शरीर त्यागने के लिये भीष्मपितामह जैसे महापुरुष छ महीने प्रतीक्षा करते रहे थे। यह ज्ञानियो को मुक्ति प्रदान करने वाला ज्योतिर्मय काल शिशिर मे प्रारम्भ होता है। इसमे अति शीत की सब तगियां हट जाती हैं। सह्य अच्छा शीत पडता है। जो शीत पडता है वह वायु का शीत होता है, तीखा कठोर शीत समाप्त हो जाता है। इसमे चलने वाली वायु से वृक्ष वनस्पतियों के पुराने पत्ते फल आदि झड़ने लगते हैं और वे वसत के नये अकुर पाने के लिये तैयार हो जाते हैं।

गुण—शिशिर ऋतु शीतल, अत्यन्तरूक्ष, वायु और अग्नि को बढाने वाला है।

पथ्यापथ्य—इस मे हेमन्त जैसा ही व्यवहार करना चाहिये। भेद यह है कि हेमन्त स्निग्ध होती है, परन्तु यह शिशिर आदान काल आ जाने से अतिरूक्ष होती है तथा 'वात' कारक होती है। इसलिये भोजनाच्छादन में वातवृद्धि से बचने का ध्यान रखना चाहिये। वात पित्त कफ किस-किस ऋतु मे सचित कुपित व शान्त होते हैं, इसके लिये निम्नलिखित तालिका देखिये।

दोष	संचित	कुपित	शान्त
वात	ग्रीष्म मे	वर्षा मे	शरद् मे
पित्त	वर्षा मे	शरद् मे	हेमन्त मे
कफ	शिशिर में	वसत मे	ग्रीष्म मे

एव शिशिर मे कफ संचित होता है। यह सचित कफ इस ऋतु की शीतलता के साथ-साथ शुष्कता के कारण इस समय तो कुपित नही होता, पर वसन्त मे जाकर कुपित होता है। अत. इस ऋतु मे स्निग्ध पदार्थो का अति सेवन भी छोड देना चाहिये जिससे कफ अधिक संचित न हो सके।

कहावत के अनुसार माघ मे मिश्री तथा फाल्गुन मे चना नही खाना चाहिये।

सच्चा पिता

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ॥

ऋ० १०.३३.३ ॥

विनय

मैं तेरा स्तोता हूँ, तेरा सच्चा वन्दन करने वाला हूँ, तेरा हवन पूजन करनेवाला हूँ। तो भी, हे शतक्रतो ! मुझे ये 'आधियां', ये मानसिक पीड़ायें खाये जा रही हैं। जैसे पान चढाये गये, आटे से स्नान कराये गये सूत को चूहे काटने लगते है, सब तरफ़ मे चिपट कर खाने लगते हैं, उसी तरह ये मानसिक पीड़ायें मुझे नाना तरह से सता रही हैं, खाये जा रही हैं। अपूर्ण रहती हुई मेरी अनगिनत कामनायें मुझे काट रही हैं, काम क्रोध लोभ मुझ में उछल रहे हैं, रागद्वेष मुझे पीडित कर रहे हैं, नाना मोह मुझे दबा रहे हैं, भयंकर भय मुझे व्यथित कर रहे हैं, मद मत्सर मुझे मार रहे हैं, विविध चिन्तायें मुझे जला रही हैं, इस प्रकार अनगिनत आधियां मुझ पर सब तरफ से चढ रही हैं, मुझे पल-पल मे व्याकुल कर रही हैं। हे प्रभो ! मैं कब तक इनका भक्ष्य बना रहूँगा ? कब तक इस तरह बेचैन बना रहूँगा ? इनसे मेरी कौन रक्षा करेगा ? तेरे स्तोता की और कौन रक्षा करेगा ? हे मघवन् ! तुम्हीं मुझे अब एक बार अच्छी तरह सुखी कर दो, इन आधियो को हटा कर, इन मूषकों को भगाकर मुझे सुखी करदो और पिता की तरह मेरे पालक हो जाओ। तेरे सिवाय इस दुनियां मे मेरा रक्षक कौन है ? मेरा पिता कौन है ? इसलिये हे इन्द्र ! तुम्ही मुझ स्तोता के, मुझ पुत्र के पिता होओ, रक्षक होओ। पिता की तरह तुम मुझे अब ऊपर अपनी गोद मे उठा लेओ, मुझे अपनी उस शान्त, निरुपद्रव, सुरक्षित शरण मे उठा लेओ जहां कभी इन आधियों की पहुँच नही है, जहाँ कभी इन मूषकों की गति नहीं है।

शब्दार्थ

(शतक्रतो) हे बहुत कर्म वाले ! (ते) तेरे (स्तोतारं) स्तोता होते हुए भी (मा) मुझको (आध्यः) मानसिक पीड़ायें (वि अदन्ति) विविध प्रकार से खा रही हैं (मूषो न) जैसे चूहे (शिश्ना) आटे से स्नान कराये गए, पान किये हुए सूत को खाते है। (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! तू (नः) हमें (सकृत्) एक बार (सु) अच्छी तरह (मृळय) सुखी करदे, (अध) और (नः) हमारा (पिता इव) पिता की तरह रक्षक (भव) होजा।

हम तेरे हो गए !

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि ।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥

ऋ० ८.६६ १३

विनय

हे परमेश्वर ! हम तेरे हैं, निश्चय से तेरे हैं । हम सोच समझ कर तेरे हो चुके हैं, अपने आपको तुझे समर्पित कर चुके हैं । और अब तुझ मे ही रहना चाहते हैं, तुझ मे ही अपना सब आत्मविकास पाना चाहते हैं । ज्ञानी, विप्र भी हम तुझ मे, तेरे आश्रय से ही होना चाहते है । वह ज्ञान तो ज्ञान नही है, निरा अज्ञान है, जो तेरे आश्रय से नही उत्पन्न हुआ है । ऐसी विप्रता को, ऐसी पण्डिताई को हम क्या करेंगे, जो हमे तुझ से दूर करने वाली हो । उससे तो मूर्खता भली है हमे पण्डित कहलाने की, ब्राह्मण कहलाने की, विद्वान् कहलाने की जरा भी इच्छा नही है, यदि यह तुझ से दूर हटने से मिलती हो । हम तो ससार के हरेक ज्ञान मे, हरेक कर्म मे, हरेक बात में पहिले यह देख लेते हैं कि उसमे तेरा अवलम्बन है कि नही । जिसमे तेरा अवलम्बन तेरा निवास नहीं होता उससे कुछ भी मतलब नही रहता, फिर वह वस्तु इस ससार में चाहे बडे से बडा पाण्डित्य हो, बडे से बडा धन हो, बडी से बडी सेना हो, बडे से बड़ा साम्राज्य हो । हमारे लिये वह सब निस्सार है । क्योकि हमने खूब अच्छी तरह जान लिया है कि इस संसार मे तेरे सिवाय और कही सुख नही है, तेरे सिवाय इस ससार मे और कोई सुख देने वाला नही है, दे सकने वाला ही नही है । हमने संसार की एक-एक वस्तु को परख-परख कर देख लिया है कि कहीं भी सुख नही है जहाँ कि तू नही हैं । तो हे पुरुहूत ! हे सदा सब से बहुत बार पुकारे गये प्रभो ! तुझे छोड़ कर हम और कहाँ जायें ? हम तो इसलिये हे मघवन् ! तेरे होकर शान्त हो गये है । तेरे हो गये है, पूरी तरह तेरे हो गये हैं ।

शब्दार्थ

(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**वयं**) हम (**घ**) निश्चय से (**ते**) तेरे है, और (**त्वे**) तुझ मे, तेरे आश्रय से (**इत् उ**) ही हम (**विप्राः**) ज्ञानी, विप्र (**अपि**) भी (**स्मसि**) होवें । (**पुरुहूत**) हे बहुतो से पुकारे गये ! (**मघवन्**) हे ऐश्वर्य वाले ! (**त्वत्**) तुझ से (**अन्यः**) अन्य (**कश्चन**) कोई (**मर्डिता**) सुख देने वाला (**हि**) निश्चय से (**न**) नही (**अस्ति**) है ।

तुम अनन्त हो !

यद् द्याव इन्द्र ते शतं, शतं भूमी रुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥

ऋ० ८.७०.५ । सा० पू० ३,२.९.६ । सा० उ० २.२.११ ॥
अथर्व २०.८१.१ । २०.९२. २० ॥

विनय

परमेश्वर ! यह जो विशाल द्यौ दीख रहा है, यदि ऐसे-ऐसे सैकडो द्युलोक उत्पन्न हो जायें, ऐसे-ऐसे सैकडो आकाश उत्पन्न हो जायें तो भी वे तेरी अनन्तता को नही पहुँच सकते । यह विस्तृत पृथिवी ही नहीं, किन्तु यदि ऐसी-ऐसी सैकडों पृथिवियाँ एकत्रित कर दी जायें तो भी वे तेरे विस्तार को नही व्याप सकती। यह जीवो से भरी भूमि ही नही, किन्तु यदि ऐसी-ऐसी सैकडो भूमियाँ हो जायें तो भी उनके अनन्यो जीव मिलकर तेरे चैतन्य का पार नही पा सकते । हे वज्रिन् ! हे अनन्त सामर्थ्य ! वह एक जाज्वल्यमान सूर्य तो क्या, ऐसे सहस्रो सूर्य, ऐसे अनन्तो सूर्य मिलकर चमकें, एक वार इकट्ठे होकर चमकें, तो भी वे तेरी ज्योति की बराबरी नही कर सकते, तेरे परम प्रकाश को नही पा सकते । यह जो उत्पन्न ससार चल रहा है, ऐसे-ऐसे हजारो, बल्कि अनन्तो संसार, एक के बाद एक उत्पन्न हो हो कर समाप्त होते जायेंगे, परन्तु वे तेरी आयु को अनन्त काल मे भी नहीं माप सकेंगे । और यह रोदसी, यह द्यावापृथिवी, यह जमीन और आस्मान, यह ब्रह्माण्ड और ऐसे-ऐसे हजारो लाखो ब्रह्माण्ड भी तेरी विशालता की, तेरी गभीरता की कभी थाह नही लगा सकेंगे । तो हे इन्द्र ! हम भला क्षुद्रातिक्षुद्र जीव तुझे अपने तुच्छ ज्ञान से कहाँ व्याप्त कर सकते हैं ? तेरी कल्पना करने मे ही हमारी तो सब विचारशक्ति कुण्ठित हो जाती है, हमारी बुद्धि चुप हो जाती है । हम इतना ही कह सकते हैं "तुम अनन्त हो, तुम अनन्त हो, हे प्रभो ! तुम असीम हो, तुम असीम हो, तुम कल्पना के भी अगोचर हो, अगोचर हो ।"

शब्दार्थ

(**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**यत्**) यदि (**ते**) तेरे (**शतं**) सौ (**द्यावः**) द्युलोक हो (**उत**) और यदि (**शतं**) सौ (**भूमीः**) भूमिया (**स्युः**) हो [तो भी वे तेरा प्रतिमान नही कर सकते] (**वज्रिन्**) हे अनन्त सामर्थ्य ! (**सहस्रं**) हजारो अनन्तो (**सूर्याः**) सूर्य (**त्वा**) तुझे (**न**) नही व्याप्त कर सकते और (**जातं**) यह उत्पन्न हुआ ससार तथा (**रोदसी**) ये विशाल द्यावापृथिवी, ये जमीन आस्मान सहस्रों होकर भी (**न अनु अष्ट**) तुझे नही व्याप्त कर सकते, तेरी अनन्तता को नही पहुँच सकते ।

हम मित्र बनें !

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः ।
यदिन्नु इन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहे ।।

ऋ० ८ ६१.११ ।।

विनय

देखो, हमने 'वृषण' इन्द्र को अपना सखा बना लिया है, बलवान् सर्व शक्तिमान् इन्द्र को, सब कामनाओ के बरसाने वाले इन्द्र को अपना सखा बना लिया है । हमने उसे अपना ऐसा सखा बना लिया है कि अपने हरिकीर्त्तनो मे, अपने सम्मिलित ध्यानो में, अपने यज्ञ कर्मों मे, अपने सोमाभिषव के सब अवसरो मे हम इकट्ठे होकर तन्मग्न होकर सदा उस की मित्रता का अनुभव करते हैं । क्या तुम पूछते हो कि हमने उससे ऐसा सख्य कैसे प्राप्त कर लिया है ? इसका कारण यह है कि हम कभी पापी होकर उसको नही मानते हैं, उसकी नही उपासना करते हैं । अपने को परमेश्वर का मानने वाला कहना और साथ ही पाप करना, ब्रह्मचर्य आदि नियमों का भग करना यह कितनी लाञ्छनीय बात है ! हम तो निष्पाप होकर ही परमेश्वर की उपासना करते हैं । और फिर कभी हम दानहीन होकर भी परमेश्वर का भजन नही करते । अनुदार होना या आत्मत्याग से डरना और परमेश्वर की राह चलना, ये बिलकुल उलटी बातें हैं । अत हम तो सर्वस्व त्यागते हुए अपने को भी समर्पण करते हुए ही प्रभु का भजन करते हैं । इसी तरह ज्वलन-रहित होकर भी हम कभी इन्द्र का आराधन नही करते । जो अग्न्याधान नहीं करता, अपने को प्रज्वलित नही करता उसकी स्तुति प्रार्थनायें निष्फल होती हैं, वे इन्द्र तक नहीं पहुँचती, वे उसे परमेश्वर से जोडने वाली नही होतीं । इसलिये हम अग्निचर्या करते हुए अपने को सम्प्रदीप्त करके ही इन्द्र के आराधन मे बैठते हैं । ये ही तीन कारण हैं जिनसे हमने इन्द्र के हृदय को हर लिया है । ओह ! वे इन्द्र तो हम सब मनुष्यो को इकट्ठा अपना मित्र बना सकते हैं और बनाने को उद्यत हैं, और उन जैसा सर्वशक्तिमान् सब कामनाओ का पूरक मित्र और कौन हो सकता है, पर यह तभी है, यदि हम पापी न होकर, अदानी न होकर और अनग्नि न होकर उनके पास पहुँचें, यदि हम निष्पाप उदार और प्रज्वलित होकर अपनी मित्रता का हाथ आगे बढायें, यदि हम इन तीन गुणो को धारण करके उनके सख्य के पात्र हो जायें ।

शब्दार्थ

हम (**न**) न तो (**पापास.**) पापी होकर, (**न**) न (**अरायासः**) अदानी होकर (**न**) और न (**जल्हवः**) अप्रज्वलित होकर (**मनामहे**) इन्द्र को मानते हैं, उनकी उपासना करते हैं । (**यत् इत्**) जिस कारण से ही हम (**नु**) अब (**वृषण**) बलवान्, कामो के वर्षक (**इन्द्रं**) परमेश्वर को (**सुते**) अपने यज्ञ कर्मों मे (**सचा**) समिलित होकर, तन्मग्न होकर (**सखायं कृणवामहे**) सखा कर लेते हैं, मित्र बना लेते हैं ।

हम मित्र बनें !

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः ।
त्वं तस्यामित्रहन् वधो दासस्य दम्भय ॥

ऋ० १० २२.८॥

विनय

हे परमेश्वर ! तेरा अमित्र, तेरा शत्रु कौन हो सकता है ? और तेरा शत्रु होकर कोई इस तेरे ससार मे कैसे रह सकता है ? नही, मनुष्य तो इतना गिरता है कि वह तेरा शत्रु भी बनता है । वह तेरा शत्रु तब होता है जब वह तेरे ससार से शत्रुता करता है, जब वह समार का उपक्षय करने वाला 'दस्यु' बनता है । 'दस्यु' वह मनुष्य होता है जो अकर्मा होता है, जो कर्महीन होता है, जो विना कर्म किये जीना चाहता है, विना श्रम किये खाना चाहता है, विना यज्ञ किये भोगना चाहता है । ऐसा मनुष्य अपने इस अकर्म द्वारा जगत् का उपक्षय करता है, इसीलिये वह 'दस्यु' व 'दास' कहलाता है । ऐसा दस्यु 'अमन्तु' अमननशील होता है । यदि वह मनन करने लगे तब तो वह कभी अकर्मा व दस्यु न रहे । पर वह तो अन्यव्रत होता है, कुछ अन्य ही प्रकार के उलटे व्रत लिये होता है । वह मनन क्यो करेगा ? वह तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सच्चे व्रतों से उलटा हिंसा, असत्य, स्तेय आदि के कर्मों को नि शक होकर करता है । अतएव वह 'अमानुष' मनुष्यता से गिरा हुआ, नामधारी मनुष्य ही होता है । ऐसा मनुष्यत्वहीन मनुष्य तुझ से अमित्रता न करेगा तो और क्या करेगा ? जब ऐसा दस्यु हमारे अभिमुख होता है, हम पर हमला करता है तो हे अमित्रहन् ! ऐसे दास के लिये, इस प्रकार जगत् के उपक्षय करने वाले के लिये तू वधरूप हो जाता है, सहज स्वभाव से मृत्युरुप हो जाता है । हे इन्द्र ! तू सदा ही ऐसे दस्युओं का दमन करता रह, विनाश करता रह और इस प्रकार से ससार का रक्षण करता रह, पालन करता रह ।

शब्दार्थ

हे इन्द्र ! (अकर्मा) कर्महीन मनुष्य (दस्युः) दस्यु, उपक्षय करने वाला होता है, यह (नः) हमारे (अभि) अभिमुख होता है, हमला करता है, (अमन्तुः) यह मनन न करने वाला (अन्यव्रतः) अन्य उलटे व्रत व कर्म वाला (अमानुषः) और मनुष्यता से गिरा हुआ होता है । (अमित्रहन्) हे शत्रुनाशक ! (तस्य) उस (दासस्य) दस्यु का (त्वं) तू (वधः) वध, मृत्यु होता है, (दंभय) तू उसका नाश कर ।

हे शक्तिमय !

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः ।
विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः ॥

ऋ० १० २२ १३।

विनय

हे प्रभो ! हम तुम से शुभ ही प्रार्थनायें कर रहे हैं। हम तुम से जो प्रार्थनायें कर रहे हैं वे सर्वथा हिंसारहित हैं, वे किसी का अनिष्ट चाहने वाली नही हैं वे सदा सब के सब प्रकार से भले की ही कामना करने वाली हैं और ये प्रार्थनायें हमारे सच्चे दिल से निकली हैं, निर्मल अन्त.करण से निकली हैं अत ये अवश्य तुम्हे समीपता से स्पर्श करने वाली हैं, तुम्हारे हृदय तक पहुँचने वाली हैं। हे परमेश्वर ! हमारी ऐसी प्रार्थनाओ को तुम अवश्य सत्य करो, क्रियान्वित करो। जैसे दूध देने वाली 'धेनु' से गोस्वामी दूध आदि नाना भोगो को प्राप्त करता है, उसी तरह हमारी ये प्रार्थनायें धेनु होकर हमें भोगो से, अभीष्ट फलो से परिपूरित कर देवें। अपनी इन प्रार्थनाओ से हम जो-जो क्रिया व फल रूप भोग चाह रहे हैं उन्हे हम अवश्य प्राप्त कर लेवें। हे वज्रवाले ! हे शक्तिमय ! तुम से की गयी और तुम से हिंसा-हीन तथा हृदयस्पर्शी रूप से की गयीं ये हमारी प्रार्थनायें कैसे निष्फल हो सकती हैं, कैसे असत्य व अपूर्ण रह सकती हैं ?

शब्दार्थ

(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (ते) तेरे प्रति की गयी (ता.) वे (**अहिंसन्ती**) हिंसारहित, सब का भला चाहने वाली (उपस्पृश·) तुझे समीपता से स्पर्श करने वाली प्रार्थनायें (**अस्मे**) हमारे लिये (**सत्या**) सत्य (**सन्तु**) हो जायें, ऐसी हो जायें कि (**यासां**) जिन प्रार्थनाओ के (**भुजः**) भोगो को, फलो को (**वज्रिवः**) हे वज्र वाले ! हम (**धेनूनां न**) दुहने वाली गौओ के [भोगो की] तरह (**विद्याम**) प्राप्त करें।

आत्म देव !

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेषु ईड्यः ॥

ऋ० ८.११.१। य० ४.१६॥ अ० १९.५९.१॥

विनय

हे अग्ने ! तू व्रतों का पालन करनेवाला है, पूरी तरह सब सत्य नियमो का स्वभावत. पालन करनेवाला है। तू ऐसा पूरा व्रतपालक है इसीलिये तू देव है, पूरा देव है और ऐसा देव होकर तू हम मर्त्य मनुष्यों में आया हुआ है, समाया हुआ है। तू पूर्ण व्रतपालक होकर हम मनुष्यों के अन्दर आकर बैठा हुआ है। हे आत्मन् ! इस तरह तुझे अपने मे पाकर भी यदि हम व्रतपालक न बन सकें तो हम कितने अभागे हैं। तू तो हममे इसीलिये आया हुआ है कि हम भी तुझ द्वारा व्रतपालक हो जायें, हम भी तेरे व्रतपालन के स्वभाव को अपने मे पूरी तरह प्रतिबिम्बित कर लेवें। और जो तू सब यज्ञो मे हमारा ईड्य हो रहा है, हमारे सब शरीरों मे हमारे सब स्वरूपो मे अग्निदेव होकर हमारा पूजनीय हो रहा है वह भी इसीलिये है कि हम तेरा यजन कर करके व्रतपालक बन जायें, तुझे योग्य हवि प्रदान कर करके 'व्रतपा' अवस्था को पाजायें। हे अग्ने ! आज हम तेरे 'व्रतपा.' स्वरूप को साक्षात् अनुभव कर रहे हैं और चाह रहे हैं कि हम भी इसी तरह अपने अहिंसा सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि व्रतो के पूरे पालन करने वाले हो जाये। इसलिये, हे हमारे अग्ने ! तू हमे भी 'व्रतपा' बना, अपने जैसा पूरा और दृढ व्रतपालक बना।

शब्दार्थ

(अग्ने) आत्मन् ! (त्वं) तू (व्रतपा) व्रत पालक (असि) है, (देव) तू देव है (आ) और (मर्त्येषु) हम मनुष्यो मे (आ) समन्तात् है, समाया हुआ है। (त्वं) तू (यज्ञेषु) यज्ञो मे (ईड्यः) पूजनीय है।

व्रत पालन करो !

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति ।
तथा युजा विववृते ॥

ऋ० १० ३३ ९।६

विनय

मनुष्यो ! देखो, देव लोग अपने व्रतपालन मे बडे कठोर हैं । इन देवो के नियम अटल हैं । ये किसी के लिये टल नही सकते । इन ईश्वरीय नियमो को तोडने का यत्न करना वडी मूर्खता है । इन्हे तोडने का यत्न करने वाला टूट जायगा, पर ये नियम न तोडे जा सकेंगे । इनका अतिक्रमण करके, इनका उल्लघन करके 'शतात्मा' पुरुष भी नही वच सकता, सौ मनुष्यो की शक्ति रखनेवाला, शतगुणा वीर्य रखने वाला मनुष्य भी जीवित नही रह सकता । और उसे उस समय अपने वडे से वडे साथी से भी वलात् वियुक्त हो जाना पडता है । दैव नियमो का भग करने पर हमारे सव सम्वन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं, हमारे सव जोड टूट जाते हैं । उस समय हमारी सहायता करना चाहता हुआ भी हमारा वलवान् से वलवान् जोडीदार, हमारा समर्थ से समर्थ साथी, हमारी सहायता नही कर सकता । उसके देखते-देखते हमे नियमभग का कठोर दंड भोगना पडता है । वह भी हमे वचा नहीं सकता । इसलिये हे भाइयो ! हमे कभी मद मे आकर, अपने किसी भी प्रकार के वल के घमड मे आकर, कभी भूल कर भी देवो के व्रतो का अतिक्रमण नही करना चाहिये, देवो के नियमो को उल्लघन नही करना चाहिये ।

शब्दार्थ

(देवानां) देवो के (व्रतं) अटल नियम को (अति) अतिक्रमण करके (शतात्मा) सौ मनुष्यो की शक्ति रखनेवाला, शतगुणा वीर्यवाला पुरुष (चन) भी (न) नहीं (जीवति) जीता, वचता । (तथा) और वैसे ही, वह (युजा) अपने साथी से, साथी की सहायता से (विववृते) वियुक्त हो जाता है ।

महिमावान् परमेश्वर

नहि नु ते महिमन· समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्मः।
न राधसो राधसो नूतनस्य, इन्द्र न कि ददृशे इन्द्रियं ते ॥

ऋ० ६.२७.३॥

विनय

हे परमेश्वर ! हम तेरी महिमा को कहाँ जान सकते हैं ? तू महान् है, तू ज्ञान मे कर्म मे शक्ति मे परिमाण मे सब गुणो मे अति महान् है, बहुत बहुत बडा है; यह हम प्राय· सदा ही अनुभव करते हैं और अपने इस अनुभव को मनुष्य साथियो मे नाना तरह से बखान भी करते रहते हैं। परतु हे प्रभो ! हम तेरी सम्पूर्ण महिमा को कैसे समझ सकते हैं ? हे मघवन् ! हम तेरे मघवत्त्व को भी कहाँ जान सकते हैं ? हे ऐश्वर्य वाले ! हम तेरे ऐश्वर्यवत्त्व को, तेरे ऐश्वर्यों की थाह भी कहाँ पा सकते हैं ? संसार के कुछ ऐश्वर्यों को देखकर हम कल्पना करते हैं कि ऐसे ही कोई बड़े बडे दिव्य ऐश्वर्य भी होंगे, और कल्पना करते हैं कि इसी तरह सब स्थानों मे सब ब्रह्माण्डों मे जो तेरे ऐश्वर्य बरस रहे हैं तथा सब कालो मे, अनादि भूत और अनंत भविष्यत् मे, जो तेरे ऐश्वर्य फैले पडे हैं—वे कितने अनत हैं, वे कितने अद्‌भुत हैं ? इसी प्रकार तेरे राधसों का, तेरी सिद्धियों का, तेरे सफलता दिलाने वाले सामार्थ्यों का, तेरे इन साधक ऐश्वर्यों का अन्त भी हम मनुष्य कहाँ पा सकते हैं ? हम सोचते हैं तेरे 'राधस्' ऐसे हैं, तू इस इस प्रकार से सिद्धि प्राप्त कराता है, परन्तु तू तो अपने कभी समाप्त न होने वाले एक अद्भुत नये से नये राधसों को, साधक सामर्थ्यों को, निकालता ही चला जाता है और दुनियाँ को आश्चर्यचकित करता रहता है। सचमुच, हे इन्द्र ! हम तेरे इन्द्रिय को , तेरे इन्द्रपन को नहीं पा सकते नही समझ सकते। तेरी इन्द्रियशक्ति गम्भीर है। बड़ी गभीर है। हम जैसे अपनी इन्द्रियों से काम [redacted] करते हैं, वैसे तेरी कोई इन्द्रिय दृष्टिगोचर होती नही, तो भी तू न जाने कैसे इन सब ब्रह्माण्डो को हिला रहा है, प्रत्येक वस्तु मे अन्तर्यामी हुआ हुआ किस अद्भुतता से उसे ठीक ठीक चला रहा है। ओह ! इन्द्र ! तेरी शक्ति असीम है, तेरा राधस् अगाध है, तेरा ऐश्वर्य अनन्त है, तेरी महिमा अपार है।

शब्दार्थ—

(ते) तेरी (**समस्य**) समस्त (**महिमनः**) महिमा को (**नु**) नि·सदेह (**नहि**) हम नही (**विद्मः**) जान सकते, (**मघवन्**) हे ऐश्वर्य वाले ! (**मघवत्त्वस्य**) तेरी ऐश्वर्य-मत्ता को भी (न) हम नहीं समझ सकते। और तेरे (**नूतनस्य**) नये से नये (**राधसो राधसः**) एक एक राधस को, साधक ऐश्वर्य को (न) हम नही जान सकते तथा (**इन्द्र**) हे इन्द्र ! (ते) तेरी (**इन्द्रिय**) इन्द्र शक्ति, तेरा इन्द्रपना (**न किः**) नहीं (**ददृशे**) देखा जा सकता है

परमप्रिय परमेश्वर

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥

ऋ०८-१६-११ ॥

विनय

वे 'पप्रि' परमेश्वर और वे 'पुरुहूत' परमेश्वर हमे भी पार लगावें । हम उन प्रभु का स्मरण कर रहे हैं जो पूरण करने वाले हैं, कमियो को भरपूर कर देने वाले हैं, और उन प्रभु को पुकार रहे हैं जिन्हें सन्त लोग सदा पुकारते रहे हैं और जिन्हें सभी लोग समय समय पर पुकारते रहते हैं । वे ही प्रभु हमे इस द्वेष सागर से पार लगायें । हमने बहुत द्वेष किया है और बहुत द्वेष पाया है । बहुतो से शत्रुता की है और बहुतो को शत्रु बनाया है । हमे इस समय सब जगह अपने द्वेषी नजर आते हैं, सब जगह अपने शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं । हम इनसे कैसे पार उतरें ? यह और कुछ नही है, हमारे ही अन्तर की द्वेष भावना दुस्तर समुद्र बन कर हमारे सामने आ गयी है । जब से हमें ज्ञान हुआ है तब से हम उन 'पप्रि' प्रभु की ही याद मे रहने लगे हैं । हम जान गए हैं कि यदि वे पूरण करने वाले हमे अपनी शरण रूपी नौका प्रदान कर देंगे तो हम कुशल क्षेम से इस भंयकर द्वेषसागर को तर जायेंगे । हम जान गये हैं कि यदि हमारे हृदय की क्षुद्रताओ के गढ़े भरपूर हो जायेंगे और हमारा हृदय विशाल तथा प्रभु प्रेम से परिपूर्ण हो जायगा, तो हमारे अन्दर द्वेष की वासना भी नही ठहर सकेगी । इसलिये अब हम उस पूरण करने वाले प्रभु को ही पुकार रहे हैं, बार बार पुकार रहे हैं । ओह ! अब तो वे ही पुरुहूत 'पप्रि' परमेश्वर हमे इस द्वेष सागर से पार लगायें, इस दुस्तर सागर से पार उतारें ।

शब्दार्थ—

(**सः**) वह (**पप्रिः**) पूरण करने वाले (**पुरुहूतः**) बहुतो से पुकारे गये (**इन्द्रः**) परमेश्वर (**नावा**) नौका द्वारा, अपनी शरण रूपी तरणसाधन द्वारा (**नः**) हमे (**स्वस्ति**) कुशलता पूर्वक (**विश्वा द्विषः अति**) सब द्वेषों से लंघा कर (**पारयाति**) पार लगायें ॥

महान् परमेश्वर !

स नः शक्रश्चिदाशकद् दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥

ऋ० ८-३२-१२॥

विनय

वे शक्र परमेश्वर हमे भी शक्तिसयुक्त करें। हम अशक्त, पगपग पर गिरने वाले हम असमर्थ, शक्ति याचना के लिये और कहां जायें ? सिवाय उन सर्व शक्तिमान इन्द्र के शक्ति प्राप्ति की आशा हम और कहा से लगावें ? ओह ! वे शक्र तो 'दानवान्' है और 'अन्तराभर' है। उन परिपूर्ण परमेश्वर ने कभी किसी से कुछ लेना नही है, उन्होने तो सदा सब को देना ही देना है। ऐसे दानवान् होकर वे हमारे अन्तरो को, हमारे छिद्रो और कमियो को भरनेवाले हैं, हमारे अन्तस्तल को (उसके दोषो और त्रुटियो को)पूरनेवाले हैं। वे अन्दर से भरनेवाले हैं, अन्दर से हमारे आन्तर स्थल को भरपूर कर देनेवाले हैं। वे इन्द्र यदि चाहें तो हमे अपनी सब ऊतियो से, सब रक्षाओ से, सब पालनायो से, तृप्तियो से हमारी सब कमिया दूर कर सकते हैं और हमे अन्दर से भरकर शक्त बना सकते हैं। हम उन्नति पथ पर चढते हुए पग पग पर अपनी अशक्ति अनुभव कर रहे हैं। इस तरह अपनी घोर अशक्ति, भारी निर्बलता को अनुभव करते हुए ही हम आज शक्ति के भिखारी हुए हैं। और जब से हमे ज्ञान मिला है कि हमे शक्ति अन्दर से ही मिलेगी तथा हमारे आन्तर को भर सकने वाले वे शक्र प्रभु ही हैं, तब से हम उन शक्रके द्वारे आ बैठे है। हम आज साक्षात् देख रहे है कि उन शक्र के सिवाय इस ससार मे और कोई शक्ति देनेवाला नही है, उनके सिवाय इस ससार मे और कोई हमारे आन्तर को भरने वाला नहीं है। ओह ! अब तो वे सर्वशक्तिमान् शक्र ही हमे शक्ति से युक्त कर देवे, वे सर्व समर्थ इन्द्र ही हमे सामर्थ्य प्रदान कर देवें।

शब्दार्थ—

(स.) वह (शक्रः) शक्तिमान् (नः) हमे (चित्) भी (आ अशकत्) शक्तियुक्त करे, समर्थ करे। क्योकि वह (दानवान्) दान देनेवाला (अन्तराभरः) अन्दर के अन्तस्तल को भरनेवाला, अन्दर के अन्तर (छिद्र, कमी) को भरनेवाला है। (इन्द्र) वह परमेश्वर अपनी (विश्वाभि.) सब (ऊतिभिः) रक्षाओ आदि से [हमे शक्तियुक्त करे, समर्थ करे]।

हे अग्ने ।

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता ।
सखा सख्या समिध्यसे ॥

ऋ०८-४३-१४॥

विनय

हे अग्ने ! तू निःसंदेह अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त किया जाता है। जैसे इस ससार मे आग से आग जलायी जाती है, जैसे एक ज्ञानी विप्र द्वारा दूसरा मनुष्य भी ज्ञान सपन्न हो जाता है, विप्र आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी ज्ञान से प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे एक श्रेष्ठ सात्त्विक पुरुष से दूसरे मे भी सात्त्विक भाव जग जाते हैं, साधु के सत्सग से दूसरा भी साधु हो जाता है, और जैसे सच्चे मित्र द्वारा दूसरे में भी मैत्री भाव पैदा हो जाता है, सच्चे प्रेम द्वारा दूसरे मे भी प्रेम उपज जाता है वैसे ही हे अग्ने ! हे मेरे परम आत्माग्ने ! मैं जान गया हूँ कि तू आत्माग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है, मुझ अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है। मैं अग्नि वन कर अपनी आत्मा को तेजस्वी करके ही तुझे अपने मे प्रदीप्त कर सकूंगा। मैं ज्ञानी विप्र वन कर, सच्चा ब्राह्मण वन कर ही तुझ ज्ञानमय ब्रह्म को अपने मे प्रकाशित कर सकूंगा। मैं श्रेष्ठ सज्जन सात्त्विक पुरुष होकर अपनी सज्जनता द्वारा, अपने सात्त्विक भावो द्वारा ही तुझ 'सत्' को प्राप्त कर सकूंगा। और मैं अपने सख्य भाव द्वारा, अपने प्रेममय भक्तिभाव द्वारा ही तुझ सच्चे सखा को अपना सखा बना सकूंगा। ओ, अग्ने ! मैं तुझे समिद्ध करूंगा, अवश्य समिद्ध करूंगा। मैं तुझे अग्नि द्वारा ही समिद्ध करूंगा। मैं ज्ञान की अग्नि, श्रेष्ठता की अग्नि और प्रेम की अग्नि वन कर तुझे अपने मे समिद्ध करूंगा।

शब्दार्थ —

(अग्ने) हे अग्ने ! (त्व) तू (हि) निःसदेह (अग्निना) अग्नि द्वारा (समिध्यसे) प्रदीप्त किया जाता है। (विप्र) तू विप्र परम ज्ञानी (विप्रेण) मुझ ज्ञानी द्वारा, (सन्) तू सत् श्रेष्ठ (सता) मुझ साधु श्रेष्ठ द्वारा और (सखा) तू सच्चा सखा (सख्या) मुझ सखा द्वारा प्रदीप्त किया जाता है प्रकाशित किया जाता है।

हम कर्म करें

ते घेदग्ने स्वाध्यो अहा विश्वा नृचक्षसः ।
तरन्तः स्याम दुर्गहा ॥

ऋ० ८ ४३ ३०॥

विनय

हे प्रभु! हम तेरे लिये ही कर्म करने वाले होयें। हम सदा, सब काल, आठो पहर दिन और रात जो कुछ करें वह सब तेरे लिये ही करें और सब सुकर्म ही करें। अहा, अपने छोटे से छोटे और बड़े से बडे कर्म को तुझे समर्पित करते जाना, अपने एक एक कर्म से आठो पहरो मे निरन्तर तेरा ही पूजन करते जाना, यह कितना सात्त्विक जीवन है, कितना शान्त और सुखमय जीवन है? जब हम श्वसन तक के अपने प्रत्येक कर्म को इसी तरह तेरे ही लिये पवित्र भाव से करने लगते हैं तब हमारा ज्ञान भी पवित्र और विशुद्ध हो जाता है। तब हम प्रत्येक वस्तु को निर्लेप होकर उसके विशुद्ध स्वरूप मे देखने लगते हैं। तब हम सब मनुष्यों को और सब बातो को उनके ठीक ठीक रूप मे देखने और पहिचानने लगते हैं। 'नृचक्षस्' हो जाते हैं। और इस तरह उत्तम कृति और विशुद्ध दृष्टि वाले होकर, हे परमात्मन्! हम सब दुर्गहो को आसानी मे तरते चले जाते हैं! ओह, सचमुच निर्लेप होकर काम करने वाले 'नृचक्षस्' पुरुषो के लिये इस ससार मे कठिन से कठिन प्रसग 'सुतर' हो जाते हैं, उनके लिये भयकर से भयंकर दीखने वाली आपत्तियां कुछ भी भयकरता नही रखती। हम भी इसी तरह हे अग्ने! तेरी कृपा से सब दुर्गाहनीय अवसरो को आसानी से तरते जायें, 'स्वाध्य.' और 'नृचक्षस्' होकर आसानी से तरते जायें।

शब्दार्थ

(अग्ने) हे परमात्मन्! हम (विश्वा अहा) सब दिन, सदा (घ) निश्चय से (ते इत्) तेरे ही लिये (स्वाध्य.) उत्तम कर्म करने वाले होयें, (नृचक्षस.) मनुष्यों को ठीक पहिचानने वाले होवें और इस तरह (दुर्गहा) दुर्गाहनीय प्रसगो को (तरन्त.) तरते जाने वाले (स्याम) होयें।

आओ, उसे रिझाएं !

अग्नि मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावकशोचिषम् ।
हृद्भिः मन्द्रेभिः ईमहे ॥

ऋ०८ ४३ ३१॥

विनय

यह अग्निदेव मन्द्र है, हर्षित कर देने वाला है, आनन्द रूप है । यह ऐसा मन्द्र है, ऐसा मस्त कर देनेवाला है कि इसके दर्शनमात्र से, इसके स्मरण मात्र से हममे आनन्द की लहरें चल उठती हैं । इसीलिये यह अग्नि बहुत प्यारा है । सब तरह से प्यारा है, और असल मे सब का प्यारा है । परन्तु यह अग्नि हममे सोया पडा है । यह पवित्रदीप्ति अग्नि हम मे सोया पड़ा है । इसकी शोचि, इसकी ज्योति इतनी पवित्रताकारक है कि यदि यह हममे जग जाये तो हमे नख से शिख तक पवित्र कर देवे, हमारी नस नस को, हमारे रोम रोम को पवित्र कर देवे, बल्कि हमारे प्राण और मनके एक एक परमाणु को पवित्र कर देवे । पर हा ! यह हम मे जग नही रहा है, सोया हुआ है । इसे कौन जगाये ? इसे कैसे जगायें ? ओह, यह मन्द्र अग्नि मन्द्रो द्वारा ही जगाया जा सकता है, मन्द्र हृदयों द्वारा ही जगाया जा सकता है । इसे जगाने के लिये हृदय चाहिये, और मन्द्र हृदय चाहिये । आओ, भाइयो ! हम अपने मन्द्र हृदयो द्वारा इस मन्द्र परमात्मा को अपने मे प्राप्त कर लेवें, प्रबुद्ध कर लेवें । ये देखो, भक्त लोग अपने उन भक्ति भाव भरे हृदयों द्वारा जो प्रभु वाणी सुनकर मोर की तरह आनन्द मस्ती मे नाच उठते हैं, अपने हृदय के उन कोमल मनोभावो द्वारा जो हरिनाम का स्मरण हो आते ही हमे रोमाचित और पुलकित कर देते हैं और अपने अन्त करण के उन मनोवेगो द्वारा जो प्रभु का हार्दिक अनुभव करके हमे आनन्दाश्रुओं मे रुला देते हैं, अपने मन्द्र प्रभु को नाना तरह से जगा रहे हैं, नाना तरह से रिझा रहे हैं । आओ, हम भी क्यो न इसी तरह इस मन्द्र अग्नि को अपने मे जगायें और अपने मन्द्र हृदयो द्वारा इसे प्रतिदिन रिझावें ?

शब्दार्थ—

(**पुरुप्रिय**) बहुत प्यारे और (**पावकशोचिषं**) पवित्र ज्योति वाले (**शीर**) किन्तु सोये पड़े हुए (**मन्द्रं**) मस्ती देनेवाले, हर्षित करने वाले, आनन्दरूप (**अग्नि**) परमात्मा को हम (**मन्द्रैः**) मादन, हर्षित होनेवाले ही (**हृद्भिः**) हृदयो से (**ईमहे**) चाह रहे हैं, प्राप्त करना चाह रहे हैं ।

वसु हमें मिलें !

यो अग्निं तन्वो दमे देवं मर्त्तः सपर्यति ।
तस्मा इदीदयद् वसु ॥

ऋ० ८.४४.१५॥

विनय

हे मनुष्यो ! वसु देने वाले जिस अग्नि को तुम ढूंढते हो वह कही बाहर नही है । वह तो हमारे अन्दर है, हमारे शरीर मे ही विद्यमान है । वह अग्नि हमारे शरीर के घर मे, हमारे शरीर रूपी यज्ञशाला मे नाना प्रकार से जल रहा है, प्रदीप्त हो रहा है । जो मनुष्य इस शरीर-गृह में जलने वाले देव अग्नि का ठीक प्रकार पूजन करता है उसे ही वस, अभीष्ट फल मिलता है । ये देखो, जाठराग्नि से लेकर आत्माग्नि व परम आत्माग्नि तक, पार्थिव अग्नि से लेकर परम दिव्य अग्नि तक सब स्वरूपो मे अग्नि देव हमारे शरीर रूपी यज्ञगृह मे ही जल रहा है । यदि नियमित भोजन शयन और व्यायाम आदि द्वारा जाठर अग्नि का ठीक प्रकार परिचरण करेंगे तो हमे शारीरिक वसु मिलेगा । यदि हम प्राणायामादि से प्राणाग्नि का सेवन करेंगे तो हमे प्राण-बल प्राप्त होगा । सूक्ष्म प्राणाग्नि मे व इन्द्रियाग्नि मे हवन करने से हमे इच्छा-संयम व शब्दादि विषयो का वसु प्राप्त होगा । चित्ताग्नि की ठीक परिचर्या से हमे वासनाशुद्धि प्राप्त होगी । मनरूपी अग्नि का विधिवत् यजन करने से हमे बहुमूल्य विचारो का निधि (खजाना) प्राप्त हो जायगा । और बुद्धि अग्नि के पूजन से ज्ञान का दिव्य ऐश्वर्य भी हस्तगत हो जायगा । इसी तरह आत्मसयम-योगाग्नि मे सब प्रकार के कर्मों का हवन करने से तथा आत्माग्नि व ब्रह्माग्नि में नाना प्रकार के उच्च यज्ञ करने से हमे वे सब ऊंचे से ऊंचे अध्यात्म ऐश्वर्य प्राप्त हो जायेंगे जिन के लिये देव भी तरसते हैं । इस लिये, हे मनुष्यो ! आओ, हम अपने शरीर के दम मे, दमन करने मे ही, उस सच्चे अग्नि को ढूंढ लेवें जिसकी ही ज्वालायें हमारे काय, प्राण, मन आदि मे जल रही है । उसी के हवन से हमे वसु मिल सकता है, केवल उसी के यजन से हमें सब ऐश्वर्य मिल सकता है ।

शब्दार्थ—

(यः) जो (मर्त्तः) मनुष्य (तन्वः) शरीर के (दमे) गृह मे या दमन में (देवं) देव (अग्निं) अग्नि को (सपर्यति) सेवन करता है, यजन करता है, (तस्मै) उसके (इत्) ही लिये (यह अग्नि देव) (वसु) ऐश्वर्य को (दीदयत्) देता है ।

मन में ज्योति

त्वामग्ने मनीषिणः त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥

ऋ० ८.४४ १९॥

विनय

हे अग्ने ! तुम्हारा असली प्रीणन करने वाले, तुम्हें अच्छी तरह बढाने वाले तो वे पुरुष होते हैं जो मनीषी हैं, जो मन के ईश्वर हैं, जो अपने मन के पूरे मालिक हैं। मन के गुलाम तो इस ससार मे प्राय सभी लोग होते हैं, पर विरले ही हैं जो मन के स्वामी होते हैं, जो अपने मन को पूरी तरह अपने काबू मे रखते हैं। ऐसे मनीषी लोग इस मन के सयम के लिये जो सतत आत्मबलिदान करते हैं, उन आहुतियो से हे अग्ने ! तुम खूब संतृप्त होते हो, खूब प्रदीप्त होते हो। दूसरे हैं जो चित्तियों से, चित्त-कर्मों से तुम्हारा सतर्पण करते हैं। ये चित्त शुद्धि द्वारा, और चित्त शुद्धि कराने वाले निष्काम कर्मों द्वारा, तुम्हे बढाते हैं। इस चित्त-शुद्धि और निष्कामता के लिये जो इन्हें आत्मत्याग करना पडता है उन आहुतियो से भी, हे अग्ने ! तुम खूब संतृप्त होते हो, खूब प्रदीप्त होते हो। यद्यपि तुम्हारा असली प्रचार, तुम्हारी महिमा का विस्तार ये मनीषी और चित्ति वाले लोग ही करते हैं तो भी हमारी वाणियो द्वारा भी—हमारे मन्त्रपाठो, स्तुतिगीतो और कथा चर्चाओ द्वारा भी—कुछ न कुछ अवश्य तुम्हारी महिमा बढ़ती है, तुम्हारा प्रचार होता है। नहीं, यदि ये हमारे पाठ, स्तोत्र वैखरी वाणी से ही नही किन्तु अन्दर की वाणियों से भी निकले होते हैं तब तो इन से भी तुम्हारी महिमा पूरी पूरी ही बढती है, तुम्हारा सच्चा प्रचार होता है। इसलिये हे अग्ने ! हमारे आत्माग्ने ! तुम हमारी इन वाणियो द्वारा भी बढो, जहाँ तुम मनीषियो और शुद्ध चित्त पुरुषों के मनो और चित्तों द्वारा बढ़ते हो, वहाँ तुम हमारी इन वाणियो द्वारा भी बढो, प्रदीप्त होओ।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने। (त्वां) तुझे (मनीषिणः) मन के ईश्वर लोग (हिन्वन्ति) प्रीणित करते हैं, बढाते हैं और (त्वां) तुझे [दूसरे लोग] (चित्तिभिः) चिन्तनो से या चित्तशुद्धि के कर्मों से बढ़ाते हैं। तथा (नः) हमारी (गिरः) ये वाणिया भी (त्वां) तुझे (वर्धन्तु) बढायें।

शुचिता का व्रत

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः ।
शुची रोचत आहुतः ॥

ऋ० ८.४४ २१॥

विनय

इस अग्नि देव से वढकर ससार मे और कोई पवित्र वस्तु नही है, शुचिव्रत वस्तु नही है। यह शुचिव्रततम है। शुचि तो इसका व्रत है, नियम है, स्वाभाविक गुण है। यह ऐसा शुचिव्रत है कि इसके सस्पर्श मे आकर कोई वस्तु अशुचि नही रह सकती, इसमे पटकर कोई वस्तु अपवित्र नही रह सकती। यह सकल ससार नि सदेह महामलिन है, पर इस पवित्र अग्नि के इसमे रमने के कारण यह भी उपादेय होगया है। अग्नि रहित होजाने पर इस देह को छूने से भी शौच करना पडता है, परन्तु यह ऐसा महा-अशुचि देह भी इस पावक अग्नि के निवास के कारण कितना पवित्र होगया है। यह अग्नि शुचि ज्ञानी है और शुचि कवि है। इस आत्मा से जो ज्ञान उतरता है वह पवित्र ही ज्ञान होता है। इस आत्मा से जो काव्य निकलता है वह पवित्र ही काव्य होता है। यह ज्ञान और काव्य ही क्या, अग्निदेव का तो प्रत्येक प्रकाश, प्रत्येक दीप्ति ही शुचि होती है, पवित्र ही पवित्र होती है। क्या तुमने कभी आहुत होते हुए अग्निदेव के दर्शन किये हैं? अहा! जव अग्नि मे आहुतियाँ पड़ती हैं और इन आहुतियो को पाकर यह अग्नि प्रदीप्त होता है, विशाल रुप मे देदीप्यमान होता है उस समय उसकी इस रोचमान मूर्त्ति की पवित्रता, इस छवि की पवित्रता बस देखने योग्य होती है, अनुभव करने योग्य होती है। ओह, अग्नि देव की पावनी मूरत पर हम सौ सौ वार वलि जायें! इसकी इन पवित्र ज्वालाओ मे कोई अपवित्रता कैसे ठहर सकती है? सचमुच सचमुच, अग्निदेव से वढकर इस संसार मे और कोई पवित्रताकारक वस्तु नही है। हे मनुष्यो! यदि तुम्हें पवित्रता प्राप्त करनी है तो तुम इस अग्निदेव का आराधन क्यों नही करते? इस अपने अन्दर के अग्नि का प्रदीपन क्यो नहीं करते?

शब्दार्थ—

(अग्निः) अग्नि (शुचिव्रततमः) सवसे अधिक पवित्र व्रत वाला है, यह (शुचिः विप्रः) पवित्र ज्ञानी और (शुचिः कविः) पवित्र कवि है। यह (आहुतः) आहुतियाँ पाकर (शुचिः) पवित्र होकर, पवित्र रूप मे ही (रोचते) प्रकाशित होता है।

मनुष्य महान् है।

बृहन्नित् इध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः।
येषामिन्द्रो युवा सखा॥

ऋ०८ ४५ २ ॥ सा०उ०५ २.२१ ॥

विनय

जिनका सदाशक्ति इन्द्र सखा होता है वे इस संसार मे बहुत चमकते हैं। जिसको कभी बुढापा नही आ सकता, जिसकी शक्ति का कभी ह्रास नही हो सकता वह सदातरुण परमेश्वर जिनको अपना सख्य प्रदान करता है वे महान् यज्ञ करते है और महायज्ञ द्वारा इस संसार में बहुत देदीप्यमान होते हैं। वे ऐसा महान् यज्ञ करते हैं जिस मे 'इध्म' अग्नि से दीपन वहुत भारी होता है, जिसमे 'शस्त' स्तुतिपाठ बहुत बहुत होता है। और जिसका 'स्वरु' यज्ञस्तम्भ बहुत वड़ा होता है। वाहर के द्रव्यमय यज्ञ मे तो बड़े से बड़ा इध्म ससार भर की काष्ठसमिधाओं को जलाने से हो सकता है, वड़े से वड़ा 'शस्त' चारो वेदो का वार वार पाठ करने से हो सकता है और वडे से वडा 'स्वरु' एक वड़े वृक्ष से वनाया जा सकता है परन्तु इन्द्र-सखा लोग ज्ञानमय यज्ञ को करते हैं उसका अग्निसदीपन तो वहुत ही वृहत् होता है, चूंकि वे 'आत्मा'[1] को अपने आपको इध्म बना कर जला देते हैं, अपने को इतना संदीपित करते हैं कि सव ससार मे चमक उठते हैं, अपनी अत्माग्नि से विश्व भर को प्रकाशित कर देते हैं। इनके इस अन्दर के यज्ञ मे 'शस्त' भी वहुत अधिक होता है, चूंकि ये भक्त लोग दिन रात मे जो भी कुछ जिह्वा से वोलते हैं, जो कुछ भी मानसिक वाणी से उच्चारण करते हैं वह सव भगवान् का स्तुतिपाठ ही होता है, वह सव इन्द्र का शंसन ही होता है, इस तरह इनके यज्ञ में अखण्ड स्तुतिपाठ चलता है, ऐसा भूरि शस्त होता है जो कभी समाप्त नहीं होता। इसी तरह इनके इस यज्ञ का 'स्वरु' भी वहुत ही वड़ा होता है, चूंकि ये उस 'आदित्य'[2] को यूप वना कर अपना अध्यात्म-यज्ञ करते हैं जिससे यह समस्त ससार रूपी पशु बँधा हुआ है, उनके इस यज्ञ का झंडा (केतु) वह देदीप्यमान सूर्य होता है जो कभी म्लान नही हो सकता, कभी नीचा नहीं हो सकता। ओह! इन्द्र का सखा हो जाने पर मनुष्य कितना महान् हो जाता है, कितना महान् हो जाता है।

शब्दार्थ—

(येषां) जिनका (युवा) सदा शक्ति (इन्द्रः) परमेश्वर (सखा) सखा होता है (तेषां) उनका (इध्मः) अग्निसदीपन (बृहत् इत्) वहुत ही वृहत् होता है, (शस्तं) उनका स्तुतिपाठ (भूरि) बहुत होता है, और (स्वरुः) उनका यज्ञस्तम्भ (पृथुः) वहुत वडा होता है।

---

१. 'आत्मा वा इध्म.' तै० ३.२ १० ३ ॥
२. "आदित्यो वै यूप" ऐत० ५ २८ ॥ तै० २.१.५.२॥

विजय के लिए

अयुद्ध इत् युधावृतं शूर आजति सत्वभिः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

ऋ० ८.४५ ३॥ सा० उ०५ २२१ ३॥

विनय

युद्धो में विजय पाने के लिये हम सेनायें रखते हैं, छावनिया बनाते हैं, सैनिको मे हिंस्रवृत्ति जगाते और पुष्ट करते हैं, युद्धविद्या के शिक्षणालय चलाते हैं और घातक से घातक शस्त्रास्त्रो का आविष्कार करते हैं, परन्तु क्या हम इसके लिये कभी सदायुवा 'इन्द्र' का सख्य पाने का भी यत्न करते हैं ? क्या हम विजय पाने के लिये कभी मनुष्यों की सात्त्विक वृत्तियाँ जगा कर उनके महान् सत्त्वो, महान् बलो को सग्रह करने की भी जरूरत समझते हैं ? बात यह है कि हमे इसमे विश्वास नही कि जिसका इन्द्र सखा है उसमें इतनी शूरता आती है कि वह अकेला ही, बिना युद्धविद्या जाने, बिना युद्ध का अनुभव प्राप्त किये, योद्धाओ से घिरे हुए सैन्य को भगा देता है, अपने सत्त्वो द्वारा हरा देता है। असल मे यह सच है कि परमेश्वर की मैत्री पाने वाला मनुष्य बिना युद्ध किये, श्रीकृष्ण की तरह बिना हथियार उठाये, प्रतिद्वन्द्वी को जीत लेता है। सचमुच परमेश्वर से शक्ति पाने वाला महापुरुष अकेला ही चतुरगिणी सेना रखने वाले महाशत्रु को अपनी इन्द्र-शक्ति के सामने झुका देता है। इस सत्य मे हमे विश्वास इसलिये नही होता चूंकि हम परमेश्वर को नही जानते, उसकी शक्ति को नही देखते, उस रास्ते नहीं चलते। ओह ! हम कब उस रास्ते चलेंगे ? हम कब विजय प्राप्ति के लिये परमेश्वर का सख्य पाना अनिवार्य समझेंगे ? हम कब पशुबल का सग्रह करने की अपेक्षा आत्मिक सत्त्वों को बढ़ाना सिखा कर संसार को सुखी करेंगे ?

शब्दार्थ—

(येषां) जिनका **(युवा)** सदायुवा, नित्यशक्ति **(इन्द्रः)** परमेश्वर **(सखा)** सखा है, **(शूरः)** शूर होकर वह **(अयुद्ध इत्)** युद्ध विद्या न जानने वाला, युद्ध का अनुभव न रखने वाला भी **(युधावृतं)** योद्धओ से घिरे हुए शत्रुबल को **(सत्वभि.)** अपने आत्मिक सत्त्वो से, सात्त्विक बलो से **(आ अजति)** परास्त कर देता है।

हे मघवन् !

उत त्वं मघवन् शृणु, यस्ते वष्टिविवक्षि तत् ।
यद् वीलयासि वीलु तत् ॥

ऋ० ८ ४५ ६ ॥

विनय

हे मघवन् ! तू मुझे भी सुन, जरा मेरी प्रर्थना को भी सुन ! तू तो प्रार्थनाओ को ऐसा सुनने वला है कि तुझसे जो प्रार्थी जो कुछ चाहता है, कामना करता है उसे तू वह प्राप्त करा देता है । मैं जानता हूँ, अच्छी तरह जनता हूँ कि तू मनुष्य को सब कुछ दे देता है, उसकी सब शुभ कामना को पूर्ण कर देता है । पर फिर भी तू मेरी प्रार्थना को क्यो नही सुनता, इसे क्यो नही पूरी करता ? हे इन्द्र । तू मुझे दृढ करदे, शक्तियुक्त करदे, पूरा समर्थ बना दे । ओह ! तू तो जिसे दृढ करना चाहता है और दृढ बना देता है, वह पूरी तरह दृढ़ हो जाता है, अडिग हो जाता है । फिर उसे ससार की कोई शक्ति दबा नही सकती । वह अच्छेद्य, अभेद्य हो जाता है । इस ससार के हज़ारो शत्रु उसे हरा नही सकते, लाखो दु ख क्लेश उसे डरा नही सकते, असख्य प्रलोभन उसे गिरा नही सकते वह पूर्ण 'वीलु' हो जाता है । हे इन्द्र ! तू मुझे भी ऐसा दृढ वीर बना दे । तू मेरी इस प्रार्थना को सुन, मेरी इस कामना को पूर्ण कर ।

शब्दार्थ—

(**मघवन्**) हे ऐश्वर्यवन् ! ईश्वर ! (**त्वं**) तू (**उत**) और भी, मुझे भी (**शृणु**) सुन, (**यः**) जो प्रार्थी (**ते**) तुझसे जो कुछ (**वष्टि**) चाहता है, कामना करता है उसे तू (**तत्**) वह (**विवक्षि**) प्राप्त करा देता है । (**यत्**) जिसे तू (**वीलयसि**) दृढ करता है (**तत्**) वह (**वीलु**) दृढ हो जाता है ।

हम पुकारते हैं

यच्चिद्धि शश्वतामसि इन्द्र साधारणस्त्वम् ।
तं त्वा वयं हवामहे ॥

ऋ०८ ६५.७ ॥

विनय

परमेश्वर ! तुम सभी मनुष्यों मे व्याप रहे हो । तुम तो सभी वस्तुओ मे व्याप रहे हो, और समानरूप से व्याप रहे हो । तुम सब के लिये साधारण हो । तुम सब के हो, समान रूप से सब के हो । छोटा बडा, अमीर ग़रीब, इस देश का उस देश का, इस धर्म का उस धर्म का—तुम सब के हो, समानभाव से सब के हो । अनादि काल से जो जीव होते रहे हैं उन सभी के तुम रहे हो, और अनन्तकाल तक जो जीव होते रहेंगे उन सभी के तुम रहोगे । इस तरह तुम सनातन सर्व साधारण हो । तो भी हम तुम्हे पुकारते हैं, उन्ही तुम्हे पुकारते हैं जो तुम सर्व साधारण हो । तुम ऐसे अद्भुत हो कि सब के लिये साधारण होते हुए भी तुम सब के लिये विशेष भी होते हो । सब भक्तो की आवश्यकताओ को तुम इतनी पूरी तरह पूर्ण कर रहे हो कि हर एक यही अनुभव करता है कि मानो तुम्हे उसके सिवाय और किसी की चिन्ता नही है । सभी मनुष्यों का विकास तुम इतनी सूक्ष्मता मे और इतनी परिपूर्णता के साथ कर रहे हो कि हरेक मनुष्य को अनुभव होगा कि मानो तुम अपनी सपूर्ण शक्ति से उसी के विकास मे लगे हुए हो । इसलिये, हे इन्द्र ! हम तुम्हें पुकारते है । सब का कल्याण करते हुए तुम हमारे कल्याण के लिये आओ, सभी की उन्नति करते हुए तुम हमारी उन्नति के निमित्त आओ । जो दूसरो का अकल्याण व अवनति चाहता हुआ तुम्हे अपने लिये पुकारता है वह अज्ञानी तुम्हे जानता नही । इसलिये हे इन्द्र ! हे साधारण ! तुम तो सब के होते हुए हमारी उन्नति व कल्याण के लिये आओ । हम तुम्हे पुकार रहे हैं, हे इन्द्र ! हम तुम्हे प्रेमवश पुकार रहे हैं ।

शब्दार्थ

(इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्चित्) यद्यपि (हि) सचमुच (त्वं) तुम (शश्वतां) सनातन रूप से सब के, सब मनुष्यो के लिये (साधारण.) साधारण (असि) हो, तो भी (तं) उन्ही (त्वा) तुम्हे (वय) हम (हवामहे) पुकारते हैं ।

हम पुरोहित बनें

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः ।
इन्द्रं वाणी रनूषत समोजसे ॥

ऋ० ८ १२ २२ ॥

विनय

देव लोग वृत्रवध के लिये इन्द्र को आगे करते हैं, इन्द्र को पुरोहित बनाते हैं। यह इन्द्र ही जो वृत्रासुर का वध कर सकता है जैसे आधिदैविक जगत् मे सूर्य-इन्द्र मेघ-वृत्र का वध किया करता है, जैसे अधिभूत के देव विद्वान् लोग राजा इन्द्र द्वारा पापियो का विनाश करते हैं, वैसे यहा अध्यात्म मे आत्मा इन्द्र है जो 'पाप्मा' वृत्र का हनन करता है। पाप हम पर दिन रात हमला करता रहता है और प्राय. सदा सफल होता रहता है। हम जानते हैं कि यह पाप है, यह नही करना चाहिये तो भी हम रुक नहीं सकते। हम इन्द्रियो को रोकते है, मन से विचार करते हैं और बुद्धि से निश्चय करते हैं, पर फिर भी हम रुक नही सकते। इसका कारण यह है कि हम आत्मा द्वारा पाप का नाश नहीं करते हैं, हमने आत्मा को पीछे डाल रक्खा है। देखो, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे जो है वह हमारा असली आत्मा है। यदि हम उस आत्मा को आगे ले आयें, पुरोहित कर लेवें, इन्द्रियादि देवो को इस आत्मा का अनुयायी, वश्य, पीछे चलने वाला बना लेवें तो फिर वृत्रासुर कभी दुबारा हमारे सामने न आ सके, इसका समूल नाश हो जाये। यह काम है, इच्छा है, स्वार्थ है जो सब पापो की जड़, मूल है। पर आत्मप्रकाश हो जाने पर इस स्वार्थ का हममे कुछ काम नही रहता, यह विलीन हो जाता है। आत्मराज्य हो जाने पर यह 'काम' इन्द्रियादियों को अपना अधिष्ठान नही बना सकता, तब तो ये हमारे देव आत्मिक ओज के अधिष्ठान बन जाते हैं। वृत्र का अन्धकार हटकर हमारे अन्दर आत्मसूर्य का ओज चमकने लगता है। और देखो, आत्मा के इस ओज को प्रकट करने के लिये ये वाणियाँ, वाणी की स्तुतियाँ बहुत सहायक होती हैं। जब हम सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं या स्वयं गाते हैं कि आत्मा की शक्ति इतनी महान् है तो इससे आत्मा का ओज हममे जागृत होता है। वेद मंत्र जो इन्द्र की स्तुतियो से भरे पडे हैं वे इसीलिये हैं कि हम इस दिव्य वाणी द्वारा आत्मिक ओज को अपने मे सम्यक्तया प्रकट कर लेवें और उस द्वारा महाबली वृत्र का संहार कर देवें। अत· आओ, भाइयो! हम भी इन्द्र को पुरोहित करके अपने मे वृत्र का समूल नाश कर लेवें और इसके लिये अपने मे आत्मिक ओज को स्तुति प्रार्थनाओ द्वारा सम्यक्तया भर लेवें।

शब्दार्थ—

(**देवास·**) देवों ने (**वृत्राय हन्तवे**) वृत्र के हनन के लिये (**इन्द्रं**) इन्द्र को (**पुरः दधिरे**) पुरोहित किया है और (**समोजसे**) आत्मिक ओज की सम्यक् प्रकार से उत्पत्ति के लिए ये (**वाणी·**) ये वाणियाँ (**इन्द्रं**) इन्द्र की ही (**अनूषत**) स्तुति कर रही हैं।

आश्रय किस का ?

न ह्यं ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे ।
राये द्यु म्नाय शवसे च गिर्वणः ॥

ऋ० ८ २४ १२॥

विनय

हे नचाने वाले । हे इन सब चराचर सृष्टियो को कठ-पुतलियो की तरह हिलाने वाले ! मैं तुम्हारी शरण पडा हूँ । जब से मैंने अनुभव किया है कि इस गतिमय समस्त ब्रह्माण्ड को गति देने वाले तुम हो, इस ससार मे होने वाले छोटे से छोटे और बडे से बडे कर्मो को प्रेरित करने वाले तुम हो, तुम्हारी इच्छा बिना इस ससार मे घास का एक तिनका भी नही हिल सकता और तुम्हारी इच्छा होने पर एक पल मे इस पृथिवी पर प्रलय आ सकता है, तब से मैं तुम्हारी शरण आ पडा हूं । मैं देखता हूँ कि तुम्हारी कृपा बिना मैं कुछ नही पा सकता । इस संसार मे तुम्हारे सिवाय और कोई नही है जो मुझे कोई सिद्धि व सफलता दिला सके । मुझे कोई नही दिखायी देता जो मेरे छोटे से छोटे अभीष्ट को सिद्ध कर सके । मेरी जीवन-साधना के तो एक मात्र तुम्ही आधार हो ! पर हे वाणियो से संभजनीय ! मैं तो देखता हूँ कि यदि मैं धन पाना चाहू, तेज पाना चाहू, बल पाना चाहू या कुछ और पाना चाहू, इन सब वस्तुओं को भी दे सकने वाला तुम्हारे सिवाय इस ससार मे मेरे लिये और कोई नही है । तो मैं और किस का आश्रय लूं ? मैं तो हे इन्द्र ! तुम्हारी शरण पडा हूँ, सब जगह भटक भटक कर अब तुम्हरी शरण पडा हूँ ।

शब्दार्थ

(अंग) हा, (नृत.) हे नाचने वाले ! (राधसे) साधना-सिद्धि व सफलता के लिये मैं (त्वत्) तुझ से (अन्य) अन्य किसी को (न हि) नही (विन्दामि) पाता हूँ, (गिर्वण॰) हे वाणी से सभजनीय ! (राये) धन के लिये (द्युम्नाय) तेज के लिये (च) और (शवसे) बलके लिये मैं और किसी को नही पाता हूँ ।

अभय करो!

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्यः, अभयं नः पशुभ्यः ॥

यजु०३६ २२ ॥

विनय

हम किसी भी घटना से, किसी भी स्थान मे, किसी भी काल मे क्यो डरते हैं? वास्तव मे डरने का कही भी कोई कारण नही है। फिर भी हे परमेश्वर! हम इस लिये डरते हैं क्योकि हम तुम्हे भूल जाते हैं, क्योकि सदा हम सर्वत्र सब घटनाओ मे तुम्हारा हाथ नही देखते। यदि हम ससार की सब घटनाओ को तुम्हारा 'सचेष्टित' देखें, तुम द्वारा की गयी, तुम द्वारा सम्क्यतया की गयी देखें तो हम कभी भी भयभीत न होवें। तुम तो परम मंगलकारी हो, सम्यक् ही चेष्टा करनेवाले हो, सदा सब का कल्याण ही करने वाले हो। इसलिये हे प्रभो! तुम जहाँ जहाँ से चेष्टा करते हो, जिस जिस स्थान, काल, कारण व कर्म से अपना सचेष्टन करते हो वहाँ-वहाँ से हमे अभय करदो, वहाँ वहाँ से हमे विलकुल निर्भयता ला दो। पर तुम कहाँ संचेष्टन नही कर रहे हो? तुम किस जगह नही जाग रहे हो? ओह, यदि हम संसारी मनुष्य इतना अनुभव करे तो इस ससार मे हमारे लिये अभय ही अभय हो जाये। इस मसार मे सुख सौहार्द प्रेम और निर्भयता का राज्य हो जाये। कही कोई निर्बल को न सतावे कभी कोई मूक पशुओ पर भी हाथ न उठाये। तब न केवल सब प्रजायें सुख शन्ति पायें, न केवल वालक आदि सब मनुष्य प्राणी क्षेम मनायें, किन्तु ससार की आगे आने वाली सततिया भी कल्याण को प्राप्त करें तथा सब पशु पक्षी भी इस बृहत् प्राणी परिवार के अग होते हुए निर्भय होकर इस पृथ्वी पर विचरें। इस समय जो यह ससार स्वार्थान्ध होकर गरीबो को नाना प्रकार से सता रहा है, अपने भोग विलास के लिये प्रनिदिन असख्य पशुओ को काट रहा है—यह सब घोर अनर्थ तब शान्त हो जाये। सब पाप अन्याय समाप्त हो जाये। प्रभो! हे जगदीश्वर? तुम ऐसी ही कृपा करो हम सब प्राणी सदा सर्वत्र तुम्हारे ही 'समीहन' को अनुभव करें, तुम ऐसी ही कृपा करो। और हमारी प्रजाओ के लिये तुम ऐसा ही 'श' कर दो, हमारे पशुओ के लिये भी तुम ऐसा ही परिपूर्ण 'अभय' कर दो।

शब्दार्थ

(यतः यत.) जहाँ जहाँ से तुम (सं ईहसे) सम्यक् चेष्टा करते हो (तत) वहा से (न) हमे (अभय) अभय (कुरु) करदो। (न.) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओ के लिये (शं) कल्याण (कुरु) करदो और (न) हमारे (पशुभ्य.) पशुओ के के लिये (अभय) अभय करदो।

वह अनन्त है

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ।।

यजु० २३.४८ ।।

विनय

क्या तुम इस स्वयप्रकाश और सर्वजगत् प्रकाशक सूर्य को देखकर आश्चर्य करते हो कि इसके समान कोई दूसरी ज्योति इस संसार मे कहाँ हो सकती है ? पर देखो, यह ब्रह्म, यह वेद उसी तरह स्वय प्रकाश और सर्वजगत् प्रकाशक है। हमारे अन्दर यह ब्रह्म यह ज्ञान, यह ज्ञानमय ब्रह्म अन्दर की ज्योति है, अन्दर का सूर्य है, असली सूर्य है। क्या तुम इस पारावार समुद्र को देखकर समझते हो कि इस जैसा जलाशय, इतना वडा सरोवर और कोई नही हो सकता ? नही, जरा सूक्ष्मता से देखो कि यह अन्तरिक्ष इसी प्रकार का जलवाष्प-मय बड़ा भारी जलसमुद्र है, हमारे अन्दर इसी प्रकार का हृदयान्तरिक्ष, वहुत वडा मानस सरोवर है, इतना ही गभीर, इतनी वडी वडी तरगो वाला मनस्तत्त्व का वना हुआ दिव्य समुद्र है। क्या तुम वडी भारी पृथिवी को देखकर सोचते हो कि इससे अधिक वडी, इससे अधिक वर्षों वाली चिरकालीन कोई और वस्तु क्या हो सकती है ? परन्तु, देखो यह इन्द्र, यह आदित्य इस पृथिवी से लाखो गुना वडा और इस पृथिवी से लाखो वर्षों वडा है। हमारे अन्दर यह 'इन्द्र' आत्मा, यह परमात्मा पृथिवी से अनन्तो गुणा वडा है, और यदि उसकी वर्षो से गणना करें तो इसका कभी आदि ही नही है, यह अनादि है, सनातन है। और क्या तुम इस पृथिवी के बृहत् परिमाण को देखकर पूछते हो कि क्या कोई ऐसी वस्तु भी हो सकती है जिसकी कोई मात्रा नही, कोई परिमाण नहीं ? तो देखो, इस आदित्य की 'गौ' रूप किरणें इतनी हैं कि उनकी मात्रा नहीं हो सकती, वे गिनी नही जा सकती। अन्दर आत्मा-इन्द्र की गोरूप किरणें, वाणी आदि आत्म-शक्तिया इतनी हैं कि उनका किसी तरह परिमाण नही किया जा सकता; बस, यही कहा जा सकता है कि ये अनन्त हैं, ये अनन्त हैं।

शब्दार्थ—

(ब्रह्म) वेद या ज्ञानमय ब्रह्म (सूर्यसम) सूर्य जैसी (ज्योति) ज्योति है। (द्यौः) अन्तरिक्ष सागर या मानस सागर (समुद्र सम) पार्थिव समुद्र जैसा (सर) जलाशय, सरोवर है। (इन्द्र) आदित्य या महान् आत्मा (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयान्) वडा या अधिक वृद्ध है। (गो.) किरणो का या आत्मशक्तियो का (मात्रा) परिमाण (न विद्यते) नही है।

परम कौन !

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः, अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

ऋ० १ १६४ ३५॥ यजु० २३ ६२॥ अथर्व० ९.१० १४॥

विनय

क्या तुम पूछते हो कि इस अति विस्तीर्यमाण पृथ्वी का परला सिरा किस जगह है, अन्तिम सीमा कहां है ? अरे, जहाँ तुम खडे हो यह वेदि, यह यज्ञवेदि, ही इस पृथ्वी की समाप्ति सीमा है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी यज्ञवेदि ही उसके लिये इस गोलाकार पृथ्वी की अन्तिम सीमा है। यज्ञ के रहस्य के जानने वाले जानते हैं कि यह सपूर्ण ही पृथ्वी वेदि रूप है, और अध्यात्म यज्ञ के लिये हम स्वय, हमारा यह शरीर, ही वेदिरूप है। इस घूमने वाले ससार चक्र की, इस ससार ससरण की सीमा भी हमारी यह शरीर रूपी वेदि ही है। इस ससार सागर के परले किनारे पहुँचने के लिये हमे और कही जाने की जरूरत नही है, यहाँ 'परो अन्त' हमारे अन्दर 'उर' (हृदय) रूपी यज्ञवेदि पर ही है। जब मनुष्य को इस असली यज्ञवेदि का पता लग जाता है तभी वह भवसागर के परले पार पहुँच जाता है।

तुम इस सपूर्ण भुवन के नाभिस्थान को पूछते हो ? देखो, यह यज्ञ ही वह केन्द्रीय वस्तु है जिससे कि यह सब ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड के सब ससार, ससारो की सब वस्तुएँ, परस्पर बधी हुई हैं। यज्ञ रूप से ही परमेश्वर इस सब ससार को यथावत् जोडे हुए हैं। यज्ञ न रहे तो सब संसार बिखर जाये, सब वस्तुएँ जुदा जुदा होकर नष्ट हो जायें। यज्ञ ही वह वस्तु है जो सबका सगति करण करने वाली सब को ठीक तरह बाध रखने वाली, सर्वत्र सबकी नाभि है।

क्या तुम पूछते हो इस आदित्य रूपी महावीर्यशाली 'अश्व' का वीर्य क्या है ? तो देखो, यह वीर्य सोम है। सोमादि वनस्पति के रस के हवन से आदित्य द्वारा सब ससार मे सब प्रकार की समृद्धि उत्पन्न होती है, वृष्टि रूप सोम रस के सेचन से सब अन्न और अन्नाश्रित समस्त संसार उत्पन्न होता है। यह सभी ससार उस वृषा 'आदित्य' पुरुष द्वारा प्रकृति की भोग्यता रूपी सोम से या जीवो में रहने वाले भोग प्राप्त करने के रस (इच्छा) रूपी सोम से उत्पन्न हुआ है और होता रहता है।

और तुम पूछते हो कि सब वाणियो का परम व्योम कौन है ? ब्रह्मा, चरो वेदो का ज्ञाता ब्रह्मज्ञ, ब्रह्मा या चारो प्रकार के सम्पूर्ण ज्ञान का आश्रय स्वय परम ब्रह्मा वह परम आकाश है जहा से ससार भर की सब वाणिया निकलती हैं और लीन होती हैं। हमारे सब शास्त्रो का, सब वाणियो का, सब ज्ञानो का यही एक रक्षा-स्थान है, यही नित्य आधार है। यही परम व्योम है।

शब्दार्थ

((**इयं**) यह (**वेदिः**) यज्ञवेदि (**पृथिव्या.**) पृथिवी का (**परः**) परला (**अन्त.**) किनारा है, (**अयं**) यह (**यज्ञः**) यज्ञ (**विश्वस्य**) सपूर्ण (**भुवनस्य**) ब्रह्माण्ड का (**नाभिः**) बाधने वाला नाभि स्थान है। (**अयं**) यह (**सोम.**) सोम (**वृष्णः**) महावीर्यशाली (**अश्वस्य**) व्यापक आदित्य का (**रेत.**) वीर्य, उत्पादक बीज है, और (**अयं**) यह (**ब्रह्मा**) चारों वेदो का ज्ञाता (**वाचः**) वाणी का (**परमं**) परम (**व्योम**) आश्रय स्थान है।

संकल्प शुभ हो

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० ३४।१॥

विनय

यह मन बडा प्रबल है । यह सोते जागते कभी भी चैन नही लेता । जितनी देर मैं जागता रहता हूँ उतनी देर यह कुछ न कुछ सोचता हुआ प्रतिक्षण भटकता ही फिरता रहता है, कभी भूत की, कभी भविष्यत् की, कभी यहाँ की, कभी वहाँ की, बड़ी दूर दूर की, किन्हीं न किन्ही बातो के विषय मे लगातार सकल्प विकल्प करता है और जब मैं सो जाता हूँ, मेरी सब जागृत क्रियायें बन्द हो जाती हैं, तब भी यह मन अपने मे ही उसी तरह काम करता रहता है, कही कही के दूर दूर के स्वप्न देखता फिरता रहता है । बल्कि सुषुप्ति काल मे भी इसकी वृत्ति बन्द नही होती । सचमुच यह कथानक के 'भूत' की तरह चौबीसो घटे बडे वेग से कुछ न कुछ करता ही रहता है । अगले ही क्षण मे यह न जाने कितनी दूर जा पहुँचता है । बाह्य प्रकाश का प्रसिद्ध अति तीव्र गतिवेग भी इसके गतिवेग के सामने तुच्छ है । यह आन्तर प्रकाश तो एक क्षण मे चाहे कितनी दूर, असख्यातो मील, पहुँच सकता है । उस 'भूत' की तरह यह भी क्षण मे बडे-बडे कार्य पूरे कर सकने वाली एक महान् शक्ति है । परन्तु दैव शक्ति है प्रकाशमय ज्योतिर्मय शक्ति है। यह आन्तर ज्योति है। यह मन महाशक्ति है, दिव्य ज्योतिर्मय महाशक्ति है । मुझे तो, हे प्रभो ! जब से इस मन का, इस संकल्पमय दिव्य महाशक्ति का, ज्ञान हुआ है तब से मेरा तुम से अन्य कुछ प्रार्थना करना समाप्त हो गया है, तब से मेरी तुमसे केवल एक प्रार्थना रह गयी है, "तुम मुझे इतना बल दो कि मेरा यह मन केवल शुभ, कल्याण सकल्पो का ही करने वाला हो जाये।" यह जो मन मुझ मे चौबीसो घटे कुछ न कुछ सकल्पन करता रहता है, उस सकल्प प्रवाह मे एक भी बुरा अशुभ सकल्प मुझ मे न उठे । बस, इतना हो जायगा तो शेष सब कुछ स्वयमेव हो जायगा । तूने मुझे इस दिव्य शक्ति को प्रदान करके मुझे सब कुछ प्रदान कर दिया है । बस, मुझे इतनी शक्ति और देदे कि मैं तेरे इस यन्त्र की दिव्यता को कायम रख सकूं, इस मन द्वारा निरन्तर दिव्य शुभ कल्याण कारी सकल्पो का ही प्रवाह चला सकूं, कभी अहित चाहने वाले गिराने वाले अपवित्र अशिव सकल्पो को न उठने दे सकूं । बस, हे प्रभो ! तू मेरे मन को इस तरह शिवसकल्प बना दे, इस महा शक्ति को शिव-सकल्पमयी कर दे । फिर मुझे और कुछ नही चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये ।

शब्दार्थ—

(यत्) जो (दैव) दिव्य शक्ति रूप [मेरा मन] (यत्) जो (जाग्रतः) मेरे जागते हुए (दूरं उदैति) दूर दूर फिरता है और (सुप्तस्य) मेरे सोते हुए (उ) भी (तत्) जो वह (तथैव एति) उसी तरह दूर दूर जाता है, (तत्) वह (दूरगमं) दूर दूर पहुँचने वाला (ज्योतिषां एक ज्योति) ज्योतिओ की एक ज्योति (मे मन) मेरा मन (शिवसकल्प) सदा शुभ ही सकल्प करने वाला (अस्तु) हो जाये ।

हे इन्द्र !

अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्णं परि प्रदक्षिणित् विश्वायवे निशिश्नथः ॥

ऋ० १०·२२·१४ ॥

विनय

हे इन्द्र ! तुम सब मनुष्यों का भला करनेवाले हो, सब विश्व का कल्याण करने वाले हो । जब कभी कोई महाअसुर विश्वव्यापी होकर विश्व भर को पीडित कर देता है तो तुम्ही उसका संहार करके विश्व का पालन करते हो । यह मायावी 'शुष्ण असुर' हमारे रुधिर को, धन जन भोजन जीवन प्राण आदि रुधिर को, इस प्रकार शोषण करता है कि हमे इस का कुछ भी पता नही लगता । असली शोषण कर्म करने वाला और इस चूस मे बड़ा भाग बटाने वाले इसके बडे बड़े साथी असुर भी अपने आप को अन्त तक छिपाये रखते हैं । रुधिर आदि की बहुत कमी हो जाने पर जब हम जानना चाहते हैं कि ये हमारा शोषण करने वाले कौन हैं तब भी ये विदित नही होते हैं, 'वेद्य' ही रहते हैं । इतना ही नहीं किन्तु ये 'वेद्य' असुर अपने इस राक्षसी शोषण के नृशस कृत्य को छिपाने के लिये अपनी आसुरी 'शचीओ, द्वारा, शक्तिओ व कर्मों द्वारा एक बहुत बडा आवरण खडा कर लेते हैं । एक नयी पृथिवी, एक नयी सृष्टि ही रचकर हमारी आंखो मे धूल डालते रहते हैं । हम आंखो से इनकी इस कौशल पूर्ण पार्थिव रचना को देखते हुए 'वाह वाह' करते जाते हैं और अपने आप को चुसवाते जाते हैं । परन्तु हे इन्द्र ! छिपे हुए इन शोषक असुरो का यह पार्थिव विस्तार चाहे कितना बडा हो, चाहे कितना आडम्बर पूर्ण हो, किन्तु न इसके हाथ होते है और न पैर । यह माया ही माया होता है । तुमसे अनुप्राणित न होने के कारण न तो इसमे कोई असली कर्मशक्ति होती है और न उसका कोई आधार होता है । अत इस 'अहस्ता अपदी' मायामयी पृथिवी को तुम काफी हद तक बढने भी देते हो । शुष्णासुर अपने इस विश्वव्यापी शोषण की आड करने के लिये इसे इतना बढ़ता जाता है कि इस आवरण को विश्व भर मे फैला देता है और इस विश्वव्यापी आवरण द्वारा अपने आप को सब जगह परिवेष्टित कर लेता है, सब तरफ से लपेट लेता है, पूरी तरह छिपा लेता है और एक विश्व-व्यापी माया दुर्ग मे अपने को सुरक्षित कर लेता है । पर इसके इतना बढ जाने पर भी हे इन्द्र ! तुम इस 'शुष्ण' के सब पार्थिव विस्तार को एक वार में छिन्न भिन्न कर देते हो, शुष्णासुर के सब ठाठ को गिरा देते हो, सपूर्ण माया को पूरी तरह मिटा देते हो ।

शब्दार्थ

हे इन्द्र ! (यत्) जब (वेद्यानां) वेदितव्य, छिपे हुए [शोषक असुरो] की (शचीभिः) शक्तियो से (अहस्ता) बिना हाथ वाली (अपदी) बिना पैरवाली (क्षाः) पृथिवी पार्थिव आवरण, माया की भूमि (वर्धत) बढती है तो तुम (शुष्णं) शुष्णासुर को (परि) परिवेष्टित करके (प्रदक्षिणित्) घेरे हुए, लपेटे हुए, छिपाये हुए [इस पृथिवी को] (विश्वायवे) सब मनुष्यो के हित के लिये (निशिश्नथः) पूरी तरह नष्ट कर देते हो ।

हे सोम !

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्यु मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

यजु० १६।६॥

विनय

हे सोम! तू तेज-स्वरूप है, तू मुझमे तेज को धारण करा। तेजस्विता, उग्रता के बिना मैं प्रलोभनों को नहीं जीत सकता और प्रलोभनो को बिना जीते मैं शारीरिक वीर्य का भी सरक्षण नही कर सकता। इसलिये तेज को देकर, हे वीर्य के भडार! तु मुझ मे वीर्य को धारण करा, मुझे ऊर्ध्वरेता बना, मेरे सब अंगो में नवजीवन की स्फूर्ति उत्पन्न करा, जिस से मैं सच्चे बल को धारण कर सकूं। तू तो बल है, ससार के सब बल-हस्ति बल, विद्युत्बल, पृथ्वी आदि को धारण करने का इन्द्रबल तक सब बल—तेरे ही सेवन से प्राप्त होते हैं। तो, मैं निर्बल तेरे सिवाय और कहाँ से बल की याचना करूँ? बलहीन रह कर मैं आत्मा को नही पा सकता, कभी ओज को, आत्मिक तेज को नही प्राप्त कर सकता। अत मुझे बली बनाकर, हे ओजोमय! तू मुझे ओज भी प्रदान कर। जब मुझमे ओज आ जायगा, आत्म तेज समा जायगा तो हे मन्युरूप! मुझ मे भी पाप के दलन के लिये, अन्याय के विध्वस के लिये स्वभावत मन्यु प्रदीप्त हुआ करेगा, वह रागद्वेष रहित प्रशान्त आत्म-ज्वलन प्रकट हुआ करेगा, जिस के उदय होने पर सब पाप भस्म हो जाता है और सब असत्य विलीन हो जाता है। परन्तु साथ ही, हे सह स्वरूप! तू मुझे आत्मा की वह 'सह शक्ति' भी प्रदान कर जिससे मैं घोर से घोर मुसीबतो को भी हँसता हुआ सह सकूं, उस तपस्या की शक्ति को धारण करा जिसके सामने कोई विरोधिनी शक्ति नहीं ठहर सकती, जिसके होने पर असह्य से असह्य विपत्तिया खेल हो जाती हैं और जिसकी अग्नि मे कठोर से कठोर हृदय भी पिघल जाते हैं। इस प्रकार हे सोम तुझे अपने में बसा कर, तेरा पान करके मैं स्थूल तेज से लेकर तपस्या के तेज तक तेरे सब तेजों को प्राप्त कर लेऊँ, हे सोम! तेरे छओ सामर्थ्यों को अपने मे धारण कर सोममय होऊँ।

शब्दार्थ

(तेजः) तू तेज (असि) है, (तेज) तेज को (मयि) मुझ मे (धेहि) धारण करा। (वीर्यं) तू वीर्य (असि) है (वीर्यं) वीर्य को (मयि) मुझमे (धेहि) धारण करा। (बलं) तू बल (असि) है (बलं) बल को (मयि) मुझ मे (धेहि) धारण करा। (ओजः) तू ओज (असि) है (ओज) ओज को। मन्यु (असि) है (मन्यु) मन्यु को (मयि) मुझमे (धेहि) धारण करा। (सहः) तू सह (असि) है, (सह) सह को (मयि) मुझमे (धेहि) धारण करा।

वह सर्व हितकारी है

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं,
जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः
शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्

यजु० ३६.२४॥ ऋ० ७ ६६ १६॥

विनय

देखो सामने यह सूर्य, यह ससार की आख, यह देवो का हितकारी चक्षु अपने निर्मल शुक्र प्रकाश से चमक रहा है, उदित हो रहा है। नही, और गभीरता से देखो वह महान् सूर्य, प्रेरक प्रभु, हम मे से प्रत्येक के सम्मुख सदा उदय हुआ हुआ है ? अपने प्रकाश से सब ससार को दर्शनशक्ति देता हुआ सदा सब देवस्वभाव मनुष्यो का निरन्तर हित करता हुआ यह परम विशुद्ध चक्षु अनादि काल से चमक रहा है। आओ मनुष्यो ! आओ, हम इस सूर्य को देखते हुए सौ वर्ष तक जीते रहे, हम सौ वर्ष तक इस दिव्य सूर्य को आन्तर नेत्रो से अनुभव करते रहें और सौ वर्ष तक उसकी अनुकूलता मे प्राणो को धारण करते रहें। ओह ! यदि हम याद रखे कि ऊपर वह आख हमे सदा देख रही है, वह विशुद्ध चक्षु हमे निरन्तर ठीक ठीक जान रही है तो हम क्यों न विशुद्ध आचरण वाले होंगे, और क्यो न पूरे सौ वर्ष तक जीने वाले होंगे ? यदि हम ध्यान रखें कि वह देवो का हित चक्षु निरन्तर हमारी अध्यक्षता कर रहा है तो हम क्यो न दिव्य आचरण वाले होंगे, क्यो, न सौ वर्ष तक दिव्य जीवन ही बितायेंगे ? तो, भाइओ। आओ, हम उस सूर्य के प्रकाश मे सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, उस दिव्य आख के नीचे सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक प्रवचन करें; और उसकी ही अध्यक्षता मे सौ वर्ष तक अदीन स्वावलम्बी और उत्साहपूर्ण जीवन व्यतीत करें। उसकी अध्यक्षता में रहना और दीन पराधीन होना यह कैसे हो सकता है ? नही नही, हम तो सौ वर्ष से भी अधिक देर तक देखते और जीते हुए सुनते और सुनाते हुए अपराधीन पुरुषार्थमय पूर्ण जीवन बितायेंगे। एव अदीन होकर हम सौ वर्ष से भी अधिक जीवेंगे। अवश्य सौ वर्ष से भी अधिक जीवेंगे।

शब्दार्थ

(तत्) वह (देवहितं) देवों का हितकारी (चक्षु) चक्षु, सबको दिखाने वाला, सर्वाध्यक्ष, ज्ञानस्वरूप (पुरस्तात्) हमारे सामने, सदा समक्ष (शुक्रं) शुद्ध रूप (उत् चरत्) उदय हुआ हुआ है। उसकी सहायता ले हम (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (पश्येम) देखें, (शतं शरदः जीवेम) सौ वर्ष तक जीवें, (शतं शरदः शृणुयाम) सौ वर्ष तक सुने (शतशरदः प्रब्रवाम) सौ वर्ष तक बोलें, (शतं शरदः अदीनाः स्याम) सौ वर्ष तक अदीन रहें, (शतात् शरदः भूयश्च) सौ वर्ष से अधिक भी देखते सुनते बोलते हुए अदीन होकर जीते रहे।



कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः

अथर्ववेद ७.५२.८

मेरे दायें हाथ मे कर्म, पुरुषार्थ है

और मेरे बाये हाथ में

विजय रखी

हुई

है

फाल्गुन [कुम्भ]

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

,रों की स्वस्थता तथा नीरोगता लाने वाला

अपने शरीर को पृथ्वी की तरफ़ मुंह करके इस प्रकार दिगन्तसम फैलाइये कि हाथों की हथेलियां और पैरो के अंगूठे के सिवाय कोई अग भूमि को न छू रहा हो। अब कोहनी से हाथो को मोडते हुए यहां तक शरीर को नीचे लाइये कि आपकी ठोडी ज़मीन को छू जाय। फिर हाथों को सीधा करते हुए शरीर को ऊपर उठाइए। ध्यान रखिये कि आपके घुटने भूमि को न छुयें। इसे बार बार कीजिये। जब शरीर को नीचे ले जा रहे हो तो गहरा श्वास अन्दर भरिये। जब शरीर को ऊपर उठा रहे हो तो श्वास बाहिर निकालिये।

(२)

इस दूसरी व्यायाम के लिये सीधे खड़े हो जाइये। हथेलियां शरीर की ओर रखते हुए मुट्ठियां बांध लीजिए। अब अपने पैरो के अंगूठो के बल होकर अपने शरीर को ऊपर उठाइए, इस अवस्था में अपने हाथ और पैर की मासपेशियो को ताने रखिये। फिर शरीर को नीचे ले आइए। इसे बार बार कीजिये। जब आप अंगूठे पर खडे हो तब श्वास अन्दर भरिये और जब शरीर नीचे ले जायें तो श्वास को बाहर निकालिये और मासपेशियो को ढीला कर दीजिये।

ध्यान—इस प्राणायाम मे अपना मन पैरों पर एकाग्र कर इन्हें स्वस्थ तथा पूर्ण चित्रित कीजिये।

'मुझ में अद्भुत स्फूर्ति है मुझ मे जीवन प्रवाह बह रहा .।' इस प्रकार ध्यान कीजिये।

इन अंगो को गौणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और मार्गशीर्ष के व्यायामो से भी लाभ पहुँचता है।

प्यास बुझाओ !

अति तृष्टं ववक्षिथ अथैव सुमना असि ।
अप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥

ऋ० ३ ९ ३॥

विनय

जो प्यासा है, जिसे तेरी सच्ची लगन है, जो तुझे पाने को सचमुच व्याकुल है, अतएव जो तीव्र वैरागी है, उसे तू भी अतिशय प्रेम से वहन करना चाहता है, उसके अभीष्ट को तू प्राप्त करा देता है, उसकी प्यास तू बुझा देता है। अरे, तू तो उसकी प्यास बुझा कर ही सतुष्टमना होता है, 'सुमना' होता है। वैसे तो तूने 'सुमनाः' या 'दुर्मना' क्या होना है, परन्तु यदि तू कभी सुमना होता कहा जा सकता है तो अपने इन भक्तो की इच्छा को पूरण करने मे अवश्य सुमना होता है, अवश्य प्रसन्न होता है। तू तो सदा ससार के अपने इन पुत्रो की, भक्तो की कामनाओं को पूरा कर रहा है और सदा ही सुमना हो रहा है। परन्तु देखना यह है कि हम तेरे पुत्रो मे कितने हैं जो तुझे इस तरह सुमना कर रहे हैं ? कितने हैं जिनमे तुझे पाने की सच्ची लगन है? कितने हैं जो सचमुच तेरी कामना कर रहे हैं ? ओह ! ये सब सासारिक लोग तो विषय भोगो की ही—केवल विषय भोगो की ही कामना कर रहे हैं। परन्तु जिनके सख्य मे तू विद्यमान है, जो तेरा मिल कर आराधन करते हैं, जो तेरे उपासक हैं उन तेरे सखाओ मे भी तेरे ऐसे अनन्य भक्त विरले ही हैं जिनमे तेरे पाने की उत्कट इच्छा है, जो एक मात्र तेरी ही कामना कर रहे हैं। ये धार्मिक लोग अपने सगतो, समाजो मे जब कभी तेरी महिमा का हृदयस्पर्शी वर्णन सुनते हैं तो ये भी तेरा अनन्य भजन करना प्रारम्भ कर देते है। परन्तु कुछ देर मे ही ये ऊब जाते हैं, इनकी सासारिक वासनायें इन्हें खीचने लगती हैं, सुख वैभव प्रतिष्ठा आदि पाने की दबी हुई कामनायें काम करने लगती हैं और ये उठ कर फिर अपने उन्ही पुराने रास्ते चल पडते हैं। थोडे ही होते हैं जो भजन मे लगे रहते हैं, निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक तेरी ही भक्ति करते जाते हैं। इस ससार रूपी मेले में तेरा नाम सुन कर तेरा दर्शन करने तो सभी सखा आते हैं, परन्तु एक तो वे भक्त होते हैं जो तुझे मौनमुद्रा मे देख कर कुछ देर प्रतीक्षा करके उठ जाते हैं, तुझे प्रणाम करके चले जाते है। परन्तु दूसरे वे लोग हैं जो तुझे पहिचान लेते हैं और तुझे घेर कर बैठ जाते हैं और तेरे ध्यान मे दृढ आसन लगा-कर समाहित हो जाते है,

शब्दार्थ—

(तृष्टं) प्यासे को तू (अति ववक्षिथ) अतिशय वहन करना चाहता है (अथ एव) और तभी (सुमनाः) तू प्रसन्नमना (असि) होता है। (येषां) जिनके (सख्ये) सखिभाव मे तू (श्रितः असि) विद्यमान है, उनमे भी (अन्ये) एक हैं जो (अप्रयन्ति) अपने अपने रास्ते चले जाते हैं और (अन्ये) दूसरे हैं जो (परिआसते) तुझे घेर कर बैठ जाते है, तेरी उपासना में बैठ जाते हैं।

तेरे गीत गाएं !

मा चिदन्यत् विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत ॥

ऋ० ८ १.१ ॥ सा. पू. ३.१.१० ॥
सा० उ० ६.१ ५ ॥ अथर्वं० २०.८५.१ ॥

विनय . भाइयो ! उस प्रभु के सिवाय इस संसार मे हमारा कोई अन्य स्तुति करने योग्य नही है । किसी भी अन्य की स्तुति करने से हमारा कुछ बनेगा नहीं । और हम जो यूँ ही दिनभर बोलते रहते हैं, उससे अपनी हानि ही करते हैं । जो वाणी प्रभु सेवा के उद्देश्य से उच्चारण नही की जाती, जो परमात्मा को साक्षी रखकर नहीं बोली जाती, जिसका प्रभु से कोई सम्बन्ध नही होता—ऐसी सब हमारी वाणी न केवल वृथा है, किन्तु हमारा नाश करनेवाली है । जैसे मेढक के टर्र टर्र करने का और कुछ परिणाम नही होता सिवाय इसके कि साँप को अपने भक्ष्य का पता मिल जाता है, उसी तरह मनुष्य अपने निरर्थक और परमेश्वरहीन प्रलापो के करते रहने से काल का ही शीघ्र ग्रास हो जाता है । इसलिये हे मनुष्य जन्म पाने वालो ! हे सखाओ ! तुम क्यो यूँ ही विनष्ट होते हो, अपने प्रभु के सिवाय अन्यो की स्तुति करके क्यो हिंसित होते हो, स्वार्थ हिंसा रागद्वेष से भरी वाणियाँ बोल बोलकर क्यो हिंसक बनते हो और फलत स्वय विनष्ट होते जाते हो ? यदि तुम निरन्तर प्रभु नाम नही ले सकते, तो कम से कम चुप रहो । पर किसी अन्य अस्तुत्य की स्तुति तो न करो, ऐसी वाणी तो न बोलो जो तुम्हे प्रभु से हटाकर विनाश की तरफ ले जाने वाली हो । इसलिये भाइयो ! जागो, आज से एक मात्र उस इन्द्र का ही दिनरात स्तवन करो, सब अभीष्टो को बरसाने वाले सर्वशक्तिमान् केवल उस परमेश्वर का ही स्तुति-कीर्तन करो । इस ससार यज्ञ मे सम्मिलित हुए हुए सब सखा मिलकर उसी परम प्रभु के स्तोत्रो को गुंजाओ, अपने प्रत्येक यज्ञ कर्म मे उस इन्द्र का ही तन्मग्न होकर गुण गान गाओ । जरा देखो, उस 'वृषण' प्रभु के सिवाय इस ससार मे और कौन है जो हम पर सब सुखो और अभीष्टो को बरसा रहा है । हम यूँ ही मूर्खतावश कभी किसी मनुष्य स्वामी व राजा को या किसी अन्य शक्ति को समर्थ समझ कर उस की स्तुति मे लग जाते हैं । परन्तु देखो ! उस सर्व समर्थ परमेश्वर के सिवाय हमारा और कौन है जो हमे सब कुछ प्रदान कर सकता है । अत आओ ! अब हम सदा उसके ही गीत गायें, और सब कुछ भूल जायें, मस्त होकर उसके ही स्तोत्र वार वार सुनायें, प्रेमाश्रु से गद्गद होकर उसके ही गीत निरन्तर गाते जायें ।

शब्दार्थ—(अन्यत्) अन्य किसी के स्तोत्रो को (मा चित्) कभी मत (विशंसत) उच्चारण करो, और इस तरह (सखायः) हे सखाओ, मनुष्य भाइयो ! (मा) मत (रिषण्यत) अपने को विनष्ट करो । (सुते) इस ससार यज्ञ मे, प्रत्येक यज्ञ कर्म मे (सचा) मिलकर, तन्मग्न होकर (वृषणं) अभीष्टो को बरसाने वाले, सर्वशक्तिमान् (इन्द्रं) परमेश्वर की (इत्) ही (स्तोत) स्तुति करो (च) और (मुहुः) वारवार (उक्थ्या) [उसके ही] भजनो का (शंसत) उच्चारण करो ।

सत्यव्रती !

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥

यजु० १. ५ ॥

विनय

हे अग्ने ! तुम व्रतपति हो । मैं तो बहुत से व्रत धारण करता हूँ, पर उन्हें निभा नहीं सकता । एक समय पर दृढ़ निश्चय से पूरी गभीरता से किसी व्रत को ग्रहण करता हूँ, पर पीछे से गिरावट हो जाती है, धीरे धीरे वह व्रत-नियम ढीला होता जाता है और छूट जाता है । इस लिए हे व्रतपते ! मैं आज तेरी शरण आया हूँ । आज वह दिन आ गया है जब कि मैं तुझ व्रतपति के सामने अटल, अडिग व्रत को धारण कर सकूँगा । हे अग्ने ! आज मैं तुझे साक्षी रखकर तेरे प्रताप से ऐसे परिपूर्णतया व्रत को धारण करूँगा कि इस व्रत का आगे कभी भी भग नही हो सकेगा । मैं अन्त.करण से कहता हूँ कि इस लिए हुए व्रत को अब मैं प्राणपण से निबाहूँगा, इस पर अवश्य आचरण करूँगा, इससे रत्ती भर भी इधर उधर विचलित नही होऊँगा । हे व्रतपते ! मैं जानता हूँ तुम अपने व्रतो के ऐसे परिपूर्ण पति हो कि तुम्हारे व्रत कभी कही किसी के लिए कुछ भी नहीं टल सकते, तुम मेरे व्रत के भी पति हो जाओ, मेरे इस व्रत की भी रक्षा करो, इसके पालक हो जाओ । तुम ऐसी कृपा करो, ऐसी शक्ति प्रदान करो कि मैं इस व्रत को पूरा कर सकूँ, इसे पूरा करने में अवश्य समर्थ हो सकूँ । मेरा यह व्रत ससिद्ध होये, अवश्य पूर्ण होये । मैं आज अन्य बातो को छोड़कर सत्य के ही महान् व्रत को ग्रहण करता हूँ । यदि मैं इस सत्य के व्रत का पालन कर सकूँगा, तो अन्य व्रतो को पाल सकना मेरे लिए कुछ भी कठिन नही रहेगा । तो यह लो, हे अग्ने ! मैं आज से अनृत को छोड कर सत्य को ग्रहण करता हूँ; हे प्रकाशस्वरूप ! मैं अनृत से सत्य को प्राप्त हो जाता हूँ । मैं आज से, मन वाणी और कर्म मे सत्य का ही पालन करूँगा । मैं सत्य को जानूँगा और सत्य को ही प्रकट करूँगा । मेरे अन्दर हृदय मे जो कुछ होगा उसे ही वाणी मे लाऊँगा और उसे ही अपनी क्रिया द्वारा प्रकट करूँगा । मैं जानता हूँ कि यह कठिन है, परन्तु हे अग्ने ! तेरी सहायता से इस संसार मे कुछ भी कठिन नही है, कुछ भी असम्भव नहीं है । इसलिए हे व्रतपते ! लो मैं तो आज से सत्यव्रती हो गया हूँ, आज से 'सत्य' का हो गया हूँ ।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने (व्रतपते) हे व्रत के पालक ! मैं (व्रतं) व्रत का (चरिष्यामि) आचरण करूँगा, पालूँगा । ऐसी कृपा करो कि (तत्) उस व्रत को मैं (शकेयं) पूरा कर सकूँ, (मे) मेरा (तत्) वह व्रत (राध्यतां) सिद्ध होये, पूरा होये (अहं) मैं (इदं) यह, आज से (अनृतात्) अनृत से हट कर (सत्यं) सत्य को, सत्य के व्रत को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ, लेता हूँ ।



तुम्हारा नाम !

त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो अवस्युर्नाम भिक्षते ॥

ऋ० ७ ३२. १७ ॥

विनय

इस सब जहान को धन देने वाले अकेले तुम ही हो। इस विश्व ने जिस किसी को जिस किसी प्रकार का ऐश्वर्य मिल रहा है वह तुम ही से मिल रहा है। तुम ऐश्वर्य देने वाले प्रसिद्ध हो। तुम इन्द्र हो, परम ऐश्वर्य वाले हो। इस ससार मे नाना प्रकार के ऐश्वर्यों को पाने के लिए जो ये विविध संघर्ष होते रहते हैं, देवासुर सग्राम चलते रहते हैं उनमे विजेता होकर जो लोग ऐश्वर्यों को प्राप्त कर रहे हैं वे तेरे ही दिए ऐश्वर्यों को प्राप्त कर रहे हैं। हम सदा से सुनते आये हैं कि धन ऐश्वर्यों को जिताने वाले तुम ही हो। तो तुम क्यो नही देखते कि इस पृथ्वी पर इस समय कैसी तबाही-मची हुई है, महान् विनाश उपस्थित हो रहा है ? सब धर्म की मर्यादायें टूट गयी हैं, सब क्रम बिगड गये हैं। यह संसार तुम्हारे ऐश्वर्य से सर्वथा रहित हो गया है। पृथ्वी पर एक ऐसा संग्राम चल रहा है कि सब लोग दु खी और निर्बल हो गये हैं, सच्चे ऐश्वर्य से हीन हो गये हैं। संत्रस्त हुए ये सब लोग अब तुम्हें याद कर रहे हैं, हे पुरुहूत ! बार बार तुम्हें पुकार रहे हैं। हे इन्द्र ! तुम कब इस पृथिवी को सुखी करोगे, कब इस संग्राम मे विजयी कराकर अपना ऐश्वर्य प्रदान करोगे ? देखो, ये सब के सब पृथिवी-वासी तुम्हारे रक्षण की भिक्षा माग रहे है, सब मनुष्य रक्षा चाहते हुए तुम्हारा नाम पुकार रहे हैं।

शब्दार्थ—

(त्वं) तुम (विश्वस्य) सब ससार के (धनदाः) धन ऐश्वर्य देनेवाले (श्रुतः) प्रसिद्ध (असि) हो, (ये) जो (ईं) ये (संसार मे) (आजय) सग्राम (भवन्ति) होते हैं उनमे धन जितानेवाले तुम ही हो। देखो, (अयं) यह (विश्व.) सब (पार्थिवः) पृथिवी लोक (पुरुहूत) हे बहुत पुकारे गये ! (अवस्यु.) रक्षा चाहता हुआ (तव) तेरे (नाम) नाम की, प्रसिद्ध रक्षण की (भिक्षते) भिक्षा मांग रहा है। 

सुखदाता !

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः ॥

ऋ० ७ ६६. १३ ॥

विनय

हे आदित्यो ! हम अब तुम्हारे 'सुम्न' मे रहना चाहते हैं, तुम्हारे सुख व ऐश्वर्य मे बसना चाहते हैं। अभी तक हम तुम्हारी महिमा नही जानते थे, तुमने जो अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके दिव्य प्रकाश प्राप्त किया है और आदित्य बने हो—उसका सामर्थ्य नही समझते थे। तुम तो इस ससार के 'नर' हो, नेतृत्व करनेवाले हो। तुम ससार-नेता यदि हमे अपनी शरण प्रदान करोगे तो हम अवश्य कृतकृत्य हो जायेंगे। परन्तु हम तुम्हारी इस सर्व श्रेष्ठ सुखमय शरण को तभी प्राप्त कर सकेंगे जब हम सत्य-सेवी हो जायेंगे। हम जानते है कि तुम कितने भारी 'ऋत' के उपासक हो और कितने घोर 'अनृत' के विरोधी हो। तुमने जो इतना ऊँचा पद प्राप्त किया है उसका रहस्य यही है कि तुमने अनन्य भाव से सत्य का सेवन किया है। जब कोई मनुष्य सत्य का आराधन शुरू करता है तो सब से पहिले यज्ञ के, त्याग के महान् सत्यसिद्धान्त का प्रकाश हो जाता है, इसीलिए 'ऋत' शब्द यज्ञ का भी वाचक हो गया है। तुम न केवल सत्य व यज्ञ से पूर्णतया युक्त हो, 'ऋतावान्' हो किन्तु तुम तो 'ऋतजात' भी हो, तुम ऋत से उत्पन्न हुए हो, तुमने अपने आप को बिलकुल बदल कर सत्य मे अपना दूसरा जन्म प्राप्त किया है, तुम्हारा अणु अणु सत्य का बना हुआ है, यज्ञभावना से भावित हुआ हुआ है। और अब तुम्हारा जीवन सत्य के ही बढाने मे लगा हुआ है। तुम 'ऋतावृध्' हो। अनृत को हटा कर निरन्तर सत्य की वृद्धि कर रहे हो। इसलिए तुम अनृत के घोर शत्रु हो। अनृत के साथ तुम्हारा सहज वैर है। जहाँ तुम हो वहाँ अनृत नही ठहर सकता। तुम अनृत की छाया तक को नही सहन कर सकते। इसलिए हे नरो ! हम भी अब सत्यसेवी होकर ही तुम्हारे 'सुम्न' को प्राप्त करना चाहते हैं, तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ शरणतम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। हम ही नही किन्तु हमारी तरह और भी जो कोई तुम्हारी इस महिमा को जानते हैं, जो 'सूरि' व ज्ञानी हुए हैं उन सब को, हे आदित्यो ! उन सब को तुम अपना सुख प्राप्त कराओ, सर्व श्रेष्ठ शरण देनेवाला अपना महान् सुख प्राप्त कराओ।

शब्दार्थ

(नर) हे ससार के नेताओ ! आदित्यो ! जो तुम (ऋतावानः) सत्य व यज्ञ से युक्त [ऋतजाता] सत्य मे जन्मे हुए [ऋतावृधः] सत्य को बढाने वाले और (घोरास) घोर (अनृतद्विष) असत्यविरोधी हो (तेषा) उन (वः) तुम्हारे (सुच्छर्दिष्टमे) उत्तम सब श्रेष्ठ शरण देनेवाले (सुम्ने) सुख व ऐश्वर्य मे (स्याम) हम होयें; (ये च) तथा जो अन्य (सूरय.) ज्ञानी है वे भी होयें।



प्रभु हरि हैं!

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम् ।
अधारयद् हरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तः हरिश्चरत् ॥

ऋ० ३ ४४. ३ ॥

विनय

ये इन्द्र, ये परमेश्वर 'हरि' हैं, पाप ताप को हरण करने वाले हैं। इसलिए इन इन्द्र-सूर्य की असख्यो रश्मिया 'हरि' कहलाती है, ये भी अज्ञान अन्धकार मलिनता और रोग का हरण करती हैं। और इसीलिए इन इन्द्र की दो प्रसिद्ध शक्तियो का नाम भी 'हरि' हुआ है, इन्हें ऋक् और साम कहो, वाणी और प्राण कहो, ज्ञान और बल कहो। इन हरियों सहित वे हरि इस ससार के अणु मे, रोम रोम मे रम रहे हैं और इस को हरिमय कर रहे हैं। तभी तो वह द्यौ 'हरिधायस्' हुआ है, यह पृथिवी 'हरिवर्पस्' हुई है और द्यावापृथिवी 'हरित्' बने हैं। वह 'द्यौ' हरि की उन असख्यातो हरि रश्मियो से भरपूर है, उन ही द्वारा धारित हुआ हुआ है। यह पृथिवी भी उन्ही हरि-रश्मियो से ढकी हुई है, उसके हरित्व से रँगी हुई हरिवर्णा हो रही है। और ये द्यावा-पृथिवी हरित्, हरिमय बन गये हैं। इस प्रकार इन इन्द्र ने हरि होकर द्यौ और पृथिवी को धारण कर रखा है। उसने इस द्यावापृथिवी को न केवल धारण कर रखा है किन्तु वह इसका लगातार पोषण भी कर रहा है। वह इन हरितो (द्यावापृथिवी) मे प्रभूत भोजन, बहुत बहुत भोग सामग्री, सब चराचर प्राणियो के लिए अनगिनत प्रकार के भोग उत्पन्न करके उनका निरन्तर पालन पोषण भी कर रहा है। उसने द्यावापृथिवी को ही नही, किन्तु इसके लिए अमित भोजन को भी धारण कर रखा है। इस धारण पोषण के लिए वह हरि इनके अन्दर गया हुआ है, इन द्यावापृथिवी का अन्तर्यामी होकर विचर रहा है, प्रत्येक वाणी व पदार्थ के अन्दर प्राण होकर उसे अन्दर से गति दे रहा है। वह हरि चूंकि इस प्रकार अपनी हरि शक्तियो सहित इन द्यावापृथिवी का अन्तश्चारी हो रहा है, यही कारण है जिससे ये द्यावापृथिवी 'हरित' हो गये हैं। ओ ! यह सब ससार कैसा हरिमय हो रहा है, हमारे 'हरि' प्रभु के रमने के कारण देखो, कैसा हरिमय हो रहा है।

शब्दार्थ—

[इन्द्र] परमेश्वर (हरिधायसं द्या) अपनी 'हरि' रश्मियो से धारित हुए हुए द्युलोक को तथा [हरिवर्पसं पृथिवीं) हरित्व से रंगी हुई, हरिवर्णा भूमि को (अधारयत्) धारे हुए है, और वह उन [हरितो) हरित्, हरिमय हुए हुए [द्यावापृथिवी] के [भूरि] बहुत, अगणित (भोजनं] भोग सामग्री को भी धारे हुए है, [ययोः) जिन (हरितो, द्यावापृथिवी) के (अन्तः) अन्तर्यामी होकर (हरिः) वह हरि प्रभु (चरत्) चल रहा है, चरण कर रहा है।



हमारी चाह !

नहि ते शूर राधसो अन्त विन्दामि सत्रा ।
दशस्या नो मघवन् नू चिद्, अद्रिवो धियो वाजेभि राविथ ॥

ऋ० ८.४६.११॥

विनय

अहो ! तेरे राधसो का कुछ भी अन्त नही है । तेरे सफलता प्राप्त कराने वाले ऐश्वर्य, तेरे सिद्धि दिलाने वाले सामर्थ्य एक से एक बढ कर हैं । इस संसार के जो नानाविधि भौतिक धन हैं, जो विज्ञान के चमत्कारी ऐश्वर्य हैं, हमारे लिये तो वे ही अनगनित हैं । अग्नि आदि एक ही तेरा देव जितने हमारे प्रयोजन संसिद्ध कर सकता है उन्ही का हम पार नही पा सकते । परन्तु जब मनुष्य ऊँची भूमियो को प्राप्त करता है तो जो दिव्य सिद्धियो के ऐश्वर्य का भंडार उसके लिये खुल जाता है, वह सब तो अनन्त है, अद्भुत है, अपार है, उसके विषय मे और कुछ नही कहा जा सकता । सचमुच, हे शूर ! तू अपने जिन चित्र विचित्र राधसो को बरसाता हुआ ससार के छोटे बड़े पुरुषों को उनके अपने अपने अनन्त क्षेत्रो मे विजय दिला रहा है और ससार को अग्रसर कर रहा है—उनका पार हम क्षुद्र मनुष्य कहाँ पा सकते हैं ! हे मघवन् तू हमे भी हमारे योग्य ऐश्वर्यों को प्रदान कर, अवश्य अवश्य प्रदान कर । पर नही हे इन्द्र ! हम तुझ से ऐश्वर्य क्यों मागें ? ऐश्वर्यो की तो तू बिना मागे हम पर अनन्त वर्षा कर रहा है । तू तो हमारी धियो को ठीक कर, जिनके ठीक न होने के कारण ही हम इस ऐश्वर्य वर्षा मे रहते हुए भी तेरे ऐश्वर्यों को प्राप्त नहीं कर रहे हैं। तेरे ऐश्वर्यों को हम अपनी धियो, बुद्धियों तथा कर्मों, द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं । परन्तु हमारे ये ज्ञान और कर्म बिगडे हुए हैं, बडे अरक्षित हुए हैं । काम क्रोध आदि प्रबल शत्रुओ के लगातार आक्रमणो के कारण हमारी बुद्धियाँ ही ठीक प्रकार से नही सोच सकती हैं और हमारे कर्म ठीक नही होते हैं, इसीलिये हम तेरे ऐश्वर्यो से वंचित रहते हैं । हे वज्रवाले ! तू हमारी इन आक्रमणों से रक्षा कर । तू अपने वाजो द्वारा, अपने ज्ञानो और बलो द्वारा हमारी बुद्धियों और कृतियो की रक्षा कर। हम तो तुझ मे यही मागते हैं, हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! हम तुझसे यही चाहते हैं ।

शब्दार्थ—

(शूर) हे शूर ! (सत्रा) सचमुच ही (ते) तेरे (राधसः) ऐश्वर्यो का (अन्तं) अन्त (नहि) मैं नही (विन्दामि) पाता हूँ । (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (नः) हमे)नू चित्) अवश्य ही तू (दशस्य) [ऐश्वर्य] प्रदान कर, (वाजेभि) ज्ञानो और बलों द्वारा (धियः) हमारी बुद्धियो व कर्मो की (अद्रिवः) हे वज्र वाले ! (आविथ) रक्षा कर । 

सब कुछ सम्भव !

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरम् ।
प्रेमन्धः ख्यत्, निः श्रोणो भूत् ॥

ऋ० ८.७९.२॥

विनय

उस परमदेव की महिमा के स्तुति गीत मैं कहाँ तक गाऊँ ? उस परम दयालु की दयालुता का वर्णन करने के लिये मैं वाणी कहाँ से लाऊं ? वे सोमप्रभु तो इस दुर्बल दुनिया पर जो प्रतिक्षण अनन्त उपकार कर रहे हैं, इस दुःखी संसार पर जो हर समय अपनी करुणा बरसा रहे हैं उसका जब मैं ध्यान करता हूं तो मेरा हृदय भर आता है, मेरा कण्ठ रुद्ध हो जाता है । उस प्रेम सागर की प्रेम कहानी कहने की चीज नहीं है । वह तो अनुभव करने की, स्वयं अनुभव करने की वस्तु है । अरे, मैं तो साक्षात् देख रहा हूं कि वह दयामय पिता होकर जो कोई नंगा है उसे ढक रहा है और वैद्य बनकर जो कोई रोगग्रस्त हैं उन सबको भला चंगा कर रहा है । यह बात केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं है । वह प्रेममय सोम तो जिसको गुण से नग्न देखता है उसे वह गुण देकर, उसी गुण-वस्त्र द्वारा उसे आच्छादित कर रहा है और यह सारा संसार जो अपनी अपनी व्याधि से आतुर हुआ पड़ा है वह करुणा परायण उन सब की चिकित्सा कर रहा है और उन सब को ही उल्लाघ (नीरोग) कर रहा है । और क्या कहूं, उस सोम की कृपा होती है तो अन्धा भी देखने लगता है और पंगु भी चल निकलता है । एक क्षण में अज्ञानी ज्ञान प्रकाश पा जाता है और असमर्थ शक्ति-पूर्ण हो जाता है । हमारे लिये ये बातें बेशक बड़े चमत्कार की हैं, पर ये इसीलिये हैं चूंकि हम अल्पज्ञानी जीव उस सोम की महान् विभूतियों को नहीं समझ सकते । सचमुच ही, उस सोम की करुणा का कभी वाणी से वर्णन नहीं हो सकता, और कोई 'असंभव' नहीं जो उसकी कृपा से संभव नहीं हो सकता ।

शब्दार्थ—

(यत्) जो (नग्नं) नग्न है उसे (सोम प्रभु) (अभ्यूर्णोति) ढक देता है, आच्छादित कर देता है, और (यत्) जो (तुर) आतुर, रुग्ण है (विश्वं) उस सब की, सब संसार की वह (भिषक्ति) चिकित्सा कर देता है । उसकी कृपा से (अन्धः ईं) अन्धा भी (प्रख्यात्) देखने लगता है और (श्रोणः) लूला भी (निर्भूत्) चल निकलता है ।



सुखकारी बनो

सुशेवो नो मृडयाकुः अदृप्तक्रतुः अवातः ।
भवा नः सोम शं हृदे ॥

ऋ० ८ ७९ ७॥

विनय

हे सोम ! निःसन्देह तुम हमारे हृदयो मे समाये हुए हो । हम जानते हैं कि तुम्हारे रस, सोमरस, का पान इन हमारे हृदयो द्वारा ही होता है। तो फिर हमारे हृदयो मे बसते हुए भी, हे सोम ! तुम हमे शान्त और सुखी क्यो नहीं करते, हमे अपना रसपान कराकर सरस और सुखमय क्यो नही बनाते ? आओ, अब हमारे हृदयो के लिये तुम उत्तम-सुख-वाले हो जाओ, सुखप्रदाता हो जाओ। हमें सुखी करो, अपने उत्तम सुख से सुखी करो। अपने सुख से, अपने उत्तम सुख से हमे ऐसा भरपूर कर दो कि दुनियाँ के सब बुरे सुख, परिणाम मे विषरूप होने वाले सब विषय आदि के सुख हमारे लिये स्वयमेव त्याज्य हो जायें, सदा के लिये परित्यक्त हो जायें। यदि तुम हमारे ऐसे सु-सुखयिता हो जाओगे तो तुम हमारे लिये 'अदृप्तक्रतु' और 'अवात' भी हो जाओगे। तो तुम्हारी कृपा से हम अभिमानरहित ज्ञान व कर्म वाले तथा अचलायमान हो जायेंगे। हम जो ज्ञान का अभिमान करने वाले, बड़े अभिमान से कर्म करने वाले, अभिमान की क्षुद्रता मे उछलने कूदने वाले होते हैं तथा उद्विग्न और चचलचित्त होते हैं वह इसीलिये होते हैं क्योकि हम अनुभव नही करते कि तुम अपने सोम रूप से हमारे हृदयो मे समाये हुए हो, क्योकि तुम्हे हृदय मे रखते हुए भी हम तुम्हारे सोमरस से इस तरह सर्वथा वञ्चित रहते हैं। जिन अन्य पुरुषो के हृदयो को तुम अपने रस मे परिपूर्ण करते हो वे तो सर्वथा निरहकार और शान्त होते हैं, वे महान् ज्ञान और कर्म की शक्ति रखते हुए भी बिलकुल निरभिमान और नम्र होते हैं, गभीर और प्रशान्त होते हैं। इसीलिये हे सोम ! हम तुमसे प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे हृदयो के लिये कल्याणकारी होओ, अपनी परम सरसता और शीतता प्रदान करते हुए हमारे हृदयो के लिए सुखकारी होओ।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! तुम (नः) हमारे लिये (सुशेवः) उत्तम सुख वाले (मृडयाकुः) सुख प्रदाता होओ, (अदृप्तक्रतु) अभिमानरहित ज्ञान और कर्म वाले और (अवातः) अचलायमान शान्त होओ, (नः) हमारे (हृदे) हृदय के लिये (शं) कल्याणकारी, सुखकारी (भव) होओ।

सुख प्रदान कर

न ह्यन्यं बलाऽकरं मर्डितारं शतक्रतो ।
त्वं न इन्द्र मृडय ॥

ऋ० ८८०१ ॥

विनय

सचमुच तेरे सिवाय, हे शतक्रतो ! इस ससार मे और कोई सुखयिता नही है। इन भोग्य विषयो को, जिनके सुख पाने को यह नसार मरा जाता है, मैंने खूब जांचा है, खूब परखा है, परन्तु हे इन्द्र ! मैंने देखा है कि इनमे तो सुख का लेश भी नहीं है। स्वजनो का प्रेम, मन वैभव, मान प्रतिष्ठा आदि को सुखदाता प्राय सभी अनुभव करते हैं परन्तु हे इन्द्र ! मैंने देखा है कि उनमे भी कोई सुख नही है, जो कुछ इनमे उपलब्ध होता है वह भी इनका अपना नही है। मैं तो देखता हूँ कि तेज भूख मे रूखा सूखा खा लेने से जो स्वाभाविक सुख होता है या गुरुचरणो के स्पर्श करने से जो सात्त्विक सुख मिलता है उसका भी कारण वह भोजन व गुरुचरण नही हैं, किन्तु तू है, हे शतक्रतो ! केवल तू है। तो फिर मुझ जैसा पुरुष सुख पाने के लिये अब इस ससार मे दर दर मारा क्यो फिरेगा ? जिसने देख लिया है कि यह सब ससार जिस के जूठन और आंशिक सुख को भोग रहा है वह असली सुख भडार तू है वह पुरुष सुख पाने के लिये अन्त्र और कहाँ जायेगा ? इसलिये मैंने तो सुखयिता तुझे ही कर लिया है। तेरे सिवाय मेरे लिये इस ससार मे और कोई सुख दे सकने वाला नही रहा है। ये सासारिक विषय बेशक अपना सुखद रूप धारण करके, बडे मनमोहक हृदय हारी रूप धारण करके, मेरे भी इर्द गिर्द घूमते हैं, पर मैं इनके दुखरूप नाम-सुख को लेकर क्या करूँगा ? मैं इनकी तरफ दृष्टिपात तक नहीं करता। इसी तरह धन मान आदि भी अपने मलिन सुखो का प्रस्ताव मेरे सामने रखते हैं, पर मैं इन्हे अस्वीकृत करने के सिवाय और क्या करूँ ? मुझे तो अब जिस सुख की प्यास है वह तेरा सुख है, सीधा तुझसे मिलनेवाला विशुद्ध सुख है। मुझे दूसरे, तीसरे, और हज़ारो हाथो से आया तेरा सुख भी नही चाहिये। मुझ चातक की प्यास तो अब ऊपर तुझसे आने वाले तेरे निर्मल दिव्य सुख से ही मिट सकती है। इसलिये हे इन्द्र ! तू अब मुझे अपना सुख प्रदान कर, स्वय अपना सुख प्रदान कर।

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे शतयज्ञ ! (अन्यं) तुझसे अन्य किसी (मर्डितारं) सुखयिता को (बला) सचमुच ही मैं (नहि अकरं) नहीं करता हूँ, अतः (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वं) तू (नः) हमे (मृडय) सुखी कर।

हमें सुखी कर !

यो नः शश्वत् पुराविथ, अमृध्रो वाजसातये ।
स त्वं न इन्द्र मृडय ।

ऋ० ८.८०.२॥

विनय

हे इन्द्र ! तू वह है जो सर्वथा अहिंसक है, इतना प्रेममय और सर्वसमर्थ है कि तुझे कभी हिंसा करने की जरूरत नही होती, और अहिंसक होने से ही तू सर्वथा अहिंसित भी है, तेरा कभी विनाश नही किया जा सकता। और हे इन्द्र ! तू वह है जो ऐसा अहिंसक होकर, ऐसा प्रेममय होकर पहिले से सदैव ही हमारी रक्षा करता आया है, जब जब कठिन समय आया है, जब जब दुनिया के सब बलो को हारकर भग्नाभिमान निर्बल होकर हमने तुझे पुकारा है तब तब तू ने हमारी रक्षा की है और हमे बललाभ कराया है। सदा नये नये बललाभ के लिये तू हमारी रक्षा करता आया है। हे इन्द्र ! हे वही हमारे इन्द्र ! तू इस समय भी हमारी रक्षा कर और हमे सुखी कर। इस समय चारो तरफ निराशा ही निराशा छा रही है, पाप की शक्तियो ने हमे चारो तरफ से दबा लिया है, हमारा कुछ बस नही चलता है। हे इन्द्र ! इस समय तू ही हमे बचा, तू ही हमारा उद्धार कर। हमे नया बल प्राप्त कराता हुआ फिर सुखी कर। हे सदा से हमारे बचाने वाले ! अमृध्र ! हमे सुखी कर, फिर सुखी कर।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यः) जिस (अमृध्रः) अहिंसक एव अहिंसनीय तू ने (नः) हमारी (पुरा) पहिले (शश्वत्) सदा (वाजसातये) बल प्राप्ति के लिये (आविथ) रक्षा की है (सः त्वं) वही तू (न.) हमे (मृडय) सुखी कर।

रथ आगे बढ़े !

इन्द्र प्र णो रथं अव, पश्चाच्चित् सन्त मद्रिवः ।
पुरस्तात् एनं मे कृधि ।।

ऋ० ८.८०.४।।

विनय

हे इन्द्र ! तुम मेरे रथ की रक्षा करो, मेरे पिछडे हुए जीवनरथ की भी रक्षा करो, वल्कि यह मेरा रथ पिछडा हुआ है इसलिये हे वज्र वाले ! इसकी तुम विशेषतया प्रकृष्टतया रक्षा करो । मैं देख रहा हूँ कि वहुत से मेरे साथी आगे निकल गये हैं, मेरे देखते देखते अपने जीवनो को उन्नत वनाकर मुझ से बहुत आगे वढ गये हैं । कोई धृति आदि धार्मिक गुणों को अपने जीवन मे धारण कर उन्नत हो गया है, कोई 'अभय' आदि दैवी संपत् के कारण आगे वढ गया है, कोई कठोर 'तपस्या' की शक्ति से विशेष वेगवान् होकर मुझ से आगे निकल गया है, तो कोई विवेक वैराग्य आदि साधनचतुष्टय की साधना द्वारा मुझ से वहुत ही आगे हो गया है, तथा कोई महान आत्मा आत्मिक शक्तियो के दिव्य घोडे पाकर एकदम हम सव का अतिक्रमण करके अग्रणी वन गया है । ये देखो, कर्मशूर कर्मयोगियो के एक से एक बढकर रमणीय रथ ज्ञानियों योगियों के एक से एक तेजस्वी रथ तथा भक्तों महात्माओ के एक से एक दिव्य-रथ मुझे पीछे छोड़कर आगे निकलते चले जा रहे हैं, पीछे से ".कर भी 'तीव्र संवेग' के कारण मुझ से आगे निकलते चले जा रहे हैं । तो हे परमेश्वर ! मैं ही कव तक इस तरह पीछे रहता जाऊँगा ? अपनी इस मन्दगति से घिसटता हुआ चलूंगा ? तुम्ही मुझे इस तरह निरन्तर पिछडने से बचाओ, इस सतत अवनति से मेरी रक्षा करो । नही नहीं, तुम केवल मुझे इस अवनति से ही नहीं वचाओ किन्तु मेरी उन्नति करो, निरन्तर प्रगति करो । मेरे इस जीवन रथ को आगे वढाओ, इसमे अपना इन्द्रवल भर कर इसे अन्य रथो से भी आगे वढाओ ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अद्रिवः) हे वज्र वाले ! (नः) हमारे (पश्चात् चित्-सन्तं) पीछे भी होते हुए, पिछडते भी हुए (रथं) रथ को (प्रअव) प्रकृष्टतया रक्षा करो । (मे) मेरे (एनं) इस रथ को (पुरस्तात्) आगे, आगे बढा हुआ (कृधि) कर दो ।



हम बढ़ें !

हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि ।
उपमं वाजयु श्रवः ॥

ऋ० ८.८०.५॥

विनय

तो फिर, हे इन्द्र ! अब क्या देर है ? तुम अब क्यो बैठे हो ? उठो, आज्ञा करो, कृपा करो, मेरे रथ को सब से आगे कर दो, प्रथम स्थान पर पहुँचा दो । हाँ सचमुच मैं सर्वश्रेष्ठ मनुष्य बनूँगा, सर्व प्रथम बनूँगा । मैं राम की तरह मर्यादा पुरुषोत्तम होऊँगा, मैं कृष्ण की तरह पूर्णपुरुष बनूँगा, मैं जीवन की दौड मे सर्व प्रथम रहूँगा । मेरी यह महत्त्वाकाक्षा स्वाभाविक है । हरेक मनुष्य पूर्ण होने के लिये उत्पन्न हुआ है । जो कार्य कोई भी एक मनुष्य कर चुका है वह मैं भी अवश्य कर सकता हूँ । मुझ मे भी बिलकुल वैसा ही आत्मा विद्यमान है, जैसा राम मे था, जैसा कृष्ण मे था या जैसा किसी भी महापुरुष मे था । तो फिर मेरे उन जैसे होने मे क्या रुकावट, हो सकती है ? और सर्वश्रेष्ठ बनाने का जो साधन है वह सब तुम्हारे पास विद्यमान है, मेरे लिये 'वाज' को चाहता हुआ 'श्रव' तुम्हारे पास उपस्थित है । तुम यदि चाहो तो अपने 'श्रवस्' द्वारा' ऐश्वर्य द्वारा मेरे जीवन मे 'वाज', बल और ज्ञान-प्रदान करके मुझे अधिक से अधिक उन्नत कर सकते हो । तो फिर हे इन्द्र ! अब तुम उठो, मुझमे उठो जागो, यदि तुम मुझ मे उठोगे तो मुझ मे वहाँ तक वाज, वहा तक ज्ञान व बल, प्रकट होता जायेगा जहाँ तक सर्वश्रेष्ठ पुरुष होने के लिये आवश्यक है । अत अब तुम क्यो बैठे हो ? अपने ऐश्वर्य द्वारा वाज देकर मेरे जीवन को सर्वोच्च बना दो, मेरे जीवन रथ को सर्व प्रथम स्थान पर लाकर स्थापित कर दो ।

शब्दार्थ—

(हन्तो) तो फिर (इन्द्र) हे इन्द्र तुम (नु) अब (किं) क्यो (आससे) बैठे हो ? (नः) हमारे (रथ) रथ को (प्रथम) सबसे आगे, प्रथम स्थान पर (कृधि) कर दो । (वाजयु) वाज बल ज्ञान चाहता हुआ (श्रवः) ऐश्वर्य तो (उपमं) तुम्हारे पास [विद्यमान ही है] ।



यात्रा सफल हो

अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित् परि ।
अस्मान्त्सु जिग्युषः कृधि ।।

ऋ० ८ ८० ६॥

विनय

ये देखो, हे इन्द्र ! हमारा रथ, हमारा जीवन तुम्हारे 'वाज' को चाह रहा है, आगे बढने के लिये तुम से ज्ञान सामर्थ्य और बल माँग रहा है। जितना वाज इसे तुमसे प्राप्त होगा उतना ही यह रथ आगे आगे बढ सकेगा। इसलिये मेरे उस 'वाजयु' रथ को अपना ज्ञान और बल देकर इसकी तुम रक्षा करो, तृप्त करो, पूर्णता करो। अरे, मैंने तो जीवन की दौड मे सर्व प्रथम होना है, विजय पर विजय प्राप्त करके जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करना है। इसलिये हे इन्द्र ! तू मेरे इस वाजयु रथ को अपने वाज से 'इतना पूर्णतया भरपूर वर दे कि मेरा जीवन पूर्ण जीवन हो जाये, मेरा रथ सब का अग्रणी हो जाये। हे इन्द्र ! तेरे लिये सब कुछ संभव है। तू कुछ भी कर सकता है और बडी सुगमता से कर सकता है। तेरे लिये कुछ भी करना सर्वथा सुकर है। तू हमे उत्तम विजेता बना दे। तू हमे ऐसा श्रेष्ठ विजेता बना दे कि हम मार्ग की सब बाधाओ को विजय करते हुए, जीवन नाशिनी आसुरी शक्तियो पर एक से एक महिमाशालिनी विजय प्राप्त करते हुए अपनी यात्रा को सफल कर लेवें, जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर लेवें।

शब्दार्थ—

(नः) हमारे (वाजयुं) वाज, ज्ञानसमर्थ्य और बल, चाहते हुए (रथं) जीवन रथ की (अव) रक्षा करो,तृप्ति करो। (ते) तेरे लिये (किमित्) कुछ भी, सब कुछ (परि) सब तरह, सर्वथा (सुकर) सुकर है। (अस्मान्) हमे (सु जिग्युषः) उत्तम विजयी श्रेष्ठ विजेता (कृधि) कर दो। 

तेरी अनन्त कृपा

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम् ।
तुविमात्रमवोभिः ॥

ऋ० ८. ८१. २ ॥ सा० उ० १. २. ६ ॥

विनय

ओह, हमने जाना, हमने समझा कि तू कितना कितना कृपालु है, तू किस तरह हम पर अनवरत दया की वर्षा कर रहा है। तेरी रक्षायें, तेरी तृप्तियां, तेरी दीप्तियां, तेरी वृद्धियां, तेरी सब प्रकार की कृपायें, तेरे सब प्रकार के 'अवस्' हमे प्रतिक्षण अनगिनत प्रकार से प्राप्त हो रहे हैं। ओह, तू तो हमपर अपनी दया बरसाने के लिये ही 'तुविकूर्मि' हुआ है, बहुत प्रकार के कर्म करनेवाला अनन्त-कर्मा हुआ है। अपने लिये तो तुझे तीनों कालो में तीनो लोको मे कुछ भी कर्त्तव्य नही है, फिर भी जो तू अपने इन अनन्त ब्रह्माण्डो मे अपना अखण्ड महान् कर्म प्रतिक्षण चला रहा है वह हम जीवो के कल्याण के लिए, हम जीवो के प्रेम वश होकर ही कर रहा है। हम पर कृपालु होकर ही तू 'तुविदेष्ण' बहुत बहुत देने वाला, प्रतिक्षण सबको लगातार यथायोग्य देने वाला हो रहा है। मनुष्य जब तेरे दानो का अनुभव करने लगता है तो वह देखता है कि तूने सदा हमको देना ही देना है और तेरे इन देने का कही अन्त नही है। इसी तरह तू हमारे लिए, केवल हमारे लिए, 'तुविमघ' भी हुआ है, बहुत बहुत ऐश्वर्य वाला ऐश्वर्य-भंडार बना है। स्वयं तो तू परिपूर्ण आप्तकाम है, तुझे कभी त्रिकाल मे भी किसी भोग की आवश्यकता नही है, तो भी जो तू इस संसार मे हर समय भोगो को उत्पन्न कर रहा है और उनका दान कर रहा है वह हम जीवों की तृप्ति के लिये हमारी पूर्णता के लिये ही कर रहा है। और जो तू 'तुविमात्र' हुआ है बहुत परिमाण वाला हुआ है वह भी अपने 'अवसों' से हुआ है, अपने रक्षण आदियो को हमे पहुँचाने के लिये हुआ है। हमे तू सदा सर्वत्र अपनी रक्षा प्रदान कर सके इसीलिये मानो तूने अपने को अनन्त काल और अनन्त देश तक फैला दिया है। आह, तू किस तरह हम पुत्रों के हित के लिये प्रेमविह्वल होकर अनन्तकर्मा, अनन्तदानी, अनन्तधन और अनन्त-परिमाण हो रहा है! हे प्रभो! हम तेरे इन अगणित उपकारो का कभी कैसे बदला चुका सकते हैं, तेरी अनन्त कृपाओ से हम अनन्त काल मे भी कैसे उऋण हो सकते हैं ?

शब्दार्थ—

(हि) निःसन्देह हम (त्वा) तुझे (अवोभि.) रक्षा, तृप्ति, दीप्ति, वृद्धि आदियों से (तुविकूर्मि) बहुत कर्मो वाला (तुविदेष्णं) बहुत दानी (तुविमघं) बहुत धन वाला तथा (तुविमात्रं) बहुत परिमाण वाला (विद्म) जानते है।

सब स्तुति करें !

एतो न्विन्द्रं स्तवाम ईशानं वस्वः स्वराजम् ।
न राधसा मर्धिषन्नः ॥

ऋ० ८·८१ ४।

विनय

देखो, आज कल यह संसार धन के कारण नष्ट हुआ जा रहा है। लोग धन के पीछे पागल तो इसीलिये हो रहे हैं, धन को इतनी बुरी तरह से कमा तो इसीलिये रहे हैं कि इससे उन्हें जीवन मिलेगा किन्तु यह उन्हें मार रहा है। धन आजकल इतना मर्यादा को लांघ गया है कि वह 'स्व' होने की जगह हमारा स्वामी बन गया है; इसीलिये इस धन ने हमारी शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति को बिलकुल रोक दिया है। धन का जंग लगाकर हमारा यह त्रिविध तेज जाता रहा है, भोग मे पड कर हमारा त्रिविध वीर्य नष्ट हो गया है। इसलिये, हे मनुष्यो ! आओ, हम इस धन की मार से किसी तरह बचें। हे संसार भर के मनुष्यो ! आओ, हम उस अपने इन्द्र की स्तुति करें, उसके सामने झुकें, जो हमारा परम ऐश्वर्य वाला प्रभु है। यदि हम उस परमैश्वर्य वाले को न भूलेंगे, यदि हम अपने ऊपर उस 'ऐश्वर्यों के ईश्वर' के राज्य को देखेंगे, यदि हम उस स्वयराजमान के 'स्वराज्' के नियमो मे सदा चलेंगे तो ये धन हमे पागल नहीं कर सकेंगे, ये हमारे मालिक नही हो सकेंगे। हम पागल इसीलिये होते हैं क्योंकि हम अपने उन 'वस्व ईशान' को भूल जाते हैं जो हमें जब जिस ऐश्वर्य की जरुरत होती है तव उसी ऐश्वर्य को हमे स्वयमेव दे रहा है; हम धन के गुलाम इसीलिये होते हैं क्योंकि हम स्वयराजमान होने के स्थान पर धन से राजमान होना चाहते हैं, अपने 'स्व' पर—अपने शरीर इन्द्रिय आदि धन तथा बाह्य धन पर—राज्य करने की जगह उनके वशवर्त्ती हो जाते हैं। तभी यह होता है कि भौतिक धन तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य (विभूतिया, सिद्धियाँ) हमारे साधन होने की जगह हमारे लक्ष्य बन जाते हैं और हमारी उन्नति को रोक देते हैं। इसीलिये आओ, भाइयो ! अब हम अपने ऐश्वर्यों के ईशान, 'स्वराट्' प्रभु का भजन करें। उसका भजन किये बिना कभी उसके धन का भोग न करें। अहा, क्या ही सुन्दर दृश्य होगा जब ससार भर के हम मनुष्य भाई मिलकर के उस अपने 'इन्द्र' प्रभु की स्तुति करेंगे और उसका पूजन करते हुए ही इन धनों का भोग करेंगे और तब ये धन भी नौकरों की तरह हमारी सेवा करने वाले हो जायेंगे, हमारी उन्नति कराने के लिये उचित साधन बन जायगे।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (एत उ) आओ, हम (नु) अब (वस्वः ईशानं) ऐश्वर्यों के ईश्वर (स्वराजं) स्वय राजमान स्वराट् (इन्द्रं) परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें, भजन करें, जिससे वह (नः) हमे (राधसा) धन द्वारा, सिद्धियों के ऐश्वर्य द्वारा (न मर्धिषत्) न मार देवे, न मिटा देवे।



हम विनय करते हैं !

विश्वा हि मर्त्यत्वना अनुकामा शतक्रतो ।
अगन्म वज्रिन् आशसः ॥

ऋ० ८-९२-१३ ॥

विनय

हे शतक्रतो ! हम मर्त्य हैं, मरणशील मनुष्य है । यह स्वाभाविक है कि हमारे हृदय कामनाओ से भरे हुए हो । यदि हम मे कामनाएं नही रहेगी तो हम मर्त्य नही रहेगे । मर्त्य से ऊपर कुछ वस्तु हो जायेंगे, अमर्त्य हो जायेंगे । सब मनुष्यपन कामनाओं के अनुगत हैं । जितने मर्त्यपन हैं वे कामनाओ के पीछे चलने के कारण हैं । हम नाना प्रकार की मृत्युओ के वश इसीलिये होते हैं, दु ख के गर्त्त मे इसीलिये गिरते हैं, क्योकि हम कामनाओ से घिरे होते हैं, इच्छाओ से सताये होते हैं । इसलिये हे इन्द्र ! तुम हमे किसी तरह कामनाओ से ऊपर उठाओ । परन्तु बडी मुश्किल यह है कि यदि हम इन कामनाओ को दबाते है तो ये दबती नही, अन्दर अन्दर से हमे खाने लगती हैं; और यदि हम इन्हे तृप्त करते हैं तो ये और बढती हैं, जैसे घृताहुति को पाकर अग्नि और भडकती है उसी तरह ये और बढती हैं । इसलिये, हे शतक्रतो ! हे प्रभूतसकल्प ! हम तुम से प्रार्थना करते हैं, तुम ऐसी कृपा करो, कि हमारी ये कामनाये 'आशस्' के रूप मे परिणत हो जायें । हे वज्रवाले ! तुम हमे ऐसी विवेक-शक्ति प्रदान करो कि हम अपनी सब क्षुद्र अनुचित कामनाओ को ज्ञानपूर्वक उन्मूलन कर सके और इस तरह अपनी व्यापी और अच्छी इच्छाओ को, आशसो को पनपा सकें । यदि तुम ऐसी कृपा करोगे तो जहा हमारी सब दबाने योग्य बुरी इच्छायें निर्मूल हो जायेंगी वहा हमारी सब बढाने योग्य अच्छी इच्छायें सकल्प रूप बन जायेंगी, शक्तिरूप हो जायेंगी । यही प्रकार है जिससे कि हम इन कामनाओ की साधना द्वारा मर्त्य से अमर्त्य हो जायेंगे और एक दिन तुम्हे पा जायेंगे । इसीलिये हे प्रभो ! हम तुम से विनति करते हैं कि तुम हमे कामनाओं से 'आशसो' को प्राप्त कराओ, हमारी विशाल और दृढ आशाओं को पूर्ण कराओ ।

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे प्रभूत सकल्प ! (विश्वा हि) सब ही (मर्त्यत्वना) मर्त्यत्व, मरणशीलतायें. मनुष्यपन (अनुकामा.) कामनाओ मे अनुगत है, कामनाओ के कारण हैं । (वज्रिन्) हे वज्रवाले ! हम (आशस·) आशाओ को, दृढ विशाल इच्छाओ को (अगन्म) प्राप्त हों ।

हम अलग न हों !

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।
त्वमस्माकं तव स्मसि ।।

ऋ० ८-९२-३२।।

विनय

हे जगदीश्वर ! इस स्पर्द्धामय जगत् में हमने तुम्हारा आंचल पकड़ लिया है। तुमसे जुड़े रहकर ही हम इस ससार में विजयी हो सकते हैं। लोग बेशक कहते हैं कि ससार मे विजयी होने के लिये धन चाहिये, प्रचार चाहिये, सैन्य चाहियें, हथियार चाहियें, किन्तु हम तो देखते हैं कि ये सब तीर तोपें धरी रह जाती हैं यदि हम तुम से जुड़े नही रहते। सचाई, प्रेम आदि अविनश्वर सत्य नियम हैं जिनसे हम तुम से जुडे हुए हैं। यदि कभी हम इन तुम्हारे प्रेम बन्धनो को तोड़कर जुदा खड़े हो जाते है, किसी स्पर्द्धा मे शीघ्र विजय होने के लिये या किसी शत्रु को किसी न किसी तरह अवश्य पराजित करने के लिये यदि हम तुम्हारे इन प्रेम बन्धनो को भी तोडकर तुम से जुदा हो जाते हैं तो हम कही के नही रहते, हम विनष्ट हो जाते हैं। इसलिये हे इन्द्र ! हम तो अब तुम्हारे सहाय से—केवल तुम्हारे ही साथ से—अपने प्रतिस्पर्धियो का मुकाबिला करना चाहते हैं, अपने शत्रुओ का प्रतीकार करना चाहते हैं। तुम हमे ऐसी शक्ति प्रदान करो कि हम बडे से बडा प्रलोभन आने पर भी कभी तुम्हारे सत्य नियमों का उल्लघन करने का विचार तक न कर सकें, और इस तरह तुमसे कभी जुदा न हो सकें। ओह, हम तुमसे जुदा हो ही कैसे सकते हैं, तुम्हे छोड ही कैसे सकते हैं ? तुम तो हमारे हो, और हम तुम्हारे है। तुम ही हमारे हो, और हम तुम्हारे ही हैं। तुम हमारे पिता हो, माता हो,स्वामी हो, सखा हो, गुरु हो, पति हो, सब कुछ हो। तुम हमारे क्या नही हो ? इसलिये हम तो कहते हैं कि तुम हमारे हो बस हमारे हो। और हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे पुत्र हैं, दुलारे हैं, सेवक हैं, सखा हैं, शिष्य है, प्यारे हैं, जो भी कुछ हैं, तुम्हारे हैं, हे प्रभो ! तुम्हारे ही हैं। सचमुच, तुम ही हमारे हो और हम तुम्हारे ही हैं। तो हमे तुमसे कौन जुदा कर सकता है ? हम तुम से कैसे जुदा हो सकते हैं ?

शब्दार्थ

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वया इत्) तेरे ही (युजा) साथ से, जुडे रहने से (वय) हम (स्पृधः) स्पर्द्धा करने वालो का, प्रतिद्वन्द्विओ का (प्रतिब्रुवीमहि) प्रतीकार करे, मुकाविला करें, जीतें। (त्व) तू (अस्माकं) हमारा है और हम (तव) तेरे (स्मसि) है।

प्रवाह बहता रहे !

त्वामिद्धि त्वायवो ऽनुनोनुवतश्चरान् ।
सखाय इन्द्र कारवः ॥

ऋ० ८.९२.३३॥

विनय

हे इन्द्र ! हम लोग, हम सब सखा लोग तेरी ही परिचर्या करें; हम सब 'कारु' सखा लोग सदा तेरा ही सेवन करें । जिनके हृदयों मे तेरे भजन की इच्छा उत्पन्न हुई है, जिनको थोडी बहुत तेरी प्रीति प्राप्त हुई है ऐसे हम सब सखा लोग कारु होकर तेरा ही परिचरण करें, अपने एक एक आचरण द्वारा तेरा ही सेवन करें । तुझे चाहते हुए, तुझे प्राप्त करना चाहते हुए, तुझ तक पहुंच करना चाहते हुए हम प्रेम मे मस्त होकर तेरे ही स्तुति-गीत गायें, जगह-जगह तेरी ही अलख जगायें । हम कारु होवें, तेरे स्तोता होवें और तेरे कर्म करने वाले स्तोता होवें । हम तेरे कोरे स्तोता न होवें, केवल वाणी से तेरे स्तोत्र पाठ करने वाले न होवें, किन्तु हमारा एक एक कर्म ही तुम्हारी स्तुति-रूप होवे, हमारा एक एक कार्य ही मुखरित होकर तुम्हारी गुण गाथा कहने वाला होवे । ऐसे कारु होकर तेरा बहुत बहुत स्तवन करते हुए, तेरे बार बार गुणगान गाते हुए हम विचरें, ससार भर मे विचरें । हम तेरे सखा लोग तेरा ऐसा भक्ति प्रचार करते हुए एक के बाद एक अपने जीवनो को तेरी सेवा मे लय करते जाएं, तेरी सक्रिय सेवा मे समर्पित करते जाएं, और इस तरह इस संसार को ऊँचा ऊँचा उठाते जाएं । आह ! इस प्रकार हे इन्द्र ! तेरा यह व्यापक क्रियामय भजन हम सखाओ द्वारा अनवरत चलता रहे, तेरी शक्तिमती भक्ति का प्रवाह इस ससार मे निरन्तर बहता रहे, हे प्रभो ! निरन्तर बहता रहे ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वायवः) तुझे चाहते हुए (कारवः) तेरी सक्रिय स्तुति करने वाले (सखायः) हम भक्त साथी लोग (अनुनोनुवतः) एक के बाद एक तेरी बहुत और बार बार स्तुति करते हुए (त्वाम् इत् हि) केवल तुझे ही (चरान्) परिचर्या करें । 

हे परम आचार्य !

अभ्यादधामि समिधं अग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमि ईन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥

यजु० २० २४॥

विनय

हे अग्ने ! हे व्रतपते ! मैं तुझमे अपनी समिधा को रखता हूँ। इस समिधा को रखता हुआ मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ । इस तरह दीक्षित होकर मैं, हे अग्ने ! तुझे समिद्ध करता हूँ, तुझे प्रदीप्त करता हूँ ।

आचार्य अग्ने ! तुम स्वय व्रतों का ठीक ठीक पालन करने वाले हो और अतएव मुझे भी व्रतो का पालन करवा सकने वाले हो । इसलिए हे व्रतपते ! तुम अग्नि मे मैं अपने आप को समिधा बनाकर आहित करता हूँ, समिद्ध होने योग्य अपने आप को तुमसे समिद्ध होने के लिये तुममे समर्पित करता हूँ । इस तरह अपने आप को पूरी तरह तुम्हारे अधीन करके मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ; सत्य पालन आदि शिष्य के व्रत को तथा सत्य की धारणा रूप, सत्य धारण कराने के लिये तुममे दृढ विश्वास रूप श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ । सत्य व्यवहार आदि व्रतो के पालन करने का दृढ निश्चय करके तथा सत्य मे और तुममे अविचल श्रद्धा रखकर मैं आज से तुम्हे अपने आप को सर्वथा समर्पित करता हूँ । इस प्रकार तुमसे दीक्षित होकर, ब्रह्मचर्याश्रम मे प्रविष्ट होकर, तुम्हारा ब्रह्मचारी बनकर, हे ज्ञानमय अग्ने ! मैं तुम्हे समिद्ध करता हू, तुम्हे भी प्रदीप्त करता हू । नि:सदेह, तुम पवित्र अग्नि में अपने आप को जलाकर जहाँ मैं प्रदीप्त होता हूँ वहा मुझ जलती हुई समिधा को प्राप्त करके हे अग्ने ! तुम भी अवश्य प्रदीप्त होते हो, जगत् मे प्रकाशित होते हो ।

हे परम आचार्य ! परम अग्ने ! हे पूर्णतया व्रत को पालन करने और करा सकनेवाले ! मैं तुममे अपनी समिधा को पूर्णतया प्रदीप्त करने के लिये, ससार मे जन्म पाने के अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये रखता हूँ । मैं अपने महान् व्रत को और तुममे अटल श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ । इस तरह तुम्हारा बनकर हे परम अग्ने ! मैं तुम्हें बढाता हूँ, तुम्हारे परम तेज को प्रकाशित करता हूँ ।

शब्दार्थ

(अग्ने) हे अग्ने ! (व्रतपते) हे व्रतो के पालक ! (त्वयि) तुझमे मैं (समिधं) समिधा को (अभि आ दधामि) रखता हूँ । (व्रत च) व्रत को (श्रद्धां च) और श्रद्धा को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ । (दीक्षित:) एव दीक्षित होकर (अहं) मैं (त्वा) तुझे (ईन्धे) प्रदीप्त करता हूँ ।

दृढ़ संकल्प !

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणाय अक्षये ।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन् स्वः ॥

अथर्व १९ ५२ ३ ॥

विनय

ओ ! आज मेरी सुनवाई हो गई है, मुझे मेरा 'प्रतिपालन' मिल गया है, मैं सुखी हो गया हूँ । दिशाओ ने मेरी प्रार्थना को सुन लिया है। न केवल सुन लिया है किन्तु सकल्प के कारण मुझे मेरा अभीष्ट प्राप्त कराकर मुझ मे उसका सुख भी उत्पन्न कर दिया है। एक समय था जब मैं दूर से इसकी इच्छा करता था, बार बार कामना करता था। इस दूरस्थ विषय की, इस दुष्प्राप्य सी वस्तु की बार बार प्रार्थना करता था । उस समय लोग मुझ पर हसते थे, मुझे पागल समझते थे । कहते थे 'यह असभव है,' 'अभी इसका समय नही आया है' 'इस देश के लोगो को रक्षण अभी कैसे मिल सकता है' 'इस जन्म मे तो यह होने वाला नही है' । परन्तु मेरी धारणा दृढ थी, मेरी इच्छा सच्ची थी । अतः मैंने इस प्रार्थना को जारी रखा । मेरा हृदय प्रतिपालन, रक्षण पाने के लिये निरन्तर पुकार मचाता रहा । उस समय देशक यही दीखता था कि मेरे हृदय से निकली ये सब पुकारें, ये सब प्रार्थनायें केवल इस शून्य आकाश मे लीन हो जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं बिलकुल बेकार जाती है । पर अब मैं देखता हूँ कि मेरी हृदय से निकलीं ये प्रार्थनायें प्रभु के अक्षय हृदय मे, अक्षय अन्तरिक्ष हृदय मे, ईश्वरीय मनोमय वायु मडल मे ठीक प्रकार से गृहीत होती थीं और वहाँ सुरक्षित रहती थी। अब देखता हू कि मेरी एक बार की प्रार्थना भी व्यर्थ नहीं गयी है । उन्ही का फल है कि एक वह समय भी आया जब कि दिशाओ ने इन्हे सुना, चारो दिशाओ के वासिओ मे इसकी खूब चर्चा हुई । लोग इसे सभव, उचित और शीघ्र हो सकने वाली वस्तु समझने लगे। और आज तो यह 'प्रतिपालन' साक्षात् उपस्थित ही हो गया है और इस समय हमे सुखी कर रहा है । सचमुच, इस प्रभु की सृष्टि मे कोई सच्चा और दृढसकल्प ('काम') व्यर्थ नही जाता, कभी व्यर्थ नही जाता ।

शब्दार्थ—

(दूरात्) दूर से, दूरस्थ विषय की (चकमानाय) बार बार कामना करने हुए (अक्षये) अक्षय [ईश्वरीय हृदय] मे (प्रतिपाणाय) प्रतिपालन के लिये, रक्षण के लिये, [पुकारते हुए] (अस्मै) इस मुझे (आशा) दिशाओं ने (आ अशृण्वन्) सुन लिया है और (कामेन) सकल्प द्वारा (स्व) उसके सुख को (अजनयन्) उत्पन्न कर दिया है ।



मेधा की शक्ति !

मेधामहं प्रथमा ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानां अवसे हुवे ॥

अथर्व ६ १०८ २॥

विनय

मेधा के विना मैं विनष्ट हुआ जा रहा हूँ मैं बहुत कुछ पढता हूँ, उत्तम उत्तम उपदेश सुनता हू परन्तु उन्हे धारण नही कर सकता। मेरे मानसिक देह की ऐसी अवस्था हो रही है जैसे वमन या प्रवाहिका रोग से ग्रस्त पुरुष की होती है । मेरी ऐसी दयनीय दशा इसलिये हो गई है क्यो कि मुझ मे धारणावती बुद्धि या मेधा की कमी हैं । 'मेधा शक्ति' न होने के कारण, न केवल मेरी आगे की उन्नति रुक गई है किन्तु मुझ मे जो विद्यमान 'देव' है, दिव्य शक्तिया हैं वे भी क्षीण होती जा रही हैं, ज्ञान-भोजन न मिलने के कारण विनष्ट होती जा रही हैं। इसलिये मैं अब मेधा का भिक्षुक हुआ हूँ । मैं आज मेधा-शक्ति का आह्वान कर रहा हूँ अपनी दिव्य शक्तिओ की रक्षा के लिये मेधा देवी को पुकार रहा हूँ । ओह, मेधा तो वह मुख्य सर्व-श्रेष्ठ शक्ति है जो कि 'ब्रह्मण्वती' है, ब्रह्म को, ज्ञान को, वेद ज्ञान को धारण करने वाली है, अतएव जो 'ब्रह्मजूत' है, ज्ञानियो, ब्रह्मज्ञानियो ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों द्वारा सदा सेवित की गई है । मेधा के विना तो वेदज्ञान भी नही मिल सकता, अतएव सब ज्ञानी लोग सदा इस मेधा का सेवन करते रहे हैं । 'मेधा' वह प्रशस्त शक्ति है जिसका ऋषियो ने भी स्तवन किया है, जिसका साक्षात् दर्शन करने वाले मुनियो ने भी गुणगान किया है । और 'मेधा' वह अमृत है जिसका ब्रह्मचारी पान करते रहे हैं, जिसका पान कर तेजस्वी हुए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-शक्ति की पूर्णता को प्राप्त करते रहे हैं, जिसका पान कर अमृत हुए ब्रह्मचारी अपने अन्दर तीनो लोको तथा सब देवो को धारण करते रहे है । उसी मेधा को मैं पुकार रहा हूँ, उसी दिव्य शक्ति का मैं अपने मे आह्वान कर रहा हूँ । हे मेधे ! तुम आओ, मेरे इन देवो को विनष्ट होने मे बचाओ ।

शब्दार्थ—

(अहं) मैं (प्रथमा) मुख्य, प्रथम (ब्रह्मण्वतीं) ज्ञान, वेदज्ञान रखने वाली (ब्रह्मजूतां) ब्रह्मज्ञानियो से सेवित (ऋषिष्टुता) ऋषियो से स्तुति की गई (ब्रह्मचारिभि· प्रपीतां) ब्रह्मचारियो द्वारा पान की गई (मेधा) मेधा शक्ति को (देवानां अवसे) अपनी दिव्य शक्तियो की रक्षा के लिये (हुवे) आह्वान करता हूँ, पुकारता हूँ ।



हे उषा !

महे नो अद्य बोधय, उषो राये दिवित्मती ।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥

ऋ० ५.७९.१॥ सा० पू० ५.१४३॥ सा० उ० ८-३ ११॥

विनय

हे उष ! तू मुझे आज महान् ऐश्वर्य के लिये जगा। हे जगाने वाली देवि ! तू मुझे ऐसा जागृत कर कि मेरे लिये आज आत्मज्ञान का प्रकाश हो जाये, मुझे वह आत्मज्ञान मिल जाये जो सब ऐश्वर्यों का ऐश्वर्य है, जो बड़े से बड़ा दिव्य ऐश्वर्य है। तू तो 'दिवित्मती' है, दिव्य प्रकाश को रखने वाली देवी है। तू मुझे अपने इस सर्वश्रेष्ठ दिव्य प्रकाश को और कब प्राप्त करावेगी ? जिस तरह तू मुझे समय समय पर जगाती रही है, मुझ मे नये नये ज्ञान प्रकाश को चमकाती रही है, मुझे दिव्य उद्बोधनों से ठीक समय पर प्रबुद्ध करती रही है; उसी तरह तू आज हे सुजाते ! हे अश्वसूनृते ! तू आज मेरे इस 'सत्यश्रवा वाय्य जीवन मे उस अपनी परम ज्योति को भी जगमगा दे, उसे जगाकर मेरे इस जीवन को ही सफल कर दे। मेरा जीवन सत्य पर ही आश्रित है, सदा सत्यश्रवण के अनुसार चलने वाला सत्य श्रवा' है। इसलिये यह अवश्य तुझ द्वारा 'वाय्य' है, निरन्तर प्रापणीय है, अविच्छिन्नरूप से विस्तारणीय है। तू तो महान् व्यापक प्रियसत्यात्मिका वाणी है, तू महान् सत्य सकल्प-रूपा है। तो मैं अपने इस 'सत्य श्रवस्' जीवन के अविच्छिन्न विस्तार के लिये तुझ से प्रार्थना न करूँतो किस से प्रार्थना करूँ ? इसलिये, हे अश्वसूनृते ! आज जो तू मुझे अपने उस परम सत्य को भी सुना दे। हे सुजाते ! हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मने वाली ! हे उत्तम ज्ञान के साथ प्रकट होने वाली ! तू मेरे लिये और किस दिन सुजाता होवेगी ? देख, भौतिक धनो की तो मैं ने कभी चाहना ही नहीं की है, ऋद्धि सिद्धि के दिव्य ऐश्वर्यों की कामना को छोड़े हुए भी मुझे बहुत समय हो गया है, तो अब तो मैं अवश्य तेरे इस परम ऐश्वर्य का अधिकारी बन चुका हूँगा। इसलिये हे उष ! तू मुझे आज अवश्य जगा, मुझे अपने उस आत्मज्ञान के महान् ऐश्वर्य मे जगा, जिसे प्राप्त कर सब महात्मा लोग मालामाल होते रहे हैं। जिस मे जागकर सब मुक्तजीव निहाल होते रहे हैं। हे उष ! तू मुझे आज ऐसा ही जगा, ऐसे ही निहाल करने वाले महान् धन के लिये जगा।

शब्दार्थ—

(उषः) हे उष ! (दिवित्मती) दिव्य प्रकाशवाली तू (नः) हमें (अद्य) आज (महे राये) महान् ऐश्वर्य के लिये (बोधय) जगा। (यथाचित्) जिस प्रकार तू पहले (नः) हमें (अबोधयः) जगाती रही है उसी प्रकार (सुजाते) हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मने वाली ! (अश्वसूनृते) हे महान् व्यापक प्रिय सत्यात्मिका वाणि ! तू आज तेरे इस (सत्यश्रवसि) सत्य ज्ञान वाले (वाय्ये) निरन्तर विस्तारणीय जीवन में [प्रकट हो]। 

सच्चा यज्ञ !

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते। असिन्वन् दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं, यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः ॥

ऋ० २.१३.१४॥

विनय

हे प्रभो ! हम देख रहे हैं कि जो लोग सच्चा यज्ञ कर रहे हैं वे, शुष्णासुर के वश होकर कभी अपनी ही पुष्टि मे न लगकर, सदा सब ही प्रजाओ के लिये पुष्टि को बांट रहे हैं, विभजन कर रहे हैं। वे बैठे हुए ऐसा यज्ञचक्र चला रहे हैं, संपत्ति की उत्पत्ति विनिमय व्यय आदि का ऐसे यज्ञिय प्रकार से सचालन कर रहे हैं कि उनके धन की पुष्टि प्रत्येक प्रजा-जन को पहुँच रही है, प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो रही है। अतएव उनके यहा अमीर गरीब के भयकर भेद और उनके उपद्रव भी नही हो रहे हैं। वे तो अतिथियज्ञ के सिद्धान्त को अपने संपूर्ण राष्ट्र के लिये लगा रहे है। जैसे आये हुए अतिथि के सम्मुख अपना सर्व श्रेष्ठ और बड़े से बड़ा ऐश्वर्य प्रस्तुत कर दिया जाता है, वैसे वे लोग धारक से धारक को प्रभावशाली से प्रभावशाली संपत्ति को समान भोग के लिये सब प्रजाओ मे बांट देते हैं सब मनुष्यों को सुलभ कर देते हैं। इस प्रकार इनका वह राष्ट्र, हे इन्द्र ! तुझ पिता से आये हुए, सब के पालन के लिये तुझ से आये हुए भोजन को ठीक प्रकार खाता है, भोग प्राप्त करता है। वह दंष्ट्रो से उसे न बाधता हुआ खाता है, भोगता है। यही कारण है जिससे वहा तुझ पिता का भोजन सब पुत्रो को पहुँचता है, प्राप्त होता है। यदि दंष्ट्र उस प्राप्त भोजन से अपनी ही पुष्टि करने के लिये उसे बाध लेवें, उसे मुख मे ही रोक लेवें तो वास्तव मे उन्हे भी उसकी पुष्टि न मिल सके। इसलिये सब की पुष्टि मे अपनी पुष्टि समझने के कारण उस राष्ट्र मे धनप्राप्ति का साधन बनने वाले लोग धन को, भोजन को, कभी बांधते नही हैं, किन्तु इस भोजन को सब को यथोचित रूप से पहुंचा देते है और इस प्रकार प्रत्येक प्रजा-जन को अधिक से अधिक सुख प्राप्त कराते है। यह सब यज्ञ-सिद्धान्त की महिमा है। यज्ञ-सिद्धान्त पर आचरण करने का माहात्म्य है। पर नहीं, हे इन्द्र ! इसके लिये हम तुम्हारी ही स्तुति करते हैं, चूंकि इस यज्ञ-सिद्धान्त के मूल मे तो तुम हो, प्रथम यज्ञ करने वाले यज्ञरूप तो तुम हो। सब से पहिले तुम ही 'अनश्नन्' होकर, सब ससार के लिये भोगो को, सब भोजनो को त्याग रहे हो, उनसे यज्ञ हवन कर रहे हो।

शब्दार्थ—

(इव) जैसे **(आयते)** आये हुए अतिथि के लिए **(पृष्ठं)** धारक **(प्रभवन्तं)** प्रभावशाली **(रयिं)** ऐश्वर्य को प्रस्तुत किया जाता है, वैसे सच्चे याज्ञिक लोग **(पुष्टिं)** पुष्टि को **(प्रजाभ्यः)** सब प्रजाओ के लिए **(विभजन्तः)** बाटते हुए **(आसते)** बैठे हुए यज्ञ कर रहे हैं। ऐसा राष्ट्र **(पितुः)** तुम पिता से आये हुए **(भोजनं)** भोग को **(दंष्ट्रैः असिन्वन्)** दांतो से न बाधता हुआ **(अत्ति)** खाता है, भोगता है, **(ता)** उन भोजनो का **(यः)** जिस तूने **(प्रथम)** सब से प्रथम **(आकृणोः)** यज्ञ किया है, हवन किया है **(सः)** वह तू **(उक्थ्यः)** स्तुत्य **(असि)** है।

वाणी की शक्ति !

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधिवाचि ॥

ऋ० १० ७१.२॥

विनय

जैसे चलनी से छानकर सत्तुओ को साफ किया जाता है उसी तरह मन से विचार मनन के साधन से, वाणी को शुद्ध और पवित्र किया जाता है। जो धीर पुरुष बडी सावधानी से पवित्र हुई वाणी बोलते है, जो खूब सोच समझ कर, मन की चलनी से छान कर, कल्याणकारी और पवित्र शब्दो को ही मुख से निकालते हैं उन की वाणी मे लक्ष्मी का निवास हो जाता है। किन्तु जैसे सत्तुओ का साफ करना कठिन काम है वैसे वाणी को शुद्ध पवित्र बनाना भी बहुत ही दुसाध्य है। पर जो धैर्यशाली, प्रज्ञावान् मनुष्य मनन के साधन द्वारा वाणी को निर्दोष और निर्मल बनाने का यत्न करते जाते है वे एक समय उस अवस्था को पहुँच जाते है जब कि उनकी वाणी अपनी अद्भुत शक्ति को प्रकट करने लगती है। उस अवस्था मे पहुँच कर ये धीर लोग वाणी के ऐसे सखा हो जाते है, शब्द शक्ति से ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध मे आ जाते है कि वे वाणी के सख्यो को, सब शब्दो के हृदयो और आत्माओ को, जानने लगते है; ये शब्द अर्थ के साहचर्य को, नित्य सम्बन्ध को साक्षत् अनुभव करने लगते है। उस समय उनकी वाणी मे वह तेज आ जाता है जिससे कि उनकी वाणी से निकले शब्द अर्थो को उपस्थित करने मे समर्थ हो जाते हैं। सचमुच, उनकी वाणी मे कल्याणी लक्ष्मी निहित हो जाती है, उनकी वाणी उनके लिये जब जिस ऐश्वर्य को चाहे तब उसे ही उपस्थित कर सकती है।

शब्दार्थ—

(यत्र) जिस अवस्था मे (धीरा) धैर्यशाली ज्ञानी पुरुष (तित उना सक्तुं इव) जैसे चलनी द्वारा सत्तुओ को उस तरह (मनसा) मन द्वारा मनन द्वारा (पुनन्त) पवित्र करते हुए (वाचं) वाणी को (अक्रत) करते है, बोलते हैं, (अत्र) उस अवस्था मे (सखाय.) वाणी के सखा हुए ये लोग (सख्यानि) उनके सख्यो को, हृदयों को (जानते) अनुभव करते हैं, तब (एषां) इन लोगो की (अधिवाचि) वाणी मे (भद्रालक्ष्मीः) कल्याणी लक्ष्मी (निहिता) निहित होती है, रक्खी होती है।



कभी न छोड़ूं साथ !

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ।।

ऋ० ८ १ ५।। सा० पू० ३ १०.६।।

विनय

हे इन्द्र ! मैं तुझे कभी न बेचूं, किसी भाव न बेचूं। चाहे कोई मुझे हज़ार देवे, लाख देवे, करोड देवे, इस पृथ्वी को सुवर्ण और रत्नो से भर कर देवे तो भी मैं उसके वदले मे कभी तुझे न देऊँ, कभी तुझे न छोड़ूं । हे अद्रिव ! हे ससार वृत्र के वश करने वाले ! अपने सब ऐश्वर्यो सहित यह सपूर्ण ससार तो तेरे चरणरज के एक कण की भी बराबरी नही कर सकता । तो हे शतामघ ! हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! इस संसार का वह कौन-सा ऐश्वर्य है, वह कौन-सा भोग है जिसे पाने के लिये मैं तुझे दे दूं, मैं तुझे छोड दूं ? हे शतामघ ! हमारी वाणी तेरे परम परम ऐश्वर्य को क्या जान सकती हैं ? तेरे मूल्य को क्या वोल सकती है ? वस, तू तो हे मेरे इन्द्र ! अनमोल है, अनमोल है । और ऐसा अनमोल तू संसार के सभी प्राणियो को प्राप्त हुआ हुआ है, सभी जीवो के अन्दर आया हुआ है । पर हा ! ये सोये हुए जीव तुझे नहीं देखते, तेरे मूल्य को नही पहिचानते । ये नादान लोग तो ज़रा ज़रा से लोभ से या ज़रा ज़रा से डर से रोज तुझे त्यागते हैं, रोज़ तुझे वेचते है । ये लोग केवल अपने अभ्यस्त आराम न मिलने के डर से या 'रोज़ी' छिन जाने जैसे क्षुद्र भय से ही तुझे छोड देते है, सत्य को त्यागते हुए न्याय आदि सत्य नियमो का उल्लघन करते हुए तुझे छोड देते है । ये लोग धन प्राप्ति के प्रलोभन से, कुछ सासारिक सुख मिलने के लालच मे तुझे वेच देते हैं । असत्य अन्याय को स्वीकार कर तुझे वेच देते हैं । परन्तु वे अज्ञानी तुझे समझते नही, हे वज्र वाले ! तेरी कीमत को जानते नही । पर तुझ अनमोल रत्न को पाकर अब मैं कैसे कभी तुझे गवा सकता हूँ ? तुझे पाकर मैंने तो सब कुछ पा लिया है । मुझे तो कोई वस्तु नही दीखती जिसे पाने के लिये अब मैं तुझे किसी को दे सकूं । मैं तो अब भयकर से भयकर भय उपस्थित हो जाने पर भी और मोहक से मोहक प्रलोभन के आ जाने पर भी तुझे कभी नही छोड सकता । मैं ससार के सब भोगो को छोड दूंगा, मैं असख्यो मृत्युओ को सह लू गा, पर मैंने तुझे ऐसा जान लिया है ऐसा पहिचान लिया है कि मैं अब तेरे त्यागने की बात भी नही सोच सकता, मैं तुझे छोडने का अर्थ ही नही समझ सकता ।

शब्दार्थ—

(अद्रिवः) हे संसार के वश करने वाले ! मैं (त्वां) तुझे (महे) वडे से वडे (शुल्काय) मूल्य से (चन) भी नही (परादेयां) वेचूं, दे डालूं । (शतामघ) हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! (वज्रिव.) हे वज्र वाले ! (न सहस्राय) न सहस्र के वदले मे (न अयुताय) न लाख करोड के वदले मे और (न शताय) न अनगिनत राशि के वदले मे मैं तुझे देऊँ, छोड़ूं ।



दर्शन की चाह

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्

ऋ० ७-८६-२॥

विनय

अब मुझे वरुण प्रभु का दर्शन हुए विना चैन नही मिल सकता। मैं तो अब उस पाप-निवारक देव को साक्षात् देख लेना चाहता हूँ। सोते जागते उठते बैठते मेरा मन उधर ही गया रहता है। खाते हुए, पीते हुए, चलते हुए, फिरते हुए, मुझ मे उसी के विषय मे नाना प्रकार के विचार-वितर्क उठते रहते हैं। मैं अपने ही शरीर के साथ अपने ही आप मे उस वरुण के विषय मे वार्तालाप करने लगता हूँ। अब कब मैं उस प्रभु के ध्यान मे निमग्न हो सकूँगा ? क्या कभी मैं वरुण के अन्दर हो सकूँगा ? उस वरुण के महान् आश्रय को पाकर क्या कभी मैं उसी के आधार से प्राण धारण करता हुआ निरन्तर उसी मे रम सकूँगा ? मैं तो उस के दर्शन पाने के लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करने के लिये तय्यार हूँ, अपनी बडी से बड़ी भेंट चढाने को उद्यत हूँ। पर न जाने वह मेरे इस हव्य को स्वीकार भी करेगा या नही ? कही वह इसे अयोग्य, असेव्य तो नही समझेगा ? कही वह इस क्षुद्र भेंट से अप्रसन्न तो नही हो जायगा ? क्या वह सचमुच मेरे इस समर्पण को अक्रुद्ध, प्रसन्न होता हुआ सेवन करेगा ? ओह ! न जाने मेरे लिये भी क्या कभी वह सुदिन होवेगा, जिस दिन प्रभु दर्शन से मैं अपने जीवन को सफल कर सकूँगा ? मेरे परम आनन्द का वह दिन, मुझे 'सुमना' कर देने वाला वह दिन कभी आवेगा जब कि मैं उस परम सुखकारी अपने आनन्दरूप वरुण का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँगा, आमने सामने होकर उसका साक्षात् कर सकूँगा ?

शब्दार्थ—

(उत) और मैं (तत्) उस वरुण के विषय मे (स्वया तन्वा) अपने शरीर के साथ, अपने आप मे ही (संवदे) वार्त्तालाप करने लगता हूँ, (कदा नु) अब कब मैं (वरुणे अन्तः) वरुण के अन्दर (भुवानि) होऊँगा ? (किम्) क्या (अहृणानः) अक्रुद्ध, प्रसन्न होता हुआ वह (मे) मेरे (हव्यं) हवि का, भेंट का (जुषेत) सेवन करेगा ? (कदा) कब (सुमनाः) सुमना होकर मैं (मृळीकं) उस सुखकारी वरुण को (अभिख्यं) देखूँगा, साक्षात् दर्शन करूँगा ? 

प्रभु मिलन की राह !

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य, आत्मनात्मानमभि सं विवेश ।।

यजु० ३२-११।।

विनय

यह जीव भटकता है, खूब भटकता है, अपने प्रभु को पाने से पहिले जगह जगह भटकता है। जब तक कि इसे सब संसार की निःसारता का, अन्य सब वस्तुओ की निस्सारता का, पूरा अनुभव न हो जाय तब तक यह जीव कैसे उस सारभूत परमसार परमेश्वर की शरण पकड सकता है ? इसीलिये यह सब भूतो में, सब प्राणियो मे, नाना प्रकार की अनगिनत योनियो में घूमता है ; यह सब लोकों, ऊपर नीचे मध्य के अच्छे बुरे लोको मे फिरता है, अच्छे बुरे अनुभव पाता हुआ फिरता है। सुख की चाह मे, शान्ति की तलाश मे यह सब दिशाओ में मारा मारा घूमता है, सब उपदिशाओं मे, कोने कोने मे, खोजता हुआ भटकता है। अन्त मे जब उसे निश्चय हो जाता है कि ये सब अनात्म वस्तुएँ हैं इनमे उसे कुछ नहीं मिल सकता, जब उसे इन से सच्चा ज्ञान-युक्त वैराग्य हो जाता है, इनमे कुछ भी आकर्षण नही रहता, तभी वह इनसे मुख मोडकर अपने परमात्मा के प्रति अभिमुख होता है, भोग के मार्ग को छोडकर अपवर्ग का यात्री बनता है। इस यात्रा मे उसे उस सत्य-स्वरूप 'ऋत' से सबसे पहिले उपजी हुई, अतएव उसकी सबसे नजदीकी, जिस शक्ति का अनुभव होता है—उसे बुद्धि कहो, 'महत्-तत्व' कहो, ब्रह्म-वाणी कहो या शक्ति ही कहो—उस 'ऋतस्य प्रथमजा, का आश्रय ग्रहण करता है, अच्छी तरह सेवन करता है। उसके उपस्थान से, संसेवन से उसका आत्मा जागृत हो जाता है, वह आत्मा हो जाता है, अपने स्वरूप को पा जाता है। इसी आत्मा द्वारा तब वह अपने आत्मा को, परम आत्मा को, संप्राप्त कर लेता है, उसमे संप्रविष्ट हो जाता है, सम्मुखतया अवस्थित हो जाता है।

शब्दार्थ—

(भूतानि) प्राणियों मे, योनियो मे (परीत्य) घूम कर (लोकान्) नाना लोको मे (परीत्य) घूम कर (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं (प्रदिशश्च) और विदिशाओ मे (परीत्य) घूमकर (ऋतस्य) सत्य स्वरूप की (प्रथमजां) प्रथमोत्पन्ना शक्ति का (उपस्थाय) आश्रयण, संसेवन करके (आत्मना) आत्मा द्वारा (आत्मानं) अपने आत्मा को (अभि संविवेश) समुखतया संप्राप्त हो जाता है।

अन्य मार्ग नहीं !

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

यजु ३१. १८.

विनय

मैं उस पुरुष को, उस महान् पुरुष को जानता हूँ जो कि सब ससार मे परिपूर्ण हो राहा है, जो इतना महान् है कि ये सब चराचर सृष्टिया और ये सब ब्रह्माण्ड उसके एक अश मे स्थित हैं। वह परिपूर्ण पुरुष है, वह सब तरह महान् है। मैं उसे देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ। वह अपने प्रकाश स्वरुप मे, अपने उज्ज्वल ज्योतिर्मय रूप में सदा सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, सदा सर्वत्र भासित हो रहा है। वह तम से सर्वथा परे है, अज्ञान-अन्धकार उस विशुद्ध ज्योति को, उस पवित्र प्रकाश को छू तक नही सकते। इस ससार मे यदि किसी वस्तु से उसके स्वरूप के प्रति निर्देश किया जा सकता है तो इस जाज्वल्यमान आदित्य को देख लो। वह आदित्य-वर्ण है, प्रचण्ड उज्ज्वल स्वय प्रकाशरूप है। हे मनुष्यो ! तुम उसे देखो, उसे जानो। उसे ही जानकर मनुष्य मृत्यु को अतिक्रमण कर सकता है। हे मृत्यु से मारे हुए मर्त्यो ! हे नाना क्लेशो से सताये हुए संसारियो ! तुम उसे क्यो नही देखते ? उसे देख लेने पर तो, ससार के अन्य क्लेश तो क्या मृत्यु का महा क्लेश भी मिट जाता है। उसे देखकर मनुष्य अमर और अभय होजाता है। इसलिये यदि तुम सब दुःख भयो से पार होना चाहते हो, इन क्लेश बन्धनो से छूटकारा पाना चाहते हो तो तुम उस व्यापक प्रभु को जानो, उस आदित्य वर्ण को पहिचानो। सुख शान्ति की अभीष्ट स्थिति मे पहुँचने के लिये, छुटकारे का महान् सुख प्राप्त करने के लिये, अपने परम अयन को पाने के लिये उस प्रभु को जानने के सिवाय और कोई रास्ता नही है, उस पूर्ण पुरुष को देख लेने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

शब्दार्थ—

(अहं) मैं (एतं) इस (महान्तं) बड़े महान् (पुरुषं) व्यापक परिपूर्ण पुरुष [परमेश्वर] को (आदित्यवर्णं) आदित्य जैसे स्वय प्रकाश स्वरूप वाला (तमसःपरस्तात्) और अज्ञान अन्धकार से बिलकुल परे (वेद) जानता हूँ, देख रहा हूँ। (तं एव) उसको ही (विदित्वा) जान कर मनुष्य (मृत्यु) मृत्यु को (अति एति) अतिक्रमण करता है, (अयनाय) अभीष्ट स्थान तक पहुँचने लिये, परमपद पाने के लिए (अन्यः) और कोई (पन्था) मार्ग (न) नही (विद्यते) है।

शांति सर्वत्र हो !

द्यौः शान्ति रन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्ति रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्ति र्विश्वेदेवा शान्ति र्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

यजु ३६. १७ ।

विनय

हे प्रभो ! तीनो ही लोक हमारे लिये शान्ति देने वाले होवें। वह ऊपर का प्रकाशमय आध्यात्मिक द्युलोक, मध्य का मनोमय अन्तरिक्ष लोक तथा यह स्थूल अन्नमय पार्थिव लोक हमें शान्ति प्रदान करे। हमे आत्मिक, मानसिक और शारीरिक शान्ति प्राप्त होवे। और फिर यह पार्थिवलोक भी हमे अपने तीनो रूप मे शान्ति प्रदान करे। ये सब आप, ये सब रस, ये सब प्राण इस लोक के दिव्य रूप के लिये शान्तिदायक होवें। ये सोमादि ओषधिया रोगो को शमन करती हुई हृदय को, मध्य भाग को, शान्ति देने वाली होवें। और ये सब भोज्य वनस्पतिया हमारे शरीर के पार्थिव भाग का ठीक तरह पोषण करने वाली होवें। इस प्रकार तीनों लोको के देव, तीनो लोको के अन्दर फिर जो और तीन लोक हैं उनके भी सब देव, सब के सब देव, हमारे लिये शान्तिदायक होवें। सब ज्ञानमय देव और उनका ज्ञान, सब ज्ञान, वेदज्ञान, परब्रह्म हमें शान्ति देनेवाला होवे। इस प्रकार यह सभी 'ब्रह्म' ब्रह्माण्ड, यह सभी ससार, इस ससार का सब कुछ हमे सदा शान्ति प्रदान करता रहे। परन्तु यह शान्ति भी वास्तव में शान्ति ही होवे। यह झूठी या बनावटी शान्ति न होवे। निर्जीवता मे जो 'शान्ति' दिखाई देती है यह मुर्दा शान्ति हमे नही चाहिये, और अशान्ति को छिपाने के लिये जो दिखावटी शान्ति बनाई जाती है वह झूठी शान्ति भी हमे नही चाहिये। हमे तो वही असली शान्ति चाहिये जो सच्ची शान्ति होवे और जीवित शान्ति होवे। इसलिये हे प्रभो ! तुम हमे सदा ऐसी ही शान्ति प्राप्त कराओ, ऐसी ही सच्ची और जीवित शान्ति प्राप्त कराओ।

शब्दार्थ—

(द्यौः) द्युलोक **(शान्तिः)** शान्ति दे, **(अन्तरिक्षं)** अन्तरिक्ष **(शान्तिः)** शान्ति दे, **(पृथिवी)** पार्थिवलोक **(शान्ति.)** शान्ति दे, **(आपः)** जल, प्राण **(शान्तिः)** शान्ति दे, **(ओषधय.)** रोगनाशक ओषधिया **(शान्तिः)** शान्ति देवें, **(वनस्पतय.)** भोज्य वनस्पतिया **(शान्ति.)** शान्ति देवें, **(विश्वे-देवा)** सब के सब देव **(शान्तिः)** शान्दिायक होवें, **(ब्रह्म)** ज्ञान **(शान्ति)** शान्ति देवे, **(सर्वं)** सभी कुछ **(शान्तिः)** शान्ति देवे, **(शान्ति)** शान्ति भी **(शान्ति.एव)** सचमुच शान्ति ही होवे, **(सा)** वह, ऐसी **(शान्तिः)** शान्ति **(मा)** मुझे **(एधि)** प्राप्त होवे।

उसे जानें !

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्ठिर्न चलाचलासः ॥

ऋ० १.१६४.४८॥ अथर्व० १०.८.४॥

विनय

देखो, यह चक्र निरन्तर घूम रहा है, चक्कर लगा रहा है, इसमे बारह प्रधिया, बारह अरे लगे हुए हैं। इसमे तीन नभ्य, नाभि को जोडने वाली तीन धुरिया जुडी हुई हैं। और इसमें, ठुके हुये कीलको की तरह, तीन सौ और आठ चलाचल 'अहोरात्र' अर्पित हुए हुए डले हुए है। क्या तुम समझे कि यह कौन सा चक्र है ? फिर फिर घूम कर आने वाला यह कैसा चक्र है ? इतना तो स्पष्ट है कि यह उस सदा चलते हुए संवत्सर चक्र का वर्णन है जिस मे बारह महीने, बारह अरो की तरह, बार बार घूम कर आ रहे हैं, जिसमें तीन 'चातुर्मास',गर्मी, वर्षा और सर्दी के तीन ऋतुकाल एक के बाद एक आते जा रहे हैं, जिसमे तीन सौ साठ दिन रात 'निरन्तर आते हुए अपना चलाचल कर रहे हैं। पर वास्तव मे इस एक चक्र को तत्वत. कौन समझता है ? यह 'काल चक्र' किसलिये निरन्तर घूम रहा है ? इस चक्र पर चढ़ा हुआ यह समस्त संसार कहां पहुँचना चाह रहा है ? इस चक्र के इन रहस्यों को हम मे से कौन जानता है ? इसलिये आओ ! हम इस चक्र के चलाने वाले कालदेव को जानें, इस चक्र के प्रवर्त्तक अपने प्रभु को पहिचानें। वर्ष के ये तीन सौ साठ अहोरात्र इसी प्रयोजन के लिये प्रतिदिन हमारे पास आ रहे हैं, ये चैत्र वैशाख आदि महीने इसीलिये हमारे जीवन मे चक्कर लगा रहे हैं, ये तीनो ऋतु-युगल इसीलिये बार बार हमे अपना अनुभव करा रहे हैं। तो, आओ ! अब से हम आने वाले इन तीनो वर्ष-खंडो का ऐसी ही उच्च भावना से स्वागत करें, अपने प्रत्येक महीने मे इसी पवित्र लक्ष्य से प्रवेश करें और अपने प्रत्येक अहोरात्र को इसी प्रकार से व्यतीत करें जिससे हम उस 'एक' को जान सकें, उस परम प्रभु को पहुँच सकें ?

शब्दार्थ—

(एकं) एक (चक्र) चक्र है, जिसमे (द्वादश) बारह (प्रधयः) अरे है, (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) नाभिस्थान हैं। (तस्मिन्) उस चक्र मे (साकं) साथ ही (शंकवो न) कीलको की तरह (त्रिशता षष्ठिर्न) तीन सौ और साठ (चलाचलासः) चल और अचल, दिन और रात, चलते जाने वाले अहोरात्र (अर्पिताः) अर्पित है, पडे हुए है। (कः उ) कौन है जो (तत्) उस एक चक्र के रहस्य को (चिकेत) समझता है ?